...ा के उद्देश्य

...ा का संरक्षण तथा प्रसार।
...ों का विवेचन।
...ति का अनुसंधान।
...ज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है, उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

श्रद्धांजलि अंक

वर्ष ७२
संवत् २०२४
अंक १–४

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का १०.००

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

अंक–३

अंक–४

समीक्षा

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

श्रद्धांजलि अंक

वर्ष ७२] संवत् २०२४ [अंक १-४

उत्सर्ग

यह वर्ष, संवत् २०२४, हिंदी जगत् के लिये बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इस वर्ष हमें अनेक हिंदीप्रेमियों, साहित्यसेवियों तथा साहित्यकारों का वियोग सहन करना पड़ा। दैवदुर्विपाक से वर्ष के आरंभ से ही इन साहित्य-मनीषियों के प्रयाण का जो दारुण चक्र चला वह वर्षांत तक चलता ही रहा। उन सभी ज्ञात तथा अज्ञात साहित्यिकों की पावन स्मृति में पत्रिका का यह संयुक्तांक समर्पित करते हुए हम सादर श्रद्धावनत हैं

संपादकीय

सेठ जुगलकिशोर बिड़ला

सुप्रसिद्ध उद्योगपति परिवार के सुसंस्कृत बिड़ला बंधुओं से सारा देश सुपरिचित है। उनमें ज्येष्ठतम सेठ जुगलकिशोरजी का स्वर्गवास गत जून १९६७ में सुदीर्घ आयु में हुआ। यों तो बिड़लाओं का धनी परिवार अपने अनेक सद्गुणों के लिये विख्यात है, परंतु सेठ जुगलकिशोरजी में विशेष रूप से अनेक सद्गुणों का दुर्लभ समाहार निजी रूप से हुआ था। धर्म की उदार कल्पना, काल देवता का निरंतर ध्यान, मंदिर-धर्मशाला आदि का निर्माण, साहित्य-धर्म-सेवा आदि में उनका अपना दृष्टिकोण उनकी निजी विशेषताएँ थीं। लक्ष्मी के साथ दान का सुयोग सनातन से श्रेष्ठ माना गया है और सेठजी दानमूर्ति थे। यों तो वे कितने ही प्रकार के दान प्रकट और गुप्त रूप से किया ही करते थे परंतु सार्वजनिक हित में दिए गए दानों में वे विवेक और सिद्धांत का समन्वय अवश्य करते थे। उनकी उपयोगिता और उद्देश्य का वे पहले ध्यान रखते थे। हिंदू धर्म के संबंध में उनकी कल्पना बड़ी उदार और व्यापक थी। भारत की भूमि पर जन्मे और पनपे हरेक धम को वे हिंदू धर्म का अंग मानते थे। जैसे प्राचीन भारत के प्रचलित ऐतिहासिक स्वरूप से परे इतिहास में एक बृहत्तर भारत का वह स्वरूप भी मिलता है जिसमें भारतीय संस्कृति से प्रभावित सभी पड़ोसी देश अंतर्भुक्त हैं। वैसे ही बिड़लाजी के मन में संकुचित नहीं वरन् बृहत्तर हिंदू धर्म की परिकल्पना थी जिसके भीतर सभी भारतीय धर्मों और मतों का समावेश वे मानते थे। धर्म की इसी उदार परिकल्पना के आधार पर वे सभी पड़ोसी बौद्ध धर्मावलंबी देशों की धार्मिक एकता के प्रतिपादक थे। भारत के विभिन्न अंचलों में इसी दृष्टिकोण से निर्मित अनेक मंदिर तथा धर्मशालाएँ आदि उनकी उदार कीर्ति की प्रतीक हैं। राजधानी दिल्ली जैसे मिली-जुली संस्कृतिवाले नगर में उनके लक्ष्मीनारायण मंदिर के माध्यम से वहाँ के हिंदू नागरिकों को बहुत बड़ा आध्यात्मिक आधार मिला है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय का विशाल विश्वनाथ मंदिर, सारनाथ, बोध गया, कुशीनगर के अतिथिगृह, वृंदावन का गीता मंदिर, मथुरा की श्रीकृष्ण जन्मभूमि के पुनर्निर्माण में उनकी रुचि आदि उनकी अक्षय कीर्ति के स्तंभ हैं। दिल्ली और पटना के बौद्ध मंदिर एवं अतिथिशाला अन्य धर्मों के प्रति उनकी श्रद्धा के प्रतीक हैं। जहाँ जहाँ वे कोई सार्वजनिक निर्माण कराते थे वहाँ एक घंटाघर बनवाते थे। घंटाघर को वे काल-देवता का मंदिर कहा करते थे। काल का निरंतर ध्यान रखना बड़ी बात है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के प्रति उनका प्रेम उनके साहित्यप्रेम का प्रतीक है। राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला उसी का सुफल है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति तथा हिंदू धर्म संबंधी कितने ही ग्रंथ उन्होंने प्रकाशित कराए। उनका जीवन बड़ा निरभिमान, सात्विक तथा सरल था। उन्होंने अपनी भावना के अनुरूप जाति, धर्म, तथा संस्कृति की जो सेवा की, वह सदा अनुकरणीय रहेगी। बिड़ला जी के महाप्रयाण से भारतीय संस्कृति का एक स्वर्णिम नक्षत्र अस्त हो गया।

डा० श्रीकृष्णलाल

१४ अगस्त १९६७ को हिंदी के वरिष्ठ आलोचक डा० श्री कृष्णलाल का अचानक निधन हिंदी संसार के लिये एक अन्य दुर्भाग्यपूर्ण क्षति है। डा० लाल काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में रीडर थे। आप प्रयाग विश्वविद्यालय के स्नातक तथा काशी आने के पूर्व वहीं प्राध्यापक भी रहे।

कक्षा में पढ़ाते समय ही उनपर अचानक पक्षाघात का आक्रमण हो गया और कुछ घंटों में ही विश्वविद्यालय के सर सुंदरलाल अस्पताल में उनका अवसान हो गया।

डा० लाल का स्वभाव बड़ा मधुर तथा जीवन अत्यंत सादा था। उनकी रहन सहन एवं आचार व्यवहार से तो पता ही नहीं चलता था कि वे इतने गंभीर विद्वान् होंगे। ४८ वर्ष की अपूर्ण वय में उनका चिर वियोग बड़ी मार्मिक दुर्घटना है। डा० लाल आधुनिक हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा उच्चकोटि के आलोचक थे। सुदीर्घ काल तक वे सभा के उत्साही प्रकाशनमंत्री भी रहे। उनके निधन से हिंदी जगत् की अपूरणीय क्षति हुई है।

आचार्य पं० नंददुलारे वाजपेयी

विगत २१ अगस्त १९६७ को उज्जैन में हिंदी के प्रकांड विद्वान् तथा मूर्धन्य समीक्षक पं० नंददुलारे वाजपेयी का अचानक देहावसान हो गया। हृद्रोग के दो आक्रमण उनपर पहले भी हो चुके थे परंतु अंतिम प्राणघातक होकर रहा। अंतिम क्षण तक वे विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे।

वाजपेयी जी उन्नाव जिले के निवासी थे। उनकी उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुई थी। डा० श्यामसुंदरदास जी के वे प्रिय विद्यार्थियों में थे। बाबू साहब में यह अनोखी विशेषता थी कि वे अपने प्रिय छात्रों की क्षमता पहचान कर उनसे अध्ययन के अतिरिक्त साहित्यिक कार्य भी कराया करते थे। इस प्रकार उनके छात्रों में व्यावहारिक कार्य प्रणाली का विकास होता चलता था। वाजपेयी जी को

भी अपने भावी विकास में सहायक यह सुयोग मिला था। बाबू साहब की देखरेख में उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा का भी कार्य किया था।

आरंभ में उन्होंने प्रयाग से निकलनेवाले 'भारत' के संपादन के अतिरिक्त गीता प्रेस, गोरखपुर में भी ग्रंथ संपादन का कार्य किया था। अपनी विद्वत्ता तथा मिलनसारी के कारण विद्यार्थियों तथा साहित्यप्रेमियों का समान आदर उन्हें प्राप्त था। हिंदी साहित्य में उनकी गणना शीर्षस्थानीय समीक्षक के रूप में थी। 'हिंदी-२०वीं शताब्दी' में उन्होंने हिंदी साहित्यकारों की प्रेरक प्रवृत्तियों का सम्यक् विवेचन विश्लेषण किया है। इससे उनकी मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का संकेत मिलता है। सूक्ष्म आलोचना के लिये जिन सतसूत्रों की स्थापना उन्होंने की है, उनसे सत्साहित्य का निरीक्षण परीक्षण सुविचारित तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है। आलोचना में उनकी दृष्टि आधुनिक थी। आधुनिक दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन द्वारा उन्होंने हिंदी आलोचना को नई दिशा प्रदान की। उसी दिशा में इधर एक लेखमाला के रूप में वे नई कविता का मूल्यांकन कर रहे थे। दुर्भाग्य से वह कार्य पूरा न हो सका। परंतु जितना कुछ वे कर सके वही नई कविता के संबंध में प्रचलित बहुतेरी भ्रांतियों को दूर करने में समर्थ है।

वाजपेयी जी सफल अध्यापक तथा कुशल प्रशासक थे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी प्राध्यापक, सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष तथा विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में उनकी आध्यापनिक तथा प्रशासनिक सेवाएँ अविस्मरणीय रहेंगी। उपकुलपति के रूप में उन्होंने जिस दक्षता का परिचय दिया, वह हिंदीवालों के लिये गौरव की बात है क्योंकि भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों में अंगरेजी के विद्वानों का ही बाहुल्य रहता आया है और आज भी स्थिति बहुत बदली नहीं है। वे हिंदी के सक्रिय हिमायती थे। विक्रम विश्वविद्यालय के प्रशासन में हिंदी का प्रवेश कराकर उन्होंने अन्य विश्वविद्यालयों के लिये आदर्श उपस्थित किया।

इधर उनका स्वास्थ्य दुर्बल हो रहा था परंतु उन्होंने कार्याधिक्य से विश्राम नहीं लिया। अंततः उन्हें हठात् चिर विश्राम लेना पड़ा। आरंभकाल से ही वाजपेयी जी का नागरीप्रचारिणी सभा से घनिष्ठ संबंध रहा। रत्नाकर जी के द्वारा संगृहीत सामग्री के आधार पर सभा के 'सूरसागर' का प्रमाणिक और वैज्ञानिक संपादन सभा के साथ उनके संबंध की स्थायी पुण्यस्मृति है। वाजपेयी जी के निधन से संपूर्ण हिंदी साहित्य की, विशेषतः आलोचना के क्षेत्र में, जो अपूरणीय क्षति हुई है, उसकी निकट भविष्य में पूर्ति अत्यंत कठिन है।

पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी

विशुद्ध तथा जन्मजात साहित्यिक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी विगत २१ अगस्त १९६७ को इहलौकिक जीवन से उपराम लेकर चिरशांति प्राप्त कर ली। प्रायः ५० वर्षों तक आर्थिक संकटों तथा बहुमुखी प्रतारणाओं से जूझते हुए जिस अवधूत वेश में इस साहित्यशिल्पी ने सरस्वती की एकनिष्ठ आराधना की, उसका उदाहरण विरल है। शांतिप्रिय जी की शिक्षा दीक्षा मातृभाषा भोजपुरी तथा हिंदी की कुछ कक्षाओं तक ही सीमित रही। अन्य विदेशी क्या देशी भाषा तक से उनका स्पर्श न था। इस अर्थ में वे विशुद्ध तथा अप्रभावित सर्जक, विचारक तथा चिंतक थे। इतना संबलहीन प्राणी इतने उच्च कोटि का साहित्य सृजन कर जाय, यह दैवी सामर्थ्य की ही बात है।

वर्तमान हिंदी साहित्य और उसकी गतिविधियों में उनकी अलौकिक पैठ थी। उनकी विलक्षण सूझ बूझ से उनकी रचनाएँ ओतप्रोत हैं। चिंतन का अनोखा ढंग, अभिव्यंजना की अनोखी विधा, दृष्टिकोण की मौलिकता, परिमार्जित तथा सुघड़ भाषा में भावों को मुखरित करने की सबल क्षमता, सभी कुछ उनके अपने थे। शब्द के प्रयोग तथा भाषा को छील सँवार कर सजाने में तो वे बड़े कुशल शिल्पी थे। सही अर्थ में वे शैलीकार थे। उनके मस्तिष्क में हर समय जैसे कोई तुला काम करती रहती थी जिस पर प्रत्येक शब्द की तौल हो जाने पर ही वह कागज पर आने पाता था। काव्य, निबंध, कहानी, उपन्यास, संस्मरण आदि सभी विधाओं पर द्विवेदी जी ने सिद्धहस्त कलाकार जैसी तूलिका चलाई। अपने निराले ढंग से और जिन कठिन परिस्थितियों में जो साहित्य सृजन द्विवेदी जी ने किया उसका उदाहरण भारत ही नहीं विश्व के साहित्य में भी दुर्लभ है।

जीवन भर द्विवेदी जी एकाकी रहे। वे चिरकुमार ही रहे। शांतिप्रिय जी को जीवन भर भौतिक अर्थ में कभी शांति न मिल सकी। मृत्यु के समय उनकी वय ६१ वर्ष की थी। खादी के कुरते पैजामे से आच्छादित क्षीणकाय द्विवेदी जी का व्यक्तित्व अति साधारण तथा अकिंचन सा था। परंतु उस दुबले पतले साहित्यकार की लेखनी में अपार सौंदर्य भरा था। उनके अवसान से एक सरल भावुक लेखक, आलोचक तथा छायावाद का समर्थ व्याख्याता उठ गया। हिंदी जगत् ऐसे अवधूत साहित्यकार का चिर ऋणी रहेगा।

डॉ० हेमचंद्र जोशी

१६ अक्टूबर, १९६७ को डॉ० हेमचंद्र जोशी का निधन नैनीताल में होगया। डा० जोशी मूलतः अलमोड़ा के निवासी थे। उनका जन्म २१ जून, १८८४ को

नैनीताल में हुआ था। म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद से बी० ए० करने के उपरांत वे उच्च शिक्षा के लिये योरप चले गए और बर्लिन तथा पेरिस में उन्होंने जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं का अध्ययन किया। विदेश से वे डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त कर स्वदेश आए। तत्कालीन परिस्थियों में सुलभ होने पर भी उन्होंने सरकारी नौकरी करना पसंद नहीं किया। अतः उन्होंने साहित्यसेवा की स्वतंत्र वृत्ति अंगीकार की। उस कठिन समय को देखते हुए स्वतंत्र साहित्यसेवा के क्षेत्र को वरण करना बड़ा साहसिक कार्य था।

जीवन का आरंभ उन्होंने पत्रकारिता से किया और कलकत्ते से एक अत्यंत सुन्दर साप्ताहिक निकाला। इसमें राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रिय महत्व की सुविचारित सामग्री रहती थी। जोशी जी इसमें अंगरेजी तथा फ्रेंच - जर्मन आदि तथा अन्य स्रोतों से अलभ्य सामग्री प्रस्तुत करते थे। हिंदी में यह पत्र स्वरूपानुकूल प्रचार न पा सका और अंततः उसे बंद करदेना पड़ा। बंबई से जब 'धर्मयुग' का आरंभ हुआ तब जोशीजी उसके प्रथम संपादक नियुक्त हुए थे।

डा० जोशी ने आरंभ में कई छोटी मोटी पुस्तकें लिखीं किंतु उनका अपना क्षेत्र तो भाषाविज्ञान था। तत्संबंधी जो अनेक निबंध उनके यत्र तत्र प्रकाशित हुए हैं, उनसे उनके गंभीर अध्ययन तथा विवेचन की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। व्युत्पत्तिशास्त्र के वे माने हुए विद्वान् थे। हिंदी शब्दसागर के संशोधन परिवर्धन के हेतु कई वर्षों तक उन्होंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा में भी कार्य किया था। इधर अंतिम दिनों तक वे एक व्युत्पत्ति कोश भी तैयार कर रहे थे। यदि अपने अधूरे रूप में भी उसका प्रकाशन होजाय तो वह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

उनका एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल कृत प्राकृत व्याकरण का हिंदी अनुवाद। यह कार्य उन्होंने शब्दसागर के संपादनकाल में काशी में ही किया था। इसका प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने किया है। प्रो० मैक्समूलर के भाषाविज्ञान संबंधी व्याख्यानों का भी हिंदी अनुवाद उन्होंने किया है जिनका प्रकाशन उत्तर प्रदेश शासन की हिंदी समिति के तत्वावधान में हो रहा है। जोशी जी बड़े सरल स्वभाव के थे। सभा में अपने साथ कार्य करनेवाले सभी सहयोगियों को वे हँसाते रहते थे। उनका व्यवहार बड़ा वात्सल्यपूर्ण तथा निरभिमान होता था। विद्याभिमान का तो उनमें स्पर्श तक न था। जोशी जी के निधन से हिंदी ने अपना एक अनन्य सेवी खो दिया।

डा० विश्वनाथ प्रसाद

आगरा विश्वविद्यालय के अंतर्गत कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी विद्यापीठ

के संचालक तथा हिंदी के विद्वान् डा० विश्वनाथप्रसाद का निधन ६ नवंबर १६६७ को हो गया।

डाक्टर साहब का जन्म छपरा जिले के मुरार नामक ग्राम में हुआ था। पटना विश्वविद्यालय से हिंदी तथा संस्कृत में एम० ए० और बी० एल० की उपाधियाँ लेने के अतिरिक्त उन्होंने साहित्यरत्न और साहित्याचार्य की उपाधियाँ भी अर्जित की थीं। लंदन विश्वविद्यालय में भोजपुरी ध्वनियों पर शोधप्रबंध प्रस्तुत किया था। पहले वे पटना विश्वविद्यालय में अध्यापक हुए और लंदन से लौटने पर वहीं हिंदी-विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए। तदुपरांत दो वर्ष (१६५५-५७) पूना के दकन कालेज में प्रोफेसर भी रहे। १६५७ में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी विद्यापीठ आगरा की स्थापना होने पर उसके वे प्रथम संचालक हुए। पारिभाषिक शब्दावली निर्माण में भी उन्होंने आरंभ से ही योग दिया था।

भोजपुरी ध्वनियों के संबंध में उनका कार्य स्तुत्य है। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक पुस्तकें विभिन्न विषयों पर प्रकाशित हैं। बहुमुखी प्रतिभासंपन्न इस कर्मठ विद्वान के अवसान से हिंदी की चिंतनीय हानि हुई है।

श्री सुदर्शनजी

हिंदी के प्रारंभिक युग के प्रमुख कहानीकार एवं लेखक पंडित सुदर्शन का परलोकवास बंबई में गत दिसंबर १६६७ में हो गया। सुदर्शन जी द्विवेदीयुगीन पंजाबी लेखक थे। उनकी पहली कहानी सन् १६१२ में 'सरस्वती' में छपी थी। उनकी इस कहानी पर ही आचार्य द्विवेदी ने उनका बड़ा उत्साहवर्धन किया।

उनका जन्म सन् १८६६ में स्यालकोट में हुआ था। यद्यपि उनका वास्तविक नाम बदरीनाथ था किंतु वे स्वगृहीत साहित्यनाम 'सुदर्शन' से ही विख्यात थे। उन्होंने पंजाब से बी० ए० किया और पहले स्व० प्रेमचंद की भाँति उर्दू में ही लिखा करते थे। आगे चलकर हिंदी की ओर झुके। बाद में वे बंबई चले गए और वहाँ उन्होंने चलचित्र जगत् में भी सराहनीय सफलता प्राप्त की। अपने चलचित्र क्षेत्र से परे वे बंबई की साहित्यिक गतिविधियों को भी बराबर अपने सहयोग से प्रभावित करते रहे। उनकी कहानियों के संग्रह 'सुदर्शन सुधा', 'परिवर्तन' आदि प्रसिद्ध हैं। एक उपन्यास 'भागवंती' तथा एक प्रहसन 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' के भी वे लेखक थे। आधुनिक हिंदी कहानी विधा की स्थापना तथा उसके पल्लवन में प्रेमचंद जी, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा ज्वालादत्त शर्मा के साथ सुदर्शन जी भी अग्रणी रहे। उनके निधन से द्विवेदी युग की एक महत्वपूर्ण कड़ी टूट गई।

पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल 'आयुर्वेद पंचानन'

हिंदी जगत् के वृद्धतम जीवित लेखक और पत्रकार पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल का निधन गत दिसंबर १९६७ में प्रयाग में हो गया। मृत्यु के समय उनकी वय ९० वर्ष की थी। निःस्वार्थ हिंदी-सेवी-युग के वे अंतिम प्रतिनिधि थे। उनका जन्मस्थान फतेहपुर जिले का एकडला ग्राम था। बचपन में ही वे बिलासपुर चले गए थे और वहाँ प्रथम श्रेणी में नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण कर रायपुर के एक सरकारी विद्यालय में अध्यापन करने लगे। आगे वे श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' तथा पं० माधवराव सप्रे के संपर्क में आए। उन दिनों प्रयाग से 'प्रयाग समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र निकलता था। वे उसके संपादक होकर प्रयाग आ गए। इसके उपरांत बंबई के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के संपादक पं० लज्जाराम मेहता ने स्वयं सेवा निवृत्त होने के कारण इन्हें बंबई बुलाकर उसका संपादक मनोनीत किया। शुक्लजी ने कई वर्ष श्री 'वेंकटेश्वर समाचार' का सफल संपादन किया। आगे जब श्री माधवराव सप्रे ने 'हिंदी केसरी' निकाला तो इन्हें नागपुर बुला लिया। पत्र के बंद होने तक वे वहीं रहे।

बंबई में प्रसिद्ध वैद्य तथा आयुर्वेद प्रचारक पं० शंकर दा जी पदे से उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया। हिंदी केसरी के बंद होने पर वे प्रयाग आ गए और वहीं से उन्होंने पं० शंकर दा जी शास्त्री द्वारा आयोजित आयुर्वेद संमेलन का संगठन किया। फिर वे आजन्म प्रयाग ही में रहे तथा प्रायः ५० वर्ष तक आयुर्वेद-विषयक मासिक 'सुधानिधि' अपने व्यय से ही निकालते रहे। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें आयुर्वेद पर लिखीं। हिंदी साहित्य संमेलन की 'वैद्य विशारद' परीक्षा आरंभ करने की प्रेरणा भी इन्होंने ही दी। वर्षों तक वे उत्तर प्रदेश के भारतीय चिकित्सा बोर्ड के सदस्य रहे। झाँसी के आयुर्वेद विद्यालय के वे उपकुलपति भी चुने गये थे।

उनका जीवन बड़ा व्यस्त था। उनके लिखे ग्रंथों तथा 'सुधानिधि' के लिये लिखे गए पृष्ठों की संख्या ७०-८० हजार के लगभग होगी। इतना व्यस्त रहते भी वे कभी राजनीति तथा साहित्य से अलग नहीं रहे। प्राय: ४० वर्ष तक हिंदी साहित्य-संमेलन में वे किसी न किसी पद पर अवश्य रहे। वे परम वैष्णव तथा देशभक्त थे। राजनीतिक आंदोलनों में कई बार जेल भी गए थे।

उनके निधन से हिंदी का वृद्धतम साहित्यसेवी, पत्रकार तथा एकनिष्ठ हिंदीसेवी पीढ़ी का अंतिम प्रतिनिधि उठ गया।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी

सुदीर्घ रुग्णता के उपरांत हिंदी के वयोवृद्ध कवि तथा जागरूक राजनीतिज्ञ पं० माखनलाल चतुर्वेदी का निधन खँडवा में गत ३० जनवरी १९६८ को हो गया।

चतुर्वेदी जी के स्वर्गारोहण के साथ हिंदी के आज के पूर्ववर्ती युग का एक जीवंत नक्षत्र अस्त हो गया। महाप्रयाण के समय उनकी वय ८० वर्ष थी। कोमल प्रकृति तथा कोमला वृत्ति के कवि होते हुए भी वे कई वर्षों तक अनेक रोगों तथा दुर्बल स्वास्थ्य से जूझते रहे। अंतिम समय तक उनकी जागरूकता में ह्रास नहीं हुआ। इसका एक ज्वलंत प्रमाण तो यही है कि निधन से कुछ दिनों पूर्व ही उन्होंने सरकारी भाषा विधेयक पर क्षुब्ध होकर 'पद्मभूषण' अलंकार का परित्याग कर दिया।

राष्ट्रजागरण की भावना से ओतप्रोत कवि होने के अतिरिक्त वे भारतीय संस्कृति तथा भारतीय आत्मा के मूर्तरूप थे। भारत की तत्कालीन राजनीति में उनका सक्रिय योगदान ही नहीं वरन् उस समय के अग्रणी नेताओं के साथ मध्यप्रदेश की राजनीतिक चेतना तथा सशक्त वातावरण के निर्माण में उनका प्रमुख हाथ था। इसके लिये उन्होंने कई बार जेलयात्रा भी की। बहुतों को यह विदित न होगा कि युवावस्था में वे क्रांतिकारी दल में भी रह चुके थे। परंतु बाद में उनकी आस्था गाँधीजी के अहिंसा के सिद्धांतों की ओर उन्मुख हो गई और वे पक्के गाँधीवादी बन गए। खँडवा के नागरिकों ने उनकी ७०वीं वर्ष गाँठ पर एक अभिनंदन ग्रंथ द्वारा उनका समादर किया था।

उन्होंने केवल मातृभाषा हिंदी में ही शिक्षा प्राप्त की थी और अपना जीवन ग्रामीण प्राइमरी विद्यालयों में अध्यापन से आरंभ किया था। राजनीति तथा देशप्रेम के कारण वे सार्वजनिक जीवन में आ गए। कुछ दिन जबलपुर तथा सदैव खँडवा उनके कार्यक्षेत्र रहे। उनके काव्य और निबंध विदेशी प्रभाव या विचारधारा से अछूते हैं। वे स्वभावतः कवि थे। उनके काव्य में ललित कोमला वृत्ति सहज सुलभ है पर उसमें ओज का भी अभाव नहीं है। कोमलता और ओजस्विता का विचित्र संगम उनके काव्य में हैं। उनके निबंधों में भी काव्य का रस सुलभ है। 'साहित्य देवता' उनका श्रेष्ठतम निबंध संग्रह है और उनके निबंध साहित्य की उच्च कोटि में आते हैं। कवि, निबंधकार, नाटककार तथा पत्रकार आदि के रूप में उनकी साहित्यसेवा सर्वतोमुखी थी. उनका नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' अपने समय में बड़ा लोकप्रिय हुआ था। 'कर्मवीर' का उन्होंने बहुत लंबे समय तक संपादन किया था और 'प्रभा' एवं 'प्रताप' के संपादन विभागों में भी वे रहे थे।

उनका स्वभाव बड़ा मधुर तथा स्नेहसिक्त था। मध्यप्रदेश और मालवा की तरुण पीढ़ी उनकी प्रेरणा से अत्यधिक प्रभावित है। तरुणों की गति विधियों में उनकी सहज और सहानुभूतिपूर्ण रुचि थी। उनका सही पथप्रदर्शन करने में वे सदा अग्रणी रहे।

सही अर्थ में वे सर्वप्रिय थे और हर दिशा और हर वर्ग से उन्हें संमान प्राप्त था। हिंदी साहित्य संमेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति', सागर विश्वविद्यालय ने 'डाक्टर' की उपाधि से तथा भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' के अलंकार से अलंकृत किया था। उनके काव्यसंग्रह 'हिमकिरीटिनी' को साहित्य अकादमी के प्रथम हिंदी पुरस्कार से संमानित किया गया था। राज्यपाल की अध्यक्षता में संपन्न एक विशेष समारोह में मध्यप्रदेश शासन ने उनके संमान में दस सहस्र मुद्राओं की थैली भेंट की थी और पाँच सौ रुपए प्रति मास की आजीवन वृत्ति भी दी थी। हिंदी साहित्य संमेलन के वे प्रथम और अंतिम सभापति थे जिसका संमान रजत तुलादान से किया गया था।

यह शोभनीय संयोग ही है कि ऐसे महान् गांधीभक्त का निधन भी ३० जनवरी के दिन ही हुआ। उनके अवसान से हिंदी ने अपना मूर्धन्य और समर्थ उपासक तथा देश ने एक विशुद्ध भारतीय आत्मा को खो दिया।

पंडित पद्मनारायण आचार्य

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीडर पं० पद्मनाराण आचार्य का निधन सर सुंदरलाल अस्पताल (का० वि० वि०) में गत १ फरवरी १९६८ को प्रायः ६० वर्ष की वय में हो गया।

आचार्य जी सफल एवं विद्वान् अध्यापक होने के अतिरिक्त सभा के शुभचिंतक सदस्य एवं उसके द्वारा आयोजित 'प्रसाद व्याख्यानमाला' के संयोजक थे। प्रसाद साहित्य विशेषतः कामायनी के वे बड़े श्रद्धालु मर्मज्ञ थे। कामायनी उन्हें प्रायः कंठस्थ थी। डा० श्यामसुंदरदास तथा आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के प्रमुख शिष्यों में उनकी गणना थी और वे प्रसाद जी के प्रियजनों में थे। इधर प्रायः दो वर्षों से, आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के पुनरागमन से पूर्व, वे हिंदी विभाग के कार्यकारी अध्यक्ष रह चुके थे। काशी से प्रकाशित होनेवाले गीताधर्म (मासिक) के संपादक भी रहे थे।

डा० श्यामसुंदरदास की भाषाविज्ञान की प्रसिद्ध पुस्तक 'भाषारहस्य' के ये संयुक्त लेखक थे तथा आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के साथ अनेक पुस्तकों के प्रणेता तथा संपादक भी थे। यावज्जीवन आचार्य जी ने हिंदी नागरी की जो सेवा एकनिष्ठ भाव से की वह सबके लिये अनुकरणीय है।

हिंदी के अतिरिक्त वे संस्कृत तथा अंगरेजी के भी अच्छे विद्वान् थे। उनका स्वभाव बड़ा ही सरल और भावुक था। वंश परंपरा से ही परम वैष्णव होने के नाते भक्ति तथा भावुकता के वे मूर्तरूप ही थे। अध्ययन अध्यापन से उनका जो समय बचता था अथवा उसमें से अधिक से अधिक समय बचाकर वे भजन कीर्तन तथा भगवच्चर्चा में लीन रहते थे।

उनके तिरोधान से हिंदी नागरी के विद्वन्मंडल में जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में शक्य नहीं है।

श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़

काशी की मस्ती के जीवंत प्रतिनिधि, हास्य व्यंग्य के प्रमुख शिल्पी, नागरिकता के शिष्ट रूप, सुरुचिसंपन्नता के प्रतीक श्री 'बेढब' जी गत ९ मार्च १९६८ को हमें छोड़ गए। निधन के समय उनकी वय ७३ वर्ष की थी। मृत्यु के प्रायः एक सप्ताह पूर्व वे एक कवि संमेलन में प्रयाग गए थे। लौटते ही उन्हें ज्वर हो गया और २-३ दिनों में ही उनकी रुग्णता प्राणघातक रूप में परिणत हो गई। फलतः उन्हें काशी-हिंदू विश्वविद्यालय के सर सुंदरलाल चिकित्सालय में शरणागत करना पड़ा और वहीं उन्होंने अंतिम साँस ली। इधर उनका स्वास्थ्य दुर्बल अवश्य था पर किसी को यह आशंका नहीं थी कि वे प्रयाण में इतनी शीघ्रता कर काशी की अनोखी जीवनपरंपरा को समेट लेंगे।

गौड़ जी का जन्म सं० १९५२ को प्रबोधिनी एकादशी को काशी में ही हुआ था। बाल्यकाल में पितृवियोग के कारण वे आजमगढ़ जिले के निजामाबाद (अपने ननिहाल) में कुछ दिन रहे थे। उनकी शिक्षा दीक्षा काशी तथा प्रयाग में हुई थी। उन्होंने एम० ए०, एल० टी० किया और काशीस्थ दयानंद स्कूल (बाद में इंटर कालेज) अध्यापक होकर जीवन क्षेत्र में प्रवेश किया। आगे उसी विद्यालय के आचार्य होकर वे सेवानिवृत्त हुए। वे उन दुर्लभ व्यक्तियों में थे जिनमें दैवयोग से रूप-रस-गुण का विचित्र समन्वय हुआ था। वे जहाँ कहीं जाते हास बिखेरते हुए जाते थे और जहाँ नहीं जाते थे वहाँ उनका अभाव खटकता था।

सफल अध्यापक होने के अतिरिक्त वे बहुमुखी रुचि के व्यक्ति थे। हास्य-व्यंग्यकार के रूप में तो हिंदी जगत् उनसे परिचित ही है। ३०-४० वर्षों तक वे इस दिशा में जगमगाते रहे। उन्हें संगीत से भी बड़ा प्रेम था। काशी की प्रमुख संगीत संस्था 'संगीत परिषद्' के वे बराबर प्रेरक और संगीत संमेलनों के स्वागताध्यक्ष रहे। उनके कारण संगीत में साहित्य का अभूतपूर्व संगम होता था। मास्टर साहब बड़ी शौकीन तबीयत के आदमी थे। जिन्होंने उन्हें निकट से देखा है वे जानते हैं कि हर वस्तु वे बढ़िया से बढ़िया लाते थे। खाने खिलाने में भी उनका जोड़ कठिन है। उनका सुरुचिपूर्ण ग्रंथसंग्रह तथा उनकी अन्य सभी उपयोग की वस्तुएँ उनकी इस रईसी तबीयत और परिष्कृत सुरुचि की साक्षी हैं।

अनेक वर्षों तक वे उत्तर प्रदेशीय विधान परिषद् के मनोनीत सदस्य रहे। काशी ही नहीं, बाहर भी कदाचित् ही कोई ऐसी संस्था होगी जिसका उनसे किसी न किसी प्रकार संबंध न रहा हो। हिंदी साहित्य संमेलन के कोटा अधिवेशन में

साहित्य परिषद् की अध्यक्षता उन्होंने की थी। हिंदी साहित्य संमेलन के मंत्री तथा उत्तर प्रदेशीय हिंदी साहित्य संमेलन के अध्यक्ष भी वे रह चुके थे। सभा के साथ उनका बहुत पुराना संबंध था। वे सभा के प्रधान मंत्री भी रह चुके थे और सभा के क्रियाकलाप में सदैव उनका सक्रिय सहयोग उपलब्ध था। जीवन के अंतिम क्षण तक वे सभा के खोज विभाग के निरीक्षक थे और साथ ही हिंदी शब्दसागर के परिवर्द्धित संस्करण की दैनंदिन गतिविधि का निरीक्षण कर रहे थे। उक्त संस्करण के चार खंड उनके निरीक्षण में प्रकाशित हो चुके थे और पाँचवाँ खंड समाप्तप्राय था। उनकी अनेक रचनाएँ – बेढब की बहक, महत्व के गुमनाम पत्र, लफटंट पिगसन की डायरी, मसूरीवाली, बनारसी एक्का, हुक्कापानी, जब मैं मर गया था, टनाटन, अभिनेता, धन्यवाद, उपहार, बेढब बानी, तथा कई परीक्षोपयोगी संग्रह प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक उर्दू-काव्य-संग्रह का भी संपादन संकलन किया था। उन्होंने भी हास्यपत्र निकाले थे या उनका संपादन किया था। उनमें प्रमुख हैं—भूत, भोंड़, खुदा की राह पर, तरंग, करेला, प्रसाद, आँधी, साप्ताहिक 'संसार' आदि।

गौड़ जी के निधन से साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में जो अंतराल आया है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में शक्य नहीं है।

संपादकाचार्य पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी

संपादकाचार्य पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के निधन से संपादकत्रयी की बची खुची तीसरी कड़ी भी टूट गयी। श्री वाजपेयी जी के साथ ही संपादन कला का एक युग समाप्त हो गया। इस त्रयी की दो कड़ियाँ (स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर और स्वर्गीय लक्ष्मण नारायण गर्दे) पहले ही टूट चुकी थीं। हिंदी-पत्रकारिता जगत् के लिए यह बहुत बड़े दुर्भाग्य की बात है। इधर हिंदी जगत् पर निरंतर आघात आए हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, कृष्णदेव गौड़ 'बेढब' बनारसी तथा पद्मनारायण आचार्य जैसी विभूतियाँ हमारे बीच से उठ गईं।

वाजपेयी जी के निधन से हिंदीजगत् की एक ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में तो नहीं ही हो सकेगी। उनकी संपादन कला को दो भागों में बाँटकर उनका अलग अलग अध्ययन आज नहीं तो कल अवश्य किया जायगा। उन्होंने ब्रिटिश काल में एक प्रकार का संपादनकार्य किया और दूसरे प्रकार का संपादन स्वतंत्र भारत में किया। दोनों काल में ही वे उच्चकोटि के संपादक दीख पड़ते हैं। परतंत्र भारत में भारतीय संपादक का दायित्व कुछ और, स्वतंत्र भारत में कुछ और हो गया। आपने दोनों को ही निभाया। कई बार जेल यातना भी सही किंतु कभी भी विचलित नहीं हुए। १५ अगस्त सन् ४७ के पश्चात् एक उच्चकोटि के पत्रकार

की हैसियत से आपने अपनी सरकार को अनेक सुझाव भी दिए, जिनमें से कई को माना भी गया। वैसे तो वाजपेयी जी की लेखनी से निकली अपार सामग्री तमाम पत्र पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है किंतु आप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है—'हिंदी पत्रकारिता का इतिहास।' कलकत्ते से निकलने वाले 'भारत मित्र' से लेकर गत नवम्बर तक आप बराबर नियंत्रित रूप से लिखते रहे। निश्चय ही एक दिन ऐसा आएगा जब आप द्वारा लिखित तमाम सामग्री एकत्र की जायगी और वर्गीकरण के साथ हिंदी जगत् के लोग उसका अध्ययन कर लाभान्वित होंगे।

हम भूतभावन भगवान विश्वनाथ से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।

———

उक्त सभी दिवंगत हिंदी सेवियों की पुण्यस्मृति में हम साश्रुनयन तथा श्रद्धावनत श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परमपिता से प्रार्थना करते हैं कि गतात्माओं को शांति प्रदान करे।

—संपादक
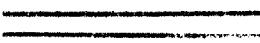
कुतुबनकृत 'मृगावती' के तीन संस्करण*

परशुराम चतुर्वेदी

हिंदी के सूफी कवियों की अभीतक उपलब्ध प्रेमगाथात्मक रचनाओं में कुतुबनकृत 'मृगावती' को, कालक्रमानुसार, द्वितीय स्थान दिया जाता आया है और मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' कोभी, इस प्रकार की प्रथम कृति होने का श्रेय प्रदान किया गया है। इन दोनों के रचनाकाल में लगभग सवासौ वर्षों का अंतर लक्षित होता है, किंतु इस दीर्घ काल के बीच लिखी गई किसी अन्य ऐसी प्रेमगाथा का आजतक पता भी नहीं चल सका है और न इन दोनों में से किसी की सर्वथा पूर्ण एवं प्रामाणिक प्रति ही अभी मिल सकी है। फिर भी हिंदी में अपने ढंग की प्रारंभिक रचना होने के नाते, ये दोनों ही हमारा ध्यान प्रायः एक समान आकृष्ट करती आ रही हैं, जिस कारण इन्हें, इनसे संबंधित अधूरी सामग्री के आधार पर भी संपादन कर प्रकाशित कर देने का लोभ संवरण करना हमारे लिये अत्यंत कठिन बन गया सा प्रतीत होता आया है। फलतः उक्त चंदायन के एक से अधिक संस्करण पहले, सन् १९६२ ई० से लेकर सन् १९६७ ई० तक के भीतर, क्रमशः आगरा, बंबई और फिर आगरा से, निकाले गए थे तथा अब उसी प्रकार क्रमशः प्रयाग, वाराणसी एवं आगरा से, सन् १९६३ ई० से लेकर सन् १९६८ ई० की जनवरी तक, 'मृगावती' का भी प्रकाशन तीन बार कर दिया गया है जो कम उल्लेखनीय नहीं ठहराया जा सकता तथा इस बात की ओर भी हमारे ध्यान का चला जाना स्वाभाविक है। वास्तव में इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा एक ओर जहाँ हमारे किसी चिरकालीन

*१. कुतुबनकृत मृगावती—सं० डा० शिवगोपाल मिश्र, प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रकाशक, हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग, शक सं० १८८५ (सन १९६३ ई०) मूल्य ६)।

२. 'कुतुबनकृत मिरगावती'—सं० डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, अध्यक्ष पटना संग्रहालय ; वितरक, विश्वविद्यालय प्रकाशन भैरवनाथ, वाराणसी, सन् १९६७ ई०, मूल्य १६ ।

३. कुतुबनकृत मृगावती सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, निदेशक क० मुं० हिंदी तथा भषाविज्ञान विद्यापीठ आगरा प्रकाशक प्रमाणिक प्रकाशन, आगरा जन० सन् १९६८ ।

कुन १ल की कुछ न कुछ शांति मात्र हो जाती है, वहीं दूसरी ओर हमारे लिये यह भी आवश्यक हो गया जान पड़ता है कि हिंदी वाङ्मय विषयक अनुसंधान-कार्य के इस क्षेत्र में भी यथेष्ट प्रगति लाने के विचार से, हम, यदाकदा अपने से प्रयत्नों का कोई न कोई लेखा जोखा भी प्रस्तुत करते चलें जिससे हमें न केवल अपनी वर्तमान स्थिति का बोध हो जा सके, अपितु अपनी उपलब्धियों के संबंध में निर्णय करते समय, हमें कदाचित् कुछ सहायता भी मिल जाय। उक्त तीनों संस्करणों पर विचार करते समय हमारा अध्ययन कोई तुलनात्मक रूप भी ग्रहण कर ले सकता है जो स्वयं कम रोचक न होगा तथा, इसके साथ ही अब तक इस ओर किए गए अपने क्रमिक विकास की एक रूपरेखा तक भी हमारे सामने आ जा सकेगी।

कुतुबन कृत 'मृगावती' के उपर्युक्त तीनों ही संस्करण, स्वभावतः दो दो प्रमुख भागों में विभक्त हैं जिनमें से प्रथम को 'भूमिका भाग' तथा द्वितीय को प्रतिस्थ मूल पाठ भाग'—जैसे दो पृथक् पृथक् नाम दिए जा सकते हैं और इसी प्रकार उनसे बच गए अंशो को भी, किसी एक 'परिशिष्ट भाग' के अंतर्गत, स्थान देकर, उसपर अपना विचार प्रकट कर सकते हैं। प्रयाग एवं आगरावाले संस्करणों में उक्त प्रथम भाग को वस्तुतः 'भूमिका' कहा गया भी दीख पड़ता है, किंतु वाराणसीवाले संस्करण में उसको 'अनुशीलन' जैसा एक भिन्न नाम दिया गया पाया जाता है जिसके लिये किसी स्पष्ट कारण का कोई संकेत भी वहाँ नहीं मिलता। इसी प्रकार प्रयागवाले संस्करण के इस भाग के अंत में, जहाँ एक अंश 'आभार' को जोड़ दिया गया है तथा वाराणसीवाले संस्करण ने भी आरंभ में, उसे, 'कृतज्ञता ज्ञापन' के रूप में, लगा दिया गया है वहाँ इस प्रकार के किसी पृथक शीर्षक की आवश्यकता, आगरावाले संस्करण को प्रकाशित करते समय, कदाचित नहीं समझी गई है। इसके सिवाय, वाराणसी संस्करण के अंतर्गत, सर्वप्रथम, एक 'वार्तिक' नाम का अंश मिलता है तथा, इसी प्रकार, आगरावाले संस्करण के भी अंत में, उसे, इससे कहीं अधिक स्पष्ट शब्द 'संशोधन' द्वारा, अभिहित किया गया दीख पड़ता है और ये दोनों 'भूल सुधार' के परिचायक माने जा सकते हैं, किंतु प्रयाग वाले संस्करण में ऐसा कुछ भी नहीं पाया जाता। इन तीनों संस्करणों का 'भूमिका भाग' वस्तुतः 'मृगावती' तथा तत्संबंधित कतिपय अन्य विषयों की चर्चा छेड़ने अथवा उन पर कुछ न कुछ आलोचनात्मक टीका टिप्पणी कर देने मात्र के ही उद्देश्य से, लिखा गया है जिससे हमें उस रचना की थोड़ी बहुत जानकारी हो जाय और तदनुसार हमारे लिये वह आगे नितांत अपरिचित सी न लगने पाए। अतएव, तीनों के अंतर्गत उसे विभिन्न शीर्षकों में विभाजित भी कर दिया गया है किंतु इन्हें सर्वत्र एक सा ही क्रम प्रदान किया गया नहीं दीख पड़ता। फिर भी हम, उसका विवेचन प्रस्तुत करते समय, इन्हें अपनी सुविधा के अनुसार, सात विभिन्न शीर्षकों में रख सकते हैं और इन्हें क्रमशः-

१ प्रासंगिक उल्लेख, २ उपलब्ध प्रतियाँ, ३ रचयिता तथा रचना काल ४ मृगावती का कथानक, ५ इसके वर्ण्यविषय, ६ इसकी भाषा एवं रचना शैली तथा ७ इसकी विशेषताएँ जैसे नाम भी दे सकते हैं और इनमें से दूसरे अर्थात् उपलब्ध प्रतियों-वाले अंश को 'मूल पाठभाग' वाले द्वितीय खंड में स्थान दे सकते हैं। इस प्रकार इस रचनावाले वास्तविक पाठ से संबंधित बातों की चर्चा, उपर्युक्त प्रति एवं मूल पाठभाग' के अंतर्गत, की जा सकती है। यहाँ पर इतना और भी उल्लेखनीय है कि 'भूमिका भाग' की अधिकांश बातें, इन तीनों संस्करणों में, किन्हीं न किन्हीं पूर्वपरिचित एवं सामान्य तथ्यों पर ही आधारित जान पड़ती हैं जिस कारण, उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर यहाँ केवल कुछ प्रमुख नवीन प्रश्नों पर ही विचार हो सकेगा।

१ भूमिका भाग 'मृगावती संबंधी प्रासंगिक उल्लेखों की चर्चा करते समय, प्रयाग संस्करण के अंतर्गत, जायसी की 'पद्मावत', उसमान की 'चित्रावली' एवं जैन कवि बनारसी दास की 'अर्द्धकथानक' नामक आत्म कथा की ओर संकेत किया गया मिलता है[1] तथा वाराणसीवाले संस्करण में, इन तीनों के अतिरिक्त, किसी 'रूपावती' का भी नाम लिया गया है जिसके रचयिता का नाम नहीं दिया है,[2] किंतु जहाँ तक आगरावाले संस्करण के विषय में कहा जा सकता है, वहाँ पर इनमें से केवल 'पद्मावत' एवं 'अर्द्धकथानक' की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है[3] जिसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि इस संस्करण में उक्त प्रकार के उल्लेखों को उतना महत्व ही नहीं दिया गया होगा। वास्तव में वहाँ पर कुतुबन कृत 'मृगावती' की प्रसिद्धि मात्र का प्रश्न उतना उल्लेखनीय नहीं समझा जा सकता जितना वह, जो इसके मूलस्रोत विषयक अनुसंधान से संबंध रखता है और इस दृष्टि से विचार करने पर यहाँ उक्त दोनों का प्रसंग लाना तक भी अनावश्यक प्रतीत हो सकता है, जिस कारण, अन्य दो संस्करणों में, इन दोनों बातों की पृथक् पृथक् चर्चा की गई तथा इन पर अपने अपने विचार भी प्रकट किए गए दीख पड़ते हैं।[4] कथा का मूलस्रोत अथवा आधार कृति विषयक उक्त शीर्षकों में वस्तुतः 'मृगावती' वाले कथानक की प्राचीनता अथवा इसके किसी पूर्ववर्ती प्रेमगाथात्मक रचना पर आधारित होने के संबंध में, निर्णय करने के प्रयास का ही परिणाम आना चाहिए जिस

१. प्र० सं० (पृ० १ व ७-८)।
२. वा० सं० (पृ० १-४)।
३. आ० सं० (पृ० १८)
४. दे० प्र० सं० (पृ० २३-४) व वा० सं० (पृ० ६६-६) भी।

प्रसंग में प्रथम दो संस्करण जैन साहित्य में उपलब्ध सती मृगावती संबंधी रचनाओं का भी नामोल्लेख करते पाए जाते हैं[५] तथा उक्त प्रसंग में 'एकादश अंगसूत्र' जैसे प्राचीन जैन ग्रंथ तक का नाम लिया गया है[६] जो यहाँ उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय प्रयाग संस्करण में जो जैन कवि समयसुंदर की कृति 'मृगावती रास' को 'मृगावती' चौपाई जैसे नाम द्वारा अभिहित किया गया है[७] वह भूल सुधार की भी अपेक्षा करता है। सती मृगावती संबंधी जैन कथावाली पुरानी रचनाओं का उपयोग यहाँ पर, अधिक से अधिक इसकी कथा से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करने अथवा कतिपय परंपरागत रूढ़ियों या अभिप्रायों को उदाहृत करने के लिये, भले ही किया जा सकता था जैसा यहाँ पर कुछ अंशों में किया गया भी पाया जाता है, किंतु इस प्रेमगाथात्मक रचना की आधार कृति का पता लगाते समय भी, उन पर विशेष ध्यान देना कदाचित् निरर्थक तक भी कहला सकता है।

कुतुबनकृत 'मृगावती' की कथावस्तु के साथ किसी न किसी रूप में साम्य रखनेवाली कथाओं पर आधारित प्रेमगाथात्मक रचनाओं की भी एक से अधिक परंपराएँ हो सकती हैं जिनके अनुसार लिखी गई प्रायः सभी कृतियों का विवेचन करना यहाँ पर न केवल उपयुक्त प्रत्युत कुछ दृष्टियों से अभीष्ट वा अनिवार्यत तक भी समझा जा सकता है। अतएव, इन तीनों ही संस्करणों के अंतर्गत, वैसी कई प्रेम-गाथाओं का भी नामोल्लेख किया गया मिलता है तथा कहीं कहीं पर उनमें से कुछ के साथ इसके कथानक आदि का एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया पाया जाता है।[८] परंतु इस प्रकार की रचनाओं में से बहुत सी इसकी परवर्ती भी जान पड़ती हैं जिस कारण, इसके मूलस्रोत का निर्धारण करते समय, उनसे हमें उतनी सहायता नहीं मिलती तथा, इसके साथ ही, हमारे सामने यह प्रश्न भी उठ जाता है कि उनके द्वारा सूचित होने वाली उपर्युक्त परंपराओं में से किसे सर्वाधिक प्राचीन माना जाय तथा जिस परंपरा विशेष का अनुसरण इस कृति के अंतर्गत किया गया जान पड़ता है उस वर्ग में इसे कहाँ तक मौलिक ठहराने का श्रेय भी दिया जाय। इसके सिवाय, ऐसे प्रश्नों पर विचार करते समय, हमारा ध्यान एक अन्य बात की

५. प्र० सं० (पृ० ६) व वा० सं० (पृ० २-३)।
६. प्र० सं० (पृ० १३४) तथा वा० सं० (पृ० २-३)।
७. प्र० सं० (पृ० ६)।
८. प्र० सं० (पृ० ६-७,१४) व वा० सं० (पृ० ६६-७३) आ० सं० (पृ० १८-३०) आदि।

ओर भी जा सकता है जो इसके नायक-नायिकादि वाले नामों अथवा इसके कतिपय प्रसंगों से कुछ न कुछ भिन्न दीख पड़ने वाले विषयों के कारण, उठाई जा सकती है, क्योंकि, यह बहुत संभव है कि, कई वैसी प्रेमगाथाओं में, नामसाम्य का बाहुल्य न रहते हुए भी, उनकी बहुत सी घटनाएँ ही एक समान कहला सकती हों अथवा इसके विपरीत, नामसाम्य के होते हुए भी, उनमें वर्णित घटनाओं में बहुत सी भिन्नता दीख पड़ने लगे। स्वयं कुतुबन के कथनानुसार हमें ऐसा लगता है कि उसकी इस रचना की कथावस्तु पहले कभी 'हिंदुई' में रही होगी जिसके अनंतर फिर इसे 'तुरकी' में भी 'कह दिया गया' होगा और, अंत में, उसके मर्म का उद्‌घाटन करते हुए, उस कवि ने उसे वर्तमान रूप दे दिया होगा।[९] किंतु इस रचना द्वारा उसके उक्त कथन का यथेष्ट स्पष्टीकरण होता कहीं नहीं दीख पड़ता और न यही समझ पड़ता है कि उनमें से किसके कितने अंश को उस कवि ने अपनाया होगा अथवा कहाँ तक इसमें नवीन बातों का समावेश कर दिया होगा। प्रयाग संस्करण के अंतर्गत इस बातकी ओर पूरा ध्यान दिया गया नहीं दीख पड़ता[१०] तथा वाराणसी संस्करण में भी, इसकी कुछ चर्चा परंपरागत कथा रूढ़ियों या अभिप्रायादि पर विचार करते समय, विस्तार के साथ की गई कही जा सकती है[११] जो इस संबंध में यथेष्ट नहीं कहला सकता, यद्यपि इसके द्वारा कतिपय अन्य प्रासंगिक प्रश्नों पर प्रकाश अवश्य पड़ जाता है। आगरेवाले संस्करण के अंतर्गत इस विषय पर विचार करते समय, कहीं अधिक सावधानी से काम लिया गया प्रतीत होता है। विभिन्न कथानकों की पारस्परिक तुलना के सहारे तथा कतिपय उपयुक्त उद्धरणों के संदर्भ में भी, इस ओर यहाँ, एक अच्छा प्रयास किया गया है[१२] और यहाँ पर किए गए एकाध संकेतों का सूत्र पकड़ कर उसे आगे भी बढ़ाया जा सकता है। उदाहरण के लिये मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' में वाजिर द्वारा गाए गए गीत (गीति चंद्रावलि) को ध्यान में रखते हुए, तथा बंगला कवि द्विज पशुपति की रचना 'चंद्रावलि' का आधार लेकर कथासाम्य के सहारे कुछ काम करने की ओर, यहाँ पर एक दिशा निर्देश मिल जाता है जो कम उल्लेखनीय नहीं कहला सकता।[१३]

कुतुबन कृत 'मृगावती' वाली कथावस्तु का परिचय, इसके वर्तमान पाठों

९. कडवक ४२६ (आ० सं० पृ० ३६८-९)।
१०. पृ० १२-६ व २३-६।
११. ६६-७८।
१२. आ० सं० (पृ० १८-२७ व २७-३०)
१३. वही (पृ० २०)।

के उपलब्ध होने के पूर्व, केवल थोड़े में ही दे दिया जाता रहा और वह नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की सन् १६०० ई० वाली 'खोज रिपोर्ट' पर आधारित रहा। परंतु इन तीनों संस्करणों के अंतर्गत, उसका सार, अपनी अपनी आदर्श हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार, दिया गया पाया जाता है तथा, जैसा हम इसके पहले भी कह आए हैं, इसके साथ कभी कभी कुछ अन्य इस प्रकार की रचनाओं के कथानकों के सारांश भी यहाँ पर उसकी तुलना के लिये, दे दिए गए दीख पड़ते हैं। तद्नुसार, प्रयाग एवं वाराणसी वाले संस्करणों में, जहाँ केवल इसकी कथा मात्र का ही परिचय दे देने की चेष्टा की गई है[१४] जो कहीं कहीं परस्पर भिन्न जान पड़ती हैं वहाँ आगरावाले में इसे, उतने ही तक सीमित न रखते हुए, वस्तुतः ग्रंथ के पूरे वर्ण्य विषय का सार दे दिया गया है[१५] जो यहाँपर, 'कथासार' मात्र की दृष्टि से, उतना उचित या आवश्यक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, उक्त प्रथम दो संस्करणों में, जहाँ इस रचना के भीतर आगई अंतर्कथाओं की भी चर्चा की गई मिलती है तथा वाराणसी वाले में उसे कुछ विस्तार तक भी दे दिया गया दीख पड़ता है[१६] वहाँ आगरा वाले संस्करण में उसकी ओर कोई विशेष ध्यान दिया गया नहीं पाया जाता और न यहाँ पर उन 'देश काल' एवं 'पात्र' अथवा 'जीवनचित्रण' एवं 'भौगोलिक परिचय' जैसे विषयों का ही समावेश किया गया मिलता है जिनका यहाँ अनावश्यक होना भी नहीं जान पड़ता। हाँ, जहाँ तक इस रचना के निर्माण संबंधी 'उद्देश्य' अथवा इसके 'संदेश' की भी बात कही जा सकती है, आगरावाले संस्करण में, इसके संबंध में अधिक विस्तार के साथ, विवेचन किया गया है जो विचारणीय है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रयाग संस्करण जहाँ ऐसे उद्देश्य का 'जोग साधना' के द्वारा प्रेमप्राप्ति की 'व्यंजना' मात्र होना कहा गया है तथा, वाराणसी संस्करण में इसे ही, 'रसभरी' बातों के माध्यम से कुछ रहस्य भरी बातों का कहा जाना बतलाया गया है[१७] वहाँ आगरा संस्करण के अंतर्गत, इस रचना के 'संदेश' के रूप में, 'अमरत्व लाभ के लिए 'मरणमार्ग का उपदेश' जैसे वाक्यांश की एक विस्तृत व्याख्या की गई है तथा उसके साथ ही संसार का उपभोग करते हुए, 'धरम' (अर्थात् उपकार) करने एवं 'सृष्टिकर्ता का चिंतन करने का उपदेश' जैसी बात की ओर एक संकेत भी कर दिया गया है।[१८] वास्तव में, सूफी कवि कुतुबन की इस रचना

१४. प्र० सं० (पृ० १६-२३) व वा० सं० (पृ० ५१-६)।
१५. आ० सं० (पृ० ६-१७)।
१६. प्र सं० (पृ० २१-३१) व वा० सं० (पृ० ७३-८०)।
१७. प्र० सं० (पृ० २७) व वा० सं० (पृ० ८०-२)
१८. आ० सं० (पृ० ३३-४१)

के अंतर्गत, उक्त सभी कथन यत्र तत्र, केवल प्रसंगवश किए गए भी, हो सकते हैं, किंतु इनका महत्व, इसी कारण, कम नहीं हो जाता और न उक्त प्रकार की विविध कल्पनाओं को हम सहसा असंगत ही ठहरा सकते हैं।

उपर्युक्त वर्ण्य विषयों के अतिरिक्त एकाध अन्य ऐसे प्रसंग भी इन संस्करणों में आ गए हैं जिनके शीर्षक सभी के अंतर्गत ठीक एक समान नहीं पाए जाते तथा जिन्हें इस दृष्टि से विशिष्ट कह डालने तक की प्रवृत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिये प्रयाग संस्करण में इस प्रकार का एक विषय 'विरह की रहस्यानुभूति' नाम से आया है तथा एक अन्य भी वहाँ पर 'कहानी तत्व का निरूपण' जैसे नाम के साथ पाया जाता है[१९] जिनका अन्य दोनों संस्करणों में कहीं अस्तित्व नहीं जान पड़ता। परंतु, यदि ध्यानपूर्वक देखा जा सके तो, इनमें से पहले का एक विवेचन, आगरा संस्करण के अंतर्गत 'रचना का संदेश' शीर्षक द्वारा कर दिया दीख पड़ेगा[२०] जिसकी चर्चा हम इसके पूर्व भी कर आए हैं तथा दूसरा, कुछ अधूरा सा होने के कारण, उतना महत्व भी नहीं रखता। इसी प्रकार वाराणसी एवं आगरा के संस्करणों में भी, रचना के स्वरूप तथा इसके नाम पर विचार करने के उद्देश्य से, तत्संबंधित शीर्षकों का समावेश किया गया दीख पड़ता है[२१] जिसका पता प्रयाग-संस्करण में नहीं चलता। इनमें से प्रथम के विषय में चर्चा करते हुए, उक्त दोनों ही संस्करणों के अंतर्गत, 'मृगावती' को सर्वांशतः भारतीय अथवा पूर्ण रूप से भारतीय जैसा कहा गया है, किंतु जहाँ तक नाम के संबंध में कहा जा सकता है, वाराणसीवाले संस्करण में इसे 'सीधे सादे ढंग पर' 'मिरगावती' रूप में अधिक समीचीन समझा गया है जहाँ आगरा संस्करण में इसे 'मृगावती' रूप में 'स्वीकार' कर लिया गया है। आगरावाले संस्करण की एक विशिष्टता इस बात में भी लक्षित होती है कि यहाँ पर मूल रचना की विभिन्न प्रतियों के पाठों पर समीक्षात्मक विचार करते समय, कई बातें कुछ अधिक विस्तार के साथ और व्यवस्थित ढंग से भी कही गई जान पड़ती हैं और यहाँ वैसे कुछ शीर्षक भी पाए जाते हैं।

कुतुबन कृत 'मृगावती' की भाषा शैली की चर्चा करते समय, तीनों ही संस्करणों में यह प्रश्न हल करने की चेष्टा की गई दीखती है कि उसे कौन सा एक नाम देना अधिक उपयुक्त हो सकता है। इस संबंध में, प्रयाग संस्करण के अंतर्गत, उसके स्वरूप को 'लौकिक या बोलचाल की भाषा का सा' बतलाकर उसे उस कालवाली

१९. प्र० सं० (पृ० ३८४६ व २६-७)।
२०. आ० सं० (पृ० ३३-४१)।
२१. वा सं० (पृ० ४९-५० व २७८) तथा आ० सं० (पृ० ४●)

'जनता की भाषा' (अवधी) भी कह दिया गया जान पड़ता है[२२] जिसे संपादक के अनुसार, स्वयं कुतुबन ने भी 'षट्भाषा' या मिश्रित भाषा जैसा नाम दिया है। इसी प्रकार वाराणसी संस्करण में भी, तद्विषयक प्रश्न उठाते समय, उसे 'देश भाषा' जैसा नाम देना ही उचित समझा गया है तथा इस विचार से, उसी का बदायूनी द्वारा प्रयुक्त 'हिंदवी नाम' का भी उल्लेख किया गया है। वास्तव में इस संस्करणवाले संपादक को इस प्रकार की भाषा का 'अवधी के रूप में प्रादेशिक भाषा' जैसे किसी नाम द्वारा अभिहित किया जाना निराधार दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता [२३] जिसके समर्थन में यहाँ पर कई बातें भी बतलाई गई हैं। इसके विपरीत आगरा संस्करण में इस रचना की भाषा को 'अवधी है और किंचित् पुरानी अवधी है' जैसा कहा गया मिलता है तथा इसके अतिरिक्त यहाँ पर भी बतला दिया गया है कि चौपाइयों की भाषा तत्कालीन बोलचाल की 'अवधी है और दोहों की भाषा सर्वत्र तो नहीं, किंतु प्रायः साहित्यिक अवधी है जिसमें उत्तरकालीन अपभ्रंश की छाया देखी जा सकती है'। इस तीसरे संस्करण के संपादक ने भी अपने इस मत की पुष्टि में इस रचना के ही दो दर्जन दोहे उद्धृत किए हैं, 'कुतुबशतक' वाली 'हिंदुई' का हवाला दिया है[२४] तथा फिर भी उसमें इसपर अपना अंतिम शब्द नहीं कहा है जैसा, इसके लिये कुछ प्रतीक्षा करने से भी प्रतीत होता है।[२५] द्वितीय एवं तृतीय संस्करणों के अंतर्गत इस रचना की लिपि एवं भाषा का अन्यत्र[२६] कुछ विस्तृत विवेचन किया गया मिलता है जो अधिकतर उक्त दोनों संपादकों के बीच पाए जानेवाले पारस्परिक मतभेदों की ही ओर संकेत करता है। वाराणसी संस्करण में पूरी दृढ़ता के साथ कहा गया दीख पड़ता है, 'मानना होगा कि इन काव्यों की मूल प्रतियाँ फारसी लिपि में लिखी गई थीं और इस कारण फारसी प्रतियों को नागरी–कैथी प्रतियों की अपेक्षा प्रामाणिक स्वीकार करना होगा तथा इस बात को यहाँ पर स्वीकार भी कर लिया गया है कि 'मिरगावती का प्रस्तुत संस्करण भी चंदायन की तरह ही फारसी प्रतियों पर आधारित है'।[२७] परंतु आगरावाले संस्करण में बतलाया गया है कि जो

२२. प्र० सं० (पृ० २४-५)।

२३. वा० सं० (पृ० ३८ व ४८)।

२४. आ० सं० (पृ० ३० व ३१ टि०)।

२५. आ० सं० (पृ० ३३)।

२६. वा० सं० (पृ० ८-३७ व ४२-४) तथा आ० सं० (पृ० ५५-८ व पृ० ५६-७०)।

२७. वा० सं० (पृ० ३८ व ४४)।

भूलें हमें लिपि के कारण प्रकट होती जान पड़ती है उनसे 'इस परिणाम की पुष्टि होती है कि दोनों परंपराओं का मूलादर्श नागरी में था' तथा इस प्रसंग में इतना और भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि 'वे (साक्ष्य) पर्याप्त रूप में दृढ़ हैं, साथ ही वे इस संभावना की ओर भी संकेत करते हैं कि उक्त मूलादर्श कवि लिखित था और इसी प्रकार 'रचना के समस्त व्याकरणरूप निस्संदेह नहीं आ सके हैं, किंतु जितने भी आते हैं वे अवधी के हैं'[२८] जिसके द्वारा यहाँ पर भी अपने मत के विषय में पूर्ण आत्मविश्वास के ही साथ कहा गया जान पड़ता है, परंतु मूल प्रश्न तो यह है कि, जिन उपलब्ध प्रतियों के सहारे हम अपने ऐसे उद्‌गार प्रकट करते जा रहे हैं वे क्या हमारे सामने सचमुच अंतिम रूप में वास्तविक या प्रामाणिक पाठों के उदाहरण उपस्थित करती हैं ? और यदि नहीं तो हमारे लिये अपने विचारों को इतने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने का निर्भ्रान्त आधार ही क्या हो सकता है ? जहाँ तक प्रस्तुत रचना के रचयिता तथा इसके निर्माण काल का प्रश्न है इस विषय में तीनों ही संस्करणों के अंतर्गत, किसी न किसी अंतिम तथ्य पर पहुँचने का प्रयास किया गया जान पड़ता है तथा इस संबंध में उतना अधिक मतभेद भी नहीं है। परंतु प्रत्येक में पाई जानेवाली इस प्रसंग की बातों की कथन शैली में कुछ न कुछ अंतर आ गया सा भी जान पड़ता है। उदाहरण के लिये प्रयाग संस्करण में इसके रचयिता का कालनिर्णय करते समय, उसके पीर शेख बुरहान के आधार पर ठीक प्रमाण न मिल सकने के कारण केवल शाहे वक्त हुसेन शाह शर्की के शासनकालानुसार, अनुमान किया गया है तथा इस प्रकार उसे कभी सन् १५०३-४ के भीतर, निश्चित किया गया प्रतीत होता है[२९] परंतु वाराणसी संस्करण के अंतर्गत इस रचना के आरंभ का होना, २९ जून सन् १५०३ ई० में तथा इसके अंत का ७ सितंबर सन् १५०३ ई० को होना तक भी स्पष्ट रूप में कह दिया गया है तथा इसे कुतुबन के पीर उक्त शेख-बुरहान (अथवा इसके अनुसार शेख बढन) के आधार पर निश्चित न करके हुसेन-शाह शर्की के अंतिम काल को ध्यान में रखते हुए ठहराया गया है[३०]। इसी प्रकार आगरा वाले संस्करण में भी इस दूसरे मत को ही स्वीकार कर लिया गया दीख पड़ता है यहाँ पर कुतुबन के पीर को 'बुढन' के नाम से अभिहित किया गया है तथा उसके 'बुधन' तक होने का अनुमान किया गया है और यहाँ पर उस 'अमांतमास-

२८. आ० सं० (पृ० ५८ व ७०)।
२९. प्र० सं० (पृ० ८-११)।
३०. वा० सं० (पृ० १३-२६)।

गणना-प्रणाली' के उन दिनों उत्तरी भारत में प्रचलित होने के विषय में किसी प्रमाण के अभाव की ओर भी संकेत किया गया है जिसे वाराणसी-संस्करण ने सुझाया था[31]। इस संबंध में इतना और भी उल्लेखनीय है कि पिछले दो संस्करणों के अंतर्गत रचना-काल की चर्चा कुछ अधिक विस्तार के साथ की जाने का कारण, संभवतः इनके द्वारा बीकानेर प्रति वाले उस पाठ को स्वीकार कर लेना हो सकता है जिसमें 'सं० १५६०' एवं 'भादो बदी ६' आदि के विषय में भी चर्चा की गई मिलती है[32], किंतु जिसके 'सर्वथा ग्राह्य' न होने का अनुमान तक पहले संस्करण में किया जा चुका था[33]। वाराणसी वाले संस्करण में कुतुबन की कब्र के 'कुतुबन की मजार' के रूप में, वाराणसी के 'कुतुबन शहीद' नामक मुहल्ले में पाए जाने तक का भी अनुमान किया गया है[34]।

कुतुबन कृत 'मृगावती' के विषय में, इन तीनों संस्करणों के अंतर्गत कुछ न कुछ बातें प्रशंसात्मक रूप में भी, कही गई दीख पड़ती हैं, किंतु इस प्रकार के उद्‌गार भी ठीक एक ही ढंग से प्रकट किए गए नहीं पाए जाते। इतना अवश्य है कि इनमें प्रायः सब कहीं उस कवि की सर्वथा 'भारतीय' बातों को अपनाएँ तथा उन्हें महत्व प्रदान करने की ही प्रवृत्ति देखी जाती है, किंतु उसका उल्लेख अपने अपने ढंग से किया गया है तथा तदनुसार ही उसकी विशेषताओं पर न्यूनाधिक बल भी दिया गया है। उदाहरण के लिये प्रयाग-संस्करण में कुतुबन के द्वारा दिए गए 'अखंड भारतीयता के परिचय' की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा गया है कि उसमें यहाँ पर 'संतान प्रेम' 'काल की प्रबलता' और 'ईश्वर पर विश्वास', 'परपीड़न और परोपकार', 'नारी का स्वरूप' तथा 'लौकिक आचार व्यवहार का समावेश' जैसे प्रमुख विषय भारतीय मान्यताओं के अनुकूल, वर्णित किए हैं तथा इस प्रकार वाले प्रसंगों को उद्‌धृत करते हुए अपने कथन का यहाँ पर समर्थन भी किया गया है[35]। अन्य दो संस्करणों के अंतर्गत इस बात को विशेषकर इस रचना के काव्यरूप के तत्वतः भारतीय होने की चर्चा करके ही बतलाया गया है जिसका उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है तथा ऐसे विचारों को यहाँ पर कहीं-कहीं प्रासंगिक रूप में भी कर दिया गया दीखता है। इसके सिवाय वाराणसी वाले संस्करण में इस प्रकार की कतिपय विशे-

३१. आ० सं० (पृ० १-४)।
३२. वा० सं० (पृ० १७) तथा आ० सं० (पृ० ३)।
३३. प्र० सं० (पृ० १०)।
३४. वा० सं० (पृ० 'क')।
३५. प्र० सं० पृ० (४७-५७)।

षताओं को इस रचना पर पड़े हुए कुछ पूर्ववर्ती प्रभावों तथा इसके द्वारा प्रभावित परवर्ती ग्रंथों के विषय में स्मरण दिलाकर भी हमें सूचित किया गया है[३६]। यहाँ पर इस संबंध में इस कवि द्वारा अपनाए गए 'बारह मासा' जैसे प्रासंगिक विषयों तथा 'सौंदर्यवर्णन' आदि विषयक रचना-शैलियों के उल्लेख, संस्कृत एवं अपभ्रंश साहित्यों की ओर हमारा ध्यान दिलाते हुए दिए गए हैं तथा इसी संबंध में मौलाना दाऊद के प्रति इस कवि के कुछ दूर तक ऋणी होने की चर्चा भी कर दी गई है। परवर्ती साहित्य के ऊपर पड़े हुए इस रचना के प्रभावों का प्रश्न उठाते समय मेघराज प्रधान की 'मृगावती कथा' तथा द्विज पशुपति कवि की 'चंद्रावती' की चर्चा यहाँ पर कुछ विशेष रूप से की गई जान पड़ती है, किंतु उनके पारस्परिक संबंध आदि की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं किया गया है। इस बात को कहीं अधिक विस्तार आगरा वाले संस्करण में दिया गया दीख पड़ता है जहाँपर कुतुबनकृत मृगावती की मौलिकता पर भी निर्णय किया गया पाया जाता है तथा जहाँ पर इतना और भी बतला दिया गया है कि मेघराज प्रधान की 'मृगावती' तथा द्विज पशुपति की 'चद्रावलि' और कुतुबनकृत मृगावती में से कोई भी रचना किसी अन्य पर आधृत नहीं है बल्कि तीनों ही स्वतंत्र रूप से एक प्राचीनतर कृति पर आधृत हैं तथा इससे संबंधित कथाभेदों और विस्तारों पर यहाँ पर संक्षेप में विचार किया गया भी पाया जाता है[३७]। इस तीसरे संस्करण के अनुसार कुतुबन ने अपनी इस रचना को न केवल मात्र लोकरंजन के लिये प्रस्तुत किया है अपितु इसके द्वारा उसने अपना एक निश्चित जीवनदर्शन भी देने के उद्देश्य से, किसी पूर्व प्रचलित प्रेमगाथा को एक 'नव अवतार' और 'नवकाया' भी प्रदान कर दी है। निष्कर्ष यह कि, जहाँ तक इस 'भूमिका भाग' वाले अंश का एक संक्षिप्त पर्यालोचन कर लेने पर पता चलता है, इन तीनों ही संस्करणों के अंतर्गत, अपने समय तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर अपने अपने ढंग से विचार करने तथा तदनुसार कुछ न कुछ परिणाम निकालने की न्यूनाधिक चेष्टा की गई पाई जाती है। यह दूसरी बात है कि किसी में प्रसंगवश कतिपय अनावश्यक बातों का भी समावेश कर लिया गया हो अथवा कहीं कहीं पर, किसी विषय की चर्चा करते समय, उसे कुछ अनुपयुक्त और असंगत विस्तार भी कर दिया गया हो। इसमें संदेह नहीं कि अभी तक हमें इस विषय से संबंधित सामग्री यथेष्ट मात्रा में नहीं मिल पाई है और यह अधिक संभव भी है कि वैसा हो जाने पर, यहाँ पर किए

३६. वा० सं० (पृ० ६६-७२ तथा ८१-५)।
३७. आ० सं० (पृ० १७-२०)।

गए कई कथनों में कुछ परिवर्तन भी करने पड़े, किंतु इतना प्रायः निश्चित सा है कि विषय की एक साधारण रूपरेखा हमारे सामने अवश्य आ गई है और जैसा, एकाध ऊपर वाले स्थलों पर किए गए कुछ संकेतों से भी पता चल सकता है, इस रचना को हमारे सामने प्रकाशित रूप में रखते समय, क्रमशः अधिक से अधिक सजगता बर्तने के प्रयत्न भी लक्षित होते हैं। अतएव, यह संभव है कि, आगे किसी दिन हम इसके विषय में अपने मतों को प्रकट करते समय और भी अधिक दृढ़ता से काम लेने लग जाँय तथा हमारे इस प्रकार के कई कथन उतने आवेशमूलक मात्र न रह जायँ जितने वे अभीतक जान पड़ रहे हैं।

प्रति एवं मूल पाठ-भाग

'उपलब्ध प्रतियाँ' वाले 'भूमिका भाग' के अंश पर विचार करते समय हम देखते हैं कि इन तीनों संस्करणों से अंतर्गत न तो आज तक पाई गई सभी प्रतियों की एक समान चर्चा की गई और न उनका सर्वत्र एक ही प्रकार से, क्रमानुसार परिचय ही दिया गया मिलता है, प्रयाग संस्करण में, सर्वप्रथम, उस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया गया है जिसका पता, 'नागरीप्रचारिणी सभा' (काशी) वाली सन् १६०० ई० की 'खोज रिपोर्ट' द्वारा चला था तथा इसके अनंतर क्रमशः (१) चौखंभा वाली प्रति (२) भारत कलाभवन (बनारस) की प्रति (३) अनूपसंस्कृत पुस्तकालय (बीकानेर) की प्रति (४) मनेरशरीफ (पटना) की प्रति एवं (५) एकडला की प्रति का परिचय दिया गया है। इनमें से (१) वाली वास्तव में वही प्रति है जिसकी सूचना हमें, 'सभा' वाली उक्त रिपोर्ट द्वारा मिली थी तथा जो किसी प्रकार अपने स्थान से खो गई थी और इसी प्रकार, इसकी (२) संख्यक प्रति भी केवल ७ पत्रों की ही होने के कारण, उतनी महत्त्वपूर्ण भी नहीं समझी जा सकती। इसके अतिरिक्त (३) वाली बीकानेर की प्रति के विषय में कहा गया है कि इसके अंतर्गत, उक्त दोनों अर्थात् (१) एवं (२) के ही पाठ उपलब्ध है और इस प्रकार उन तीनों को हम सुविधानुसार किसी एक वर्ग में भी रख सकते हैं। परंतु (४) वाली 'मनेरशरीफ की प्रति' जिसे, 'नूरकचंदा' की किसी खंडित प्रति के अवशिष्ट अंश वाले १४४ वें से १७७ वें पत्र तक, हाशिये पर फारसी लिपि में, लिखित पाया गया है, उसके संबंध में भी हम ठीक ऐसा ही नहीं कह सकते तथा इसके सिवाय, उपर्युक्त (५) वाली एकडला की प्रति को भी हम, उसमें विभिन्न शीर्षकों के होने तथा उसकी चित्रमयता के कारण उसके अपूर्ण होते हुए भी, विशेष महत्व दे सकते हैं। इस संस्करण के आदि में ही उपर्युक्त बीकानेरवाली प्रति में एक पृष्ठ तथा एकडला वाली प्रति के दो पृष्ठों के फोटो भी दे दिए गए हैं जिससे हमें उनके विषय में

कुछ धारणा बन सके तथा इसके 'भूमिका भाग' के अंत में 'प्रस्तुत पाठ' नामक एक पृथक् शीर्षक के अंतर्गत उक्त प्रतियों की लिपि परंपरा, उनके पाठ-संबंध आदि का विवेचन करते हुए, कुछ अपने संपादन सिद्धांत भी निश्चित कर लिए गए हैं जो उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। इस संस्करण के संपादक को उस समय तक 'मृगावती' की केवल ३६० रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी थीं जिन्हें, उसके अनुसार इसका अधिक से अधिक ३/४ अंश कहा जा सकता था तथा उक्त दो प्रतियों अर्थात् बीकानेर प्रति एवं एकडला वाली प्रति की भी लिपि का ठीक ठीक पढ़ा जाना सरल नहीं था और एकडला वाली के अनेक स्थल अनलिखे भी रह गए थे इस कारण इन दोनों में से भी बीकानेर प्रति को अधिक विश्वसनीय मानना पड़ा। मनेरशरीफ वाली अधूरी प्रति फारसी लिपि में उपलब्ध है और विकृति के आधार पर उसके साथ एकडला वाली प्रति के पूर्वज के भी फारसी लिपि में ही पाए जाने का अनुमान करके यहाँ इन दोनों को एक ही वर्ग में रखा गया है जिस कारण बीकानेर प्रति किसी एक भिन्न वर्ग की बन जाती है। 'भारत कलाभवन' एवं चौखंबा वाली प्रतियों के विषय में उनके अत्यंत छोटी छोटी होने के कारण वैसा विचार नहीं किया गया है।

वाराणसी - संस्करण के अंतर्गत 'मृगावती' की छह उपलब्ध प्रतियों के विषय में चर्चा की गई है जिनमें से क्रमशः मनेरशरीफ प्रति, एकडला प्रति, बीकानेर प्रति, काशी प्रति एवं चौखंबा प्रतियाँ वे ही हैं जिनका उल्लेख प्रयाग संस्करण में किया गया है। परंतु यहाँ पर इन पाँचों के पहले ही, एक दिल्ली प्रति का भी परिचय दे दिया गया है जो प्रयाग संस्करण के समय तक देखने को नहीं मिल सकी थी। दिल्ली वाली यह प्रति भी, मनेरशरीफ प्रति की भाँति, फारसी लिपि में ही लिखी गई है तथा इसके हाशिए पर यत्र तत्र कतिपय ऐसे अंश भी दीख पड़ते हैं जो वहाँ पर, पीछे से, और कुछ भिन्न लिखावट में, जोड़ दिए गए हैं और जिनके किसी अन्य प्रति के आधार पर समझे गए पाठांतर होने का भी अनुमान किया जा सकता है तथा इसके साथ ही, इस प्रति को दो भिन्न प्रतियों की प्रतिनिधि भी कह सकते हैं। वाराणसी संस्करण के संपादक ने इसके, सोलहवीं शती के अंत अथवा सतरहवीं के आरंभ में, लिखे गए होने का भी अनुमान किया है तथा इसके विषय में इतना और भी बतलाया है कि यह हमें 'मूल के अतिनिकट जान पड़ती है।' इस संस्करण में, शेष उपलब्ध प्रतियों की चर्चा करते समय, उसमें पाए जानेवाले कड़वकों की संख्या तथा उनके रूपों पर भी न्यूनाधिक विचार किया गया है और इसके अनंतर, 'ग्रंथ का स्वरूप,' नामक एक पृथक् शीर्षक के नीचे पूरे ग्रंथ के आकार प्रकार की कुछ कल्पना भी प्रस्तुत कर दी गई है। दिल्ली एवं बीकानेर प्रतियों के तुलनात्मक परीक्षण के पश्चात् यहाँ पर ऐसा एक निष्कर्ष भी निकाला गया है कि न

केवल दिल्ली प्रति मूल के निकट है, अपितु बीकानेर प्रतिवाले काफी अंश प्रक्षिप्त भी कहे जा सकते हैं। इसके सिवाय सारी बातों की ओर ध्यान रखते हुए संपूर्ण प्रेमगाथा के अंतर्गत कुल ४३२ कडवकों के होने का अनुमान किया गया है, जिनमें से केवल तीन के उपलब्ध न हो सकने के कारण, ४२९ को इस संस्करण में स्थान दिया गया है। जहाँ तक 'प्रति परंपरा' के संबंध में निर्णय करने की बात है, यहाँ पर भी उस नामवाले एक पृथक् शीर्षक के नीचे इसका एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया मिलता है जिसके अनुसार दिल्ली, मनेरशरीफ और एकडला वाली प्रतियों को एक वर्ग में रखा गया है तथा इससे भिन्न दूसरे वर्ग में, बीकानेर एवं चौखंबा वाली प्रतियों को स्थान दिया गया है, किंतु काशीवाली प्रति के विषय में कोई स्पष्ट कथन नहीं किया गया है। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि उक्त प्रथम वर्ग-वाली प्रतियों में नायिका का नाम जहाँ 'रूपमति' पाया जाता है वहाँ द्वितीय वर्ग की प्रतियाँ उसे 'रुकमिन' जैसे रूप में प्रकट करती दीख पड़ती हैं जिस बात की ओर भी यहाँ पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। यहाँ पर अंत में 'पाठ संपादन' 'पाठोद्धार' एवं 'संपादन विधि' जैसे शीर्षकों में कतिपय अन्य बातें भी संक्षिप्त रूप में कही गई हैं जो उतनी उल्लेखनीय नहीं हैं। हाँ, इस संस्करण के सर्वप्रथम पृष्ठ पर, जो बीकानेर प्रति की तिथि के संबंध में कुछ विचार कर दिया गया दीखता है वह अवश्य ध्यान देने योग्य है जहाँ पर उस प्रति के 'किसी भी अवस्था में अठारहवीं शती के पूर्व की न होने' का अनुमान किया गया है तथा इसके कुछ और आगे, दिल्ली प्रति के दो पृष्ठों, मनेरशरीफ प्रति के एक पृष्ठ तथा एकडला प्रति के दो पृष्ठों के फोटो भी जोड़ दिए गए हैं।

आगरा संस्करण के अंतर्गत 'उपलब्ध प्रतियाँ' वाले शीर्षक की बातें रचना की 'संपादन-सामग्री' में आ गई दीख पड़ती है। यहाँ पर इसके आरंभ में ही कह दिया गया है कि इस रचना की केवल पाँच प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें से सभी कुछ न कुछ खंडित हैं तथा प्रस्तुत संपादन के लिये इन पाँचों के पाठों का उपयोग किया गया है। इन पाँचों प्रतियों में से, सर्वप्रथम, उस बीकानेर प्रति का परिचय दिया गया जान पड़ता है जिसकी चर्चा दो अन्य संस्करणों में भी की गई दीखती है तथा जिसे यहाँ पर, 'बी०' के संक्षिप्त संकेत द्वारा सूचित किया गया है और इसके २५०-३०० वर्ष पुरानी होने का अनुमान भी किया गया है। इस प्रति की पूर्वज प्रति का फारसी लिपि में रहा होना सिद्ध करने के लिये यहाँ पर कतिपय ऐसे कारण भी दिए गए हैं जिनकी संभावना हो सकती है किंतु जिस बात की ओर प्रथम दो संस्करणों में कोई ऐसा सुझाव दिया गया नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार जहाँ तक इसके आगे वाली दूसरी प्रति के लिये कहा जा सकता है, उसे भी यहाँ पर केवल 'स०' के द्वारा ही अभिहित किया गया है तथा इस विषय में, इतना और

भी बतलाया गया है कि न केवल वह 'नागरीप्रचारिणी सभा' (काशी) में प्राप्त किसी मूल प्रति को प्रतिलिपि है, अपितु वैसी ही किसी एक प्रति के 'हिंदू विश्वविद्यालय' वाले 'कलाभवन' में कहीं विद्यमान होने की संभावना भी वहाँ पर सूचित की गई है। तदनंतर दिल्ली वाली प्रति का परिचय देते हुए, उसे 'अत्यंत स्पष्टता के साथ लिखित' कहा गया है तथा उसे केवल 'दि०' द्वारा निर्दिष्ट किया गया है और इसी प्रकार आगे क्रमशः मनेरशरीफ एवं एकडला वाली प्रतियों को भी केवल 'म०' एव 'ए०' जैसे नाम दे दिए गए हैं। यहाँ पर उक्त प्रतियों के संबंध में कोई वैसी नवीन बातें दी गई नहीं जान पड़तीं तथा यहाँ पर भी हमें केवल इतना ही पता चल पाता है कि प्राप्त प्रतियों में से दिल्ली वाली लगभग पूर्णतः सुरक्षित है तथा बीकानेर, मनेरशरीफ एवं सभा वाली प्रतियों को 'अत्यधिक त्रुटित' भी ठहराया जा सकता है और, इसी प्रकार एकडला प्रति भी 'पूर्ण रूप से विश्वास योग्य नहीं है।'

इस संस्करण के भूमिका भाग का 'संपादनसामग्री की पाठसमीक्षा' नामक शीर्षक, इस दृष्टि से, कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि इसके अंतर्गत उपर्युक्त प्रतियों में उपलब्ध पाठों के ऊपर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। तदनुसार इन सभी के पाठों की एक तुलना कर लेने के अनंतर कतिपय ऐसे निष्कर्ष भी निकाले गए हैं जो कम रोचक नहीं जान पड़ते तथा जिनके आधार पर हमारे भीतर इसके संपादक द्वारा किए गए अनेक अनुमानों में, उसके साथ सहमत होने की प्रवृत्ति आप से आप जागृत होने लग जाती है तथा हम उसके सूक्ष्म निरीक्षण की प्रशंसा किए बिना भी नहीं रह सकते। उदाहरण के लिये बीकानेर वाली प्रति के विषय में यहाँ पर कहा गया है कि इसके पाठ में वर्णित वस्तुओं और व्यक्तियों की संख्याओं को परिवर्तित कर, प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में लक्षित होती है और इस कथन के समर्थन में यहाँ पर कुछ ऐसे उद्धरण भी दिए गए हैं जिनमें 'तिस तिस' की जगह 'साठि साठि' 'घटी एक' की जगह 'घटी चार', 'चेरी सहस दुइ' की जगह 'चेरी सरस दस', 'सात दुइ' की जगह 'सातसइ' तथा 'एक मनुसे' की जगह 'दोइ मनुसे' कर दिया गया जान पड़ता है।[२८]

२८. प्रयाग संस्करण के अंतर्गत, इसी प्रति के विषय में, 'एकडला प्रति' वाले अनेक शब्दों की जगह उनके 'समानार्थी शब्दों के देने की प्रवृत्ति भी उदाहृत की गई है।—प्र० संस्करण; पृ० ५६।

इसी प्रकार इस प्रति के अंतर्गत 'नए छंद अथवा नवीन पंक्तियाँ' जोड़कर भी प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति देखी जाती है जिसका उदाहरण भी यहाँ पर दिया गया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का दिल्लीवाली प्रति में भी पाया जाना कहा गया है किंतु उसमें इसके उदाहरण केवल कहीं कहीं ही मिलते हैं। हाँ, इस प्रति में एक अन्य ऐसी प्रवृत्ति, दोहों में जहाँ पर २४ मात्राएँ ही थीं वहाँ पर उन्हें २८ मात्राओं में दिखलाने का प्रयास भी, सामान्य रूप में मिलती है। मनेरशरीफ वाली प्रति की एक ऐसी प्रवृत्ति 'छंद वृद्धि के रूप में पाठ वृद्धि' कर देने की पाई जाती है जिस कारण अनेक स्थलों पर 'पूर्ववर्ती छंद में आए हुए प्रसंग का एक अनावश्यक विस्तार मात्र प्रस्तुत' हो जाया करता है। परंतु इस प्रकार की बातें हम एकडला वाली प्रति के संबंध में भी, नहीं कह सकते और हमारा ध्यान उसमें पाए जानेवाले केवल उन त्रुटित अंशों की ओर तक ही सीमित रह जाता है जहाँ पर उसके 'जीर्णोद्धार' के अवसर पर कुछ 'पाठपूर्ति' की कर दी गई जान पड़ती है। इस 'पाठ समीक्षा' वाले शीर्षक के अंतर्गत अंत में कुछ ऐसे विशिष्ट पाठों के उद्धरण दिए गए हैं जिनके आधार पर उक्त विभिन्न प्रतियों के बीच पाए जानेवाले किसी संकीर्ण संबंध का भी अनुमान किया जा सकता है तथा इस बात का स्पष्टीकरण, यहाँ पर 'संपादन सिद्धांत' नामक अगले शीर्षक के नीचे, किया गया है जहाँ पर दि०, म० एवं ए० में निश्चित संकीर्ण संबंध ठहराया गया है तथा इसी प्रकार इसके कुछ अंशों तक ए० एवं स० के बीच, होने की भी संभावना की ओर संकेत किया गया है और तदनंतर ऐसे पाठ संबंध के आधार पर कुछ संपादन सिद्धांत भी स्थिर कर दिए गए हैं।

जहाँ तक मूल रचना की लिपि के विषय में अनुमान किया जा सकता है, अथवा इस दृष्टि से, विविध उपलब्ध प्रतियों का कोई अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है, प्रयाग संस्करण के अंतर्गत इसपर अधिकतर द्वितीय दृष्टिकोण से ही विचार किया गया जान पड़ता है। यहाँ पर सर्वप्रथम, एकडला एवं बीकानेर वाली प्रतियों में पाए जानेवाले प्रमुख दोषों का विवेचन किया गया है तथा फिर इसी प्रकार मनेरशरीफ वाली प्रति एवं चौखंबा वाली प्रति पर भी, पृथक् पृथक् दृष्टि डाली गई है और तदनंतर यह परिणाम निकाला गया है कि एकडला वाली प्रति का पूर्वज हस्तलेख फारसी लिपि में ही रहा होगा तथा उसका कैथी लिपि में तैयार किया गया पाठ प्रस्तुत करते समय भी कोई सावधानी नहीं वर्ती गई होगी जिस कारण इसमें पाई जानेवाली विकृतियाँ प्रायः उसी के अनुसार दीख पड़ती हैं। इसके विपरीत बीकानेर प्रति में अपेक्षाकृत अधिक सावधानी की जाने के कारण वहाँ पर उतने दोष नहीं आ पाए हैं। अतएव, इस संस्करण में बीकानेर प्रति का ही वस्तुतः 'मूल के अधिक निकट' होने का अनुमान भी किया गया है। परंतु

वाराणसी संस्करण के अंतर्गत केवल इतने मात्र तक ही कथन करके विरत हो जाना कदाचित् यथेष्ट नहीं समझा गया है, प्रत्युत इसके ऊपर बहुत व्यापक ढंग से प्रकाश डालने के प्रयत्न में आगरा संस्करण वाले संपादक द्वारा कहीं अन्यत्र प्रकट किए गए इस प्रकार के विवेचनों की थोड़ी बहुत समीक्षा भी कर दी गई है जिस कारण यह प्रश्न यहाँ पर कुछ न कुछ गंभीर रूप भी ग्रहण कर लेता प्रतीत होता है। यहाँ पर इस मत के प्रतिपादन की चेष्टा कई प्रमाणों के आधार पर की गई दीख पड़ती है और कहा गया है कि कैथी लिपि में लिखी किसी ग्रंथ की कोई भी प्रति १७वीं शती के पूर्व की नहीं मिलती जिससे स्पष्ट है कि उसका प्रचलन १७वीं के पूर्व नहीं रहा होगा, प्रत्युत उसके पहले संभवतः नागरी लिपि मात्र ही रही होगी। उधर उपलब्ध प्रतियों में आई हुई अनेक भूलों पर ध्यान पूर्वक विचार कर लेने पर आगरा संस्करण में कहा गया है कि उक्त प्रतियों मे बीकानेर, एकडला एवं सभा वाली प्रतियाँ 'नागरी लिपि' में रही होंगी तथा इस प्रकार यहाँ पर किसी प्रति के कैथी जैसी लिपि में होने का प्रश्न ही निराधार बन जाता है, परंतु जिन प्रतियों के कुछ फोटो उक्त प्रयाग एवं वाराणसी संस्करणों में दिए गए दीख पड़ते हैं उनमें से कम से कम एकडला वाली प्रति के पृष्ठों में हमें अधिकांश कैथी लिपि ही देखने को मिलती है और यह भी विशेषकर वहाँ पर जो प्रयाग वाले संस्करण के अंतर्गत छापे गए दीख पड़ते हैं।

मूल पाठ को देते समय तीनों संस्करणों के अंतर्गत सर्वत्र एक ही प्रकार से कार्य किया गया नहीं दीख पड़ता। प्रयाग वाले संस्करण में सर्वप्रथम कड़वकों के ऊपर विभिन्न शीर्षक दिए गए पाए जाते हैं और उनमें से प्रत्येक के नीचे इनमें से कई आ जाते हैं परंतु, वाराणसी अथवा आगरा वाले संस्करणों में इस प्रकार किया गया किसी शीर्षक का प्रयोग नहीं पाया जाता। प्रयाग संस्करण वाले शीर्षक अधिकतर एकडला वाली प्रति अथवा कहीं कहीं बीकानेर वाली प्रति के भी अनुकरण में दिए गए जान पड़ते हैं और उन सभी के रूप सर्वत्र एक ही समान भी नहीं हैं। कहीं कहीं तो ये विभिन्न विषयों को सूचित करते हैं और अन्यत्र ये उन खंडों या भागों को ही निर्दिष्ट करते जान पड़ते हैं जिनमें इस रचना का विभाजन भी किया जा सकता है। यहाँ पर ऐसे शीर्षकों के नीचे आनेवाले कड़वकों की भी संख्या स्वभावतः एक सी नहीं पाई जाती और यह वर्ण्य विषयों के विस्तार पर, निर्भर रहा करती है तथा इसे यहाँ पर तदनुसार निर्दिष्ट न करके १ से लेकर ३६० तक दिखलाया गया है। वाराणसी-संस्करण में किसी प्रकार का भी शीर्षक नहीं पाया जाता और कड़वकों की संख्या भी ४३२ तक पहुँच गई पाई जाती है जहाँ आगरा वाले संस्करण में, एक ओर पूरी रचना को २६ खंडों में विभक्त प्रदर्शित किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इसमें कड़वक भी केवल ४२७ ही आए हैं। प्रयाग संस्करण में

पाठांतर वाले अंश को पाद टिप्पणी के रूप में दिया गया है जहाँ पर कहीं-कहीं आवश्यक बातों का उल्लेख 'नोट' के द्वारा भी कर दिया गया पाया जाता है, किंतु वाराणसी एवं आगरा संस्करणों में पाठांतर को सर्वत्र प्रत्येक कड़वक के साथ ही स्थान दिया गया दीखता है और उसके अतिरिक्त वहाँ पर या तो कोई न कोई 'टिप्पणी' अथवा कोई संदर्भ भी आ गया है जिसके द्वारा मूल पाठ का भाव समझ पाने में विशेष कठिनाई का अनुभव न किया जासके। आगरा संस्करण के अंतर्गत तो, इसके साथ ही, प्रत्येक कड़वक का अर्थ तक भी दे दिया गया है। जहाँ तक 'नोट' अथवा किसी कथन विशेष के संबंध में कहा जा सकता है इसका प्रयोग इन दोनों संस्करणों में भी पाद टिप्पणी के ही रूप में किया गया पाया जाता है तथा आगरा संस्करण में कहीं कहीं किसी शीर्षकविशेष का उल्लेख भी मिल जाता है। वाराणसी संस्करण की यह एक विशेषता है कि इसके अंतर्गत मूल पाठ के देने के पूर्व 'कड़वक सूची' जैसे एक शीर्षक में, उपलब्ध कड़वकों' का एक विषयानुसार विभाजन करके उन्हें पृथक् रूप में दिखला दिया है। आगरे वाले संस्करण में यह अन्यत्र, 'रचना का कथासार' नाम से, खंडशः विभाजन करके कुछ विस्तार के साथ दिया गया मिलता है, किंतु इन दोनों में कथित विषय ठीक एक ही प्रकार निर्धारित किए गए नहीं पाए जाते। एक ही सा शीर्षक रहने पर भी उनके विवरण दोनों जगह ठीक एक से नहीं पाए जाते—कड़वकों में कमीबेशी आगई पाई जाती है। वाराणसी संस्करण में प्रत्येक कड़वक के ऊपर उन प्रतियों का नाम निर्देश भी कर दिया गया है जहाँ से वे लिए गए हैं।

उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण की एक संक्षिप्त रूप रेखा से भी यह स्पष्ट है कि कुतुबन कृत 'मृगावती' की उपलब्ध प्रतियों में से कम से कम बीकानेर, एकडला, काशी, मनेरशरीफ और चौखंबा, सबके लिये एक ही रूप में मिलने पर भी, उनका उपयोग ठीक एक ही प्रकार किया गया नहीं जान पड़ता और इस प्रकार की भिन्नता हमें बहुत कुछ वहाँ पर भी लक्षित होती है जहाँ, वाराणसी एवं आगरा वाले दोनों संस्करणों में दिल्ली प्रति के सामने लाए जाने पर वह संभवतः दूर की जा सकती थी। इसका प्रधान कारण कदाचित् वे संपादन सिद्धांत ही हो सकते हैं जिन्हें तीनों संस्करणों में पृथक् पृथक अपनाया गया है तथा इसके मूल में कुछ अंशों तक अपना अपना वह दृष्टिकोण भी हो सकता है जिसके अनुसार काम किया गया होगा। इसके सिवाय, इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि किसी एक पूर्ववर्ती संस्करण की उपलब्धियों एवं भूलों से, उसके परवर्ती संस्करण का संपादन करते समय, बहुत कुछ लाभ भी उठाया गया होगा। अधिकाधिक सामग्रियों के मिलते जाने तथा उनपर यदाकदा प्रकट किए गए कतिपय अन्य व्यक्तियों

के विचारों के कारण भी अपेक्षाकृत अधिक सजगता के साथ काम करने लगना बहुत स्वाभाविक हो जाता है और विशेष कर किसी अनुभवी को इससे और भी अधिक सहारा मिल सकता है, तदनुसार हम यहाँ पर देखते हैं कि प्रयाग वाले सर्वप्रथम संस्करण में उसके समय तक दिल्ली-प्रति के अनुपलब्ध रहने के कारण, रचना का अधिकांश मूल पाठ न केवल संदिग्ध सा बना रह जाता है प्रत्युत, उसमें पाए जानेवाले अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट न हो पाने से उन्हें यहाँ पर एक पृथक् परिशिष्ट(१) में संगृहीत भी कर दिया जाता है तथा इसी प्रकार बहुत से अन्य शब्दों का अर्थ देते समय भी यथेष्ट सावधानी बर्ती गई नहीं जान पड़ती। यहाँ तक कि, वाराणसी वाले संस्करण में भी जहाँ अधिकांश कड़वकों के नीचे उनके विशिष्ट शब्दों के अर्थ अथवा उनके कतिपय प्रसंगों के उल्लेख तक भी टिप्पणियों के द्वारा किए गए मिलते हैं, उसके अंत में एक लंबी 'शब्दसूची' (दे० पृष्ठ ४२६-७६) भी जोड़ देने की आवश्यकता प्रतीत हुई है जो, यहाँ पर भी, कुछ अंशों में, अनिश्चयता ही सूचित करती है। परंतु, तीसरे अथवा आगरावाले संस्करण में, इस प्रकार की बातें अपेक्षाकृत अधिक निश्चयात्मक भाव से तथा कदाचित् कुछ अधिक सतर्कता के साथ भी प्रस्तुत की गई जान पड़ती है। यहाँ पर प्रत्येक कड़वक के नीचे दिया गया 'संदर्भ' अत्यंत संक्षिप्त पाया जाता है, किंतु जो कुछ अर्थ यहाँ पर प्रायः प्रत्येक पंक्ति के अनुसार दिया गया मिलता है उसमें लक्षित होनेवाले किसी प्रकार के संदेह की भावना बहुत कम काम करती जान पड़ती है। इसके सिवाय इस संस्करण के अंतिम भाग में जो 'शब्दकोश' जोड़ दिया गया है उसमें भी हम अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति आदि के विषय में अनुमान किया गया पाते हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ पर विशेष दृढ़ता भी प्रदर्शित की गई पाई जाती है। ऐसा हो सकता है और यह अधिक संभव भी है कि कतिपय कड़वकों वाली पंक्तियों का अर्थ करते समय वर्तमान स्थिति में अनेक बार कोरी कल्पना को ही प्रश्रय दिया गया हो अथवा केवल स्वच्छंदता से ही काम लिया गया हो, किंतु इस बात का अंतिम निर्णय भी यथेष्ट सामग्री एवं समुचित समीक्षा पर ही, निर्भर कहा जा सकता है। इस तीसरे संस्करण में तो हम यह भी पाते हैं कि यहाँ पर भी बहुत सी ऐसी बातों को कोई उतना महत्व ही नहीं दिया गया है जिनकी ओर न्यूनाधिक ध्यान देकर इसके पूर्ववर्ती संस्करणों में मानो उनपर कुछ विचार किया गया है अथवा केवल उल्लेख मात्र करके भी, छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिये 'छंदयोजना' के विषय में, वाराणसी संस्करण के अंतर्गत कुछ विस्तार के साथ कहा गया है और इसी प्रकार कुछ अन्य लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विभिन्न मतों के दिग्दर्शन को भी उन संस्करणों में लगभग एक ही प्रकार से स्थान दिया गया पाया जाता है। इसके सिवाय यहाँ पर किसी आभार-

प्रदर्शन अथवा कृतज्ञता-ज्ञापन को भी महत्व नहीं दिया गया है जो उन दोनों में पाया जाता है।

परिशिष्ट भाग

'प्रयाग संस्करण' वाले परिशिष्ट भाग संबंधी विषयों की चर्चा प्रसंगवश इसके पहले ही की जा चुकी है और यह आ चुका है कि इसके अंतर्गत, यहाँ पर क्रमशः संदिग्ध अर्थोंवाले शब्दों की एक संक्षिप्त सूची, कतिपय विशिष्ट शब्दों के अर्थ एवं 'मृगावती' के विभिन्न पहलुओं पर व्यक्त किए गए विभिन्न लेखकों के प्रकाशित लेखों जैसी बातों को ही स्थान दिया गया है। परंतु वाराणसी संस्करण के अंतर्गत यहाँ पर सर्वप्रथम उन प्रक्षेपों की चर्चा स्थल निर्देश करते हुए की गई है जो विभिन्न उपलब्ध प्रतियों में पाए जा सकते हैं तथा इनमें कहीं कहीं पर उनके पाठांतर तक भी दे दिए गए दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार इस संस्करण वाले द्वितीय परिशिष्ट में 'मृगावती' वाले विभिन्न कड़वकों की एक तुलनात्मक 'सारिणी' भी दे दी गई है, जो बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इसके सिवाय इस संस्करण की एक अन्य विशेषता इसके उस 'वार्तिक' नामक अंश के द्वारा भी प्रकट होती है जिसे, यहाँ पर इसके आरंभ में ही दे दिया गया है तथा जिसको भी वस्तुतः किसी परिशिष्ट के रूप में ही मान लिया जा सकता है। इस 'वार्तिक' वाले विषयों में से कुछ का उल्लेख हम प्रसंगवश पहले ही कर आए हैं उनमें से शेष तीन 'बैरागर', 'अहुटवज' एवं 'पाठदोष' शीर्षकोंवाले हैं जिनमें से अंतिम केवल छापे की कुछ अशुद्धियों की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और प्रथम दो में शब्दार्थों पर विचार किया गया है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस संस्करण को तैयार करते समय विशिष्ट शब्दों के संबंध में खोजपूर्ण विचार प्रकट करने की प्रवृत्ति, अन्यत्र कई स्थानों पर भी दीख पड़ती है जो अवश्य सराहनीय है। इसका एक तीसरा उदाहरण, 'वार्तिक' के अंत में भी द्रष्टव्य है। आगरा वाले संस्करण के परिशिष्ट भाग में दिए गए 'शब्दकोश' नामक अंश का उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है। इसके रचना के 'प्रक्षिप्त छंद और छंदांश' शीर्षक अंश में, उन कड़वकों को पूर्णतः या अंशतः एक स्थल पर उद्धृत कर दिया गया है जिन्हें क्षेपक समझा गया है। आगरा संस्करण वाले इस अंश की तुलना यदि वाराणसी वाले संस्करण के उपर्युक्त 'प्रक्षेप' के साथ करते हैं तो हमें पता चलता हैं कि इन दोनों के अंतर्गत उल्लिखित छंदों या छंदांशों में बहुत कुछ साम्य है। वाराणसी वाले संस्करण के जो १, २, ३, ४, ६ (द्वितीय अंश), ७, ८, ६, १०, ११, १२ एवं १३ संख्यक कड़वक हैं वे ही कतिपय पाठांतरों के साथ आगरा संस्करण के अंतर्गत यहाँ पर भी क्रमशः ६५ (अ) १०७ (अ), (१०८ अ एवं १०८ आ), (१०६ अ एवं १०६ आ),

५ (७२।१-४)

२०२ (अ), २४१ (अ), २४४ (अ), २४६ (अ), (२५४ अ एवं २५४ आ), २६७ (अ), २७३ (अ) तथा (३८७ अ, ३८७ आ, ३८७ इ, ३८७ ई एवं ३८७ उ) वाले यत्किंचित् भिन्न भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। अधिकांश अंतर केवल पाठ निर्धारण संबंधी मतभेद के कारण आए जान पड़ते हैं। स्थूल रूप में देखने पर वाराणसी संस्करण वाले ५ एवं ६ (प्रथमांश) आगरा-संस्करण में यहाँ पर नहीं लक्षित होते, किंतु जहाँ तक इस दूसरे वाले ३३अ एवं ३०८अ के लिये कहा जा सकता है, ये दोनों पहले वाले संस्करण के मूल पाठ (क्रमशः कडवक ३५ एवं ३१३) में स्थान पाचुके दीखते हैं। आगरा वाले संस्करण के 'संशोधन' संज्ञक परिशिष्ट भाग में जो सुधार सूचक शब्द या वाक्यांश दिए गए पाए जाते हैं उनसे प्रकट होता है कि पुस्तक को यथासंभव अधिक से अधिक शुद्ध एवं प्रामाणिक रूप देने के उद्देश्य से इसको मुद्रित हो जाने के अनंतर भी एक बार देख जाने और सर्वत्र पूरी संगति बिठा लेने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि ऐसा किन्हीं मुद्रण-संबंधी भूलों को यहाँ पर सुधारने मात्र के लिये नहीं किया गया जान पड़ता जैसा कि साधारणतः और कहीं पाया जाता है। वाराणसी एवं आगरा वाले संस्करणों के अंतर्गत किए गए प्रक्षिप्त अंशों के उपर्युक्त उल्लेखों के आधार, यह कहा जा सकता है कि उनमें पाए जानेवाले साम्य के ही समान इन दोनों के स्वीकृत मूल पाठों तथा उनके कड़वकों की संख्या में भी बहुत समानता होगी, किंतु इस दृष्टि से इनकी तुलना कर लेने पर हमें ऐसा नहीं दीख पड़ता। यदि हम इन दोनों में आए हुए कडवकों पर उनकी संख्या के अनुसार विचार करने लगते हैं और उनकी तुलना करते हैं तो पता चलता है कि वाराणसी वाले संस्करण के ३६, ११३, १७५ तथा ३१३ संख्यक कडवकों को, आगरा वाले संस्करण में, वहाँ पर संमिलित नहीं किया गया है और इसी प्रकार आगरा वाले संस्करण का १७२वाँ कडवक वाराणसी वाले संस्करण में, वहाँ पर नहीं पाया जाता। इसके सिवाय आगरा वाले संस्करण के प्रथम कड़वक पर वाराणसी वाले संस्करण में '१' की जगह '१–३' जैसी संख्या दी गई दीख पड़ती है तथा उसके २६१ में कडवक और इसके २६५वें कड़वक के संभवतः एक ही होने पर भी उनके पाठों में महान अंतर आ गया पाया जाता है। यों तो अनेक शब्दों के रूप, वाक्यों के गठन एवं पंक्तियों के एकाध क्रम परिवर्तन के विचार से देखने पर हमें इस प्रकार के पाठ भेद अनेक स्थानों पर मिल सकते हैं और कदाचित् कोई भी एक कड़वक इन दोनों में ठीक एक समान न मिल सके। यहाँ पर हमें उक्त कड़वक वाली कम से कम प्रथम तीन पंक्तियों का पाठ तो एक दूसरे से नितांत भिन्न प्रतीत होता है। जैसे—

'हँसत सखी घर पैठी आई। जानु चाँद चौदस आई ॥१
उदिनल चाँद नखतके जोती। मोति माँझ जानहु गजमोती ॥२

सोरह करौं जो सुरुज बखानी। महत सहस इँदरासन मानी ॥३
—वाराणसी संस्करण

'श्राइ सखी घर कीत श्रँजोरा। चाँद चउद्दसि भए उन भयेरा।
घर श्राँगन भरि रहा श्रँजोरा। दिनकर काज करहिं निसि भोरा।
ससि तराइनि कै जोर न पावइ। जोरे पटंतर म्रिगावतिहि श्रावइ।
—श्रागरा-संस्करण

इस संबंध में हमें पता चलता है कि, वाराणसी वाले संस्करण में, यहाँ पर, उपयुक्त पंक्तियों का चुनाव करते समय, दिल्ली वाली प्रति का श्राश्रय ग्रहण किया गया है श्रौर एकडला एवं बीकानेर वाली प्रतियों के पाठों पर विचार नहीं किया गया है जहाँ श्रागरावाले संस्करण में, इसके विपरीत एकडला एवं बीकानेर वाली प्रतियों को ही दिल्ली वाली की श्रपेक्षा श्रधिक शुद्ध श्रौर प्रामाणिक मानकर, उनके पाठों को श्रपना लिया गया है तथा ऐसा करते समय संभवतः उनके द्वारा व्यक्त किए जानेवाले भाव की स्पष्टता एवं श्रर्थसंगति पर भी ध्यान रखा गया जान पड़ता है। वास्तव में ऐसा करना इस संस्करण के लिये श्रधिक स्वाभाविक भी रहा, क्योंकि इसे कड़वकों के श्रर्थ के साथ भी प्रकाशित करना था जो केवल उसी दशा में कोई न्यूनाधिक सफल एवं शुद्ध रूप ग्रहण भी कर पाता।

श्रतएव, 'कुतुबनकृत मृगावती' के श्रब तक प्रकाशित उक्त तीनों ही संस्करणों पर एक साथ किसी तुलनात्मक ढंग से विचार कर लेने पर, हम कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जिनके श्राधार पर हमारे श्रभी तक इस संबंध में किए गए प्रयत्नों का एक मूल्यांकन किया जा सकता है तथा उसके प्रकाश में श्रपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण में कुछ सहायता भी ली जा सकती है। पहले हम इस रचना की केवल एक रूपरेखा मात्र के विषय में ही, कुछ श्रनुमान कर लिया करते थे श्रौर इसकी किसी पूरी प्रति की प्रतीक्षा बनी रही। फिर इसका बहुत कुछ श्रधूरा एवं विकृत रूप हमारे सामने श्राया जिसके सहारे हमने इसका कोई प्रारंभिक परिचय प्राप्त कर पाने का प्रयत्न किया। हमें तब तक ऐसा कोई श्रन्य साधन उपलब्ध न हो सका था जिसके बल पर इसके वास्तविक स्वरूप के संबंध में समुचित निर्णय किया जा सके श्रथवा जिससे कोई सहायता लेकर इसे श्रपने सम्यक् निरीक्षण योग्य रूप दे सकें। तदनंतर जब एक इस प्रकार का श्रवसर मिला तब भी हमने, सर्वप्रथम, केवल इसके वर्णन एवं बाह्यालोचन का श्रधिक प्रयास किया। इसे धरातल पर उतार कर तथा इसके ऊपर निकट से दृष्टि डालकर हम इसके प्रत्येक श्रंग की पूरी पहचान श्रभी नहीं कर पाए। इसका एक कारण यह भी हो सकता था कि श्रभी तक हमें इसमें दीख पड़नेवाली कुछ त्रुटियों का श्राभास भी हो रहा

था जो हमें अवश्य खल रहा था। परंतु जो कुछ मिल पाया था उसे देख भाल करके संचित कर लेने की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति भी हमारे भीतर क्रमशः जाग्रत होने लगी और तदनुसार हमने इस रचना को अधिक से अधिक स्वाभाविक रूप देकर इसे यथासंभव समझने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार जिस कार्य का आरंभ हमने कभी उसे केवल एक प्रारंभिक परिचय मात्र देकर किया था तथा जिसे हमने क्रमशः किसी वर्णन एवं बाह्यालोचन तक का रूप दे डाला था उसे हम आज व्याख्या एवं विवेचन में परिणत करने की ओर भी अग्रसर होते दीख पड़ रहे हैं। ऐसी दशा में यह संभव है कि यदि हमें आगे यथेष्ट सामग्री मिल सके तो एक दिन हमें उसमें पूर्ण सिद्धि भी प्राप्त हो जासके। किसी भी ऐसी रचना के मर्म का सम्यक् उद्घाटन तबतक पूर्ण रूप से संभव नहीं जबतक हमें उसके प्रामाणिक पाठ का ठीक ठीक परिचय उपलब्ध न हो जाय तथा इसी प्रकार जब तक हम उसकी यथास्थिति के विषय में अपनी कोई स्पष्ट धारणा भी न बना लें। जहाँ तक इस कुतुबनकृत मृगावती के विषय में कहा जा सकता है हमें अभी तक ऐसा कोई सुअवसर प्राप्त नहीं हो सका है। इसके सिवाय अभी तक हमें इस प्रकार की भी कोई सामग्री नहीं मिल पाई है जिसके प्रकाश में हमें इसके लिये किए जाने वाले व्यापक अनुसंधान-कार्य का कोई स्पष्ट मार्ग अपनी दृष्टि में आने लग जाय तथा इसका अध्ययन और अनुशीलन हम गवेषणापूर्वक भी आरंभ कर दें। यह असंभव नहीं कि जिस दिन 'चंदायन' एवं 'मृगावती' के मध्यवर्ती दीर्घ काल की कुछ वैसी रचनाएँ मिल सकेंगी उस दिन इसके संबंध की बहुत सी ऐसी समस्याएँ भी सुलझती जान पड़ेंगी जो प्रायः इसके आधार, कथानक, संदेश एवं परंपरादि को लेकर, उठ जाया करती हैं।

*

संस्कृत कवियों का भाषा-प्रयोग-सिद्धांत—काव्य के दस गुण

जयशंकर त्रिपाठी

•

रस सिद्धांत और अलंकार उद्‌भावना के अनंतर काव्य रचना में दस गुणों के सिद्धांत का उदय हुआ। यह समय दूसरी शताब्दी ईसवी का आरंभ था। इन गुणों के प्रथम प्रयोगकर्ता वैदर्भ विदग्ध गोष्ठियों के कवि थे। उसी के समानांतर गौड संप्रदाय के कवियों ने भी काव्य रचना के लिये गुण सिद्धांत का प्रयोग आरंभ किया, किंतु उनकी मान्यताएँ वैदर्भ कवियों से भिन्न थीं। चौथी शताब्दी ईसवी में आचार्य दंडी ने इन गुणों के लक्षण और प्रयोगात्मक विश्लेषण के लिये 'काव्यादर्श' की रचना की। काव्यादर्श का प्रथम परिच्छेद गुणसिद्धांत का समग्र निरूपण है। दंडी ने वैदर्भ और गौड दोनों की मान्यताओं के अनुसार समताओं और विषमताओं का उल्लेख करते हुए गुणों का व्याख्यान किया है।[1]

इन दस गुणों का संक्षिप्त परिचय यह है—१. **श्लेष**—संयुक्त और महाप्राण अक्षरों के प्रयोग से पदबंध में शिथिलता न आने देना। २. **प्रसाद**—प्रसिद्ध शब्दार्थ का प्रयोग। ३. **समता**—मृदुस्फुट वर्णों का अविषम पदबंध। ४. **माधुर्य**—मधुर वर्ण्यवस्तु और तदनुसार मधुरभाषा। ५. **सुकुमारता**—अनिष्ठुर अक्षरों का प्रयोग। ६. **अर्थव्यक्ति**—अर्थ की कष्टमूलक कल्पना न आने देना। ७. **उदारत्व**—वर्ण्यवस्तु की उत्कृष्ट लोकोत्तर कल्पना। ८. **ओज**—समासबहुल रचना। ९. **कांति**—वार्ता और वर्णना काव्यों में व्यवहृत होनेवाला लोकसंमत लोकप्रिय कल्पनाविहित अर्थ। १०. **समाधि**—अन्य (चेतन) के धर्म की अन्यत्र (अचेतन में) स्थापना, जो लोकसीमा से बाहर न हो।

उक्त परिचय वैदर्भसंमत गुणों का है। गौडों की मान्यता में ये लक्षण कहीं आंशिक रूप से गृहीत हुए हैं और कहीं उलटे हो गए हैं। अतः गुणों के इनके अतिरिक्त भी लक्षण एवं प्रयोग संभव हो सकते थे और गुणों के अनेक प्रकारों के साथ कविमार्ग भी कई थे, किंतु गुणों का जो स्फुट और सँवारा हुआ रूप सामने था उसको देखते हुए वैदर्भ और गौड ये ही दो प्रशस्त कविमार्ग थे।

१. काव्यादर्श, १।४०—१००।

गुणसिद्धांत की यह उद्‌भावना काव्यरचना के क्षेत्र में तब हुई जब नाट्य में रससिद्धांत की मान्यता स्थापित हो चुकी थी, काव्य की सूक्तियों में भी अर्थ तथा भाव से सँवलित अलंकारों का उन्मीलन किया जा चुका था और हो रहा था। उपमा, रूपक, दीपक के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश पूर्ववर्ती ग्रंथों में मिलता है। इस प्रकार यह गुण सिद्धांत काव्य रचना के क्षेत्र में भाषा प्रयोग के सिद्धांत का उदय था। अर्थात् काव्य की प्राणवत्ता भाव के स्थान पर भाषा की प्राणवत्ता की प्रतिष्ठा का यह उद्योग था। भाव के विरुद्ध भाषा की क्रांति थी। दंडी ने इनको वैदर्भ मार्ग (कवि-संप्रदाय) का विशिष्ट अलंकार कहा है—**काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।**[2] अलंकार इसलिये कहा गया, जिससे ये पूर्व प्रतिष्ठित उपमा आदि अलंकारों की कोटि से काव्य रचना के लिये अधिक आदृत समझे जायँ। दंडी के मत में तो ये गुण काव्य के जीवित ही हैं—**इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।**[3] लेकिन काव्य-रचना में गुणों की यह उद्‌भावना एकाएक दंडी के युग में ही आविर्भूत नहीं हो गई। शताब्दियों पहले से इसके स्वरूप का पल्लवन और प्रतिष्ठापन हो रहा था। उस इतिहास और परंपरा का एक संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

दस गुणों में—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, ओज, ये सात तो स्पष्ट ही अक्षर और पद के चमत्कार पर आश्रित हैं। शेष तीन गुणों—उदारत्व, कांति तथा समाधि का चमत्कार अर्थगत मानकर भी उनकी परिभाषाओं में पदप्रयोग की विशिष्टता पर बल दिया गया है—१. जिस वाक्य के कहने पर किसी उत्कर्षवान् गुण धर्म की प्रतीति हो।[4] २. लौकिक अर्थ को अतिक्रमण न करने के कारण जिसका पदप्रयोग अपने अनायास अर्थबोध से अज्ञों से विद्वानों तक को मनोहर हो।[5] ३. लोक-व्यवहार के अनुरोध से अन्य का धर्म अन्य में जिस वाक्य में भली भाँति स्थापित कर दिया जाय।[6] इस प्रकार ये दशगुण काव्य में शब्दगत सौष्ठव से उसके अर्थबोध

२. काव्यादर्श २।३।

३. वही, १।४२।

४. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।—वही, १।८५।

५. वही, १।८५।

६. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥—वही, १।९३।

में भी सहायक होते हैं। उक्तियों का जो अर्थ पदों से प्रकट होता है, यदि अर्थ की गहनता या मृदुता के अनुकूल अक्षर विन्यास कर पद संघटना की गई तो उस अर्थ, भाव या रस की समवेत अनुभूति अक्षरों की संघटना से ही प्रस्फुट होने लगती है, जिसे अर्थ व्याख्यान में कदापि व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह संघटना काव्यपाठ और काव्यबोध दोनों को उनके मध्य में स्थित दीपक की भाँति प्रकाशित करती है। अनूदित काव्य से मूल काव्य की यही विशेषता होती है। इसलिये ये गुण सचमुच असाधारण अलंक्रिया हैं, दंडी के कथन में पक्षपात नहीं है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में इनको मार्ग का नहीं, काव्य का गुण कहा है—**काव्यस्य गुणा दर्शते**।[७] काव्य का गुण कहने से इस बात का समर्थन होता है कि मार्ग संज्ञा काव्य का पर्याय थी। नाट्यशास्त्र के काव्यगुणों की परिभाषा दंडी के मार्ग के गुणों के लक्षण से भिन्न है। समाधि गुण के लक्षण में तो भरत ने स्पष्ट ही उपमा का नाम लेकर उसमें अर्थ चमत्कार को अत्यंत स्फुट करने का प्रयास किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि भाषा क्रांति के परिणाम—गुणों के विरुद्ध भाव अर्थ का काव्य चमत्कार जागरूक हो रहा था और आहत हुए गुण सिद्धांत को आक्रांत कर रहा था। अतः यह भी प्रकट है कि लक्षण के विषय में नाट्यशास्त्र का समाधिगुण काव्यादर्श के समाधि गुण की अपेक्षा परवर्ती है। दंडी का 'सम्यगधीयते' कहकर सध्यावसाना लक्षणा की ओर इंगित था तथा 'समाधि गुण' को यथाशक्ति शब्द-चमत्कार की परिधि में रखने का निर्वाह था।[८] नाट्शास्त्र के गुणों का लक्षणकार जिस मार्ग की ओर उन्मुख हुआ था उस सरणि पर आचार्य वामन तक गुणों के चमत्कार का शब्द और अर्थ में विभाजन हो गया। वामन ने प्रत्येक गुण की शब्दगत और अर्थगत अलग अलग परिभाषा दी है। अर्थगुण समाधि उन्होंने अर्थ-विषयक कवि की विशेष प्रतिभा कहा है जो दो प्रकार से प्रवृत्त होती है—अर्थ का मौलिक अनुसंधान कर तथा दूसरे के काव्य की छाया से अर्थ की भावना ग्रहण कर।[९] यह परिभाषा दंडी के समाधि गुण से नितांत भिन्न हो गई है और दोनों में कोई तारतम्य नहीं है। गुण की परिभाषाओं में इतने उलट फेर का एक मात्र कारण भाषा काव्य के प्रति पुनः अर्थ (भाव) काव्य की प्रतिक्रिया था। यह

७. नाट्यशास्त्र, १७।९६।

८. मिला इए, नाट्यशास्त्र १७।१०१; काव्यादर्श १।९३।

९. अर्थदृष्टिः समाधिः ॥ अर्थो द्विविधः अयोहिरन्यच्छायायोनिश्च ॥

—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ३।२।६-७।

प्रतिक्रिया आगे वामन से लेकर कुंतक तक काव्य की परिभाषा में शब्द-अर्थ के युगपत् संनिवेश का कारण बनी है।

गुणों का मूल शब्द चमत्कार में है। शब्द चमत्कार से ही वे मार्ग के अभिज्ञान हैं। अलंकारों से इनकी दिशा अलग है। गुण द्वारा मार्ग के अभिज्ञान का स्पष्टार्थ है—वाक्य रचना या छंद रचना में ऐसे अक्षरों, सुबंत-तिङंत पदों तथा समासों का प्रयोग करना, जिनसे रचना की संघटना (बंध) में शैथिल्य न आने पाए एवं रचना के अर्थ के अनुरूप उनमें अक्षरों के समवेत उच्चारण से एक उल्वणत्व की प्रतीति पाठक या श्रोता को हो। पदों और अक्षरों के ऐसे प्रयोग भूगोलगत सीमाओं के अनुसार बदल जाते हैं इसी लिये दंडी को गौडमार्ग में वैदर्भमार्ग का विपर्यय दिखाई पड़ा जो मार्ग के एक एक गुण में है, जैसे-श्लेष गुण में वैदर्भ कवि जहाँ महाप्राण अक्षर तथा संयुक्त वर्णों का संनिवेश अच्छा मानते हैं, वहाँ गौड़ कवियों को अल्पप्राण अक्षर एवं संयुक्त वर्णों की शिथिल पद संघटना ही प्रिय होती है। गुण उक्तियों के शब्दप्रयोग का तथा अलंकार अर्थस्वरूप का पक्ष था, दोनों अपनी अपनी सरणि से काव्य को अलंकृत करते थे। इस प्रकार दोनों की कभी एकता नहीं रही, विदग्धगोष्ठियों में भी दोनों अपनी भिन्न भिन्न भूमियों से उद्भावित हुए हैं। गुणों की उद्भावना ही अलंकारों के विरोध में है, इसलिये यह प्रश्न नहीं उठता कि गुण और अलंकार दोनों कभी काव्य लक्षणों के चिंतन में अवश्य एक रहे होंगे और तब उनके अंतर को स्पष्ट कर किसने उनका अलग-अलग विवेचन किया, इस प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न भी अनावश्यक है। डा० वी० राघन् का यह कहना कि 'गुण एवं अलंकार का अंतर सर्वप्रथम दंडी के काव्यदर्श में उल्लिखित हुआ'[१०] काव्यशास्त्र के इतिहास के किसी यथार्थ तथ्य का प्रकाशक नहीं है।

दंडी के निरूपित गुण अपनी अंतिम विकासावस्था के हैं। इनकी दस संख्या बहुत काट छाँट के बाद निश्चित हुई होगी। दस गुणों के पूर्व ये कभी अनेक संख्या में पद और वाक्य के विशेषण-वैशिष्ट्य के रूप में पुकारे जाते रहे हैं। उपनिषद्, महाभारत और आदिकाव्य रामायण में इनकी अनेक संज्ञाओं का निर्देश है और उन संज्ञाओं के वैशिष्ट्य से विलसित अनेक प्रयोग उक्त आर्ष ग्रंथों में भरे पड़े हैं। किंतु गुण के अत्यंत निकट की संज्ञा (जो गुण के विकास की मध्य अवस्था की सूचक है) – काव्य के शब्द-समय (शब्द-सिद्धांत) का उल्लेख पहली बार रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (शकाब्द ७२, ई० १५०) में हुआ। इस शब्द-समय में स्फुट,

१०. शृंगारप्रकाश, डा० वी० राघवन्, पृ० २६२।

लघु, मधुर, चित्र तथा कांत संज्ञाओं द्वारा गद्य-पद्य-काव्य के अलंकृत होने का निर्देश किया गया है।[11] यहाँ मधुर और कांत नामों में माधुर्य एवं कांति गुण का पर्याय अत्यंत स्पष्ट है, दंडी ने कांति के लिये कांति[12] (गुण) और कांत[13] (वाक्य) दोनों नामों का प्रयोग किया है। इसलिये कांत-शब्द समय से कांति गुण में कोई अंतर न रहा होगा, यह निश्चय से कहा जा सकता है। शेष नामों में 'स्फुट' अर्थ-व्यक्ति या प्रसाद के लक्षण के निकट है। 'चित्र' ओज का समानधर्मा हो सकता है। 'लघु' तो स्पष्ट ही श्लेष के लक्षण का एक भाग है।

काव्य के ये शब्द समय अथवा मार्ग के वे गुण अपने यथार्थ स्वरूप के आविर्भाव के पूर्व वाक्य या वचन और गान के वैशिष्ट्य के प्रकारों तथा उनके अनेक रूपों में, ऋचा-पाठ, काव्यात्मक संवाद एवं कथा-वाङ्मय में नाम और प्रयोग—दोनों तरह से व्यवहृत होते रहे हैं। इनका आरंभिक अभिज्ञान अक्षरों और पदों के उच्चारण प्रयत्न की एकता से उत्पन्न ध्वनिसाम्य (अनुप्रास) में तथा मृदु-अल्पप्राण अक्षरों के बहुलप्रयोग से उत्पन्न श्लक्ष्णप्राय श्रवणगोचरता में प्रकट हुआ। उच्चारण-जन्य प्रभाव को लेकर एक उच्चारण की दूसरे उच्चारण से की जानेवाली तुलना में इनकी विभिन्न संज्ञाएँ की जाने लगीं। इस प्रकार गुणों का इतिहास बहुत पुराना है, जो उक्ति के अर्थसौष्ठव अलंकारों से भिन्न शब्दसौष्ठव की खोज में विकसित होता रहा है। ऋचागान की मृदुता और कठोरता को लेकर शब्दसौष्ठव की ऐसी विशेषताओं का आकलन सबसे पुराना समझा जाना चाहिए। 'छांदोग्योपनिषद्' में इस प्रसंग की चर्चा मिलती है, उसमें भिन्न भिन्न व्यक्तियों के ऋचा-गान को मृदु, श्लक्ष्ण, बलवद् तथा अपध्वांत (भ्रष्ट) संज्ञाएँ दी गई हैं। इन संज्ञाओं को मधुर, सुकुमार, ओज गुणों तथा ग्राम्यता का मूल कह सकते हैं—

११. हिस्टोरिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस, पृ० ६४—
स्फुट-लघु-मधुर-चित्र कांत-शब्दसमयोदारालंकृत-गद्य-पद्य (काव्य-विधान-प्रवीणे) न, प्रमाणमानोन्मान-स्वर-गति,वर्ण-सारसत्वादिभिः।—

१२. काव्यादर्श १।४१—
अर्थ व्यक्ति रुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

१३. वही, १।८५-८८—
कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
इति संभाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथो निरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य, मृदु श्लक्ष्णं वायोः, श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौंचं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य, तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ।[१४]

अर्थात् साम के विनर्दि' संज्ञक गान का वरण करता हूँ, वह पशुओं के लिये हितकर है और अग्नि का उद्गीथ है। प्रजापति का गान (उद्गीथ) अनिरुक्त है। अर्थात् उसकी किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती। सोम का निरुक्त है। वायु का मृदु और श्लक्ष्ण (सरलता से उच्चारण किए जाने योग्य सुकुमार) है। इंद्र का श्लक्ष्ण और बलवान् (ओजस्वी) है। बृहस्पति का क्रौंच पक्षी के शब्द के समान है। वरुण का गान अपध्वांत है। इनमें वरुण के उद्गीथ (गान) को त्याग कर शेष के गान की उपासना करे।

महाभारत में अच्छे वक्ता के लिये वचनसंपन्न[१५] तथा वाक्यविशारद संज्ञाओं का विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है और स्थान स्थान पर वाणी और वाक्य की उन विशेषताओं को भी इंगित किया गया है जिनके कारण वक्ता में वचन-संपन्न या वाक्यविशारद विशेषण की यथार्थता प्रत्यक्ष होती है। वे विशेषताएँ एक तो वाणी के उच्चारण की होती थीं, जो वक्ता की जन्मजात उपलब्धि रहती थीं, जैसे कृष्ण के लिये 'मेघस्वन'[१६] और द्रोण के वचन के लिये 'महामेघनिभस्वन'[१७] विशेषणों का प्रयोग। दूसरी विशेषताएँ वाक्य-गठन एवं पद प्रयोग की होती थीं जो वक्ता की भाषा संबंधी विज्ञता का परिचायक थीं, विशेषकर राजनीतिक, कूटनीतिक वक्ता के लिये ये बहुत आवश्यक थी, वाक्यों का शक्तिमान् प्रयोग प्रतिपक्षी को सहमत करने में समर्थ होता था। वाक्यगठन और पद प्रयोग संबंधी ऐसी विशेषताएँ इन्हीं श्लेष, ओज, माधुर्य, आदि गुणों की मूल परंपरा में थीं। महाभारत के पात्रों में कृष्ण से बढ़कर शक्तिमान् वक्ता कदाचित्

१४. छान्दोग्य०, २।२२।१।

१५. एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग् यथावल्लौमहर्षिणः।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ॥- महा०, आदि०, १.८।

१६. उन्मेघस्वनः काले कृष्णः वर्यमथाब्रवीत् ।—वही, उद्योग०, १४०।१।

१७. ततः रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत्।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥—वही, आदि०, १३४.६२।

दूसरा नहीं है। वे संधिदूत बनकर कौरव सभा में गए थे लेकिन उन्हें वहाँ सफलता न मिल सकी। तब उन्होंने सुयोधन के प्रबल सहायक महारथी कर्ण को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। कर्ण से कृष्ण ने जैसी बातचीत की, जैसे वाक्यों का प्रयोग किया, उसका वर्णन संजय धृतराष्ट्र से करता है—

> आनपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च
> प्रियाणी धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥
> हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः।
> यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥[१८]

इस कथन में वाक्यों का आनुपूर्वी, तीक्ष्ण, मृदु तथा हृदयग्राही होना कहा गया है। आनुपूर्व्य को श्लेष का, मृदु को माधुर्य का तथा हृदयग्राही को कांतगुण का पर्याय समझना चाहिए। तीक्ष्ण भी वाणी का एक विशेष गुण है जिसका प्रयोग केवल राजनीतिक, पृष्ठभूमि या ठेठ लोकव्यवहार में ही उपयुक्त होता था। काव्य में इस गुण की उपयोगिता नहीं थी। तीक्ष्ण गुण की वाणी के प्रयोग से श्रोता तिलमिला उठता था, और अपने हृदय के उन उद्‌गारों को जिन्हें वह छिपाए रखना चाहता था, विवश होकर प्रत्युत्तर में प्रकट कर देता था। महाभारत में वक्ता की वाणी को प्रायः तीक्ष्ण गुण से युक्त बताया गया है। तीक्ष्ण वाक्यों को प्रतियोगी मृदु या मधुर वाक्यों की वाणी थी, चतुर वक्ता तीक्ष्ण के उत्तर में सदैव मधुर वाक्यों की वाणी का प्रयोग करता था। सभा में दूसरे को अपमानित करने के लिये एक साथ मृदु और तीक्ष्ण वाक्यों का प्रयोग प्रगल्भ वक्ता करते थे।[१९] सुयोधन द्वारा प्रार्थना किए जाने पर जब शल्य ने न केवल कर्ण का सारथी होना अस्वीकार किया (यद्यपि पांडवों के हित में मन से वह ऐसा करना चाहता ही था) वरंच नाराज होकर वह अपने देश लौट जाने को तैयार हो गया, तब वह उनके प्रति मधुर वाक्य का ही प्रयोग करता है। यहाँ मधुर वाक्य को सर्वार्थ साधक कहा गया है—

> प्रणयाद् बहुमानाच्च तं निगृह्य सुतस्तव।
> अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साम्ना सर्वार्थसाधकम् ॥[२०]

१८. महा० उद्योग०, १४०।४-५।

१९. विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम ॥—महा० शांति० ११४।१।

२०. महा० कर्ण पर्व, ३२।५३।

जैसा कि दंडी ने लिखा है—मधुरं रसवद्वाचि वस्तून्यपि रसस्थितिः[२१] वैसे ही मधुर गुण का प्रयोग ह्लादकारो और रसपर्यवसायी रूप में महाभारत में भी किया गया है। गंगा ने जब शांतनु की पत्नी होना स्वीकार किया तब उन्होंने मृदु (मधुर) वाणी में अपनी स्वीकृति दी है। आनंद बरसाती स्मित युक्त वाणी में कहा है—महीपाल, मैं तुम्हारी आज्ञाकारिणी महिषी बनूँगी। यहाँ मृदु और वल्गु दोनों मिलती-जुलती संज्ञाएँ हैं, जो माधुर्य गुण के निकट हैं—

> एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च।
> वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता ॥
> उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा।
> भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥[२२]

मेघनिभस्वन वचन यद्यपि वक्ता का जन्मजात गुण होता था तथापि उसे पद-प्रयोगों से भी वैसा बनाया जाता रहा होगा और तब उसमें निश्चित ही ओजगुण-युक्त पदों के प्रयोग होते रहे होंगे।

'आनुपूर्व्येण वाक्यानि' का तात्पर्य उन सभी गुणों के समन्वय से है जिससे वाक्य के उद्देश्य और विधेय की स्फुट अभिव्यक्ति हो जाय। इस समन्वय में श्लेष, प्रसाद, अर्थव्यक्ति तथा उदार गुणों की विशेषताएँ आ सकती हैं।

महाभारत को देवों और मनुष्यों के प्रयोग-सिद्धांत में स्वीकृत शुभ शब्दों से अलंकृत बताया गया है।[२३] इसी लिये वह विद्वानों को प्रिय है। समय (सिद्धांत) स्वीकृत शुभ शब्दों का तात्पर्य महाभारत में गुण-विशिष्ट प्रयोगों से ही है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतीत काल में वाणी के व्यवहार संबंधी सिद्धांतों की भिन्न भिन्न जातियों में अपनी अलग अलग विशेषताएँ थीं। वक्ता लोमहर्षणि की दृष्टि में महाभारत का शब्द-विन्यास (गुण-अन्विति) देव और मनुष्य—दोनों के वाणी प्रयोग के सिद्धांतों से युक्त था।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में विस्तार के साथ भिन्न-भिन्न जातियों अथवा

२१. काव्यादर्श, १।५१।
२२. महा०, आदि०, ९८।१-२।
२३. अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषांप्रियम् ॥—महा० आदि०, १।२८।

वर्गों के वाक्य-प्रयोगों की विशेषताएँ उद्धृत की हैं और उन विशेषताओं में पद-संबंधी व्युत्पत्तियों तथा गुणों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में आर्ष, आर्षीक, आर्षिपुत्रक, वैबुध (दैव), वैद्याधर, गांधर्व, योगिनीमत, भौजंगम तथा वैष्णव वाक्यों के लक्षण बताए गए हैं।[२४] राजशेखर के सामने वैष्णव वाक्य को छोड़ कर, जिसे उन्होंने मानुषवाक्य भी कहा है, शेष वाक्यों का प्रत्यक्ष उदाहरण तो निश्चित रूप से न ही रहा होगा लेकिन परंपरानुश्रुत लक्षणों को उन्होंने दे दिया है। हमें इसी पृष्ठभूमि में इन्हें देखना भी चाहिए और अतीत की इसी सरणि में वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। महाभारत में देव तथा मनुष्य वाणी के समय (गुण)-अन्वित शब्दों का उल्लेख यथास्थिति का संकेत है। राजशेखर के उक्त वाक्यों में आर्ष वाक्य प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति गुण से युक्त होता था; इन दोनों गुणों का कथन यहाँ प्रकारांतर से हुआ है—प्रसाद अर्थात् नामविभक्ति से युक्त वाक्य, अर्थव्यक्ति अर्थात् अर्थ का प्रत्यक्ष निर्देश—

> यत्किंचिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः।
> प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम् ॥[२५]

ऋषियुग के पश्चात् काव्यचर्चा के युग में 'नामविभक्तिभिः युक्तम्' की संज्ञा 'प्रसाद' तथा 'प्रत्यक्षाभिहितार्थम्' की संज्ञा 'अर्थव्यक्ति' हो गई। आर्षीक वाक्य भी छोटे छोटे वाक्यों (अर्थात् प्रसादगुण) से युक्त होते थे—'न चापि सुमहद्-वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत्।[२६] गुणों का प्रत्यक्ष उल्लेख देव तथा सर्प वाक्यों के लक्षणों में है। देव-वाक्य का लक्षण है—

> समासव्याससंदब्धं शृंगाराद्भुतसम्भृतम्।
> सानुप्रासमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम् ॥[२७]

इस लक्षण में उदार गुण का नाम तो लिया ही गया है, समासव्याससंदब्ध वचन वैदर्भी-गौडों का अनुमत ओजोगुण है। शृंगार तथा अद्भुत रसों से पूर्ण अनुप्रास युक्त वाक्य स्पष्ट रूप से दंडी का माधुर्य गुण है। इसी प्रकार गुणों के स्पष्ट उल्लेख के साथ भौजंगम वाक्य का लक्षण किया गया है—

२४. काव्य मीमांसा अध्याय ७, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० ७०-७५।
२५. पृ० ७१।
२६. वही, पृ० ७१।
२७. काव्य मीमांसा, पृ० ७२।

प्रसन्नमधुरोदात्तसमासव्यासभागवत् ।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम् ॥[२८]

यहाँ भी प्रसन्न, मधुर तथा उदात्त से क्रमशः प्रसाद, माधुर्य और उदार गुणों का ही ग्रहण है। 'समासव्यासभागवत्' पहले की भाँति वैदर्भी गौडी का ओजोगुण है। 'अनोजस्विपदप्रायम्' की संगति दंडी के अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते से अर्थात् सुकुमारता गुण से है।

वैष्णव या मानुष वचन का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने कहा है--वह वैदर्भी, गौडीया, पांचाली रीतियों से तीन प्रकार का है और पुनः इन रीति-वाक्यों को काकु अनेक प्रकार का बना देता है।[२९] अर्थात् रीतियाँ गुणयुक्त होती थीं, और ये गुण मनुष्यों के अतिरिक्त उनसे पूर्व भी अन्य जातियों की भाषाओं में वाणीसौष्ठव के प्रतिमान थे। राजशेखर की काव्यमीमांसा की यह सूचना (यद्यपि उसका रचनाकाल १० वीं शती ई० का आरंभ है) गुणों की प्रत्न परंपरा के इतिहास के रूप में ही उल्लिखित हुई है—

काव्यचर्चा के स्वतंत्र चिंतन के पहले अनेक जातियों और वर्गों की भाषाओं में वाक्यों का सौष्ठव गुणों के अभिज्ञान में निहित था। संस्कृत भाषा अथवा लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त भारत में जिन भाषाओं का प्रयोग होता था, अथवा यों कहें कि भारत के मध्यवर्ती आर्यों के अतिरिक्त अन्य जातियों की अपनी वाणी के जो प्रतिमान प्रयोग थे, उनमें गुणों की संप्रभुता ही वाणी सौष्ठव का आधार थी। वाणी में गुणों का यह संनिवेश उसके उच्चारण में ध्वनि, नाद की एक अद्भुत रमणीयता, श्रवण-जन्य मनोहारिता तथा अर्थ की स्फुट अभिव्यक्ति का कारण बन जाता है। शब्द-योजना की विदग्धता ही गुण थे, शब्दों की व्युत्पत्ति थी—अक्षर, अक्षरों के उच्चारण संबंधी आभ्यंतर बाह्य प्रयत्न, कंठ तालु-मूर्धा आदि का संचालन और उच्चारणानंतर संवाद-नाद घोष-महाप्राण ध्वनियाँ, वाणी में शब्द की इन व्युत्पत्तियों का एक लावण्योत्पादक नियमन होता था। अर्थात् गुणों के प्रयोग में व्याकरणशास्त्र की उक्त व्युत्पत्तियों की ज्ञानापेक्षा एवं उपादेयता थी। यह बात रामायण के एक प्रसंग से स्पष्ट हो जाती है। वानर हनुमान सुग्रीव के दूत बनकर वनपथ पर आते तेजस्वी

२८. वही, पृ० ७४।

२९. वासुदेवस्य वचो वैष्णवं तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रयभेदेन।...रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति। —काव्यमीमांसा, पृ० ७५।

आर्य-वीर राम-लक्ष्मण से मिलने गए। उनके मिलने का उद्देश्य था—यदि ये वीर बालि के भेजे हुए हों तो उसे जानकर सुग्रीव को संकेत कर देना चाहिए और यदि वे स्वतः विचर रहे हों तो ऐसे तेजस्वी वीरों को अपने पक्ष में करने के लिये सुग्रीव की ओर से दूतत्व किया जाय। हनुमान ने उनके पास पहुँच कर जैसा कि कूटनीतिक व्यक्ति को उचित है अत्यंत गुण-संभृत वाणी में अपनी बातें प्रस्तुत कीं। गुणशालिनी वाणी में हनुमान के वाक्यों का श्रवणजन्य तथा बोधजन्य राम पर क्या प्रभाव पड़ा? वाल्मीकि ने इसे विस्तार से स्पष्ट किया है, उससे गुण-संयुक्त-वाणी की महिमा का आकलन होता है। हनुमान की विनीत तथा सारयुक्त वाणी को सुनकर राम प्रसन्न हुए, कहने वाले की प्रतिभा से चमत्कृत हुए और लक्ष्मण से कहा—'तुम इस वाक्यज्ञ को मधुर वाक्यों से उत्तर दो। जिस सुंदर भाषा और अभिव्यक्ति में इन्होंने अपनी बातें कही हैं, निश्चय ही ऋग्वेद की शिक्षा, यजुर्वेद के अभ्यास तथा सामवेद के पूर्ण ज्ञान के बिना ऐसी भाषा कोई बोल नहीं सकता। समूचे व्याकरण-शास्त्र का स्वाध्याय इन्होंने अनेकधा किया होगा, क्योंकि कोई भी अपशब्द (ग्राम्य प्रयोग) इस संवाद में नहीं आया। हृदयस्थित इनके जो वाक्य कंठ से फूट कर बाहर मध्यम स्वर में प्रकट हुए हैं वे अविस्तर, असंदिग्ध, अविलंबित और अव्यर्थ हैं। इस चित्रमयी वाणी से, जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दों के उच्चारण के समकाल ही हृदय, कंठ एवं शिर की भंगिमा से होती जा रही है, तलवार खींचकर मारने के लिए उद्यत किस शत्रु का भी चित्त न प्रसन्न होगा?[30]

यहाँ हनुमान् के वाक्यों की जो विशेषताएँ राम ने लक्ष्मण से बताई हैं यदि उनके अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो उनका तारतम्य इन मार्ग-गुणों के लक्षण से हो जाता है—अविस्तर वाक्य श्लेष गुण के असंदिग्ध वाक्य अर्थव्यक्ति के, अविलंबित वाक्य समता के और अव्यर्थ वाक्य माधुर्य एवं कांतिगुण के निकट हैं। स्वयं वाल्मीकि ने उक्त संवाद के प्रसंग में हनुमान् द्वारा श्लक्ष्ण, सुमनोज्ञ और मृदुवाक्यों के बोले जाने का उल्लेख किया है।[31] श्लक्ष्ण का वैशिष्ट्य श्लेष-

३०. अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यंजनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥
—वा० रा०, किष्किन्धा० ३।३१,३३।

३१. ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ।—वही, ३।३, ५

युक्त माधुर्य तथा सुकुमार गुणों के ही निकट है, श्लक्ष्ण वाणी उसे कहते हैं जो सरलता से उच्चारण योग्य, बंधपूर्ण एवं कोमल हो। सुमनोज्ञ तथा मृदु वाक्य क्रमशः कांति और माधुर्यगुण के लक्षणों में अंतर्हित होते हैं। दूतों द्वारा श्लक्ष्ण एवं मृदुवाणी बोले जाने की एक परंपरा ही थी, शुंभ का दूत सुग्रीव भी हिमाचल स्थित देवी से अपने दैत्यराट् का संदेश श्लक्ष्ण और मृदु वाणी में कहता है।[३२]

हनुमान् ने जिस वाणी का प्रयोग किया वह हमारे सामने नहीं है, किंतु कवि वाल्मीकि ने उसका जो अनुवाद अपने प्रबंध में प्रस्तुत किया उसे पढ़कर भी हनुमान् की उक्त गुण विशिष्ट वाणी का ही आनंद आता है। राजशेखर के आर्ष वाक्य के लक्षणनाम विभक्तियों के प्रयोग और अर्थ का प्रत्यक्ष अभिधान, के साथ श्लेषबंध (संयुक्तवर्ण और महाप्राण अक्षरों का निवेश) तथा अल्प समास के विनियोग से हनुमान् की वह वाणी पूर्ण है जिसके कारण उक्त वर्णन में राम लक्ष्मण के तेजस्वी स्वरूप की अभिव्यक्ति सी फूटी पड़ती है। नाम विभक्ति, प्रत्यक्ष अर्थाभिधान, श्लेष और अल्पसमास (वैदर्भ अनुमत ओज) का यह एकत्र उदाहरण देखिए—

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ ॥
श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ ॥[33]

प्रत्यक्ष अर्थ अभिधान को यदि हम अर्थव्यक्ति गुण मान लें तो अर्थव्यक्ति, श्लेष और ओज के अतिरिक्त नाम-विभक्ति को प्रयोग उक्त श्लोकों का अधिक उज्ज्वलता प्रदान कर रहा है। इसी प्रकार—

पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तरस्विनौ ॥

३२. स तत्र गत्वा यत्रास्ते शैलोद्देशेऽतिशोभने।
सा देवी, तां ततः प्राह श्लक्ष्णं मधुरयागिरा ॥
—दुर्गासप्तशती ५।१०४।

३३. वा० रा०, किष्किंधा०, ३।९-१०।

धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः ॥[३४]

इन श्लोकों में वीक्षमाणौ, शोभयंतौ, निःश्वसंतौ, पीडयंतौ इन कृदंत-क्रियापदों में ही वाक्य की समाप्ति ने, जिनमें अनुप्रास भी अपने आप आगया है, अर्थ की एक विशेष चमत्कृति उत्पन्न करती है। राजशेखर के अनुसार यह कृद-भिहिताख्यात वाक्य है।[३५] क्रियाओं के विशेष प्रयोग भी अर्थबोध को सुस्पष्टता और वाणी के उच्चारण को मंजुलता प्रदान करते हैं एवं गुणों के वैशिष्ट्य को उपकृत करते हैं। क्रियाओं के ऐसे प्रयोग दीपकविधा की अलंकार उद्भावना के भी मौलिक पक्ष हैं।

रामायण तथा महाभारत में क्रिया प्रयोग के प्रकारों के अनेक रमणीक उदाहरण विद्यमान हैं और वे कविकृत प्रयत्न के परिणाम नहीं हैं वरंच उनकी स्थिति कथन की स्वभावोक्ति में हैं। महाभारत का यह आवृत्ताख्यात-प्रयुक्त श्लोक देखिए—

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ॥[३६]

इसमें क्रिया की आवृत्ति तो हुई है, साथ ही दूसरी विशेषता भी वर्तमान है—आवृत्ति एक ही कर्ता, उसी वचन और पुरुष में तथा तीनों कालों में प्रयुक्त होकर प्रस्तुत अर्थ को अधिक तीव्रता प्रदान करती है। इस तरह क्रिया प्रयोग को गुण-वैशिष्ट्य के रूप में ग्रहण किए जाने की परंपरा कवि संप्रदाय में सदा बनी रही है। भोज ने नामविभक्ति तथा क्रियापदों के व्युत्पत्तियुक्त प्रयोग को अलग से सुशब्दता नाम का शब्दगुण ही कहा है।[३७]

गुणों की उद्भावना में यही सहयोग संज्ञा (सुबंत पद) और उनकी विभक्तियों का है। राजशेखर ने उद्भट के मत में अभिधा व्यापार के तीन वाक्य-प्रकारों का उल्लेख किया है – १. वैभक्त वाक्य, जिसमें प्रत्येक पद में विभक्तियाँ

३४. वही, ३।७-८।
३५. काव्य०, पृ० ५०।
३६. महा० आदि०, १।२६।
३७. व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता ॥
—सरस्वती कंठाभरण १।७२।

लगी हों, २. शाक्त वाक्य; जिसमें समास के कारण विभक्तियाँ लुप्त हो गई हों, ३. शक्ति विभक्तिमय वाक्य; जिसमें उक्त दोनों विशेषताएँ हों; इनमें प्रथम दो वाक्यप्रकार क्रमशः प्रसाद और ओज गुण की विशेषताएँ हैं।[३८]

इसी प्रकार काव्य प्रयोग के रमणीयताप्रकारों ने भी गुणों को उनका स्वरूप प्रदान करने में सहायता दी है। वाक्य, पद, अक्षर तथा उनके उच्चारण-प्रयत्न में उत्पन्न विभिन्न नाद ध्वनि आदि के द्वारा सुशब्दता और अर्थबोध की सुकरता को लेकर काव्य गोष्ठियों में शब्दसौष्ठव का जो विकास हुआ, वही क्रमशः गिरनारवाले शिलालेख के शब्द समय और दंडी के दस गुणों के रूप में काव्य का लक्षण बन गया।

इन गुणों में श्लेष, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, प्रसाद, समता तथा कांत उल्लिखित शब्द सौष्ठव के विभिन्न प्रकारों के समाहार से बने है। इनमें भी श्लेष, समता तथा सुकुमारता गुणों का स्वरूप उच्चारणजन्य प्रयत्न भेद को लेकर निश्चित वर्णविशेष के संनिवेश का परिणाम है। यह बात तो दंडी के लक्षण से भी स्पष्ट है।[३९] हम इनके स्वरूप के विस्तार में अच्छे वाक्य तथा श्रवणप्रिय वर्णों के उन वैशिष्ट्यों को देख सकते हैं जो वास्तव में गुणों के विभक्त अंश थे और काव्य में गुणों के निश्चय के पूर्व सामान्य प्रयोग में भी वाणी की विशिष्टता व्यक्त करते थे एवं उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में उक्त अर्थ में ही जिनको अनेक संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। उन अनेक संज्ञाओं को गुणों की सीमा में निम्नप्रकार से देखा जा सकता है, इससे गुणों के विकास की अवस्था भी स्पष्ट होती है—

श्लेष—आनुपूर्व्य, अविस्तर, श्लक्ष्ण, स्फुट।

माधुर्य—अपभ्रष्टहीनता, अग्राम्यता, अनुप्रास, काकु, अव्यथ, मनोज्ञ।

ओज—समास-बहुलपद (शाक्त वाक्य), आख्यात प्रयोग।

सुकुमारता—श्लक्ष्ण, विभक्तिमय पद (वैभक्त वाक्य), अनोजस्वि अव्यथ।

प्रसाद—विभक्तिमय पद, अविस्तर, प्रत्यक्षाभिहितार्थ।

समता—मृदु, अविलंबित।

कांत—हृदयग्राहित्व, वल्गु, उक्ति।

अर्थव्यक्ति गुण का लक्षण एकांत है। उसका वैशिष्ट्य अर्थ का अनेयत्व धर्म उसके उद्गम तथा विकास में एक समान बना रहा। इसी एकरूपता के कारण

३८. काव्य०, पृ० ५५।

३९. काव्यादर्श १।४३, ४७, ६६।

वह वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों को एक समान स्वीकार है यतः अर्थ के नेयत्व धर्म की प्रशंसा वैदर्भ और गौड दोनों नहीं करते।[४०]

तीन गुणों से दस गुणों का मौलिक भेद

दंडी के दस गुणों की परंपरा का मूल क्या था, यह ऊपर स्पष्ट किया गया है। उनके उत्तरवर्ती औदीच्य आचार्यों ने काव्य में तीन गुणों को ही मान्यता दी है और उनके वरिष्ठ आचार्य मंमट ने, दंडी के नहीं, उनकी परंपरा के पोषक वामन के दस शब्द गुणों और दस अर्थगुणों का अंतर्भाव अपने तीन गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद), दोषाभावों, दोषों, अर्थदृष्टि और वैचित्र्य प्रकारों में कर दिया है।[४१] यह घटना काव्य में रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा स्वीकार किए जाने के बाद की है। इस व्यवस्था का काव्यचर्चा में बहुत आदर हुआ और जब दंडी और वामन के रास्ते पर चलकर भोज ने शब्द अर्थ गुणों के चौबीस-चौबीस भेद किए तो उस स्थापना को तथ्यपूर्ण अथवा मूल्यवान् नहीं समझा गया।

रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के बाद उसके तीन गुणों को मान्यता देना एक अलग विषय था, किंतु उन तीन गुणों की सीमा में शब्द-अर्थ के दस गुणों को अंतर्भुक्त करने का प्रयास काव्यचर्चा के इतिहास में असमीक्षित घटना थी। यह इसलिये कि तीन गुणों और दस गुणों की उद्भावना की मूल भूमियाँ ही भिन्न-भिन्न हैं। दस गुण सौशब्द्य काव्य के (वह वैदर्भ हो या गौड) प्राण हैं, वे स्वतः अपने में समग्र काव्यसिद्धांत हैं, काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में मार्ग और गुणों का विस्तृत विवेचन, जिसमें तत्कालीन काव्य संप्रदायों के उनसे संबंधित भिन्न दृष्टि-कोणों की भी चर्चा है, उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तीन गुण अंगी रस के धर्म, उनकी अंतःसत्ता के प्रकाशक हैं, इन गुणों की रस से कोई अलग सत्ता नहीं है, ये रस का अवलंबन करके ही काव्य में चमत्कृत होते हैं।[४२] तीन गुणों का संबंध मन की दशाओं से है—१-द्रवीभूत होना

४०. नेदृशं बहु मन्यते मार्गयोरुभयोरपि।
न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥—वही, १।७।

४१. काव्य०, ८। सू० ६६।

४२. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥—ध्वन्यालोक, २।६।

(द्रुतिमाधुर्य गुण), २. विस्तार होना (विचेष्टा, ओजोगुण), ३. विकास होना (समर्पकत्व, प्रसाद गुण)। पुनः ये क्रमशः तीन-तीन रसों के साथ सम्बद्ध हैं—शृंगार, करुण-शांत में माधुर्यगुण, रौद्र-बीभत्स में ओजोगुण और हास्य-अद्भुत-भयानक में प्रसादगुण की स्थिति होती है। इनमें विकास या समर्पकत्व अवस्था जिस प्रकार मनोदशा की समरस स्थिति है उसी प्रकार प्रसाद गुण सभी रसों की अभिव्यक्ति करता है। रस के आश्रित इन तीन गुणों के विपरीत वैदर्भ मार्ग के दस गुण सर्वथा शब्दाश्रित हैं, वे अपने में ही पूर्ण सौशब्य काव्य हैं। अर्थ (भाव) की खोज करनेवाले परवर्ती आचार्य भामह ने सुबंत-तिङंत शब्दों की व्युत्पत्ति (जो दस गुणों की उद्भावना का मूल है) के आश्रित होने के कारण ही सौशब्यकाव्य को बहुत प्रतिष्ठा नहीं दी है।[४३] इस प्रकार दस गुण और तीन गुण की परंपरा ही परस्पर भिन्न है, अतः उक्त तीन गुणों में मार्ग के दस गुणों का अंतर्भाव करना उचित नहीं प्रतीत होता।

शब्द-प्रयोग-प्रकार के आश्रित दस गुणों की स्थिति रस के व्यंजक धर्म तीन गुणों से भिन्न है, इस तथ्य की स्वीकृति का स्पष्ट संकेत आनंदवर्धन के संघटना और गुण के पार्थक्य विवेचन में भी मिलता है। उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बताए हैं—समास-रहित, मध्यम-समास से युक्त, लंबे समस्त पदों से पूर्ण।[४४] ये प्रकार आनंदवर्धन के नहीं किसी दूसरे आचार्य के उपस्थापित हैं, जिनसे सहमत होने और न होने—दोनों अवस्थाओं में उनके लिये द्विविधा की स्थिति पैदा हो गई है। सहमत न होने पर रस की अभिव्यक्ति में विद्यमान कारणस्वरूप संघटना को कौन सी संज्ञा दी जायगी? उसे गुण कहना उन्हें इष्ट नहीं है और अगर वे उक्त प्रकारों को स्वीकार कर लेते हैं तो संघटना शब्दाश्रित हो जाती है और संघटना है रसों को अभिव्यक्त करनेवाला तत्व। ऐसी स्थिति में आचार्य के

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

—काव्य० ८। सू० ८७।

४३. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥

—काव्यालंकार (भामह), १।१७।

४४. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ —ध्वन्यालोक, ३।५।

ध्वनिसिद्धांत का व्यभिचार उपस्थित हो जाता है, जब शब्दाश्रित संघटना (अर्थात् सौशब्द्य काव्य) रसों की अभिव्यक्ति का हेतु बनती है। इसलिये उन्होंने कहा कि संघटना का यह भेद कुछ लोगों ने किया है हम तो इस परिभाषा का अनुवाद कर संघटना का नया लक्षण प्रस्तुत करना चाहते हैं। माधुर्य आदि गुणों के आश्रित होकर जो रसों को अभिव्यक्त करती है, वह संघटना है।[४५] फिर उन्होंने समास-लक्षण वाली इस संघटना की रसानुकूल बातें बताई हैं। अर्थात् शब्दाश्रित संघटना में रस व्यंजना की खोज की है।

वस्तुतः संघटना दस गुणों का ही एकदेशीय व्याख्यान है। समास बहुल रचना ओजोगुण है[४६] जिसे गौड पसंद करते हैं -- यह हुई दीर्घसमासा संघटना। अनाकुल (सुखोच्चारण) समस्त पदों का ओज वैदर्भों को प्रिय है[४७], यह है मध्यम समास वाली संघटना। समास रहित पदों की रचना, जो असमासा संघटना है, प्रायः प्रसाद, सुकुमारता, उदारत्व गुणों का वैशिष्ट्य है। संघटना के प्रयोग के संबंध में वक्ता, रस और विषय (काव्यभेद) के आश्रय औचित्य का निर्देश आनंदवर्धन ने किया है, जिस औचित्य से उसके अन्य भेद भी संभव होते हैं।[४८] उक्त औचित्य का नियमन उनके पूर्व गुणों को लेकर भी हुआ है—कांत गुण वार्ता काव्य और प्रशंसा वचनों में पाया जाता है।[४९]

'माधुर्य आदि गुणों के आश्रित स्थित होकर रसों को अभिव्यक्त करती है'—संघटना का यह लक्षण स्वयं अपने में एक प्रश्न बन जाता है। क्योंकि गुण रस का अवलंबन करनेवाले धर्म है और रस की अभिव्यक्ति में हेतु हैं, तब उनके ही आश्रित तथा रस की ही व्यंजना करनेवाली यह संघटना कौन-सी नई विधा हुई ? दो विकल्प सामने आते हैं—क्या संघटना और गुण दोनों काव्य के एक तत्व हैं ? अथवा दोनों की अलग अलग सत्ता है ? यदि दोनों एक तत्व हैं तो रस के

४५. तां केवलमनूद्येदमुच्यते -- गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा-रसान्। — ध्वन्यालोक, ३।६।

४६. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्। — काव्यादर्श, १।८०।

४७. अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा। — वही, १।८२।

४८. तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ — ध्वन्यालोक, ३।६, ७।

४९. कान्तं सर्वं जगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥ — काव्यादर्श, १।८५।

गुण और संघटना को मिलाकर आपाततः जो विधा सामने आती है वह दंडी का दशगुण है। अगर दोनों की अलग अलग सत्ता है, जो कि आनंदवर्धन को इष्ट है. तब यह प्रश्न आता है कि संघटना गुण के आश्रित है अथवा गुण संघटना के आश्रित हैं ? [५०]

उनका मत है कि गुण न तो संघटना है और न संघटना के आश्रित हैं, गुणों का शब्दधर्म उपचारतः स्वीकार किया जा सकता है, जैसे शौर्य आत्मा का धर्म होता है लेकिन उसकी स्थिति शरीर में देखी जाती है। वाक्य, पद तथा वर्ण तक में व्यंजनाशक्ति के विद्यमान होने के कारण रसों के संबंध में शब्दों की कोई नियत संघटना नहीं स्थापित की जा सकती। रौद्र आदि रसों का ओजोगुण असमासा संघटना में भी देखा जाता है।[५१] ओजोगुण की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने उसके लक्षण के दो भाग किए हैं– ओजो गुण को व्यक्त करने वाला शब्द लंबे समासों की रचना से अलंकृत वाक्य है[५२] तथा उसे व्यक्त करने वाला अर्थ लंबे समस्त पदों की रचना से रहित प्रसन्न (श्लक्ष्ण) शब्दों से अभिहित होता है[५३] और ओज का यह द्विधा विभाजन दंडी के गौडानुमत एवं वैदर्भानुमत ओज के द्विप्रकार से कोई अंतर नहीं रखता।[५४] अर्थात् निष्कर्ष यह है कि संघटना तीन गुणों से भिन्न विधा है, वह रस में कोई नियत स्थिति नहीं रखती, गुण रस के नियत धर्म हैं, अगर गुणों को संघटना के आश्रित मान लिया जाता है तो वे भी अनियत विषय हो जाते हैं जो मान्य नहीं। प्रसाद गुण सभी संघटनाओं में व्याप्त है। ऐसी स्थिति में जब कि गुण और संघटना के पृथक्करण का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है, गुण से भिन्न और गुण रूप संघटना के प्रयोग के संबंध में कोई

५०. अत्र च विकल्प्यं गुणानां संघटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।

—ध्वन्यालोक, ३।६ की वृत्ति।

५१. वही ३।६ की वृत्ति।

५२. तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालंकृतं वाक्यम्।

—वही, २।९ की वृत्ति।

५३. तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षित दीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।

वही।

५४. काव्यादर्श १।८० और ८३।

नियम व्यवस्था होनी चाहिए।[55] और वह नियम व्यवस्था है—वक्ता, वाच्य (अर्थ) का विधेय रस, रसाभास, अभिनेय, उत्तम प्रकृतिसंपन्न नायक आदि और विषय (काव्य के मुक्तक प्रबंध आदि भेद) के औचित्य का ध्यान। औचित्य का यह नियमन दस गुणों में भी पाया जाता है, प्रायः सभी गुणों के वैदर्भानुमत एवं गौड संमत अपने अपने स्वरूप हैं, कांत गुण तो विशेष रूप से वार्ता काव्य एवं प्रशंसा वचनों में व्यवहृत होता है। सच बात यह है कि गुण और संघटना का पृथक्करण जो संभव नहीं हुआ है, वह दोनों की प्रयोग विधा का, दसगुणों का ही प्रकारांतर होने का संकेत है। और दसगुण का स्वतंत्र रूप से अपना विषय, क्षेत्र और स्वरूप है; संघटना के संबंध में आनंदवर्धन ने जो प्रश्न उठाए हैं, रस को सामने रखने पर दस गुणों के संबंध मे भी वही प्रश्न उठ सकते हैं। इसलिये संघटना की समस्त व्याख्या दंडी और वामन के गुणों का ही प्रकारांतर है। संघटना की व्याख्या अलग से करने की आवश्यकता नहीं थी, यदि सौशब्द्य काव्य से अनुप्रेरित दंडी के गुणों को आनंदवर्धन ने मान्यता दे दी होती।

उन्होंने रसव्यक्ति के हेतु गुणों का जो मूल लक्षण किया उसमें केवल ओज को छोड़कर, शेष माधुर्य और प्रसाद में शब्द प्रयोग की व्याख्या न होकर भावाभिभूत होनेवाली मनोदशा का ही विभाजन है—

१. विप्रलंभशृंगार और करुण में जिससे मन उत्तरोत्तर विशेष रूप से आर्द्रता (तरलता) प्राप्त करता है वहाँ माधुर्य गुण होता है।[56]

२. काव्य के सभी रसों के प्रति बोध व्यापार का समर्पकत्व धर्म प्रसाद गुण है, जो सभी रचनाओं में सर्वसाधारण रूप से अपनी स्थिति रखता है।[57] यह आर्द्रता और समर्पकत्व रस की भोग (अभिव्यक्ति) दशा का ही आकलन है।

५५. तस्मादन्ये गुणा अन्या च संघटना। न च संघटनामाश्रिता गुणाः इत्येकं दर्शनम्। अथवा संघटना रूपा एव गुणाः⋯तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च संघटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते।
—ध्वन्यालोक ३।५ की वृत्ति।

५६. शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥—वही, २।८।

५७. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥—वही, २।१०।

ओज के मूल लक्षण में उन्होंने शब्दार्थ के आश्रय का अवश्य उल्लेख किया है —

१. काव्य में स्थित रौद्र आदि रस अनुभूति में अपनी दीप्ति (उज्वलता) से लक्षित होते हैं, उस दीप्ति को व्यक्त करनेवाले शब्द–अर्थ के आश्रित ओजोगुण की स्थिति होती है।[५८]

लेकिन इन मूल लक्षणों की व्याख्या के अवसर पर आनंदवर्धन को शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का उल्लेख करना पड़ा है। उन्होंने शब्दों का अन्यत्व माधुर्य और ओज दोनों में समान रूप से स्वीकार किया है।[५९] लोचनकार ने भी ओज के 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति॰' उदाहरण में अन्यत्व और असमस्तत्व की स्थिति मानी है।[६०] और यह अन्यत्व दंडी के माधुर्य गुण में उल्लिखित श्रुत्यनुप्रास की परंपरा का ही उत्कर्ष है जिसमें श्रुत्यनुप्रास से युक्त सानुप्रास अव्यवहित (असमस्त) पदप्रयोग को रसावह माना गया।[६१]

मम्मट ने गुणों की व्याख्या के दो भाग किए हैं। एक बार वे केवल रस की अभिभूत दशा का त्रिधा विभाजन करते हैं और आनंदवर्धन के ही अनुकरण पर, द्रुति (तरलता), दीप्ति, स्वच्छता (समर्पकत्व) धर्मों को माधुर्य, ओज और प्रसाद का लक्षण मानते हैं।[६२] ओज के प्रसंग में भी वे शब्द अर्थ का नाम नहीं

५८. रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ॥—वही, २।९।

५९. तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य माधुर्यलक्षणो गुणः।
अन्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति ॥— वही १।७ की वृत्ति।

'यो यः शस्त्र' इत्यत्र हि अन्यत्वमसमस्तत्वं चारत्येवेति भावः।
पूरा उदाहरण है—
यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी मयि चरति रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥
—ध्वन्यालोक, २।७ की लोचनटीका।

६१. यया कयाञ्चिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥—काव्यादर्श १।५२।

६२. काव्यप्रकाश, ८। सू॰ ९०-९४।

लेते।[६३] वरंच सभी गुणों के संबंध में शब्द अर्थ के व्यवहार को गौण मानते हैं।[६४] पुनः उन्होंने इनका शब्द धर्म भी स्वीकार किया है और वर्ण, समास तथा रचना में इन गुणों के व्यंजकत्व की स्वीकृति दी है और तीनों गुणों के विभाग के साथ उसकी व्याख्या की है।[६५]

आनंदवर्धन ने गुण और संघटना का विवेचन किया था, मम्मट ने उसे ही गुण के लक्षण और गुण के व्यंजकत्व के रूप में प्रस्तुत किया। संघटना और गुण के व्यंजकत्व में समास, रचना एवं वर्ण के प्रयोगों की जो व्यवस्था बताई गई है वह मूलतः दस गुणों की स्वतंत्र और उदात्त विधा है। मम्मट ने वामन के शब्द अर्थ के बीस गुणों को जिस प्रकार अंतर्भुक्त किया है वह तो संभव है, लेकिन दंडी के दस गुणों का अस्तित्व उससे भिन्न है, उनको अन्य प्रकारों में अथवा रस-धर्म-गुणों की सीमा में अंतर्हित नहीं किया जा सकता। दंडी के श्लेष, समता, सुकुमारता गुणों में शब्द प्रयोग का जो सूक्ष्म अंतर है उसे माधुर्य या प्रसाद में यदि अंतर्भुक्त किया जाता है और इस सूक्ष्म चिंतन को आदर नहीं दिया जाता तो असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के अनेक भेदों एवं मात्रा, वर्ण, पद, वाक्य की व्यंजकता की स्वीकृति को भी आदर नहीं मिलना चाहिए।

अस्तु, रस धर्म को दृष्टि में रखकर रस अभिभूत मनोदशा का त्रिधा विभाजन—तीन गुणों की स्वीकृति अपने स्थान पर सही है। किंतु उसमें सौशब्द्य काव्य के दस गुणों की अंतर्भुक्ति संभव नहीं है, अतः इनकी सद्भावना का मूल उनसे स्वतंत्र है और केवल समास को लेकर संघटना का विवेचन अथवा तीन गुणों की वर्ण-समास-रचना-मूलक व्यंजकता की व्याख्या से काव्य के शास्त्रीय चिंतन में दस गुणों की पूर्ति नहीं की जा सकती।

*

६३. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।—वही, ८। सू० ९२।

६४. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।—वही, ८। सू० ९५।

६५. प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये। वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिताः।
—वही, ८। सू० ९८।

संत रोहल की बानी

दशरथ राय

•

हिंदी सब कालों में समस्त भारत देश में समान रूप से अपना स्थान बनाए जनसंपर्क की भाषा बनी रही है और भारत के समस्त प्रदेशों ने हिंदी के विकास में अपना पूर्ण योगदान दिया है। राजनीतिक मंच ने आज हिंदी के प्रति उदासीनता ग्रहण करली है और प्रांतीयता की भावना के पुनः पल्लवित हो उठने के कारण हिंदी अपना पूर्व प्रतिष्ठित स्थान तक खोने लगी है। इसका कुछ उत्तरदायित्व हम हिंदी के ठेकेदारों पर भी है कि हम भारत के विभिन्न प्रदेशों में होनेवाले हिंदी कार्य के प्रति आदर भाव रखें और उदारता पूर्वक उसको गले लगाएँ। अहिंदी भाषी क्षेत्र के व्यक्ति की रचना के प्रति उदासीनता का भाव त्याग कर हमें उसको और अधिक आदर और संमान देना चाहिए जिससे हिंदी के विकास में सहयोग मिले। दुर्भाग्य की बात है कि हम यही नहीं कर पा रहे हैं। अस्तु,

पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य के इतिहास ने तथा दक्खिनी हिंदी के साहित्यिक परिचय ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है जिससे हम हिंदी जगत्वालों के सामने इन प्रदेशों में हुई हिंदी सेवाओं का परिचय आया है। दक्खिन में तो हिंदी गद्य का विकसित स्वरूप उन दिनों मिलता है जब कि उत्तर भारत में गद्य का श्रीगणेश तक नहीं हुआ था। यही हिंदी जहाँ विभिन्न प्रांतों में विभिन्न नामों से विकसित हो रही थी, वहाँ वह साहित्य की अधिष्ठात्री देवी भी बनी हुई थी और प्रदेशों के अनुरूप उसने अपना नाम भी बदल लिया था और अपने में प्रदेश-विशेष के शब्दों को आत्मसात करती हुई, वह अभिन्नता का सजीव उदाहरण बनी हुई थी। यही कारण है कि उसके अनेक नाम आज भी मिलते हैं— ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बुंदेली, भोजपुरी, राजस्थानी तथा दक्खिन में दक्खिनी और गुजरात में गूजरी।

७वीं सदी में मुसलमानों का सिंध प्रदेश पर शासन स्थापित हो गया था और वहाँ अरबी फारसी का प्रचार आरंभ हो गया था और यहाँ तक कि सिंधी भाषा तक अपनी लिपि त्याग कर अरबी लिपि को अपना कर आगे बढ़ी। भारत में जहाँ जहाँ मुसलमान आक्रमणकारियों ने प्रवेश किया, वहाँ वहाँ उनके साथ ही सूफी फकीर भी अपने धर्म का प्रचार करने के लिये फैलने लगे। यही कारण है

कि सिंध में सूफियों के अनेक महत्वपूर्ण केंद्र बने हुए हैं। उन दिनों भारत में सर्वत्र हठ योग और नाथ संप्रदाय का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। भारत और सिंध में आज अनेक स्थान ऐसे पाए जाते हैं जहाँ पहले तो हमारे नाथ संप्रदाय के केंद्र थे किंतु मुसलमानों ने उनपर भी अपना अधिकार जमा कर उन्हें अपना धार्मिक केंद्र बना लिया। इसके पीछे राजनीतिक बात भी हो सकती है कि हम अपने उन पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त स्थानों की पूजा भी करते रहेंगे और इस तरह धीरे धीरे हम इस्लाम के भी समीप आते जाएँगे। सेवहण (सिंध) में जहाँ आज लाल शहबाज का मकबरा बना हुआ है, वह वास्तव में राजा भर्तृहरि का समाधिस्थल बताया जाता है। सिंध में कराची जिले में पीर पठो नामक स्थल मुसलमानों का ज्यारत स्थान माना जाता है पर वह भी वास्तव में राजा गोपीचंद का समाधिस्थल बताया जाता है। भारत में भी ऐसे अनेक स्थल बताए जाते हैं। मुसलमानों का यह कार्य कोई नया कार्य नहीं है। इसका ज्वलंत प्रमाण तो मुसलमानों की सबसे अधिक प्रतिष्ठित जगह मक्का मदीना है जो वास्तव में बौद्ध धर्म का विहारस्थल था जिसे इस्लाम के प्रचारकों ने सबसे पहले अपने आधीन बनाकर हमेशा के लिये उस पर अपने धर्म की छाप लगा दी।

इससे एक ओर जहाँ मुसलमान इसलाम के प्रति लोगों के मन से द्वेष की भावना को मिटाकर, अपने धर्म-प्रचार कार्य में लगे हुए थे, वहाँ दूसरी ओर वे हमारी धार्मिक प्रथाओं, परंपराओं और संस्कृति के भी संपर्क में आए। यही कारण है कि इसलाम का प्रचार जितना तलवार की धार न कर सकी उससे अधिक इन धार्मिक केंद्रों द्वारा हुआ।

सिंध में जहाँ सिंधी भाषा और साहित्य का विकास हो रहा था, वहाँ हिंद से लोग अपरिचित नहीं थे। सिंध के सुप्रसिद्ध सूफी संत शाह अब्दुललतीफ भिटाई की रचनाओं में बीस प्रतिशत रचना हिंदी में ही है और शेष रचना में भी हिंदी भाषा के शब्दों का मुक्त रूप से प्रयोग होता हुआ मिलता है। सिंध के अन्य प्रसिद्ध सूफी कवियों में सचल सरमस्त, बेकस, बेदिल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनकी रचना से हिंदी रचना को बड़ी आसानी से अलग करके सिंध प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है और उन रचनाओं को जनता के सामने लाकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि हिंदी किसी प्रांत विशेष की भाषा नहीं है, वह आरंभ से ही जनप्रिय भाषा बनी रही है और उसने कभी अपने ओछेपन का परिचय प्रांतीयता के रूप में नहीं दिया। सिंध प्रांत के हिंदी सेवी कवियों में रोहल का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है जिसकी रचना नब्बे प्रतिशत हिंदी में, सात - आठ प्रतिशत पंजाबी में और दो तीन प्रतिशत सिंधी में उपलब्ध है।

रोहल (निर्वाण सन् १७८२ ई०) का नाम इतिहासकारों ने स्वच्छंद वृत्ति के सूफियों से जोड़ा है। रोहल के जीवनवृत्त पर तज्किरे औलियाए सिंध और

तबकिरे सूफियाए सिंध तथा पंजाब भी मौन हैं। पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य के इतिहास में भी रोहल का उल्लेख नहीं है। संभव है कि इन ग्रंथकारों ने रोहल की रचना में हिंदी भाषा की प्रधानता देखकर उन्हें अपने ग्रंथों में स्थान न दिया हो। रोहल का जीवनवृत्त अपने में एक अनुसंधान का विषय है। उसका कंडड़ी नामक स्थान पर स्थित होने का संकेत मिलता है। रोहल भी अपने जीवनचरित्र के विषय में आरंभिक हिंदी कवियों की तरह पूर्णतया मौन रहा है।

इधर हमें संत रोहल की दो संपूर्ण रचनाएँ--शास्त्र मन-प्रबोध एवं शास्त्र अद्भुत ग्रंथ—प्राप्त हुई हैं। इनमें दोहा छंद को प्रधानता है और कहीं कहीं पद भी मिलते हैं। इन रचनाओं का मूल स्वर उपदेशात्मक एवं आध्यात्मिक ही रहा है। संत रोहल को सूफी कवियों के अंतर्गत रखने की अपेक्षा ज्ञानाश्रयी शाखा के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। संत रोहल की रचना पर संत कबीर की गहरी छाप दिखाई देती है। गुरु महिमा, हठयोग का प्रभाव, एकेश्वरवाद की भावना, सोऽहं की भावना अथवा आत्मराम की आराधना की भावना, तथा कबीर की ही भाँति गर्वोक्तियाँ देखकर तो यही लगता है कि संत रोहल ने कबीर का गहराई से अध्ययन किया था और उस पर संत कबीर की गहरी छाप पड़ी हुई है। बिना गुरु के ज्ञान संभव नहीं और जब तक साधक अपने आपको पूर्णतया समर्पित नहीं कर देता उसकी शंकाएँ नहीं मिटतीं और न ही वह ज्ञान का अधिकारी बन सकता है—

सीस उतार धरया गुरु आगे अब कछु संसा नाहीं।
पांचे उलट एक घर आया, अनुभव आतम माहीं॥

संत रोहल ने भी गुरु के चरणों में अपने संपूर्ण अहं को विसर्जित करने की भावना पर बल दिया है—

तब बुद्धि कह्यौ चित्त कूँ, जो पूछो तुम मोहि।
बिना सतगुरू ना मिटे, जो दुख तानो तोहि॥

और तभी कहीं—

भई कृपा तब सौदा बनिया, भगत भेद नहीं भासे।
रोहल रतन अमोलक मिलिया, सिर साँटे अपनासे॥

चेतन सत्ता को एक अखंड सत्ता मानते हुए रोहल ने उस सत्ता को सर्वव्यापक माना है जो घट घट में समाई हुई है। जड़ चेतन संपूर्ण जगत् में वही सत्ता व्याप रही है। माया के कारण ही उसके अस्तित्व को नहीं पहचाना जा सकता। माया-ग्रस्त जीव के लिये उसके शुद्ध स्वरूप को पाना सरल नहीं—

चेतन एक अखंड है, सब घट रह्यो समाय।
माया मूँ मिलि जड़ भयो, शुद्ध सरूप न पाय॥

जड़ चेतन में यह संपूर्ण विश्व विभक्त है। जड़ एवं चेतन ब्रह्म की दो प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें से चेतन का अवलंब लेनेवाला ही ब्रह्म प्राप्ति में सफल हो सकता है—

> एक कँवल दो फूलड़ा, जड़ चेतन वह नाम।
> जड़ तजि चेतन गहे, तब पावे बिसराम॥

किंतु यह जड़ चेतन का भेद सबकी समझ में नहीं आता, कोई संत ज्ञानी ही इसे समझ सकता है—

> जड़ चेतन समझे बिना, पचि पचि मरना आग।
> समझेगा को संत जन, जाके सम्बक भाग॥

कबीर की भाँति ही संत रोहल ने भी अहं ब्रह्मास्मि की भावना को प्रश्रय दिया है। रोहल में भी कबीर की भाँति गर्व की भावना स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होती है जहाँ वह यह बताना चाहता है कि यह संपूर्ण जगत उसी का प्रतिबिंब है फिर भी वह उसमें समाविष्ट रहकर भी उससे विशुद्ध रूप में अलग अस्तित्व भी रखता है—

> हौं हूँ सर्व, सर्व ते न्यारा, ज्यों जल भीतर तारा॥

कबीर ने जहाँ एकेश्वरवाद का समर्थन किया है वहाँ अनेक देवोपासना का विरोध किया है और आत्माराम की उपासना के महत्व को स्पष्ट किया है। संत रोहल ने भी ठीक उसी प्रकार आत्मसाधना पर जोर दिया है और बताया है कि बिना आत्मज्ञान अथवा आत्मोपासना के जीव पाँच तत्वों एवं तीन गुणों के पाश में जकड़ा हुआ छटपटाता रहता है, मुक्ति नहीं पा सकता :—

> और देव सब छाड़ि दे, पहले सुमिरो आप।
> पाँच तत्त गुन तीन के, तब मिटि जावे संताप॥

जिसे हम परमात्मा कहते हैं उसे हमने अपनी इच्छा के अनुरूप नाम भी दिए हैं पर वह ओंकार स्वयं साधक ही तो होता है अथवा आत्मराम ही तो ब्रह्म है—

> हौंका सरूप परमात्मा, इच्छा रूपी नाम।
> ओंका हौं ते प्रगटे, सो हौं आतमराम॥

कबीर ने जहाँ साहब को एक माना है, वहाँ उसे अनुभूतिजन्य बताकर उसे गूँगे केरी सरकरी भी कहा है जो केवल स्वानुभूति के अंतर्गत ही आ सकता है, उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं। रोहल ने भी ठीक इसी भावना को प्रस्तुत करते हुए उसे गूँगे का स्वप्न बताया है।

तो बिन और न दूसरा, क्या मुख सूं करिये बात।
जिमि गूँगा सपना लहे, सुमिरि सुमिरि पछतात ॥

संत रोहल ने भी आत्म ब्रह्म के लिये बाह्य पूजा उपचार को महत्वहीन बताया है। उसकी पूजा तो निरंतर बिना किसी प्रकार के बाह्योपचार एवं साधन के होती रहती है। कबीर ने भी इसी अजपा जाप का महत्व प्रस्थापित किया था रोहल के शब्दों में--

ओऽहं सोऽहं बेकथा, अजपा जाप प्रकास।
अंतर धुन लगी आत्मा, निह्चै भयो बिसास ॥

रोहल का जन्म जन्मांतर एवं चौरासी लाख योनियों में जनमने की भावना में विश्वास था और वह भी कबीर की भाँति मानव जन्म को अमोलक मानता है —

मिलना होवे तो मिलि लियो, संतोहूँ मिलन का बेरा।
मानख जनम फिर हाथ न आवे, चोरासी लाख फेरा ॥

संतों में अनुकरण की वृत्ति नहीं होती। वे किसी भी विचारधारा को अनुभूति की कसौटी पर परख कर ग्रहण करते हैं। किसी का अनुकरण करना कभी लाभदायक नहीं हो सकता। व्यक्ति की अपनी निजी मनोभिरुचि के अनुरूप अपने प्रियतम को पाने के लिये प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मानुभूति व्यक्तिगत है और ब्रह्मोपासना के पथ व्यक्तिगत साधना के पथ हैं। जितने व्यक्ति हैं, उतने पंथ और जिसे जिस मार्ग से वह मिला, उसने उसी मार्ग का गुणगान भी किया। अतः अपने पंथ का दावा करना निराधार है—

केवल गहर गंभीर है, (जो) कहन सुनन सूं पार।
रोहल अटल अडोल है, नर दावा निरधार ॥

संसार के कण कण में उसे देखने वाला किसी के प्रति कठोर नहीं हो सकता। उसे तो सारे विश्व से प्यार हो जाता है और यह प्यार उसकी निगाहों में समस्त विश्व को सुंदर एवं शोभन बना देता है। संत रोहल को कीट पतंग में भी उसी प्रियतम का रूप प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है—

चोरासी लख जून महं, वस्तु बिराजे एक।
जगत भूल संसे परा, बिना बिचार बिबवेक ॥

कबीर की भाँति संत रोहल ने भी मन शुद्धि एवं स्वच्छ जीवन यापन पर विशेष जोर दिया है, वह कथनी और करनी में समरूपता के पक्षपाती हैं। रोहल ने मन एवं चित्त के भेद को स्पष्ट करते हुए मन को माया का अंश एवं चित्त को शुद्ध आतम तत्व का अंश अथवा भक्ति का अंश माना है—

परम आत्म सत आतमा, आत्म इच्छा मन चित्त।
माया को अंस मन भयो, भगति को अंस चित्त॥

जब तक व्यक्ति अपने मन के कुटुंब—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार का पालन पोषण करता रहता है, वह माया के जाल से विमुक्त नहीं हो सकता। उसे अपने चित्त के विकास का विचार रखना चाहिए। इतना होने पर भी संत रोहल ने **'चित्त की माता बुद्धि है'** कहकर भक्ति पर ज्ञान को प्रश्रय दिया है और इस बात पर जोर दिया है कि भक्ति अंध श्रद्धावश नहीं होनी चाहिए अपितु ज्ञान के सहारे निश्चल रूप से भक्ति को पल्लवित होना चाहिए।

रोहल ने व्यक्ति के आचार विचार एवं नीतिमय जीवन को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और रहनी के अभाव में कथनी को लाभहीन बताया है। इस सबके लिये अंतर में झाँकना अनिवार्य है—

मानसरोवर मोती मुक्ता, गुरू गम बिनु नहिं पावे।
पूरन पदवी प्रापत पेखे, फिर फिर गोता न खावे॥

बाह्य जगत् को जीतने की अपेक्षा आंतरिक जगत् को जीतना कठिन है। जब तक साधक अपने शरीर रूपी गढ़ पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता, उसके संसार-विजय के सपने सपने ही रह जाते हैं। अपने ऊपर विजय प्राप्त करना ही जीवन की चरम उपलब्धि है—

गढ़ जीवण आसान है, (पर) मुश्किल पैसण माँह।
बिना जोत जगदीस के, अंध्यां ठहरत नाँह॥

ब्रह्म अगम अगोचर है, कबीर के शब्दों में साधक गूँगे की भाँति सैना बैना से ही उसे अभिव्यक्त कर सकता है और अक्लमंद उस इशारे को, उस संकेत को समझ जाता है। रोहल की ब्रह्मानुभूति भी जो गूँगे के सपने के समान है, सैना बैना से ही समझाई जा सकती है—

निराकार अहंकार नहिं, किस विधि भाखूँ बैन।
(जे) तुमरे भाग ललाट है, (ता) समझि लेवगा सैन॥

संत रोहल की वाणी का अध्ययन करने पर उनपर पड़े हुए हठयोग एवं नाथ संप्रदाय के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। संत रोहल ने बड़े विस्तार से षट् चक्र और उसकी क्रियाओं को समझाया है। षट्चक्र परिच्छेद के अंतर्गत प्रायः डेढ़ सौ दोहों में रोहल ने विस्तारपूर्वक हठयोग की साधना पर प्रकाश डाला है।

संत रोहल पर सूफी भावधारा का प्रभाव भी लक्षित होता है और कबीर की भाँति उन्होंने मरजिया की भावना के महत्व को प्रतिपादित किया है—

महादेव तब बोलिया, सुन हो साखी चित्त।
अमर पद तब पाइये, (जब) जीवत मरना नित्त ॥

जगत् को प्रतिबिंबवाद के अंतर्गत रखकर एकोऽहम् बहुस्याम् की भावना को कबीर ने भी अभिव्यक्त किया है। रोहल ने भी इस प्रतिबिंबवाद की भावना को इस प्रकार रखा है —

तब शिव कहियो चित्त कूँ, (इह) शक्ती बनी अनेक।
सोई कर ले आरसी, जा मँह दरसे एक॥

संत रोहल ने शिष्य एवं गुरु के संवाद के रूप में प्रश्नोत्तर के रूप में साधारण साधक एवं गुरु के उपदेश को प्रस्तुत करते हुए बड़ी सफलतापूर्वक शिष्य के मन की शंकाओं का समाधान किया है। इस प्रकार की शंकाएँ जनसाधारण में भी जीव, जगत् एवं के ब्रह्म संबंध में उत्पन्न होती ही रहती हैं। इस प्रश्नोत्तरी से जहाँ हम रोहल की तर्कना शक्ति एवं ज्ञान का परिचय पाते हैं, वहाँ उनकी भाषा की सरलता भी हमें अपनी ओर आकर्षित करती है।

भाव-भाषा-शैली की दृष्टि से भी रोहल की रचना हिंदी साहित्य में अपना स्थान बना लेगी, ऐसा विश्वास है।

•

संस्कृत कवि नव्य चंडीदास – एक अनुसंधान

गंगाधर शास्त्री 'विनोद'

•

संस्कृत काव्य साहित्य का रचना काल मध्य युग के अंतिम सोपान तक पहुँच कर विराम पाने लगता है किंतु यह उसका अंतिम विश्राम नहीं माना जा सकता। संस्कृत साहित्य के इतिहास का विवरण तो यहीं तक सीमित रखा गया है किंतु यदि एक नए संकृत इतिहास के लिये नई सामग्री संचित की जाय तो इस मध्य काल में अंतिम चरण के आगे भी हमें पर्याप्त काव्य कृतियाँ मिल सकती हैं जो प्रकाशन जगत् में अभी तक प्रवेश नहीं पा सकीं। आज हमारे देश में संस्कृत पांडुलिपियों के अनेक प्रतिष्ठान स्थापित हो चुके हैं और और पचासों कैटलग भी बन चुके हैं। उन्हें टटोलने पर मध्य युगोपरांत के अनेक रोचक संस्कृत महाकाव्य हमारे सामने आएँगे।

उदाहरण स्वरूप रघुनंदन चरित[1], रामोदंत, रावण वध[2], रघुनाथाभ्युदय[3], जय वंश, नृप विलास[4] इत्यादि अनेक संस्कृत महाकाव्य अब भी पांडुलिपियों के रूप में स्थान स्थान पर पड़े हुए हैं। यदि खोज द्वारा इन सब हस्तलेख भंडारों से संस्कृत महाकाव्यों तथा काव्यों का चयन किया जाय और इन्हें प्रकाशित कराया जाय तो आज संस्कृत साहित्य के इतिहास के साथ एक नया और बृहद् अध्याय जुड़ सकता है।

१. डेस्क्रिप्टिव कैटलग आव् संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।

२. डेस्क्रिप्टिव कैटलग आव् संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स एच. एच. महाराजा'ज लाइब्रेरी त्रिवेंद्रम।

३. संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स इन द कलेक्शन आव् द एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल।

४. द्रष्टव्य : इंडियन लाइब्रेरी असोसिएशन की पत्रिका, १० अप्रैल, १९४७।

इस परिस्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि हमारे संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने जो कालविभाजन द्वारा इस इतिवृत्त की धारा को यहीं तक लेजाकर आगे अवरुद्ध कर दिया है, वह ठीक नहीं किया। यह धारा उस समय रुकी नहीं थी, बल्कि अब तक बहती चली आ रही है, भले ही उसे एक निश्चित सीमा-रेखा में बाँधकर आगे के प्रवाह को भीतर नहीं लिया गया हो। दुर्भाग्यवश आज तक इसी परंपरा की लीक पीटी जा रही है और किसी भी संस्कृत साहित्य के इतिहासकार ने अभी तक उस दिशा में ऐसा कोई क्रांतिकारी पग नहीं उठाया जिसके द्वारा संस्कृत साहित्य के इतिहास का कालविभाजन आधुनिक काल का स्पर्श कर पाए। दूसरे शब्दों में लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक के इस कालविभाजन में उपर्युक्त अप्रकाशित एवं प्रकाशित होकर भी अनुपलब्ध आधुनिक संस्कृत काव्यों तथा महाकाव्यों का जिसमें विवरण आजाय ऐसा अब तक अन्य नवीनतम संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा जाना चाहिए। इससे इस भ्रांति का भी निराकरण हो जायगा, जिसके अंतर्गत विद्वान् संस्कृत काव्य साहित्य का निर्माण सत्रहवीं शताब्दी के मध्य काल तक ही मानते चले आ रहे हैं। उनके मत में संस्कृत काव्य-लेखन परंपरा यहीं आकर समाप्त हो जाती है। वास्तव में काव्यलेखन परंपरा अश्वघोष और कालिदास से चलकर आगे न कहीं रुकी है और न अब तक ही रुक पाई है। इसमें अठारहवीं शताब्दी में लिखे गए उपर्युक्त काव्य ही प्रमाण हैं।

इसी संदर्भ में अब हमें **रघुनाथ गुणोदय** महाकाव्य को भी लेना है। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लिखा गया यह बृहत् संस्कृत महाकाव्य रणवीर संस्कृत अनुसंधान कार्यालय जम्मू के पुस्तकालय में पांडुलिपि के रूप में पड़ा हुआ है।

इसमें रामजन्म से लेकर लंकाविजय और अयोध्या प्रत्यावर्तन तक की कथावस्तु काव्य कला के रमणीय कौतुक द्वारा निरूद्ध की गई है। प्राचीन संस्कृत-आचार्यों द्वारा स्थिर किए गए काव्य संबंधी मानदंडों की कसौटी पर कसे जाने के अनंतर प्रस्तुत रचना बहुत खरी उतरती है। किंतु लगभग १२५ वर्षों के पूर्व लिखे गए इस काव्य का अभी तक प्रकाशन तो दूर रहा विद्वानों को भी इस संबंध में बहुत कम जानकारी है। राम-काव्य की परंपरा में यह एक नई उपलब्धि है।

काव्य के आदिम सर्गों में अयोध्या नगरी का साहित्यिक वर्णन दशरथ का पुत्रेष्टियज्ञ, राम वनवास और सीताहरण के प्रसंग बड़े सरल और मार्मिक बन पड़े हैं। बीच के सर्गों में प्रधान कथा के साथ राम और सीता के सौंदर्य का स्वाभाविक चित्रण बड़ा मधुर और कोमल होकर निर्मल धारा में बहा है। इस प्रसंग में कवि

की नवीन कल्पना की उद्भावना और सौंदर्य वर्णन की कला ऊँची चोटी तक आ पहुँची है। समग्र वर्णन प्रसादपूर्ण शैली लेकर कालिदासीय शैली का प्रतिरूप बन गया है। अंतिम सर्गों के पूर्व भाग में चित्रकाव्य और युद्ध वर्णन दोनों प्रसंग ओजगुण से ओत प्रोत हो गए हैं और बीच में एक सर्ग राजनीति का वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसका अर्थगौरव भारवि को भी मात कर देनेवाला है। प्रकृति चित्रण, मृगया, षड्ऋतु वर्णन, सूर्योदय, रात्रि, इन सबका वर्णन देकर कवि ने महाकाव्य के लक्षण का पूर्ण अनुसरण किया है। इस प्रकार प्रस्तुत रचना तेरह सर्गों में समाप्त हुई है।

प्रस्तुत महाकाव्य की दो पूर्ण और एक अधूरी पांडुलिपि प्राप्त हुई है। प्रथम दो पूर्ण हस्तलेख रणबीर संस्कृत अनुसंधान कार्यालय जम्मू में पड़े हुए हैं। पाठसाम्य और आकार प्रकार की दृष्टि से दोनों इतने समान हैं, जिससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि म० रणसिंह (सन् १८५८-८५) के युग में एक ही व्यक्ति ने दो प्रतिलिपियाँ की होंगी। कवि की अपनी हस्तलिखित प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है। इन दोनों में प्रमादवश की गई त्रुटियाँ भी एक समान हैं और अक्षरों की बनावट भी एक जैसी ही है।

प्रथम हस्तलेख—इसकी पृष्ठसंख्या १८१ तथा प्रतिपृष्ठ की पंक्तियाँ छह हैं। कागज कश्मीरी है जो लंबे आकार का है। लेख काली स्याही में है तथा प्रति पंक्ति अधिक लंबे आकार में लिखी गई है। लेख किसी कश्मीरी लिपिकार का मालूम पड़ता है। मुखपृष्ठ पर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखा गया काव्य का नाम साधारण अक्षरों में 'रघुनाथ गुणोदयः' के स्थान पर 'रघुनाथ गुणोदयम्' लिखा गया है। आगे थोड़ा सा स्थान छोड़कर उसी अक्षर शैली में 'काव्य' शब्द लिखा गया है। नामकरण के नीचे लाल रंग की प्राचीन राज्य मुद्रा अंकित की गई है, जिसमें देवनागरी अक्षरों में कुछ लिखा हुआ इतना अस्पष्ट है, जो पढ़ा नहीं जा सकता। प्रत्येक पृष्ठ की बाईं ओर 'र' अक्षर लिखा हुआ है और आरंभ की प्रथम पंक्ति में लिखा है—'ओं श्री गणेशाय नमः' इसी पंक्ति के आगे ओं शब्द के साथ काव्यारंभ होता है। कश्मीरी शैली होने के कारण कुछ अक्षर ऐसे भी हैं, जो आकार में देवनागरी की सामान्य अक्षराकृति से भिन्नाकार जैसे बन गए हैं, उनमें ध, न्न, ल्ल कुछ भिन्न आकृति लिए हुए हैं। य को कहीं प और कहीं य ही लिखा गया है। अधिकतर श्लिष्टावस्था में प और अश्लिष्टावस्था में य लिख दिया गया है। पृष्ठांक दाएँ-बाएँ दोनों ओर लिख दिए गए हैं। आ के आगे आ आने पर दीर्घावस्था प्रदर्शनार्थ दो विंदु (:) लगा दिए गए हैं।[५] लेख में प्रमादवश कहीं कहीं अनुस्वार

५. गमयामास ततः अमम्, सर्ग २, श्लो० २०।

न रहने पर भी अनुस्वार लगा दिया गया है।[६] अधिकतर श्रु का उ साथ नहीं जोड़ा गया।[७] किसी शब्द या अक्षर को अशुद्ध लिखे जाने पर पीले रंग की हड़ताल द्वारा मिटा दिया गया है।

इसी प्रकार किसी पद अथवा शब्द के बीच में छूट जाने पर वहाँ √ का चिह्न देकर उसे पंक्ति के ऊपर लिख दिया गया है। परंतु जहाँ कहीं ऐसा हुआ है वहाँ का संशोधित पाठ लिपिकार का लिखा हुआ नहीं लगता। हस्तलेख में स्थान स्थान पर कई एक अशुद्धियाँ रह गई हैं जो लिपिकार के प्रमाद तथा अल्पज्ञता दोष की परिचायक हैं।

द्वितीय पांडुलिपि—इसकी पृष्ठ संख्या १५७ तथा प्रतिपृष्ठ छह पंक्तियाँ हैं। मुखपृष्ठ पर किसी दूसरे ने 'काव्य वस्ता' लिख दिया है। इन्हीं शब्दों के शीर्ष भाग पर पेंसिल से प्रतिलिपि की क्रम-संख्या के रूप में नं० ६२६ लिख दिया गया है। नीचे वही पुरानी राज्यमुद्रिका अंकित की गई है। इसी के साथ किसी के अंगूठे का निशान भी पृष्ठ पर अंकित हो गया है। काव्य के आरंभ में 'श्रों नमो भगवते वासुदेवाय' लिखा हुआ है और इसी के आगे 'श्रों श्रीगणेशायनमः'। काव्य के आदिम श्लोक का आरंभ श्रों शब्द से किया गया है।

शेष बातें प्रथम पांडुलिपि जैसी ही हैं। प्रतिलिपि के अंतिम पृष्ठ पर कुछ विद्वानों की संक्षिप्त संमतियाँ दी हुई हैं।[८] इन विद्वानों में नृसिंह शास्त्री उसी युग के प्रसिद्ध वाराणसेय विद्वान थे, जो साहित्यशास्त्र और काव्यकला में विशेष योग्यतायुक्त एवं प्रतिभाशाली थे, ऐसा काव्यकर्ता के अन्य लेख द्वारा प्रकट होता है। ये नृसिंह शास्त्री काशी के मानमंदिर में रहते थे। कवि ने, अपने एक पत्र में जो उसने काशी के पते पर शास्त्री जी को लिखा था, यह तथ्य स्पष्ट किया है। शेष संमति लेखकों में से कितने काशी के या अन्य स्थानों के थे, इसका कोई आभास नहीं मिल पाया।

६. सरयांचितमश्वं सादिभिः,२–२२।
७. अति (श्रुति) जाताः श्रति गोचराः गिरः,२-२४।
८. सम्मतिरत्र भट्टोपाह्व सखाराम शर्मणः, अवलोकितमिदं काव्यं नृसिंह शास्त्रिणा समीचीनतरमिदम्, कृत सम्मतिरत्र रमानाथ शर्मा, संमतिरत्र जगन्नाथ शास्त्रिणः, संमतिरत्र गौरीशंकर शर्मणः, सम्मतोऽयं ग्रन्थो विद्वच्चन्द्रशेखरं शर्मणः, कृत सम्मतिकोऽत्र भैरवदत्त शर्मा, संमतिरत्र हरिकृष्ण व्यासस्य।

तीसरी पांडुलिपि – यह हस्तलेख प्रस्तुत काव्यकर्ता कवि चंडीदास के अपने हाथों का लिखा हुआ मिला है। हस्तलेख केवल छह सर्गों तक उपलब्ध हुआ है। इसका नामकरण भी 'रामप्रतापोदय' है किंतु कुछ एक श्लोकों को छोड़कर शेष समग्र श्लोक रघुनाथगुणोदय के ही हैं। जिससे मालूम पड़ता है कि कवि ने सर्वप्रथम रामप्रतोपदय काव्य ही लिखा था। बाद में कश्मीर नरेश के दर्बार में पहुँचने पर (सन् १८५८-७८) म० रणवीर सिंह के आदेशानुसार उसी का थोड़ा रूपांतर करके रघुनाथगुणोदय के नाम से नई रचना प्रस्तुत कर दी।

कवि का परिचय---रघुनाथगुणोदय के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर कवि ने सामान्य समाप्ति सूचक गद्य पद्य पुष्पिका दी है।[९] उसके द्वारा कवि के संबंध में कुछ तथ्य प्रकट होते हैं। वे इस प्रकार हैं – १–कवि को काव्य लिखने की आज्ञा कश्मीर नरेश श्री रणवीरसिंह ने दी थी, जो कवि के आश्रयदाता थे। २—कवि कुरुक्षेत्र प्रदेश (हरियाणा) का निवासी था। ३—उसके गाँव का नाम पुंडरीकपुर (आज का पुंडरी) था। ४—कवि के पिता नाम श्री दुर्गादत्त था और जाति सवाल थी।

काव्य के अंतर्गत कवि के संबंध में इतना ही लिखा हुआ मिलता है किंतु इसके अनंतर अनुसंधान द्वारा मुझे इस संदर्भ से अनेक अन्य तथ्य भी उपलब्ध हुए हैं, जिनके द्वारा कवि की जीवनी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम पुंडरीकपुर नाम को लेकर जब मैंने कवि की जन्मभूमि की खोज आरंभ की तो हरियाणा प्रदेश के अंतर्गत शहर की केवल दस मील की दूरी पर बसे हुए एक गाँव पुंडरीक का पता चला। वहाँ पहुँचकर सवाल जाति का एक घर भी मिला और वहीं कवि के वर्तमान वंशजों के भी मुझे दर्शन हुए। आगे के अनुसंधान कार्य द्वारा वहीं कवि की हस्तलिखित पर्याप्त सामग्री भी हस्तगत हुई। उसका सम्यक् पर्यालोचन करने पर कवि-परिचय के संबंध में निम्नलिखित तथ्य सप्रमाण सिद्ध होते हैं।

जन्म तथा शिक्षा—कवि नव्य चंडीदास का जन्म[१०] सन् १८०४ ई० में

९. इति श्री मन्महाराजाधिराज जंबू कश्मीराद्यनेक देशाधीश श्री रणवीरसिंह धर्मादिष्ट श्री कुरुक्षेत्र मध्यरेखांतर्गत पुंडरीकपुर प्रसिद्ध सवाल वंशावतंस श्री दुर्गादत्तात्मज नव्य चंडीदास कृतौ श्री रघुनाथगुणोदये महाकाव्ये ···सर्गः

१०. उपलब्ध वर्षफल-कुंडली के आधार पर।

पुंडरी नामक गाँव (हरियाणा) में पं० दुर्गादत्त सवाल के घर पर हुआ था, बाल्यकाल में कैथल तथा पंजाब में आरंभिक शिक्षा पाकर युवावस्था का छात्र-जीवन काशी में व्यतीत किया।

राजदरबारी जीवन—सर्व प्रथम पटियाला नरेश के दरबार में सन् १८३३ से लगभग सन् १८४५ तक राजपंडित के रूप में रहे। किंतु वहाँ राजवैमनस्य[११] हो जाने पर कवि वहाँ से चलकर जयपुर नरेश सवाई रामसिंह द्वितीय के दरबार में पहुँचा।[१२] वहाँ से सुवर्ण रत्न प्राप्त कर और कुछ वर्ष रह कर तत्पश्चात् सन् १८५३ में कश्मीर नरेश के दरबार में आया। वहाँ उसे सर्वप्रथम राजकुमार प्रतापसिंह का अध्यापकत्व मिला और तत्पश्चात् दरबारी कवि का पद भी मिला। यहीं रह कर कवि चंडीदास ने अपनी वृद्धावस्था तक का जीवन व्यतीत किया, किंतु कवि कब अपने घर पुंडरी लौटा, इसका कोई प्रमाण नहीं मिल पाया। किंतु म० रणवीर सिंह द्वारा कारित तथा प्रकाशित रणवीर व्रतरत्नाकर एक बृहद् ग्रंथ, जो सन् १८८१ में छपा था, उसके निर्माणकार्य में चंडीदास जी का भी योग दान था, ऐसा कवि के हस्त लिखित उपलब्ध पत्र से प्रकट होता है। पुस्तक की मुद्रित प्रति कवि के घर के रिकार्ड में भी मिली है। इससे कश्मीर दरबार में उसके सन् १८८३ तक रहने का प्रमाण मिलता ही है। सन् १८८५ में म० रणवीर सिंह की मृत्यु हो गई और श्री प्रताप सिंह जी हंसराज सिंहासन पर आरूढ़ हुए। इस काल में कवि के उस राज्य में रहने का कोई संकेत नहीं मिलता। यह समय उसके परिपक्व वार्धक्य का था। कवि कब तक जीवित रहा यह बात भी उपलब्ध सामग्री द्वारा निश्चित नहीं हो पाई किंतु उक्त सामग्री से ही इतना तो स्पष्ट है कि वह सन् १८८३ तक जीवित था।

साहित्यिक जीवन—म० रणवीर सिंह के दरबार में रहकर कवि चंडीदास को साहित्य साधना करने की काफी प्रेरणा तथा सुविधा मिली थी। म० रणवीर सिंह जी स्वयं संस्कृत-विद्या के बड़े अनुरागी थे, इसी कारण उन्होंने भारत के विभिन्न प्रांतों से संस्कृत विद्वानों को लाकर अपने दरबार में रखा था, जिससे रणवीरसिंह दरबार की एक पृथक् पंडित मंडली बन गई थी। यह राजाश्रित होकर सुख वैभव का जीवन व्यतीत करती थी। राज-सभा में इस मंडली की साहित्यिक सभा की स्थापना की गई थी, जिसका नाम था 'विद्या विलास सभा' कवि चंडीदास इसके

११. कवि की उपलब्ध रचना 'अन्योक्ति जलधि' में लिखित वृत्तांत के आधार पर।

१२. स० रामसिंह की कवि लिखित एक प्रशस्ति के आधार पर।

संयोजक थे और प्रति मंगलवार के दिन इसका अधिवेशन होता था, जिसमें शास्त्रीय विषयों पर वाद विवाद एवं निबंध पढ़े जाते थे। उस उमा में कवि चंडीदास द्वारा लिखित एवं पठित कुछेक निबंध भी इसी सामग्री में मुझे मिले हैं। शास्त्रार्थों में कवि चंडीदास भी भाग लेते थे, और कहीं कहीं निर्णायक भी बनते थे।

नव्य चंडीदास अपने युग में पांडित्य के क्षेत्र में सर्वतोमुखी विद्वत्ता के धनी थे। उनके उपलब्ध हस्तलेखों से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। इस उपलब्ध सामग्री में उनकी अन्य १५-१६ संस्कृत रचनाएँ है जो विभिन्न विषयों पर लिखी गई हैं। जैसे नीतिसंग्रह, योगदर्शन भाष्य, रघुवंश टीका, पाणिनीय शिक्षा संबंधी खोजपूर्ण लेख, अलंकारिक शास्त्रार्थ, वेदांत संबंधी शास्त्रार्थ पत्र, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था संबंधी लेख, ज्योतिष (फलित) संबंधी अनेक फलित प्रकरण, जन्मपत्र और प्रश्नफल आदि अनेक निबंध उन्हीं के हाथों के लिखे मिले हैं। इसके अतिरिक्त गदाधर अष्टक, गंगालहरी, हरिहर स्तोत्र, अन्योक्ति जलधि, राधा सुंदर भक्ति बोध (पद्यमय) आदि पुस्तिकाएँ भी उनकी रचनाओं के रूप में उन्हीं की हस्तलिखित अवस्था में उपलब्ध हुई हैं।

राजकुमारों की दैनिक चर्या के संबंध में जो उन्होंने आह्निक पद्धति नामक ग्रंथ बनाया था वह आज से ४० वर्ष पूर्व छप भी गया था।

इसके अतिरिक्त कवि चंडीदास का फुटकल श्लोकसाहित्य भी लगभग ३०० पृष्ठों का मिला है, जो कविता के माध्यम द्वारा उन्होंने समय समय पर पत्र व्यवहार तथा प्रशस्ति श्लोकों के रूप में लिखा था। कवि के एक हस्तलेख के अनुसार उनका आशुकवित्व भी सिद्ध होता है। उसमें लिखा गया है कि एक बार म० रणवीर सिंह ने सभा में ही कवि से प्रश्न किया कवि! विद्वान् लोग 'पृष्ठोपमान' से क्या अभिप्राय लेते हैं, अभी श्लोकबद्ध उत्तर दीजिए। सुन कर नव्य चंडीदास ने सभा में खड़े खड़े तत्काल पद्यमयी भाषा में संतोषजनक उत्तर दे दिया।

कविता शैली—कवि नव्य चंडीदास सांस्कारिक कवि थे। उनका भाषा सौष्ठव और भावधारा दोनों मंदाकिनी की भाँति स्वाभाविक रूप में बह निकले हैं। उनकी उक्तियाँ चुभती हुई और भाव गंभीर होते हैं। जहाँ कवि को जीवन संबंधी बातें कहनी पड़ीं वहाँ उन्होंने अत्यंत चमत्कारिक उक्तियाँ कही हैं, जो जीवन के अनुभवों तथा परिपक्वता प्रकट कर जाती हैं। जैसे—नीति वर्णन के प्रसंग में—

महीयान् जायते चीर्णो नियमेनानुवासरम्।
चिरात् संचीयमानो हि परमाणुर्महीधरः॥—र० गु०, ८।१७

जिस प्रकार घिसता घिसता पर्वत भी परमाणु बन जाता है, उसी प्रकार संसार की कोई भी महान् वस्तु जीर्ण होती चली जाती है।

स्त्रियों की अस्थिर चित्तवृत्ति कवि ने कैसी चुभती हुई भाषा में व्यक्त की है—

> नाबला मन्त्रितं मंत्रं मन्यन्ते कृत बुद्धय:।
> विपर्यासं क्षणादेति चित्तवृत्तिर्हि योषिताम् ॥ ८।८

विद्वान् लोग स्त्री की मंत्रणा स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति क्षण में परिवर्तित हो जाती है।

यह है कवि का परिपक्व जीवन अनुभव जो उसका निजी न रह कर साधारणीकरण की कोटि में आ जाता है।

प्रेम का आकर्षण इतना प्रबल है कि वन में पशु भी उसे नहीं छोड़ सकते तब सीता राम के प्रति अनुराग कैसे त्याग पाए। यह प्रसंग धनुषभंग के पूर्व का है। कवि ने इस भाव को सुंदर चमत्कार द्वारा यों प्रकट किया है—

> न सराग मपेतुमिच्छति मृगयोषापि तथा विधे वने।
> विदुषी कथमत्र तत्त्यजेद्यदि रागो पशुनापि दुस्त्यज: ॥ ५।२०

यह है कवि चंडीदास की काव्य कला जो पाठक के हृदय में धड़कन पैदा कर देने में समर्थ है। ऐसे कवि का उपयोगी महाकाव्य तथा अन्य रचनाएँ अभी तक संस्कृत साहित्य का अंग तो हैं ही किंतु अभी तक प्रकाशन जगत् में नहीं पहुँच पाईं। कवि की अप्रसिद्धि का यही एक बड़ा कारण है फिर भी श्री स्टाईं ने अपनी संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथसूची में चंडीदास की दो रचनाओं (जो उस समय उपलब्ध थीं) रघुनाथगुणोदय तथा आह्निकपद्धति का संनिवेश सन् १८९४ में कर ही दिया था, जिसका उद्धरण श्री थियोडर आफ्रेक्ट ने अपने कैटेलाग में भी किया है।[13]

प्रस्तुत कवि और उसके साहित्य विशेष कर रघुनाथगुणोदय महाकाव्य पर अनुसंधान करते हुए मुझे दो वर्ष हो चले हैं। मुझे प्रसन्नता है कि इस विषय पर मैंने एक बृहद् ग्रंथ चार खंडों[14] में तैयार किया है, जिसके प्रकाशन की व्यवस्था भी भविष्य में शीघ्र हो जाने की आशा है।

●

१३. कैटलगस कैटलगरम, २,१८९६।

१४. कवि परिचय खंड, आलोचना खंड, काव्य खंड और अनुवाद-खंड।

'पउमसिरी चरिउ' का भाषावैज्ञानिक महत्त्व

जगदीशप्रसाद कौशिक

•

डा० तगारे ने गंभीर अध्ययन के पश्चात् अपभ्रंश के तीन भेदों का प्रतिपादन करते हुए कुछ ऐसे प्रयोगों का विधान किया है जो आपके अनुसार तथाकथित भाषाओं के भेदक तत्त्व कहे जा सकते हैं। डा० तगारे ने ये भेद लेखकों एवं कृतियों के क्षेत्रों के आधार पर किए हैं।[1] मैं इस प्रकार के क्षेत्रीय भेदों का अनौचित्य कुछ समय पहले कह चुका हूँ।[2] अब जब मुझे 'पउमसिरी चरिउ' पढ़ने का अवसर मिला तो मुझे लगा कि यह कृति उपर्युक्त भ्रम का निवारण करने में अकेली ही सक्षम है।

'पउमसिरी चरिउ' के रचयिता ने अपने आपको महाकवि माघ का वंशज बताया है।[3] अतः यदि हम लेखक की उक्ति को प्रमाण मानें तो लेखक श्रीमाल (पश्चिमी क्षेत्र) का निवासी कहा जाना चाहिए। क्योंकि लेखक पश्चिम का रहने वाला है, इसलिये डा० तगारे के मतानुसार उसके ग्रंथ की भाषा भी पश्चिमी अपभ्रंश होनी चाहिए। जब हम आपके द्वारा निर्धारित भेदक तत्त्वों के आधार पर उक्त कृति का विश्लेषण करते हैं तो प्रतिफल विपरीत बैठता है। इसमें आपकी बताई हुई दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंश की सभी विशेषताएँ एक स्थान पर ही उपलब्ध हो जाती हैं और इस प्रकार अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों का प्रासाद एकबारगी में ही ध्वस्त हो जाता है, जैसा कि नीचे के विवेचन से स्पष्ट है —

१. अपभ्रंश ग्रामर, पृ० १५।

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ७०, अंक २, अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद, एक समस्या और समाधान।

३. ससिपाल-कव्व-कइ-आसि माहु जसु विमल कित्ति जग भमइ साहु।
तसु निम्मल वंसि समुब्भवेण पउमसिरि चरिउ किउ धाहिलेण॥

—४।१६।१६-१७।

डा० तगारे के अनुसार उपर्युक्त तीनों भेदों की ध्वनिगत विशेषताएँ इस प्रकार हैं[४]—

१. दक्षिणी अपभ्रंश में 'ष' के स्थान पर 'च्छ', 'छ' का आदेश होता है जब कि अन्य अपभ्रंशों में 'क्ख, ख' होता है।

२. पूर्वी अपभ्रंश की ध्वनियों का विवेचन करते हुए डा० तगारे ने निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किए हैं[५]—

१. क्ष > ख–क्ख; जैसे क्षण > खण; अक्षर > अक्खर।

२. त्व > तु त्त; जैसे त्वम् > तुहु, तत्त्व > तत्त।

३. व > ब; जैसे वज्र > बज्ज, वेद > बेअ।

४. द्व > दु; जैसे द्वार > दुआर।

५. ष, स > श।

६. संस्कृत 'श' सुरक्षित रहता है।

७. आद्य महाप्राणत्व नहीं होता।

उपर्युक्त संदर्भ में जब हम 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा का अध्ययन करते हैं तो अनेक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आते हैं। सर्वप्रथम 'ष' ध्वनि को ही लीजिए 'ष' के स्थान पर चार स्थानों को छोड़कर, सर्वत्र 'स' का आदेश उपलब्ध होता है। चार प्रयोगों में से दो के स्थान पर 'छ' प्रयुक्त हुआ है और दो के स्थान पर 'क्क' का आदेश उपलब्ध होता है—

'ष' को 'स' का आदेश—

विशेष = विसेसि[६], भूषित = भूसिउ[७], शोषित = सोसिय[८], निघोष = निघोसु[९], परितोषितः = परितोसिय।[१०]

'ष' के स्थान पर क्क का आदेश—

परिशुष्यति = परिसुक्कइ[११], शुष्क = सुक्क[१२]।

४. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५२-६१ से उद्धृत।
५. वही, पृ० ५२-५४।
६. १।१।४।
७. १।२।२१।
८. १।६।७५।
९. १।७।८८।
१०. १।१५।१६०।
११. ३।३।४३।
१२. ३।१०।१२८।

'ष' के स्थान पर 'छ' का आदेश—

षट् = छठ[13], षड्मासे = छम्मासइँ[14]

उपर्युक्त स्थिति में भेदवादी महाशय इसे पश्चिमी अपभ्रंश की संज्ञा देंगे अथवा दक्षिणी अपभ्रंश की मैं नहीं कह सकता, पर मैं इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य कह सकता हूँ।

जहाँ तक संख्या का संबंध है मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा में 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख' 'ख' का आदेश अधिक स्वच्छंदता से किया गया है किंतु 'च्छ' या 'छ' के आदेश के प्रति भी कोई विरक्ति नहीं है। जहाँ लेखक ने 'लक्ष्मण' के स्थान पर 'लक्खण' का प्रयोग किया है वहीं पर 'लक्ष्मी' के स्थान पर 'लच्छि' का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार एक ओर लेखक 'अक्षर' के लिये 'अक्खर' का प्रयोग करता है तो दूसरी ओर 'अक्षी' के लिये 'अच्छि' का प्रयोग लक्षणीय है—

लक्ष्मण = लक्खण[15] लक्ष्मी = लच्छि[16]

अक्षरैः = अक्खरेहि[17] अक्षी = अच्छि[18]

इस स्थिति में यदि 'क्ष' को 'ख या ख' के आदेश को आधार मानें तो आँख बंद कर उक्त कृति को पूर्वी अपभ्रंश की कृति कहा जा सकता है, किंतु अन्य लक्षणों के अनुसार परिणाम विपरीत बैठता है; यथा—'द्व' का जहाँ एक स्थान पर 'दु' है तो दूसरे स्थान पर केवल 'व' का प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर वह पूर्वी अपभ्रंश को सूचित करता है तो दूसरे स्थान के प्रयोग तथाकथित पश्चिमी अपभ्रंश को।

द्वारे = दुवारि[19] द्वार = वारू[20]

द्वौ = दुन्नि[21] द्वौ = विन्नि[22]

१३. १।११।१२२।

१४. २।५।५५।

१५. २।१।१२।

१६. २।३।३७।

१७. १।१५।१६२।

१८. १।४।४७।

१९. १।७।८२।

२०. १।१०।१३१।

२१. २।९।१०५।

२२. २।८।११०।

द्वादश = दुवालस[23] द्वादश = वारस[24]

जहाँ 'द्व' का विकास तथाकथित भाषाओं में संतुलन स्थापित करता है वहाँ 'व' तथा 'स ष' का विकास उक्त कृति पर पश्चिमी अपभ्रंश की मोहर लगा देता है। 'व' को या तो पूर्णतया सुरक्षित रखा गया है या फिर कहीं कहीं उसका लोप कर दिया जाता है और मजेदार बात तो यह है कि उक्त कृति में 'व' को 'ब' आदेश किया गया है। इसी प्रकार 'स' और 'ष' के स्थान पर 'श' का नहीं अपितु 'स' का आदेश किया गया है। इन सबके साथ 'त्व' के स्थान पर कहीं 'त्तणु॑' कहीं 'त्तु' और कहीं 'त्त' मिलते हैं। इन प्रयोगों को देख कर हो सकता है कट्टरतावादी बौखला उठें, पर बात ऐसी नहीं है। यह तो साहित्यिक अपभ्रंश का सही रूप है।

'व' को 'ब' का आदेश—

महाबली = महाबलु[25] बाल (केश) = बाल[26]

बान्धवैः = बंधवेहि[27] बंक = बंक[28]

'व' की सुरक्षा—

त्रिवल्ली = तिवलि[29] उत्सव = ऊसव[30] वल्ली=वल्लि[31]

राघव = राहव[32] विचारिन् = वियारि[33]

'व' का लोप—

प्रावृष = पाउस[34] दिवस = दियह[35] स्वामिनी = सामिणि[36]

२३. ४।११।१२२।

२४. १।६।७२।

२५. १।४।४०।

२६. १।४।४५।

२७. १।५।१६१।

२८. १।६।७३।

२९. १।४।५१।

३०. १।२।२५।

३१. १।११।४३।

३२. २।१।१२।

३३. ४।३।३२।

३४. १।३।३८।

३५. २।३।११।

३६. १।१।१४।

भुवन = भुयण[37]

अब डा० तगारे द्वारा प्रस्थापित पश्चिमी अपभ्रंश के ध्वन्यात्मक विकास का भी अवलोकन उचित होगा। आपके अनुसार पश्चिमी अपभ्रंश की निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं[37क]—

(१) प्राकृत शब्दों के संयुक्त व्यंजन में से केवल एक व्यंजन को रखकर पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो जाता है।

(२) प्राकृत की भाँति उद्वृत्त स्वरों के विच्छेद (हायटस्) को यथावत् रखा जाता है।

(३) शब्द के बीच–य,–व—व,–ह—और कभी–कभी–र–के आगम द्वारा उद्वृत्त स्वरों का पृथक् अस्तित्व सुरक्षित किया जाता है।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों का संनिवेश पउमसिरी चरिउ की भाषा में बहुतायत से हुआ है। प्रथम विशेषता का केवल प्रारंभिक रूप ही मिलता है। ऐसा लगता है कि उक्त कृति में 'द्वित्व' कर देने की प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है फिर भी कुछ उदाहरण मिलते हैं—

निस्सास = नीसास[37ख] निलज्ज = नीलज्ज[38]
उस्सव = ऊसव[39] निस्सरहि = नीसरेहि[40]

शेष दो विशेषताओं का जहाँ तक संबंध है वहाँ तक 'अ और आ' स्वरों के साथ अनिवार्य रूप में 'य अथवा व' श्रुतियों का संनिवेश मिलता है। 'इ, ई, उ, ऊ' को यथावत् रखा जाता है। शेष स्वरों में विकल्प दृष्टिगत होता है; यथा—

प्रकट = पयड[41] अविचारित = अविचारिउ[42]

३७. २।३।३६।
३७क. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६०।
३७ख. २।६।६६।
३८. १।११।१४५।
३९. १।२।२५।
४०. १।१२।५८।
४१. १।७।११७।
४२. १।१२।१२५।

हुताशन = हुयासण[43] ताप = ताव[44] कोकिल = कोइल[45]
नेपुर = नेउर[46] कपोल = कवोल[47] उपदेशित = उवएसिय[48]

जहाँ तक उक्त तीनों विशेषताओं का संबंध है, कृति को सरलता से पश्चिमी अपभ्रंश की कृति कहा जा सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि ध्वनियों की दृष्टि से ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है जो किसी भिन्न क्षेत्रीय भाषा की हो। ये सभी प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में एक ही कृति में देखी जा सकती हैं जैसा कि 'पउमचरिउ' की भाषा में।

ध्वन्यात्मक विशेषताओं के साथ साथ डा॰ तगारे ने कतिपय रूपात्मक विशेषताओं का भी विधान किया है जो उनके अनुसार अपभ्रंश भाषा के क्षेत्रीय भेदों के वैभिन्न्य को प्रकट करती हैं। आपके अनुसार ये निम्नलिखित हैं[49]—

१—अकारांत पुंलिंग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकांशतः 'एण' वाला रूप मिलता है; जब कि परिनिष्ठित रूप ऐकारांत है।

२—उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'मि' परक होती है; जब कि परिनिष्ठित रूप 'ऊं' परक होता है।

३—अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमानकाल की क्रिया 'न्ति' परक होती है; जैसे करन्ति, जब कि परिनिष्ठित रूप 'हिं' परक होता है; जैसे करहिं।

४—सामान्य भविष्यत् काल के क्रिया पद अधिकांशतः 'स' परक होते हैं; जैसे करिसइ, जब कि परिनिष्ठित रूप प्रायः 'ह' परक होते हैं; जैसे करहइ।

५—पूर्वकालिक क्रिया के लिये 'इ' प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर है अथवा बहुत कम, जब कि यह प्रत्यय परिनिष्ठित अपभ्रंश में सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है।

जहाँ तक प्रथम विशेषता का संबंध है, वह पउमसिरी चरिउ की भाषा में 'क्ष' के 'क्ख' 'ख' आदेश की भाँति बहुत अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुई है। ध्वनि की

४३. १।११।११६।
४४. ४।१३।११९।
४५. २।४।३१।
४६. १।१६।९९।
४७. १।४।४८।
४८. १।१५।१८८।
४९. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ९२-९१ से उद्धृत।

दृष्टि से जहाँ इसकी भाषा पूर्वी क्षेत्र के प्रति मोह प्रकट करती है वहाँ रूप की दृष्टि से विशेषकर प्रथम विशेषता के परिप्रेक्ष्य में इसका झुकाव तथाकथित दक्षिणी अपभ्रंश के प्रति है। पुंलिंग अकारांत के तृतीया के एक वचन में 'ए' परक रूप तो बिल्कुल नहीं है, परंतु इकारांत रूप उतनी ही मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि ऐसे रूपों की ओर वैयाकरणों का कोई संकेत तो उपलब्ध नहीं होता तो भी इसके प्रयोग 'पउमसिरी चरिउ' में मिलते हैं। बहुत संभव है कि सप्तमी के अनुकरण पर अथवा स्त्रीलिंग प्राकृत शब्दों के आधार पर[५०] ऐसे रूपों का प्रचलन हो गया हो। डा० भायाणी ने ऐसे रूपों का संकेत पुस्तक की भूमिका में दिया है।[५१] उदाहरण निम्न प्रकार है—

धणदत्ति चारु वियक्खणेण। परितोसि (य) बसवँइ तक्खणेण[५२]

उक्त पंक्ति में यह अवश्य लक्षित करने की बात है कि विशेषण में 'एण' प्रत्यय का प्रयोग है और विशेष्य में 'इ' प्रत्यय का। एक अन्य स्थान पर 'धणदत्त' के साथ 'एण' प्रत्यय का प्रयोग यह अवश्य सिद्ध करता है कि लेखक किसी विशेष प्रत्यय के प्रति कट्टर नहीं है। इसके अतिरिक्त इकारांत के अन्य प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं—

तिं धणसिरी-वयंणि ताहि कन्तु पज्जलिय हुयासण जिम्व झियन्तु।[५३]
निम्मलु नाणु दे हु उज्जालहु सावयधम्मु पयत्ति पालहु।[५४]
मइँ दिन्न सहत्थि सव्वकाल आसासिय दीण अणाह वाल।[५५]

इस तरह से अन्य उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं और ये रूप 'एण' परक गुणों की समता में कम नहीं हैं।

जहाँ तक द्वितीय प्रवृत्ति का संबंध है 'मि' परक रूपों और 'ऊँ' परक रूपों का लगभग समान रूप से प्रयोग देखने को मिलता है। एक ही क्रिया पद के साथ जहाँ एक स्थान पर 'नि' प्रत्यय का प्रयोग है तो दूसरे स्थान पर उसके साथ 'ऊँ' प्रत्यय जोड़ दिया गया है, यथा—

५०. प्राकृत व्याकरण, आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र, पृ० ८६, नियम ३१।
५१. प्रासंगिक भूमिका, पृ० १२।
५२. १।१२।१६०, अन्यस्थल द्रष्टव्य हैं—२।५।५८, १।१०।२७, १।११।१४६, १।१३।१६२, ३।२।२४, ४।४।४६, ४।६।७५, ४।१३।१६१।
५३. १।११।१४६।
५४. १।८।१०६।
५५. १।१०।१२७।

सत्थाहिं वुत्तु समुद्दत्तु सा बाल होइ जिह तुहु कलत्तु ।[५६]
तिह करमि वच्छ उज्झहि विसाउ गउ कंत-मवखि उद्दयफाउ ॥[५७]
इ जसमइ दुम्मइ दीइ केस तिह करउँ होइ जिहपइहि वेस ॥[५८]

एक ही चरण में दोनों प्रकार के प्रयोग नितांत लक्ष्य हैं—

निलक्खण हउँ कहि केत्थु जामि तुहु विरहि न जीवउँ खणु वि सामि ।[५९]

इसी प्रकार यदि 'चय' के साथ 'मि' प्रत्यय का प्रयोग उपलब्ध होता है तो 'मन' के साथ 'ऊ' का प्रयोग देखने को मिलता है । अतः कहीं पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से किसी एक प्रकार के प्रयोग की ओर लेखक का विशेष झुकाव है, यथा —

महु एहइ अवसरि कोइ वुत्तु कि चयमि सकल घर वारु वित्तु[६०]
कचयण तिणु भणउ धम्म कज्जि निक्कटइ भाइहिं तणइ रज्जि[६१] ।
लायविणु किंचि कलंक अज्जु पाडेमि सीसि जसवइहि वज्जु[६२] ।
न वि जाणउँ कारण किं पि अज्जु दुव्वयणइ जंपइ जिह अलज्जु[६३] ॥
फुडु कहिउँ तुसु एहु भयणग्गि पलीविउ मज्झु देहु[६४] ।
प्रणमामि मोह-तम-निवह नासयं भविय—पकयाणंदं[६५] ।

ठीक उपरिकथित स्थिति ही तृतीय लक्षण की है । एक ही क्रियापद के साथ कभी लेखक 'न्ति' प्रत्यय का प्रयोग करता है तो कभी 'हिं' प्रत्यय का, यथा—

महुवयण न वेन्नव जइ करंति तो चयमि गेहु नवि एत्थु भंति[६६] ।

५६. १।१५।१७४ ।
५७. १।१५।१७५ ।
५८. १।११।१३७ ।
५९. १।५।६१ ।
६०. १।१०।१२ ।
६१. १।१०।१२८ ।
६२. १।१०।१२८, २।६।१०८ ।
६३. १।१४।१७३ ।
६४. २।१३।१५३ ।
६५. ३।१
६६. ३।११।१३५ ।

गुण हसहिं करहिं अवन्न वाउ खलु चिंतहि वं (घहिं) गरू (य) पाउ[६७] ॥
पेक्खेविणु धणसिरी दाणु दिंति बसवइ-असोय मञ्छरू वहंति[६८] ।
उम्मिल-दलावलि किं कशराइं उववहहिं अणोवम कणय छाय[६९] ॥
पवणाहय तुंग तमाल ताल नच्चंति नाइ वेयाल काल[७०] ।
चच्चरिउ दिंति उम्मिय-वि-हत्थमय घुम्मिर वच्चहिं तरुणि सारथ[७१] ॥

इसके अतिरिक्त यदि गणना को ही आधार बनाएँ तो अन्य पुरुष वर्तमान काल के बहुवचन के लिये 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा में 'हि' प्रत्यय का ही अधिक प्रयोग दिखाई देता है। इस प्रकार प्रथम लक्षण के अनुसार कृति दक्षिणी अपभ्रंश की रचना हो जायेगी और तृतीय लक्षण के अधीन पश्चिमी अपभ्रंश की। जब कि बात ऐसी नहीं है।

जहाँ तक चतुर्थ लक्षण का प्रश्न है, कृति में केवल दो चार स्थानों पर ही भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग हुआ है और सभी स्थानों पर 'लट्' लकार से भी 'लृट्' लकार का काम लिया गया है। 'स-परक' उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) एह बाल हुएसइ जासु कति लावन्न-पुन्न-सिय-कुंद-दंति ॥[७२]
(२) पइँ सइँ वरेसइ सो कुमारू को मुयइ महामणि-रयण-हारू ॥[७३]

एक स्थान पर और भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग है, पर वहाँ 'च' आ जाने से 'च्छ' बन गया है। अतः वह इस लक्षण के क्षेत्र में नहीं आता। उदाहरण इस प्रकार है—

वोच्छामि (वक्ष्यामि) जमिह वित्तं धणसिरी धणदत्त नामांणं ॥[७४]

जब हम पंचम लक्षण पर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा लगता है कि डा० तगारे ने निषेधात्मक बात कहकर बीच में ही मौन धारण कर लिया। यह बताने का कष्ट नहीं उठाया कि फिर दक्षिणी अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया के लिये किन प्रत्ययों

६७. १।१०।१३० ।
६८. १।१०।१३१ ।
६९. २।५।५६ ।
७०. २।५।५४ ।
७१. १।४।४२ ।
७२. २।९।१०६ ।
७३. २।१४।१५८ ।
७४. २।१ ।

का प्रयोग मिलता है। हेमचंद्र ने (डा० तगारे संभवतः इन्हें पश्चिमी अपभ्रंश का वैयाकरण मानते हैं) 'क्त्वा' प्रत्यय के लिए चार आदेशों—इ, इउ, इवि तथा अवि का[७५] का विधान कर चार विकल्पों—एप्पि, एप्पिणु, एविणु[७६] का भी संकेत किया है। अत्र लेखक कौन से प्रत्यय से शब्दनिर्माण करता है, यह उसकी रुचि को तो घोषित कर सकता है, पर भिन्न भाषा को नहीं। 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा में प्रायः सभी प्रत्ययों का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'इ' प्रत्यय केवल दो या तीन बार ही प्रयुक्त हुआ है।

'इउ' प्रत्यय का प्रयोग

> बहु पुन्नेहि लब्भइ मणुय-जम्मु तं पाविउ करि अकलंक धम्मु ॥[७७]
> मणु हरिउ कुमारि (हि) हियउ समप्पिउ तासु जणि ॥[७८]
> संचल्लिय भवणाह संख धूय निरु सुन्न मणि।[७९]

'इवि' प्रत्यय का प्रयोग

> परिचिंतिवि दुन्नि वि हियइ एउ मयरद्धउ तासु प्रसन्नु देउ ॥[८०]

'एपि तथा अवि' प्रत्ययों का प्रयोग पुस्तिका में नहीं किया गया है।

एप्पिणु प्रत्यय का प्रयोग

> पणमेप्पिणु चंदप्पह जिणिंदु निम्मूलुम्मूलिय-दुक्ख-कंदु ॥[८१]

एवि प्रत्यय का प्रयोग

> पणमेवि सूरि वंदन्ति साहु आसिसी देइ वर-धम्म लाहु।[८२]

'एविणु' प्रत्यय का प्रयोग

> लाएविणु किंचि कलंक अज्जु पाडेमि सीसि जसवइहि वज्जु।[८३]

७५. क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥४३९॥ अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य इ, इउ, इवि अवि इति एते चत्वारःआदेशाः भवन्ति।—अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १५३।

७६. एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥४४०॥ अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु एवि, एविणु इति एते चत्वारः आदेशाः भवन्ति।—वही, पृ० १५५।

७७. १।१५।१६४।

७८. २।१०।१२२।

७९. २।१०।१२२।

८०. २।९।१०५।

८१. १।१।६।

८२. १।७।८७।

८३. १।११।१३८।

उपर्युक्त प्रत्ययों में भी 'इउ' प्रत्यय का प्रयोग भी न्यून मात्रा में ही किया गया है। इस प्रकार आठ प्रत्ययों में से केवल चार प्रत्ययों का ही प्रयोग सर्वाधिक मात्रा को देखने में मिलता है। अतः 'इ' प्रत्यय के केवल अभाव में उक्त कृति को दक्षिणी अपभ्रंश की रचना कहना उचित न होगा।

पूर्वी अपभ्रंश के रूपात्मक तत्वों की स्थापना डा० तगारे ने निम्न प्रकार से की है[८४]—

१—लिंग की अतंत्रता बहुत अधिक है।

२—निर्विभक्तिक संज्ञा पद बहुत अधिक हैं। अविकारी सामान्य कारक बनाने की प्रवृत्ति सभी अपभ्रंशों से अधिक दिखाई देती है।

३—अन्य अपभ्रंशों की तरह यहाँ पूर्वकालिक क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्ययों में मिश्रण नहीं हुआ। पूर्वकालिक प्रत्यय 'अइ' का प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश में क्रियार्थक संज्ञा के लिये भी हुआ है। यथा, करइ = (१) करि (२) करना।

४—क्रियार्थक संज्ञा के लिये परिनिष्ठित अपभ्रंश की 'अण' प्रत्यय का यहाँ प्रायः अभाव है। प्रायः इब (तव्यत् प्रत्यय) से क्रियार्थक संज्ञा भी बनाई जाती है।

जहाँ तक प्रथम लक्षण का संबंध है हेमचंद्र ने इस ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि अपभ्रंश में लिंग की अतंत्रता बहुत अधिक है।[८५] 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा में भी लिंग संबंधी अव्यवस्था अनेक स्थानों पर मिलती है। पुंलिंग का स्त्रीलिंग तथा स्त्रीलिंग का पुंलिंग एवं नपुंसक लिंग आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है —

१— स्त्रीलिंग शब्दों का पुल्लिंग में प्रयोग—

(क) सिरि मंडविइ (मण्डपिकायाम्) दुविह वन्नएहिं।
पुरिउ चउक्कु वर — चुन्नएहि ॥[८६]

(ख) मं पाउ वियंमहि इह-पर-लोइ चोरिइ बहु-दुह पावणिएँ ॥[८७]

२—पुंलिंग शब्दों का स्त्रीलिंग प्रयोग—

८४. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५५।

८५. लिङ्गमतन्त्रम् ॥४४५॥ अपभ्रंशे लिङ्गम् अतन्त्रम् व्यभिचारि प्रायः भवति।
—अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १६३।

८६. २।१८।२००।

८७. १।१६।१६५।

(क) अथ एकहिं दियहिं समुद्ददत्तु निसि-समइ सरोवर नेण (?) पत्तु ।[८८]
(ख) जय मय वइ निम्मल गुण निधाणु (निधाना) उप्पन्न अणोवम दिव्व-नाणु ॥[८९]
३—स्त्रीलिंग शब्दों का नपुंसक लिंग में प्रयोग—
(क) ता अत्थि जाणुअमु हत्थि-राउ थी ओ वि परिकलई तावँ मा [उ] ॥[९०]
(ख) गुरू वंदिवि, लद्धासीसयाइँ पवरा सखि दो वि वइह याइँ ॥[९१]
४—नपुंसक लिंग शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग—
(क) कइय विजिया धम्म-कहाए एहि कइय विरमति उज्जावएहि (उधानके) ।[९२]
(ख) उन्नेइ झंप, जलमज्झि देवि, तीरहिं (तीरे) ठिय पखंउ फुणु धुवेवि ॥[९३]
५—पुंलिंग शब्दों का नपुंसक लिंग में प्रयोग—
(क) गुरु-विविह विणोइं दिय हजंति अवरोप्परू राउसवइँ (रागोत्सवाय) करंति ।[९४]
(ख) मं हणहु जीव सच्चं चवेहु पर-धणु परदारइँ (परदारा) परिहरेहुँ ॥[९५]
६—नपुंसक लिंग शब्दों का पुंलिंग में प्रयोग—
(क) वज्जिद नील मरगत असंख, विद्रुम कक्केयण तार हार...
(ख) दीसंति न मंदिरि जाइँ जाइँ ...[९६]

जहाँ तक द्वितीय लक्षण का संबंध है, 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा में प्रथमा और द्वितीया में निर्विभक्तिक प्रयोग पूर्ण स्वच्छंदता से हुए हैं। अनेक स्थानों पर भी संपूर्ण कड़वक ही निर्विभक्ति प्रयोगों का एक सुंदर नमूना बन गया है। इसके अतिरिक्त अन्य विभक्तियों के भी निर्विभक्तिक प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं—
प्रथमानि र्विभक्तिक—

मिउ कसिण-वाल स गय-निलाड़ वयणारविंद उपहसियँ-चंद ।[९७]
पंकयदलच्छि नं नुयण-लच्छि कुंडल विलोल उज्जल कपोल ॥[९८]

८८. २।५।५७।
८९. ४।१४।१६२।
९०. २।१२।१८६।
९१. २।२१।२४१।
९२. ३।३।३४।
९३. ३।५।५१।
९४. ३।३।३१।
९५. ४।१५।१७६।
९६. १।१६।१७-२०१।
९७. १।४।४५।
९८. १।४।४७।

द्वितीया निर्विभक्तिक—

हउँ कहविं तुम्ह धम्मह परिक्ख अवियारिउ मं मं लेहु दिक्खक।[९८]
च्चरिउ दिंति उब्भिय वि हत्थ[९९] मय घुम्मिर नच्चहिं तरुणि-सत्थ॥

तृतीया निर्विभक्तिक—

१. हउँ सील सुनिम्मल-उभयपक्ख सीया इव किय चारित्र रक्ख।[१००]
२. एत्थन्तरि आगय पवणवेग पउमासिरि धावि नामिं सुवेग॥[१०१]

चतुर्थी निर्विभक्तिक—

१. कोई उदाहरण नहीं मिलता।
२. 	,, 	,,

पंचमी निर्विभक्तिक—

१. कमलिणी कमलुन्निय मणु येरहिं अंसुएहि रूपइ लकज्जे लेहि।[१०२]
२. उत्पाड़ित फणि मणि जिह भुजंगी विच्छायदीण भय(भयात) वेवियेणी॥[१०३]

षष्ठी निर्विभक्तिक—

१. पइ दिय वे वि उँ पहासिय-काम वड्ढंति ससि व्व कलाहिराय।[१०४]
२. पवणाहय तुंग तमाल ताल नच्चंति नाइ वेयाल काल॥[१०५]

सप्तमी निर्विभक्तिक—

१. मइँ दिन्न सहत्थि सव्व काल आसासिय दीणं अणाह वाल।[१०६]
२. निसि समइ अज्जु तं तइए वुत्त पर पुरिस-निहालणिदोस-जुत्त॥[१०७]

तृतीय लक्षण की दृष्टि से यदि 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि इसमें भी पूर्वकालिक क्रिया और क्रियार्थक संज्ञा

९८ क. १।८।१४।
९९. २।४।४२।
१००. १।१६।२०६।
१०१. २।१०।११२।
१०२. ३।१।६।
१०३. ३।१०।१३०।
१०४. २।१।८।
१०५. २।५।१४।
१०६. १।१०।१२७।
१०७. १।१४।१८३।

के प्रत्ययों में मिश्रण नहीं के बराबर किया गया है। एक दो स्थल ऐसे हैं जहाँ पर पूर्वकालिक क्रिया का 'इ' प्रत्यय और 'अउ' (इउ) प्रत्यय का प्रयोग क्रियार्थक संज्ञा के लिये किया गया है—

१. जसुं धीय नत्थि दुन्नंय निधाण को खंडिवि सक्कइ तासु माणु ॥[१०८]
२. सांदिणिदिणि आवइ कहइ धम्मु निसुणंति ताउपरिहरिउ कम्मु ॥[१०९]
३. सा जंपइ कोइ वंतरू कराणु तुज्झु देवउँ (देविउ) इच्छइ अलिउ आणु ॥[११०]

चौथे लक्षण के परिप्रेक्ष्य में 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा सर्वथा विपरीत ठहरती है। वहाँ पर क्रियार्थक संज्ञा के लिये 'अण' और 'अणहं' प्रत्यय का स्वच्छंदता से प्रयोग किया गया है। 'इव' प्रत्यय का प्रयोग मुझे उक्त पुस्तिका की भाषा में कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ।

परिनिष्ठित अपभ्रंश के जिन लक्षणों की स्थापना विद्वानों ने की है[१११] उनमें से प्रायः अधिकांश के उदाहरण दक्षिणी और पूर्वी अपभ्रंश के संदर्भ में दिए जा चुके हैं। अब जो लक्षण इनसे भिन्न है, उन्हें नीचे प्रस्तुत किया जाता है

१. अपभ्रंश में संयुक्त क्रियाओं का तेजी से प्रचलन—

(क) केया - रउ मेल्लइ कल निनाउ कोडुण लोउ देक्खणाह आउ ॥[११२]
(ख) उड्डेवि झत्ति भित्तिहि विलग्गु विम्हउ लोउ बोल्लणाहलग्गु ॥[११३]
(ग) पुरजणु अन्तेउरू विजउ राउ वेदणाह आउ निग्गय पयाउ ॥[११४]

२. परसर्गों का प्रयोग—

मज्झि—परियणहु मज्झि नं केव इहु मायाविणु पयडिउ नाइ विहु ॥[११५]
तणइ—कंचण तिणु भन्निउ धम्म कज्जि निक्कंटइ भाइहिं तणइ रज्जि ॥[११६]

१०८. ४।२।२० ।
१०९. ४।८।८६ ।
११०. ४।६।१०६ ।
१११. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६० ।
११२. ४।१२।१४५ ।
११३. ४।१२।१४७ ।
११४. ४।१३।१६० ।
११५. ५।१०।१२५ ।
११६. ५।१०।१२२ ।

तणाँउ—जिउ एउ अथाह निबद्ध कम्मु अलहेतु जिणिदेह तणउँ धम्मु ॥[११७]
ठिउ—मयणाउरू उव्वेलंत ठिउ मंतेहि वसि किउ ने भुयंगु ॥[११८]
केरी—सम्माणहि सुंदर गुण निहाण अइ तायह केरी तुद्धु आण ॥[११९]
उप्परि—मणु निरुमहि विसएँहि संचरं तु जिण धम्महु उप्परि देहि चित्तु ॥[१२०]

इस प्रकार उपर्युक्त पर्यालोचन से यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि कृति के लेखन स्थान से तथा कतिपय प्रयोगों के न्यूनाधिकत्व से भाषा-वैभिन्न्य का सिद्धांत स्थापित करना औचित्य की सीमाओं से दूर जा पड़ता है। डा० हरिवल्लभ भायाणी का 'पउमसिरी चरिउ' की भाषा को अनेक अपभ्रंशों के लक्षणों का मिश्रण कहना किसी भी स्थिति में नहीं जँचता। बात यह है कि परिनिष्ठित अपभ्रंश ने प्राकृत भाषाओं से अपना स्वरूप ग्रहण किया है। अतः प्राकृत के कतिपय प्रयोगों को देखकर किसी कृति को भिन्न भाषा का नाम देना उतना ही खतरनाक हो सकता है जितना डा० नगेंद्र की भाषा और प्रेमचंद की भाषा को भिन्न भिन्न भाषाएँ मानना !

*

११७. ४।६।६४।
११८. २।६।७०।
११९. १।१७।२२०।
१२०. ४।६।७४।

हिंदी (खड़ी बोली) में द्विरुक्ति

कमल मोहन

•

प्रथम भाग

१.१ हिंदी में भी, अन्य भाषाओं की भाँति, प्रायः शब्दों (अथवा शब्द-समूहों) को दुहराया जाता है। इस दुहराने को द्विरुक्ति कहते हैं। किसी शब्द को दुहराने से (विभक्ति रहित अथवा विभक्ति सहित) अधिकतर वाक्य के अर्थ में भेद हो जाता है। उदाहरण के लिये नीचे लिखे वाक्य युग्म ले :—

(क) तीनों अपने पति से मिलीं।

तीनों अपने अपने पति से मिलीं।

(ख) अब मुख्य समाचार सुनिए।

अब मुख्य मुख्य समाचार सुनिए।

स्पष्ट है कि (क) के दोनों वाक्यों में अपने के इकहरे तथा दुहरे प्रयोग से वाक्यों के अर्थों में गंभीर भेद हो गया है। पहले वाक्य का आशय है कि तीनों का पति एक ही है, जबकि दूसरे वाक्य से स्पष्ट है कि तीनों के पति अलग अलग हैं।

इसी प्रकार (ख) के दोनों वाक्यों में मुख्य के इकहरे तथा दुहरे प्रयोग से अर्थ बदल जाता है। पहले वाक्य के अनुसार केवल एक मुख्य समाचार है जब कि दूसरे वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि कई समाचार है जिन्हें 'मुख्य' की संज्ञा दी गई है।

कुछ और वाक्य युग्म लें, उनके अध्ययन से यह तथ्य और स्पष्ट हो जायगा।

(ग) अमरीका में स्वामी जी ने क्या कार्य किया ?

अमरीका में स्वामी जी ने क्या क्या कार्य किए ?

(घ) मरेंगे एक बार। दफ्न होंगे बार बार।

(ङ) वह कभी इस मकान में रहा करता था।

रहा करता था।

रहेगा।

आयगा।

आकर रहेगा।

वह कभी कभी इस मकान में रहा करता था।
रहेगा।
आयगा।
आकर रहेगा।
आया करेगा।

(च) तारीख करीब है।
तारीख करीब करीब तय है।

(छ) उसे रात भर नींद नहीं आई।
वह रात रात भर नहीं सोता।

(ग) पंख टूट कर गिर गए।
पंख टूट टूट कर गिर गए।

(झ) वह कंधे हिलाती हुई चल दी।
वह कंधे हिलाती हिलाती चल दी।

ऊपर (ङ) के पहले तथा दूसरे वाक्यों में प्रायः कभी और कभी कभी को परिवर्तित नहीं किया जा सकता—कर देने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है अथवा पूरा वाक्य अनर्थक हो सकता है।

इसी प्रकार (च) में करीब तथा करीब-करीब को भी परस्पर नहीं बदला जा सकता। जिन वाक्यों में ये प्रयुक्त हुए हैं उनका ढाँचा अथवा विन्यास ही भिन्न है। ऐसे ही (छ) में रात भर और रात रात भर अपरिवर्तनीय हैं। इस वाक्य युग्म में पहला वाक्य एक घटना का द्योतक है तथा दूसरा स्वभाव का। सातवें वाक्य युग्म में पहला वाक्य यह बतलाता है कि कई पंख एक साथ, एक बार में टूट कर गिरे, जबकि दूसरे वाक्य से इस बात का बोध होता है कि पंख कई बार में टूट टूट कर गिरे।

१.२ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदी में द्विरुक्ति महत्वपूर्ण है और उसके कई उद्देश्य होते हैं। प्रस्तुत लेख में इनपर विचार किया जायगा।

द्विरुक्ति वास्तव में शैली की एक विशेषता है। संस्कृत में इसे शब्द शक्ति (आम्रेडित) माना गया है। अँगरेजी में इस प्रकार के प्रयोग को समास की संज्ञा दी गई है। हिंदी में इसे शब्दशक्ति ही माना जायगा।

१.३ प्रस्तुत लेख में द्विरुक्ति के विभिन्न उद्देश्यों के अतिरिक्त उसके विभिन्न परंपरागत व्याकरणीय रूपों पर भी—पूरे द्विरुक्त पद, तथा उसके पदों (घटकों) दोनों के व्याकरणीय रूपों पर-विचार किया जायगा।

साथ साथ द्विरुक्ति के विस्तार, पुनरुक्ति की ओर भी संकेत किया जायगा।

२. प्रस्तुत लेख के लिये निम्नलिखित पत्र पत्रिकाओं में प्रयुक्त द्विरुक्त शब्दों तथा पदों का तथा अपने चारों ओर तथा आकाशवाणी द्वारा व्यवहृत, बोली जाने-वाली हिंदी का अध्ययन किया गया है—

पिता और पुत्र	तुर्गनेव (अनुवाद)
नरम गरम	कन्हैया लाल कपूर
पत्थर की नाव	मन्मथनाथ गुप्त
जलता प्रश्न	विश्वनाथ (संपादक)
आहत	वृंदावनलाल वर्मा
बीरबल	रामचंद्र ठाकुर (अनुवाद)
कब तक पुकारूँ	रांगेय राघव
फिल्मी फुलझड़ियाँ	कृष्णचंदर
मौत की छाया	कनन डायल (अनुवाद)
धुएँ की लकीर	किशोर साहू

धर्मयुग—१७-८-६५, ५-९-६५, १२-९-६५, १९-९-६५, २४-१०-६५, ३१-१०-६५ तथा ५-१२-६५, ।

मनमोहन—कई अंक ।

नवनीत—८-६५, ९-६५, १०-६५ तथा ४-६७ ।

पराग—१०-६५ ।

राजाभैया—५-६३ ।

बालक—१०-६४ ।

लहरी—१९६४ ।

३.१ द्विरुक्ति दो प्रकार की होती है—१. पूर्ण तथा २. अपूर्ण ।

जब पूरा का पूरा शब्द दुहराया जाता है तो पूर्ण द्विरुक्ति होती है । जैसे—

आदमी आदमी में फर्क करना चाहिए ।

किंतु जब शब्द का कोई व्यंजन अथवा स्वर बदल कर दुहराया जाता है तो अपूर्ण द्विरुक्ति होती है। जैसे—

चलो, चाय-शाय पी जाय ।

प्रस्तुत लेख में आगे इन दोनों प्रकार की द्विरुक्तियों की विस्तृत चर्चा की जायगी ।

स्पष्ट है कि खाना पानी जैसे पद द्विरुक्ति के अंतर्गत न आकर समास के अंतर्गत आएँगे, किंतु पानी वानी अथवा खाना वाना अपूर्ण द्विरुक्ति के अंतर्गत ।

१.१. एक प्रकार की द्विरुक्ति और होती है, जिसमें पूरे के पूरे वाक्य अथवा वाक्यांश दुहराए जाते हैं। जैसे—

वह गिर कर नहीं उठा—नहीं उठा।

इस प्रकार की द्विरुक्ति का उद्देश्य मुख्यतः वाक्य के किसी अंश, अथवा संपूर्ण वाक्य की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना होता है। इस प्रकार की द्विरुक्ति पर भी प्रस्तुत लेख में संकेत किया जायगा।

प्रायः दो निरर्थक शब्दों को मिलाकर सार्थक द्विरुक्ति बनाई जाती है। इस प्रकार की द्विरुक्ति पर भी प्रस्तुत लेख में संकेत किया जायगा।

१. प्रायः शब्द अथवा शब्दसमूह दुहराए तो जाते हैं पर उनका स्वरूप एक होते हुए भी उनकी वे भिन्न भिन्न संरचनाएँ (घटक) होती हैं। जैसे—

फर्क ? फर्क यह है……।

इस प्रकार का दुहराव द्विरुक्ति के अंतर्गत नहीं आता। इसे दुहराव अथवा दुहराना कह सकते हैं पर द्विरुक्ति नहीं। किंतु इस प्रकार की रचनाओं की ओर भी इस लेख में संकेत किया जायगा।

१.५ जब कोई शब्द अथवा शब्द समूह दो से अधिक बार दुहराया जाता है तो उस घटना को पुनरुक्ति कहते हैं। प्रस्तुत लेख में इस पर विचार नहीं किया गया है।

१.६ प्रस्तुत लेख के दूसरे भाग में द्विरुक्तियों के समासों पर संकेत किया गया है।

दूसरा खंड

पूर्ण द्विरुक्ति (सार्थक शब्दों की द्विरुक्ति)

इस खंड में पूर्ण द्विरुक्ति के विभिन्न रूपों पर विचार किया जायगा, द्विरुक्ति के दोनों पदों के परंपरागत व्याकरणीय रूप तथा पूर्ण द्विरुक्ति के भी परंपरागत व्याकरणीय रूप का विवेचन किया जायगा।

४. १ (i) सं + सं = सं

राय प्रवीण का अंग-अंग नाच रहा था।
उनका अंग-अंग फड़क रहा था।
गाँव-गाँव, गली-गली घूमे।
गाँव-गाँव मारे फिरते थे।
हड्डी-हड्डी दुखती है।
जी चाहता है इसकी हड्डी-हड्डी तोड़ कर रख दूँ।
माँस-माँस आपका, हड्डी-हड्डी मेरी।
उदास कदम-कदम घिसटती जिंदगी।
मास्टरों को क्या पड़ी जो घर-घर जाकर पूछते फिरें।

कन-कन बचा कर मन मन भर जोड़ो ।*
ऐसे कुत्ते रोज-रोज नहीं पैदा होते ।
रोज-रोज खुश हो होकर या जल-जल कर हाथ मला करते ।

इस प्रकार की द्विरुक्ति एक बहुवचन बोधक युक्ति है और प्रत्येक उदाहरण में प्रथम पद का अर्थ प्रति अथवा हर है ।

४. १ (ii) सं+सं = सं

हमें उनका पार्ट जनम-जनम याद रहेगा ।
रंग बिरंगे फूल जगह-जगह झूलने लगे हैं ।
लंबी लंबी घास जगह-जगह झुक गई थी ।
जगह-जगह जो सभाएँ की जा रही हैं ।
जगह-जगह डाबरों में पानी भरा था ।
जगह-जगह सैनिक शिविर लगे थे ।

इस प्रकार की पुनरुक्ति भी बहुवचन बोधक युक्ति है और प्रत्येक उदाहरण में प्रथम पद का अर्थ बहुत से या सी अथवा कई अथवा एकाधिक है ।

४. १ (iii) सं+सं = सं

कन-कन बचा कर मन मन भर जोड़ो ।
मन में आया कि फोन के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ ।
नवेंदु ने कहानी की चिंदी-चिंदी कर डाली ।
सुबह से शाम तक उसकी बक-बक चला करती ।

इस प्रकार की द्विरुक्ति भी एक साधारण बहुवचन बोधक युक्ति है ।

४. १ (iv) सं+सं = सं

यह सूखा चहरा जो भूख-भूख चिल्ला रहा है ।

यह द्विरुक्ति अतिशयता बोधक है ।

४. १ (v) सं+सं = सं

खुदा-खुदा करके गाड़ी चली ।
हाय-हाय मच गई ।
गाँवों में त्राहि-त्राहि मच गई ।

* इस प्रकार के प्रयोग शैली की विशेषता है । एक-एक कदम घिसटती जिंदगी अथवा हर कदम घिसटती जिंदगी कहने के स्थान पर कदम-कदम घिसटती जिंदगी कहने से प्रभाव बहुत बढ़ जाता है । इसी प्रकार एक-एक कन बचा कर अथवा हर कन बचा कर के स्थान पर कन-कन बचा कर कहना कहीं अधिक प्रभावपूर्ण है ।

ऐसी द्विरुक्तियों में द्विरुक्ति किसी वाक्प्रयोग का अंग होती है। ऊपर दूसरे उदाहरण में विस्मय बोधक शब्द का प्रयोग संज्ञा के रूप में हुआ है।

४.१ (vi) सं+सं = सं (जहाँ पहले पद का रूप तो संज्ञा का होता है पर वह कार्य विशेषण का करता है। और उसका स्थान कोई उपयुक्त विशेषण ले सकता है।)

मौलवी साहब, इस बच्चे का मांस-मांस आपका (संपूर्ण, सारा)

हर रोज सुबह-सुबह दही बेचनेवाला गली में आवाज लगाता है। (बहुत, बड़ी)

यह सवेरे-सवेरे कहाँ चले ? (इतने, बहुत, बड़े)

सच-सच बताओ क्या बात थी ? (बिल्कुल)

४.१ (vii) सं+सं+ (विभक्ति)= संज्ञापद

खबर आनन फानन शहर के कोने-कोने में फैल गई।

मन क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है।

घर-घर में बाजे बज रहे हैं।

लहर-लहर में ढूँढ़ो।

जन-जन में जाग्रति की लहर फैल गई।

मुहल्ले-मुहल्ले में बारात चढ़ रही थी।

मुहल्ले-मुहल्ले से चंदा आया था।

बात बात पर अट्टहास हुआ।

पग पग पर वह अपनी दृढ़ता को दृढ़ करता चला गया।

सड़क खराब थी और दम दम पर ऐसे धक्के लग रहे थे कि नानी याद आ रही थी।

द्वार द्वार पर स्त्रियाँ मंगल कलश लिये खड़ी थी।

स्थान स्थान पर तोरण बंदनवार बँधे थे।

इन उदाहरणों में प्रत्येक वाक्य में द्विरुक्ति के प्रथम पद का तात्पर्य प्रति अथवा हर है।

पैसे पैसे को मोहताज।

दाने-दाने को मोहताज।

पैसे पैसे के लिये मोहताज।

इन वाक्यों के प्रथम पद का अर्थ एक-एक है और ये सब वाक्प्रयोग हैं।

४.१ (viii)

नीचे लिखे उदाहरण में द्विरुक्ति से वितरणात्मकता का बोध होता है।

सं+सं+विभक्ति = सं

भाइयों-भाइयों में झगड़ा **हो गया।**

४.२ (i) सं+सं = वि०

फलालेन की **तार-तार** बनियान पहने।

यह द्विरुक्ति वाक्प्रयोग (लोकोक्ति) बन गई है।

४.२ (ii) सं + सं + संबंध प्रत्यय = वि,

तरह-तरह की व्यंग भरी बातें
धमकियाँ
उपाधियाँ
परेशानियाँ
चीजें
शंकाएँ
के भुलावे
पापड़ (बेलना)
कानून (बघारना)
काम
किस्म किस्म के

उपर्युक्त में पहले तरह/किस्म का अर्थ कई अथवा बहुत होता है और इस प्रकार वह स्वयं भी विशेषण का कार्य करता है।

इस द्विरुक्ति की तुलना भाँति भाँति की/के से की जा सकती।

बच्चे बच्चे की जबान पर

युग युग की प्रतीक्षा के बाद

इन द्विरुक्तियों में पहले उदाहरण के प्रथम पद का अर्थ प्रति अथवा हर है किंतु दूसरे वाक्य के प्रथम पद का अर्थ ऊपर तरह की भाँति, बहुत अथवा कई है, और दोनो वाक्यों में द्विरुक्तियों के प्रथम पद भी विशेषण का कार्य कर रहे हैं जबकि उनका रूप संज्ञा का है।

४.३ (i) सं + सं = क्रि. वि.

वे सब सड़क के **किनारे किनारे** बात करती चली गईं।

सड़क जंगल के **किनारे किनारे** चली गई थी।

खाई के **किनारे किनारे**।

वह **चोरी चोरी** कभी कभी अपने पापा की सिगरेट में दम लगा लेती।

तुम इतनी **जल्दी जल्दी** क्यों पी रहे हो?

वह लज्जा से पानी पानी हुई जा रही थी ।*
वह लज्जावश पसीना पसीना हो जाता ।*
मैं सच सच कह दूँगा ।
गाली मत बको, सच सच बताओ ।
सब की विनोद वृत्ति चूर चूर हो गई ।**
अभिमान चूरचूर हो गया ।**
धर्म की लहरें सेक्स की चट्टान पर चूरचूर हो गई । **
इसके बाद शुतुर्मुर्ग खुशी खुशी टर्की के पास गया ।
खुशीखुशी हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे ।
हम दोनों जंगल के अंदर दाखिल हुए ।

उपर्युक्त द्विरुक्तियों द्वारा स्थिति अवस्था अथवा अतिशयता का बोध होता है ।

* ये द्विरुक्तियाँ वाक्प्रयोग बन गई हैं ।

** यह द्विरुक्ति भी वाक्प्रयोग बन गई है और इस शब्द का इकहरा प्रयोग नहीं होता ।

मैं बार बार फोन कर रहा हूँ ।
बूढ़े ने बार बार क्षमा माँगी ।
बार बार ताकीद दी ।
हाँफती थी ।
गला साफ कर रहा था ।
बक्से में हाथ डाला ।
राय बदलने को कहा ।
पढ़ा ।
आग्रह किया ।
निशान पर उँगली फेरता ।
उसका माथा देखती ।
शपथ लेता था ।
वह किवाड़ों को धाड़ धाड़ बंद करती ।

शेरनियाँ बार बार पेशाब करने लगीं ।
महिला कंडक्टर को बार बार बच्चों की हिफाजत का आदेश देती ।
चिंता बार बार कलेजे को कोंचने लगी ।
उपर्युक्त द्विरुक्तियाँ पुनः पुनःता बोधक हैं ।

४. १ (ii) सं + सं + से = क्रि० वि० पद

बरेंठी बारी बारी से चारों ओर घुमा रहे थे ।

अब मैं बारी बारी से उनका वर्णन करूँगा।

बारी बारी से तीनों को पहरा देना था।

भारतीय सैनिक बारी बारी से हवा में लटकती रस्सी पर चढ़कर गायब हो जाते।

कुत्ते जोर जोर से * भौंक रहे थे।

उन्होंने खुश होकर जोर जोर से तालियाँ बजाईं।

इतने जोर जोर से उछलता कि वह छत तक पहुँच जाता।

जोर जोर से खिसकने लगी।
रोए।
ढोल पीटे जा रहा था।
पूँछ हिलाई।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा क्रमबद्धता अथवा अतिशयता का बोध होता है।

* इस द्विरुक्ति में पहले जोर का अर्थ बहुत होता है। अतः इस स्थिति में यह शब्द क्रिया विशेषण का कार्य करता है और दूसरे क्रिया विशेषण पद जोर से की विशेषता बताता है। हालाँ कि इसका रूप संज्ञा का है।

कभी बैठकर, कभी खड़े होकर तरह तरह से नृत्य किया जाता है।

उपर्युक्त वाक्य से भी द्विरुक्ति पद का पहला पद बहुत अथवा कई का बोध कराता है।

४. ३. (iii) सं + सं + भर = क्रि० वि० पद

नहीं तो घंटा घंटा भर क्यू में खड़ा रहना पड़ता।

घंटा घंटा भर बैठकर चले आते।

रात रात भर दावतें होतीं।

उपर्युक्त द्विरुक्तियाँ समयसूचक हैं।

४.३ (iv) सं + सं + में = क्रि० वि० पद

एक दिन बातों बातों में उन्होंने बताया।

उस दिन बातों बातों में जिक्र आगया।

बात बात में ऐतिहासिक संधियों और समझौतों का जिक्र आगया।

बात बात में बात बढ़ गई।

मजाक मजाक में ......

इन वाक्यों में द्विरुक्ति के दूसरे पद (विभक्ति सहित) का अर्थ के बीच अथवा के दौरान है—और अधिकतर (तीसरे तथा चौथे वाक्यों में) इस स्थिति में प्रथम पद—बात—का अर्थ बहुवचनात्मक है चाहे उसका रूप एकवचनात्मक ही है।

बीच बीच में पेड़ और हरियाली थी।

गाँव के बागों के बीच बीच में लाउडस्पीकर पर फिल्मी गीत बज रहे थे।

बीच बीच में बोतल के सफेद सफेद टुकड़े।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्तियाँ स्थिति सूचक हैं। नीचे ४.३ (v) में भी ऐसा ही है।

४.३ (v)

द्विरुक्ति का नीचे लिखा उदाहरण (सं + सं + से = क्रि० वि०) कदाचित् हिंदी में बहुत कम मिलता है—

अरकाडी बरामदे बरामदे से होता हुआ अपने कमरे में चला गया।

४.३ (vi) सं+सं+पर=क्रि० वि०

आशा है आप अपने गुणों का परिचय समय समय पर देते रहेंगे।

साँपों का ज़हर निकाल कर समय समय पर भेज दिया जाता था।

उक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति कालवाचक तथा विवरणात्मक है।

४.४ (i) सं+सं= विस्मयादि बोधक

मैं चोरी करूँगा, राम राम।

रामराम, क्या संतान उपजी है।

रामराम, देश की दशा कैसी हो गई।

इन उदाहरणों में द्विरुक्ति आश्चर्य, खेद, दुःख की द्योतक है।

४.४ (ii) सं+सं= नमस्कारादि अथवा श्री बोधक (आदर बोधक)

राम राम, मालिक

जय जय राम

श्री श्री......

सर्वनामों की द्विरुक्ति साधारणतया बहुवचन बोधक होती है।

५.१ (i) स०+स०=स०

जैसा जैसा मैं कहूँ, वैसा वैसा करते चलो।

विचारों के प्रवाह में न जाने किधर किधर बह जाता था।

किधर किधर जाना है ?

उनकी तलाश में कहाँ कहाँ ठोकरें न खाईं।

संभल, अमरोहा, बिलारी, चँदौसी— कहाँ कहाँ हो आई।

इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस—कहाँ कहाँ होकर···।

गुंडे पेशावर में हैं और न जाने कहाँ कहाँ !

भगवान जाने उसके विचार कहाँ कहाँ भटक रहे थे।

इलैक्शन में कामयाब होने के लिए क्या क्या करना पड़ेगा।

बिस्कुट, टाफी, चाकलेट— क्या क्या भर लाया है।

देखें, क्या क्या होता है!

मैं क्या क्या कर लूँगी?

उपर्युक्त उदाहरण में द्विरुक्ति बहुवचनात्मक है और अनिश्चयवाचक।

५.१ (ii) स + स + विभक्ति = स

जिस जिस ने मेरा मकान देखा, उस उस ने तारीफ की।

उपर्युक्त वाक्य में भी द्विरुक्ति बहुवचनात्मक है और अनिश्चयवाचक। इसमें पहले पदों का अर्थ प्रति अथवा हर है।

किस किस का खून करेंगे आप?

किस किस को उसकी पत्नी की क्या क्या आशा हुई?

इन उदाहरणों में द्विरुक्ति वितरणात्मकता की द्योतक है और अनिश्चयवाचक है। नीचे लिखे वाक्य में 'बहुवचन' सर्वनामों का प्रयोग आदरसूचक है—

किन किन को साथ ले चलना है?

५.२ स०+स० = वि०

पता नहीं कौन कौन चीजें?

किस किस को उसकी पत्नी की क्या क्या आशा हुई।

इस अर्से में क्या क्या दृश्य दिखे?

खरीद में किन-किन बातों की दरकार है?

उपर्युक्त उदाहरणों में भी द्विरुक्ति बहुवचनबोधक एवं अनिश्चयवाचक है।

५.३ सं+सं = क्रि०वि०

वह कुछ कुछ जाग रही थी, और कुछ कुछ सो रही थी।

इस उदाहरण में द्विरुक्ति अनिश्चय बोधक है।

५.४ (टिप्पणी) नीचे लिखा द्विरुक्तियुग्म वाक्प्रयोग बन गया है। और दोनों द्विरुक्तियाँ मिल कर संज्ञा का काम करती हैं और इस नए रूप में उनका अर्थ भी बिल्कुल बदल जाने के कारण वे समास मानी जाती हैं—

(स+स) + (स+स) = स

तू-तू मैं-मैं

६.१ (i) क

गुणवाचक वि०+गुणवाचक वि० = गुणवाचक वि०

छोटी छोटी क्यारियाँ

बातें

छोटे छोटे गाँव
टापुओं का समूह
से हाथ
ट्रांस्मिटर
जरा जरा सी बात
उतरा उतरा (सा) चेहरा
भीनी भीनी खुशबू *
खुशबुएँ
धीमा धीमा शोर *
संगीत *
हल्के हल्के श्वास
पतली पतली फाँकें

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा न्यूनता का बोध होता है। जिन उदाहरणों पर तारा (*) अंकित है वे ऐसी संज्ञाओं के संबंध में हैं जिन्हें अगण्य (अन्काउंटेबुल) माना जा सकता है। बाकी उदाहरणों में द्विरुक्ति बहुवचन बोधक भी है। द्विरुक्ति में पहले पद का अर्थ बहुत है।

६.१ (i) ख (i)

गुणवाचक वि०+गुणवाचक वि० = गुणवाचक वि०

सुंदर सुंदर ढंग
नाच
कपड़े
बादलों के सफेद सफेद टुकड़े
गोल गोल गाल
हरे हरे पत्ते
गरम गरम चाय
फटी फटी नजरें
सूजी सूजी आँखें
लाल लाल लपटें
आँखें
गाल
नरम नरम रोयें
अच्छी अच्छी चीजें
अच्छे अच्छे काम

रद्दी रद्दी तस्वीरें
भद्दी भद्दी गालियाँ
बुरी बुरी
बड़ी बड़ी बातें
गहरी गहरी
बड़े बड़े पंजे
यंत्र
बाल
ध्येय
मोटे मोटे गाने
लंबी लंबी घास
लंबे लंबे कद
डग
हाथ मारे
सफरों का हाल
प्यारे प्यारे कपड़े
तेज तेज कदम
सही सही उत्तर

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा अतिशयता का बोध होता है। प्रत्येक में द्विरुक्ति बहुवचन बोधक है तथा उसके पहले पद का अर्थ है बहुत।

६.१ (i) ख (ii)

नीचे लिखे उदाहरणों में ऊपर वाले उदाहरणों से यह अंतर है कि उनमें द्विरुक्ति बहुवचन-बोधक नहीं है किंतु अतिशयता बोधक है और पहले पद का अर्थ बहुत अथवा बिल्कुल है। अंतिम उदाहरण में तो 'बहुत' स्वयं ही प्रयुक्त हुआ है।

धुँधला धुँधला आसमान
रोई रोई (सी) शक्ल
गोरा गोरा वक्ष
फूली फूली जेब
ठंडी ठंडी नाक
प्यारी प्यारी मुस्कराहट
नई नई नौकरी
उमंग
मीठा मीठा संगीत

मेरा पहला पहला प्यार
बहुत बहुत शुक्रिया

६.१ (ii) क

गुणवाचक वि० + गुणवाचक वि० = गुणवाचक वि०

नए नए समाचार
परिवर्तन
दोषों का सृजन
स्टेशन
चेहरे

अलग अलग बहाने
वाद्ययंत्र
किस्म की साड़ियाँ
कागज

भिन्न भिन्न स्वर
अजीब अजीब किस्से
खास खास अफसर
चुनिंदे चुनिंदे शेर
फलां फलां मौके पर
फलाने फलाने लोगों को

अपना अपना घर
समाज

अपनी अपनी भाषा
गठरियाँ
भलाई
बारी

अपने अपने कमरे में
लायक चीजें
घर से
किस्से
तरीके

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति भिन्नता बोधक तथा बहुवचन बोधक है।

६.१ (ii) ख

नीचे लिखे उदाहरण में भी द्विरुक्ति भिन्नता बोधक तथा बहुवचन-बोधक है और उसके दूसरे पद का अर्थ एक है।

वह ऐसा सिटपिटाया कि हर हर वाक्य पर ठोकरें खानी पड़ीं।

६.१ (iii)

ठंडे ठंडे	साँस
छोटे छोटे	गाँव
हल्की हल्की	बूँदे
बड़े बड़े	पेड़
	मतलब
	लोग
	स्मारक
	लड़के

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति एकजातीयता की बोधक तथा बहुवचन बोधक है।

६-१ (iv) वि०+वि० = वि०

अपनी अपनी तबियत है

पति लोग अपनी अपनी दुलहिनों के पास बैठे हैं। उपर्युक्त वाक्यों में पुनरुक्ति वितरणात्मक है।

६.१ (v) क वि० + वि० = वि०

अंतिम अंश कुछ कुछ ऐसा था

पानी में कुछ कुछ फासले पर खड़े हो गए

कुछ कुछ विश्वास हो चला था

कोई कोई बत्तख किनारे की ओर आकर पानी की ओर बढ़ जाती थी।

किसी किसी गांव में पाँच पाँच घुसपैठियों का जमाव है

कैसे कैसे	लोग
	सवाल

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति परिमाण, माप आदिका बोध कराती है और अनिश्चयवाचक है।

६.१ (v) ख

नीचे लिखे वाक्य में अनिश्चयवाचक द्विरुक्ति से पुनरावृत्ति का बोध होता है।

दिन में कई कई बार सड़कों पर झाड़ू लगने लगी।

६.१ (vi) वि०+वि० = वि०

पैर मन मन भारी हो रहे थे।

पूरा पूरा	अधिकार
	ज्ञान
	ध्यान
थोड़े थोड़े	विलंब के बाद
सारा सारा	दिन
पूरी पूरी	तंदुरुस्ती
	जानकारी
थोड़ा थोड़ा	नशा
	चंदा

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति परिमाण वाचक है।

६.१ (vii) क

वि०+वि० = वि०

एक एक पहर क्रम कर तीनों को पहरा देना था।

उन्होंने सिर्फ दो दो बच्चे रख कर बाकी को मार डाला।

उनके दो दो लड़के थे और दोनों के दो दो पत्नियाँ थीं।

नीचे की दोनों सूचियों से सिलसिलेवार दो दो शब्दों का समूह लेकर अर्थ बताओ –

मूर्तियाँ पाँच पाँच रुपए की थीं।

तीनों लगभग एक उम्र की होंगी, १८-१८, १६-१६ वर्ष की

दोनों ओर से २५-२५ आदमियों ने गवाही दी।

उपर्युक्त वाक्यों में द्विरुक्ति संख्यावाचक है। इन उदाहरणों में संख्या-बोध महत्त्वपूर्ण है। इन में संदर्भानुसार प्रति अथवा हर का बोध होता है।

६-१ (vii) ख

वि० + वि० = वि०

सौ सौ हाथ ऊँचे लट्ठे

वह दो दो, तीन तीन दिन बिना खाए रह जाता है

दो दो, तीन तीन लाशों को एक ही ताबूत में बंद करके···

जैसे एक नहीं चार चार बिजलियाँ कौंधी हों।

लाख लाख की एक बात।

किसी किसी गाँव में पाँच पाँच घुसपैठियों का जमाव
पाँच पाँच हजार तक का कोट...
उस पर तुर्रा यह कि दो दो दिन गायब रहता है।
मेरे लिये अब एक एक दिन जीना मुश्किल है।

उपर्युक्त वाक्यों में भी द्विरुक्ति संख्यावाचक है पर इनमें संख्याबोध महत्त्वपूर्ण नहीं है। संख्या का महत्त्व केवल सांकेतिक है और उससे अतिशयता का बोध होता है।

६.१ (viii) वि०+वि० = वि०

हमारे घर को होटल समझ कर तीन तीन पार्टियाँ खाईं।
उसके सामने प्राणों से प्यारे चार चार भाइयों के शव पड़े थे।
मुझे आधा आधा घंटे रोके रहता।
आध आध घंटा बैठ कर चले जाते।

उपर्युक्त वाक्यों में द्विरुक्ति संख्यावाचक है। इनमें संख्या का इतना महत्व नहीं है जितना उसके द्वारा बलात्मकता (एंफैसिस) दर्शाने का प्रयास है।

६.१ (ix) क

वि०+वि० = वि० (विशेष स्थिति)

वह शराब का एक एक कतरा पी गया।
एक एक कलाकृति के बारे में बताया।
कोठी की एक एक चप्पा जमीन उसे याद थी।
भीड़ का एक एक व्यक्ति जैसे कहता महसूस हुआ।
एक एक लत्ता तक भक से जल गया।
विशेषज्ञ पैर देख कर एक एक बात बताने लगा।

उपर्युक्त वाक्यों में द्विरुक्ति संख्यावाचक है और भिन्नताबोधक है और साधारणतया इनमें प्रथम एक का अर्थ हर है।

६.१ (ix) ख

नीचे लिखे वाक्य में द्विरुक्ति संख्यावाचक तथा वितरणात्मक है—
दो ब्लाटिंग पेपरों पर दोनों दवातों से एक एक बूँद गिराई।

६.२ (i) वि०+वि० = वि० (सं० की भाँति प्रयुक्त)

(क) उसने खूब खरी खरी सुनाईं।
उसे सर्वत्र हरा हरा भरा भरा दिखाई पड़ता।*
बड़े बड़े ऐसा नहीं करते।
मैंने अच्छे अच्छे शादी करते देखे हैं।
खोये खोये क्यों नजर आते हो।

(ख) साइकिल पर **दो दो** तीन तीन तक सवार होकर···।
तीन तीन की लाइन में खड़े हो।
(ग) मूर्तियाँ **कितने कितने** की हैं।
(घ) बटाई **आधे आधे** पर रह गई।
रोज **थोड़ा थोड़ा** सिखाएँगे।
जरा **कम कम** खाओ।
बराबर बराबर बाँट लो।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति गुणवाचक (क), संख्यावाचक (ख), अनिश्चयबोधक (ग), अथवा परिमाणबोधक (घ) है। उससे अतिशयता अथवा बहुवचन का बोध होता है।

सितारे (*) से अंकित उदाहरण में द्विरुक्ति **हराभरा** का बहुवचन रूप है।

६.२ (ii) क वि० + वि० + भर = संज्ञापद
कन कन बचा कर **मन मन भर** जोड़ो।

६.२ (ii) ख वि० + वि० + विभक्ति अथवा विस्तारसूचक अव्यय = संज्ञापद (विशेष स्थिति)।
दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने आते।
दूर दूर तक पता नहीं था।
उनका यश **दूर दूर तक** फैला।
वह **दूर दूर तक** राजा महाराजाओं का इलाज करते।
दूर दूर तक जहाँ निगाह जाती।

उपर्युक्त वाक्यों में द्विरुक्ति में प्रथम पद का अर्थ **बहुत** अथवा **बड़ी** है।

६.२ (ii) ग **वि० + वि० + क्रिया मूल = संज्ञापद**
जिसे आपने **खिंचा खिंचा रहना** कहा है।

६.३ (i) वि० + वि० = क्रि० वि०
मकान **दूर दूर** थे।
कब तक यूँ **दूर दूर** रहेगी।
वह सिंदूरी आँखों को दर्द से **गोल गोल** घुमा रहा था।
अंगारे **धीमे धीमे** सुलग रहे थे।
अरकाड़ी ने **चुपके चुपके** अपने पिता की ओर देखा।
लोरी का स्वर उसके कानों में **हलके हलके** गूँजता रहा।
मैं हिंदी **थोड़ा थोड़ा** समझती हूँ।
दोनों **उखड़े उखड़े** हो रहे थे।

कभी कभी **अकेला अकेला** लगता है।
उन विचारों के सिर **बराबर बराबर** यूं मिल गये जैसे—दोपहरी में भेड़ों के सिर ढलक कर मिल जाया करते हैं।
मुरब्बे **ताजा ताजा** तैयार किए गए थे।
सुन रही थी और **मंद मंद** मुस्करा रही थी।
लटकते फटे कपड़े पहने वह **कुछ कुछ** दुहरी हुई जाती है।
वह चित्र में **कुछ कुछ** प्रभावकारी था।
जी न जाने **कैसा कैसा** हो रहा है।
आप **कब कब** आते हैं।
ठीक ठीक बताओ।
कभी मुझे तेज गेंद **ठीक ठीक** दिखाई नहीं देती।
कई सिद्धांत मैं **ठीक ठीक** नहीं समझता।
उसका **ठीक ठीक** चित्र आँका जाना असंभव है।

नीचे लिखे उदाहरणों में पहले **साफ** का अर्थ **एकदम** या **बिल्कुल** है, (ऊपर **ठीक ठीक बताओ** में पहले **ठीक** का भी यही अर्थ है)।

एक लंबा सा आड़ा दाग उसके माथे पर **साफ साफ** नजर आया।
उसने सब बातें **साफ साफ** बता दीं।
मैंने **साफ साफ** कह दिया।
मंजूर कर लिया।

६.४) नीचे लिखे वाक्यों में द्विरुक्ति वाक्यप्रयोग का अंश है

खुशी के मारे वह आँगन में **भागी भागी** फिर रही थी।
गाँव गाँव **भागे भागे** फिरते थे।
कुन्याशा **भागी भागी** फिर रही थी।

६.५ वि० + वि० + से, सी अथवा **करके = क्रि० वि० पद**

(क) इन धुनों पर स्वर **पराए पराए** से लगते हैं।
जो हमेशा **सँभली सँभली** सी रहती है।
वह **चुप चुप** सी रहती।

(ख) उसके स्याह दाँत **एक एक** करके गिन लीजिए।
सारे खोट **एक एक** करके गिनाना।
एक एक करके आओ।

ऊपर (ख) में द्विरुक्ति भिन्नताबोधक है।

७.१ (i) **क्रि० + क्रि० = क्रि०**

धुँधला **होते होते** सब अँधेरा हो गया।

सब का काम एक साथ नहीं हुआ, **होते होते** हुआ।

वह रोग एशिया भर में फैलता, अरब **होता होता** सारे योरोप में छा गया।

बड़ा **बनते बनते** आदमी संज्ञा से सर्वनाम बन जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा निरंतरता का—क्रिया का कुछ काल तक चलते रहने का—बोध होता है। पहले तीन वाक्यों में द्विरुक्ति के दूसरे पद का अर्थ 'हुआ' है।

७.१ (ii) नीचे लिखे उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा निरंतरता का—क्रिया का अनिश्चित अवधि तक चलते रहने का—बोध होता है।

क्रि० + क्रि० = क्रि०

खेलते खेलते काफी समय हो गया।

जब बर्तन **माँजते माँजते** थोड़ा समय रह गया।

७.१ (iii) **क्रि० + क्रि० = क्रि०**

हम गिरते गिरते बचे।

मरते मरते बची।

आँख **फूटते फूटते** बची।

उपर्युक्त उदाहरणों में **बचना** क्रिया के साथ द्विरुक्ति ऐसी क्रिया की द्योतक है जो उसके पदों की साधारणता अथवा **प्रचलन** के विरुद्ध है।

७.१ (iv) **क्रि० + क्रि० = क्रि०**

स्टेशन **पहुँचते पहुँचते** गाड़ी छूट जाएगी।

दस मिनट **बीतते बीतते** मैं वहाँ पहुँच गया।

इन उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा अवधि का द्योतन है। इनमें द्विरुक्ति का का अर्थ है—पहले पद का मूल + **के पूर्व**।

७.१ (v)

नीचे लिखे उदाहरण में द्विरुक्ति द्वारा चलनेवाली क्रिया के रुकने का बोध है और उसके आगे आने वाली क्रिया उसके विरोधी भाव की द्योतक है

चलते चलते रुक गया

७.२ (vi) **क्रि० + क्रि० = क्रि०**

प्रतिक्षण कोई शोला **भड़कते भड़कते** बुझने लगता था और **बुझते बुझते** भड़कने लगता था।

इस वाक्य में द्विरुक्ति द्वारा व्यवहारात्मक क्रियात्मकता का बोध होता है और उसके आगे वाली क्रिया उसके विरोधी भाव की द्योतक है।

७.२ क्रि० + क्रि० + सहायक क्रि० पद

बाजूबंद **खुल खुल जाय।**
उधर कई बार गई पर **लौट लौट आई।**
कुत्तों की दूर पड़ती जाने वाली आवाज **छू छू जा रही थी।**
फ्रांसीसी रानियों को देख कर तो वह **बिछ बिछ जाता था।**

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा क्रिया के पुनरावर्तन का बोध होता है और इनमें से अधिकतर वाक्प्रयोग हैं।

७.३ क्रि० + क्रि० = सं०

आपने तीस बार **समझे समझे** कहा है।

इस उदाहरण में क्रिया भी संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुई है और द्विरुक्ति अतिशयता बोधक है। इस प्रकार के प्रयोग उद्धरण (क्वोट्स) में ही संभव हैं।
७.४(iii) क

नीचे लिखे उदारणों में द्विरुक्ति की क्रिया तथा उसके साथ वाली वाक्य की क्रिया की भौतिक अथवा मानसिक क्रिया—दोनों सहगामी हैं, किंतु एक दूसरे का प्रतिफल नहीं है। प्रायः द्विरुक्ति की क्रिया वाक्य की क्रिया से पहले आरंभ हो जाती है और उसकी समाप्ति के बाद भी जारी रह सकती है। प्रायः द्विरुक्ति से पुनरावर्तन अथवा सातत्य (या निरंतरता) का बोध होता है और उसके दूसरे पद का अर्थ होता है हुए; हुआ अथवा हुई।

क्रि० + क्रि० = क्रि० वि०

तैरते तैरते पकड़ा।
खुजलाते खुजलाते बोला।
लँगड़ाते लँगड़ाते घर आया।
खाते खाते पूछा।
तौलते तौलते कहता गया।
हाथ **जोड़े जोड़े** निहोरा किया।
अंग्रेजी **छाँटते छाँटते** कहा।
ब्याह करूँ या न करूँ यह **सोचते सोचते** वह १८ बर्ष का हो गया।
मरते मरते यह चीज आप तक पहुँचाने के लिये दी।
डरते डरते कहा।
हाँफते हाँफते हाल के बाहर भागे।
डाकखाने पहुँचा

भागे भागे आए ।
काम **करते करते** सो गई ।
बैठे बैठे कुंडली बना डाली ।
पेट में तेज दर्द हुआ ।
कुर्सी पर **बैठे बैठे** सारे योरोप की सैर कर डाली ।
सोचते सोचते ऊँघने लगा ।
ढूँढ़ते ढूँढ़ते आगे बढ़ गया ।
हँसते हँसते इशारा किया ।
उतरते उतरते बोला ।
खाँसते खाँसते कहा ।
पड़े पड़े सोचा ।
खेलते खेलते चीते की पीठ पर आ पड़ी ।
गिर पड़ा ।
एक खिलाड़ी को पीट डाला ।
हँसाते हँसाते गंभीर रूप ले रहा है ।
रजाई में **दुबके दुबके** ही तकिए को भींचकर बाहों में भर लेती ।
भागते भागते झाड़ी में जा छिपे ।
खड़े खड़े पैंट टाँगों में चढ़ाने लगा ।
बात करेंगे ।
सोचता रहा ।
जूड़ा **बनाते बनाते** कुंडी खोलने आ गई ।
वापस **आते आते** कचूमर निकल गया ।
मुँह से ढेर सा झाग **निकलते निकलते** दम तोड़ बैठा ।
घास पर **लेटे लेटे** आसमान के सारे तारे तोड़ लाया ।
उसे **लिए लिए** जमीन पर आ पड़ा ।
सिगरेट **सुलगाते सुलगाते** उसने मेरी ओर देखा ।
मारी मारी फिरेगी (वाक्य प्रयोग)
पिंजरे में **टंगी टंगी** रोया करोगी ।
उसकी पलकें **झपती झपती** फिर खुल गईं ।
बैठा बैठा सुन रहा था ।
दौड़ा दौड़ा आया ।

७.४ (iii) ख

किंतु नीचे लिखे वाक्यों में द्विरुक्ति की क्रिया वाक्य की क्रिया पर भाव

डालती है और उससे निरंतरता का बोध होता है। द्विरुक्ति से के फलस्वरूप की ध्वनि निकलती है। (इन उदाहरणों में क्रिया के तिर्यक् रूप की द्विरुक्ति है।)

क्रि० + क्रि० = क्रि० वि०

नाचते नाचते थक गई।
तैरते तैरते
आखिर **समझाते समझाते** उन्होंने कसम खा ली और शराब पीनी छोड़ दी।
जीते जीते मैं तंग आ गया हूँ।
अंधी **जीते जीते** नहीं थकी लोग उसे **देखते देखते** थक गए।
खाते खाते अपच हो गया।
बैठे बैठे तबियत बेचैन होने लगी।
सोचते सोचते इस नतीजे पर पहुँचा।
छींकते छींकते बेहाल हो गया।
रोते रोते आँखें फूल गईं।
सिसकियाँ बँध गईं।
बेहाल कर लिया।
काम **करते करते** थक गया।
आशिक मियाँ इंतजार **करते करते** पागल हो गए।
घूमते घूमते पहुँच गया।
जंगल में पहुँची।
लड़ते लड़ते हड्डी पसली टूट गई।
जाते जाते पैर मन मन भर के हो उठे।
बर्तन **माँजते माँजते** हाथ घिस गए।
उलझते उलझते ऐसी स्थिति आ गई।

७.५ (i) क **अकर्मक क्रि० + अकर्मक क्रि०** + कर = **क्रि० वि० पद**

मैं अपने लाल की सूरत के लिये **तरस तरस कर** मर जाऊँगी।
देश में **घूम घूम कर** कहानियाँ एकत्र कीं।
शब्द **जोड़ जोड़ कर** पढ़ रही थी।
जल जल कर हाथ मलते हैं।
घरों में जितने चूहे हैं उन्हें **चुन चुन कर** मरवा दूँगा।
चुन चुन कर पकड़ा गया।
निहार निहार कर।

हँसा हँसा कर।
रुला रुला कर।
फूँक फूँक कर।
उछल उछल कर।
रो रो कर।
भौंक भौंक कर।
उतर उतर कर।
कूद कूद कर।
चहक चहक कर।
थिरक थिरक कर।
उठा उठा कर।
काट काट कर।
टहल टहल कर।
बहा बहा कर।
भाग भाग कर।
बीन बीन कर।
लाद लाद कर।
हकला हकला कर।
झड़ झड़ कर (गिरना)।
लोग आ आ कर उसे सलामी दे रहे थे।
समुद्र की लहरें मकान के पाए पर आ आ कर टूट रही थीं।
गधे को पत्थर के टुकड़े से मल मल कर नहलाया।
सीढ़ी पर थम थम कर चढ़ती है।

बढ़ बढ़ कर डींग मारना। (यह वाक्प्रयोग है और यह द्विरुक्ति सदैव डींग मारना अथवा समानार्थी क्रिया के साथ ही आती है।)

सब उधेड़-उधेड़कर अपने लायक चीजें देख रहे हैं।
दीप कुसमुसा कुसमुसाकर बस्ते को खींच तान कर रहा था।
तलवार चमक चमक कर पानी में पड़े पत्थरों से टकराती।
वह नाच नाचकर रिझाने लगी।
शिकारी फिसल फिसल कर उठते।
पानी रुक रुक कर बरस रहा था।
रोज रोज खुश हो हो कर हाथ मलते हैं।
वह खुश हो होकर किलकारी मारता।

जी में आता है **मार मार कर** बिछा दूँ।
कोठे से नीचे फेंक दूँ।
भुर्ता बना दूँ।

मार मार कर हकीम बनाना (वाक्प्रयोग)
अधमरा कर दिया।

रह रह कर मन में टीस उठती थी।
उसकी आवाजें सुनाई दे रही थीं।

उसे **रह रह कर** दृश्य याद आया करता था।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा पुनरावर्तन का बोध होता है।

७.५ (i) ख (i)

नीचे लिखे उदाहरणों में द्विरुक्ति में क्रिया का क्रियात्मक भाग दुहराया जाता है और उससे पुनरावर्तन का बोध होता है। इन उदाहरणों में द्विरुक्ति उससे संबंधित संज्ञा के साथ सार्थक होती है। इन उदाहरणों में कुछ प्रयोग वाक्प्रयोग बन गए हैं।

(सकर्मक) क्रिया + (सकर्मक) क्रि० + कर = क्रि० वि० पद

टर्की ने कहा, 'तूने मुझे अपने डैने **फैला फैला** कर चिढ़ाया है'।
नाम **ले ले कर**।
सायरा चटखारे **ले लेकर** अमिया खाती है।
भुट्टे के दाने अपने हाथ से **छुड़ा छुड़ा कर** साहब को खिला रहा था।
गँडेरियाँ **बना बना कर** साहब को पान करा रहा था।
मूँड़ों में पानी **भर भर कर**।
मुट्ठियाँ **भर भर कर** रुपए दिए हैं।
काफी के प्याले **पी पी कर**।
खून के दरिया **बहा बहा कर**।
कागज **फाड़ फाड़ कर**।
* * सवाल **पूछ पूछ कर** मेरी नाक में दम कर दिया।
सिर **धुन धुन कर** थक गया।
पहेली का हल टक्करें **मार मार कर** ढूँढ़ा जाता है।
तीन वर्ष की लाली ताली **बजा बजा कर** नाचने लगती।
कमाल कमर **मटका मटका कर** नाचने लगे।
जमाल सिर **हिला हिला कर** ढोल पीटने लगे।
बगल **बजा बजा कर** ...।
झूठे वचन **दे देकर** ब्राह्मण को कई बार दौड़ाया।
दाँत **भींच भींच कर**।

७.५ (i) ख (ii) उपर्युक्त की एक विशेष स्थिति है—

* * सवाल **कर करके** मेरा नाक में दम कर दिया।

७.५ (i) ग क्रि० + क्रि० + कर = **क्रि० वि० पद**

नीचे लिखे उदाहरणों में पुनरावर्तन के साथ अतिशयता का भी बोध होता है। इन उदाहरणों में संवेगों की अभिव्यंजना है।

चिल्ला चिल्ला कर।
चीख चीख कर।
बिलख बिलख कर
घबड़ा घबड़ा कर।
घूर घूर कर (देखना)।
(सदैव **देखना** क्रिया के साथ)
फूट फूट कर (रोना)।
(सदैव **रोना** क्रिया के साथ)

८.१ (i) क क्रि. वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०

(अव्यय) भीड़ **धीरे धीरे** तितर बितर हो गई।
पानी **धीरे धीरे** सूख रहा है।
बचे हुए पराँठे **धीरे धीरे** खाने लगे।
समय बीतता गया और **धीरे धीरे** उसके किस्से अविश्वसनीय होते गए।
'**धीरे धीरे** रे मना, धीरे सब कुछ होय'।
धीरे धीरे वह उससे खुलने लगी।
बात साफ हुई और...।
अभ्यास छूट गया।
उसकी रफ्तार बढ़ती जाती है।
खिसकती छत पर जाकर उकड़ूँ बैठ जाती।
उसकी ओर बढ़ने लगी।
उसकी आदतें बिगड़ती गईं।
मेरे रोने की आवाज उनतक पहुँची।
शनैः शनैः उनकी ज्ञान पिपासा बढ़ने लगी।
आहिस्ता आहिस्ता उनसे दूर होते जा रहे हैं।
उसका अँगूठा **आहिस्ता आहिस्ता** उस कलापूर्ण प्रतिकृति को मसल रहा था।

जल्दी जल्दी यह विचार सुलया के दिमाग में बह गए।
चौकन्ने कदम रखते हुए वे बढ़ रहे थे।

लड़की ने बड़े चाव से साड़ी **जल्दी जल्दी** लपेट ली।

तुम **जल्दी जल्दी** नहाया करो।

उपर्युक्त वाक्यों में द्विरुक्ति द्वारा क्रिया की रीति का बोध होता है।

८.१ (i) ख नीचे लिखे उदाहरण में द्विरुक्ति क्रिया की रीति के साथ-साथ वितरणात्मकता का भी बोध कराती है—

क्रि० वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०

दोनों को अलग अलग यह विश्वास दिला दो।

८.१ (i) ग

नीचे लिखे वाक्यों में द्विरुक्ति रीति के साथ साथ अतिशयता की भी बोधक है।

क्रि० वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०

तबसे मिरया **खूब खूब** सोता है।

वह अपने बाप पर भी **खूब खूब** व्यंग करता।

८.१ (ii) **क्रि० वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०**

आधे मिनट के **भीतर भीतर** वह वहाँ पहुँच गए।

सितंबर मास के **भीतर भीतर**······।

इस एक हफ्ते के **अंदर अंदर** हार जायगा।

एक सप्ताह के **अंदर अंदर** आमदनी का ब्योरा भेज दो।

पंद्रह मिनट के **अंदर अंदर** मेयर्ज हाउस जा पहुँचे।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति अवधि की ओर संकेत करती है और यह अवधि वाक्य के किसी अन्य शब्द द्वारा निश्चित की गई होती है। इन उदाहरणों में द्विरुक्ति के दूसरे पद का अर्थ 'ही' है।

८.१ (iii) नीचे लिखे उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा काल का बोध होता है—

क्रि० वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०

(क) वह आठ बजे के **पहले पहले** भीतर आ चुका था।

इस वाक्य में द्विरुक्ति का अर्थ पूर्व से है पर द्विरुक्ति इस संदर्भ में अधिक बलपूर्ण है।

(ख) मसाला जो **अभी अभी** तैयार किया है।

उसके भीतर आक्रोश **अभी अभी** उबल गया है।

बराबर सो रहा था **अभी अभी** जागा हूँ।

दूसरा शो **अभी अभी** खत्म हुआ है।

मैंने **अभी अभी** आपको शतरंज के महारथी कैपाब्लांका से बात करते देखा है।

अभी अभी बताया।

काग़ज दाखिल करके लौटा हूँ।

(ग) नीचे लिखे उदाहरणों में द्विरुक्ति अनिश्चय बोधक है—

कभी कभी आधा-आधा घंटा, **कभी कभी** घंटा-घंटा भर बैठकर चले जाते।

हम मुहल्ले वाले **कभी कभी सोचते** हैं…।

रोज नहीं, **कभी कभी**।

वह चोरी चोरी **कभी कभी** अपने पापा की सिगारों में दम लगा लेती।

कभी कभी वह जिंदा हिरन और बारहसिंहा ले आता।

उस वक्त दफ्तर आया करते थे।

प्रशंसा भी करता जाता हूँ।

मामूली बात पर घर में झगड़ा हो जाता।

शराब उधार लेने जाया करता।

मैं उसकी आँखों में आँसू देखता।

माँ और ताई की याद आ जाती।

अन्य गाँवों में भी चला जाता।

ऐसा भी सुनने में आ जाता है।

अकेला अकेला लगता है।

छुट्टी निकाल कर आया करूँगा।

जब जब मैं उन्हें देखने जाता हूँ।

(घ) नीचे लिखे उदाहरणों में भी द्विरुक्तियाँ अनिश्चय बोधक हैं और प्रायः जोड़ों में प्रयुक्त होती हैं—

जब जब घर छोड़ा **तब तब** उसका यश दूर दूर फैला।

ज्यों ज्यों उनके आने में देर हुई **त्यों त्यों** लोगों में घबराहट फैलने लगी।

ज्यों ज्यों बलदेव का क्रोध बढ़ता था, **त्यों त्यों** पिशाच का आकार और बल बढ़ता जारहा था।

८.१ (iv) क्रि० वि० + क्रि० वि० = क्रि० वि०

नीचे लिखे उदाहरणों में द्विरुक्ति से स्थान का बोध होता है—

तुम बचपन से मेरे **साथ साथ** रहे हो।

दोनों मित्र **साथ साथ** वहाँ से चल दिए।
दोनों हमेशा **साथ साथ** रहते।
शत्रुकार उसके **साथ साथ** भागता हुआ...।
पत्नी के **साथ साथ** मेरा कुत्ता भी गायब है।
....के **साथ साथ** पानी गरम करने का भी प्रबंध है।
तुलसी के पेड़ के **साथ साथ** और भी पौधे होंगे।
शिक्षा देने के **साथ साथ** रचनात्मक कार्य भी कराते हैं।
साथ साथ खिचने लगे।
जुलूस के **साथ साथ** चलो।
वह ब्राह्मण भी **साथ साथ** चल पड़ा।
आवश्यक शिक्षा के **साथ साथ** अन्य प्रकार की जानकारी भी कराई जाती है।
दोनों ने **साथ साथ** ही पाँच साल पहले एम० ए० किया था।
कुत्ता बराबर उसके **संग संग** रहा।
माँ के **पीछे पीछे** चली आई।
बत्तख भी **पीछे पीछे** चली।
आगे आगे उसका शिकार और **पीछे पीछे** जीवन।
आगे आगे लालबहादुरजी और **पीछे पीछे** भाभी जी।
पास पास चलता हुआ।
कोलंबो में लकड़ी के क़ारख़ाने **पास पास** ही बने थे।
अच्छा हुआ **भीतर भीतर** मवाद न देकर घाव खुल गया और मरहम पट्टी हो गई।
द्वीप को **भीतर भीतर** सूनापन लग रहा था।
घर में शांति **ऊपर ऊपर** थी, पर **भीतर भीतर** एक जलन सी फूट पड़ी।
ऊपर ऊपर प्रसंग कुछ और था पर **भीतर भीतर** दोनों किसी तना-तनी में थे।

८.२ क्रि० वि०+क्रि० वि० = सं

फिर फिर की रट लगाए रहते।
'**जल्दी जल्दी** क्यों करे है अभी पड़े हैं बरसों'।

इस प्रकार के प्रयोग उद्धरणों से ही संभव हैं।

८.३ क्रि० वि० + क्रि० वि० = वि०

हमारा **साथ साथ** खेलना याद है।

९ (i) **विस्मयादि बोधक अव्यय + वि० अ० = सं**

वाह वाह की ध्वनि से गूंज उठा।

लोग **वाह वाह** कर उठे।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति प्रशंसा बोधक है।

९ (ii) **वि० अ० + वि० अ० = वि० अ०**

अरे अरे, आप सैर को कैसे चले आए।

हैं हैं, यह आप क्या कर रहे हैं ?

थू थू।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्विरुक्ति आश्चर्य, आरोप, घृणा आदि की द्योतक है और नीचे लिखे उदाहरणों में वह चिढ़, उकताहट आदि का बोध कराती है—

हाय हाय यह क्या कर आए।

बस बस बहुत हो गया समाजवाद और साम्यवाद।

तीसरा खंड

अपूर्ण द्विरुक्ति

इस खंड में उन शब्दयुग्मों पर विचार किया गया है जिनमें प्रथम पद में थोड़ा सा परिवर्तन करके दुहराया जाता है। इस घटना को अपूर्ण द्विरुक्ति कहा जाता है। जैसे—**पट्टी-पट्टी**

इन शब्दयुग्मों में एक शब्द सार्थक होता है और दूसरा, उसका विकृत रूप, अधिकतर निरर्थक।

१०. **टिप्पणी**—ऐसी स्थिति में जब किसी शब्दयुग्म में दोनों शब्द सार्थक होते हैं तो वह द्विरुक्ति न होकर समस्त पद होता है। ऐसे शब्दयुग्मों के दोनों पद भिन्न भिन्न अर्थ वाले हो सकते हैं अथवा सजातीय अथवा समानार्थी। पहले के उदाहरण हैं—

मांस-मज्जा, हाड़-मांस

दूसरे का उदाहरण है—

हाड़-हड्डी

प्रस्तुत लेख में इन शब्दयुग्मों पर विचार नहीं किया गया है।

१०.१ अपूर्ण द्विरुक्ति की पहली स्थिति है ऐसे शब्दयुग्म जिनमें पहला पद सार्थक हो और दूसरा पद उस संदर्भ में निरर्थक (चाहे किसी अन्य संदर्भ में दूसरा पद भी सार्थक हो) जैसे—**सिलाई-सुलाई**

१०.२ अपूर्ण द्विरुक्ति की दूसरी स्थिति है ऐसे शब्दयुग्मों की जिनमें पहला पद सार्थक हो और दूसरा निर्थक। दूसरे पदका निर्माण पहले पद का रूप परिवर्तन करके किया जाता है। यह रूप परिवर्तन कई प्रकार से हो सकता है।

(क) **कोई व्यंजन बदल कर।**

जैसे—**वारिस-फारिश पट्टी-वट्टी**

शोर-बोर, खटर-पटर, रेल-पेल, जमा-जथा, देख-रेख

यह **देसाई-वेसाई** कौन है ?

इसमें **विनय-फिनय** क्या है ?

बात-वात, पानी-वानी, बीड़ी-वाड़ी, जाना-वाना

(क ii) नीचे लिखी अपूर्ण द्विरुक्तियों में पहला पद सार्थक है और दूसरा पद उस संदर्भ में तो निरर्थक है किंतु अन्य संदर्भ (अथवा संदर्भों) में सार्थक हो सकता है——

मुझे **ताप-शाप** नहीं लग रहा।

मैं किसी **व्यास-प्यास** को नहीं जानता।

मुझे **हल-फल** चलाना नहीं आता।

यह **राव-पाव** कौन है ?

ज्यादा **भाव-ताव** मत करो।

(ख) कोई स्वर बदल कर जैसे—

बारिश-बूरिश, भरा-भूरा, पीटा-पूटा

खिलाया-खिलूया, पिलाया-पिलूया, रोटी-राटी

(ग) **कोई व्यंजन बढ़ा कर**

जैसे—**गुड़-बुड़, उलटा-पुलटा, आँयत-पाँयत***

* (इस अपूर्ण द्विरुक्ति में दूसरा पद सार्थक है और पहला निरर्थक)

(घ) **कोई व्यंजन घटा कर** जैसे—**दुकान-उकान**

(ङ) **कोई व्यंजन घटा कर और स्वर बदल कर** जैसे——
सिलाई-उलाई

(च) **कोई व्यंजन तथा कोई स्वर बदल कर** जैसे——**पानी-शूनी**
लोग-बाग

१०.३ अपूर्ण द्विरुक्ति की तीसरी स्थिति है जिसमें दोनों पद अलग अलग निरर्थक होते हैं पर द्विरुक्ति सार्थक होती है। जैसे——**तितर-बितर, खुसर-पुसर, सटर-पटर।**

चौथा खंड

११. इस खंड में द्विरुक्ति के उस स्वरूप पर विचार किया गया है जिसमें संपूर्ण वाक्य, अथवा वाक्यांश, दुहराए जाते हैं।

११ (i) क

नीचे लिखे वाक्यों में क्रियाओं की द्विरुक्ति द्वारा बल, चिढ़, क्रोध, दृढ़ निश्चय, घृणा, प्रसन्नता अथवा प्रार्थना आदि का प्रदर्शन किया गया है—

जा जा बड़ा खूबसूरत बनता है।

तेरे जैसे बहुत पिशाच **देखे हैं।**
बहुत देखे हैं तेरे जैसे।
अरी **जा जा।**
'पधारिए, पधारिए'।
'बचाओ, बचाओ' कहता···।
बचाओ, बचाओ, मैं मर रहा हूँ।
हटो, हटो! क्या बात है ?।
पकड़ो, पकड़ो, जाने न पाए।
जो हो, सो हो, मैं **जाऊँगा, जाऊँगा।**
देखो, देखो, इस गधे ने क्या हंगामा खड़ा कर दिया है।

११ (i) ख

नीचे लिखे उदाहरण में क्रिया से इतर शब्द की द्विरुक्ति है—ये शब्द वास्तव में प्रच्छन्न वाक्य है।

११. (ii) **वंडरफुल, वंडरफुल।**

नीचे लिखे उदाहरणों में वाक्यों अथवा वाक्यांशों की, जोर अथवा क्रोध आदि के प्रदर्शन के लिये द्विरुक्ति है—

कुछ नहीं, कुछ नहीं।
नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा, जाओ यहाँ से।
वही है, वही है।
सुन लिया, सुन लिया।

११. (iii) प्रायः बलपूर्वक हाँ अथवा नहीं का बोध कराने के लिये इन (हाँ अथवा नहीं अथवा इसी प्रकार के अन्य) शब्दों की द्विरुक्ति होती है। यह द्विरुक्ति अधिकतर वाक्य के आरंभ में होती है। जैसे—

नहीं नहीं अपनी कसम दिन को तारे नजर आएँगे।

मैं कुछ नहीं कहूँगा।

रुक क्यों गए।

मैं हाथी नहीं बनूँगी।

यह सब मैं हर्गिज किसी से नहीं कहूँगी।

जेल जाने के पहले मैं नोट बनाया करता था।

वह फुला—**नहीं नहीं**—एफ. आर. यादव है।

हाँ हाँ आप बताइए।

मैं चोर ही सही।

क्यों नहीं ?

'यह क़लम मैं ले लूं ?' '**हाँ हाँ** ले लो'।

हाँ हाँ, हां कह तो दिया, हां।

अच्छा अच्छा बस कर।

तुम्हें जो पसंद आए सो करो।

खाती हूं, कसमें मत धराओ।

'मैं भिखारी नहीं हूँ'।, '**अच्छा अच्छा** पैसे ले लूँगा।'

इन उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा अधीरता, चिढ़, व्यंग, सबल (इंफैटिक) सहमति अथवा असहमति, कहते चलने का आमंत्रण, अपनी बात पर बल देने (ऐसर्शन) आदि का बोध होता है।

पाँचवाँ खंड

१२. कुछ द्विरुक्तियों के दोनों पद अपने आप में निरर्थक होते हैं पर द्विरुक्ति सार्थक होती है। इस खण्ड में ऐसी ही द्विरुक्तियों पर विचार किया गया है। (पीछे १०.३ भी देखें।)

१२ (i) क **ध्वन्यात्मक शब्द + ध्वन्यात्मक शब्द = सं**

टक् टक् **कलकल** ध्वनि

हिस्स हिस्स की आवाज़

फुस फुस

चूँ चूँ चीं चीं टाँय टाँय

मोटर की **पों पों**

फोन की **किरिंग किरिंग**

घन घन

साँकल की **झनझन**

दरवाजे की **कड़कड़**

कैक कैक कौं कौं वाक् वाक्

खाकसार तो सिर्फ **काँय काँय** करना जानता है।

मिट्टी में मैं लोट लगाता **ढेचूँ ढेचूँ** गाता हूँ।

बत्तख की **चाँय चाँय**

चिड़ियों की

धाँय धाँय खों खों झाँय झाँय

टमटम

दिल **धड़ धड़** कर रहा था

१२ (i) ख

नीचे लिखी द्विरुक्ति ध्वन्यात्मक 'शब्दों' से नहीं वरन् अवस्थासूचक 'शब्दों' से बनी है—

ये तारे करते हैं **चम चम**

१२ (i) ग

अवस्था सूचक शब्द + अवस्था सूचक शब्द + करना = क्रि०
खी खी करना

१२ (i) घ

अवस्था सूचक शब्द + अवस्था सूचक शब्द = क्रि० वि०
गद्गद् थल थल थुल थुल

१२ (i) ङ (i)

अवस्था सूचक ध्वन्यात्मक शब्द + अवस्था सूचक ध्वन्यात्मक शब्द = कि० वि०

वह **फर फर** बातें किए जा रहा था।

स्लीपर का टूटा तला **सटाक सटाक** बोल रहा था।

मोटी भाभी मेरे पीछे **लद लद** दौड़ा करतीं।

गिलास मुँह से लगाकर **गट गट** उसने दो घूँट लिए।

बोतल के टुकड़े जूते तले पिसकर **कड़ाम कड़ाम** बोलने लगे।

वह **गड़ाक गड़ाक** उलटी करने लगा।

किवाड़ों को **धाड़ धाड़** बंद करती।

मैं क्रोध से **थरथर** काँपने लगा।

पत्ते के समान **थर थर** काँपने लगी।

१२ (i) ङ (ii)

ध्वन्यात्मक शब्द + ध्वन्यात्मक शब्द + करके = क्रि० वि० पद
धू धू करके जलना।

लहरें **धक धक करके** उठीं।

इन उदाहरणों में द्विरुक्ति द्वारा अतिशयता तथा निरंतरता का बोध होता है।

छठा खंड

इस खंड में ऐसे सार्थक शब्दों के दुहराव (अथवा दुहराने) पर संकेत किया गया है जो वास्तव में अलगअलग संरचना होते हैं अत: द्विरुक्ति की श्रेणी में नहीं आते।

१३ (i) **शब्द वही पर दो विभिन्न व्याकरणीय श्रेणियाँ—**

धार के आरपार **बाँध बाँध** देते हैं।

दो चार **बोल बोल** देता हूँ।

इन उदाहरणों में पहले शब्द बाँध तथा बोल संज्ञा हैं तथा दूसरे क्रिया के भाग हैं।

(ii)क विशिष्ट अर्थों अथवा ध्वनियों एवं संकेतों के स्पष्टीकरण के लिये संज्ञाओं अथवा संज्ञापदों का दुहराव—

काठ का उल्लू काठ का उल्लू है।

आर्डर, आर्डर है।

दोस्त दोस्त न रहा।

आमदनी आमदनी है, पाँच हो या पचास हजार।

खर्च खर्च है दो हो या दो हजार।

१३ (ii)ख कुछ-कुछ इसी प्रकार का दुहराव नीचे लिखे वाक्य में है—

आप जानते हैं **आदमी आदमी** की जान का दुश्मन है।

(iii) **संयुक्त क्रियाएँ**

मेरी चीज भी **ले ले** और मुझे पीटे भी।

(iv) खेलकूद की विशिष्ट ध्वनियाँ—

कबड्डी कबड्डी करता कमरे में भागा।

(v) ऐसे शब्द जो रचनानुसार ही दुहरे होते हैं—

दल दल।

दूसरा भाग

१४. कभी कभी द्विरुक्ति समस्त पद की भी होती है। इस भाग में इस पर संकेत मात्र किया गया है—

१. दो संज्ञाओं के योग से बनी द्विरुक्ति में जो स्वयं भी संज्ञा (अथवा विशेषण) हो, प्राय: कर्मधारय समास होता है।

उसका **अंग अंग** फड़क उठा।

ऐसी द्विरुक्तियों में पहले पद का अर्थ प्रति अथवा हर होता है।

२. दो संज्ञाओं के योग से बनी द्विरुक्ति में जो स्वयं विशेषण हो, प्राय: बहुव्रीहि समास होता है—

फलालैन की **तार तार** बनियान पहिने।

३. दो संज्ञाओं के योग से बनी द्विरुक्ति में जो स्वयं भी संज्ञा हो, प्राय: द्वंद्व समास होता है—

आदमी आदमी में फर्क करना चाहिए।

४. दो संज्ञाओं अथवा क्रियाविशेषणों (अव्ययों) से बनी द्विरुक्ति में क्रियाविशेषण प्राय: अव्ययीभाव समास होता है—

वह लज्जा से **पानी पानी** हुई जा रही है।

पानी **धीरे धीरे** सूख रहा है।

सारांश

खड़ी बोली हिंदी की एक शैलीगत विशेषता है शब्दों को दुहराना। इन शब्दों की परंपरागत व्याकरणानुसार कोई भी जाति (श्रेणी)—समुच्चयबोधक छोड़कर—हो सकती है। व्याकरण के नियमों के अनुसार दो सजातीय पदों को दुहरा कर उसी जाति अथवा भिन्न जाति के द्विरुक्त पद की सृष्टि की जाती है।

यह द्विरुक्ति सार्थक शब्द की हो सकती है या किसी निरर्थक शब्द को दुहराकर भी सार्थक द्विरुक्त शब्द का निर्माण होता है।

इन द्विरुक्तियों में कतिपय को समास की संज्ञा भी दी जाती है।

जब कोई शब्द जैसे-का-तैसा दुहरा दिया जाता है तो पूर्ण द्विरुक्ति कहलाती है किंतु जब शब्द में किसी स्वर अथवा व्यंजन को बदलकर, छोड़कर, अथवा जोड़कर दुहराया जाता है तो वह घटना अपूर्ण (अथवा आंशिक) द्विरुक्ति कहलाती है।

पूर्ण द्विरुक्ति द्वारा प्राय: निम्नलिखित प्रत्ययों का बोध कराया जाता है—

वितरण, बहुवचनात्मकता, आवृत्ति, पुनरावृत्ति, परंपरागत क्रियात्मकता (कस्टमरी क्रियात्मकता), अतिशयता (ऐडेड इंटेंसिटी), विस्तार, एक-जातीयता, निरंतरता (कांटिन्युएंस अथवा सातत्य) आदि।

●

डिंगल : एक भाषा अथवा शैली

नेमिचंद श्रीमाल

•

राजस्थानी भाषा और साहित्य को 'डिंगल' नामसे पहचाने जाने की एक परंपरासी विद्वानों में चली आ रही है। इस शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग कब, क्यों और किसके लिये हुआ, यह सब तो अभी विवादास्पद बना हुआ है, किंतु राजस्थानी के ग्रंथों को डिंगलग्रंथों के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रश्न है कि क्या 'डिंगल' एक भाषा है ? कतिपय विद्वानों ने इसे भाषा के रूप में ही देखने-परखने की चेष्टा की है और इस शब्द के प्रयोग, विकास, व्युत्पत्ति आदि पर इसी दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए गए हैं जैसे 'पालि' के संबंध में किए जाते रहे हैं। 'डिंगल' शब्द की सर्वसंमत और त्रुटिरहित व्याख्या अभी नहीं स्वीकारी जासकी, किंतु उसके लिये जो प्रयास होते रहे हैं उनमें उसे भाषापद पर प्रतिष्ठित किए जाने की ही प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। अन्य भाषाओं के और स्वयं राजस्थानी के विद्वानों की भी यही धारणा रही है कि डिंगल एक भाषा है। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के मतानुसार 'प्राकृत के एक रूपांतर से अपभ्रंश बनी, जिससे हिंदी, गुजराती तथा राजपूताने की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। उस भाषा का प्राचीन साहित्य वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास से मिलता है। चारण-भाट लोग सर्व-साधारण के लिये अपनी कविता पीछे से उसी भाषा के कुछ परिवर्तित रूप में करते रहे जिसको यहाँ डिंगल कहते हैं।'[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी डिंगल' को एक साहित्यिक भाषा मानते हैं--'पुरानी मारवाड़ी भाषा में जो कि मारवाड़ी और गुजराती दोनों की माँ थी, साहित्य-सर्जना होने लगी और फिर मध्ययुग की मारवाड़ी के आधार पर पिंगल की प्रतिस्पर्धी साहित्यिक भाषा डिंगल भी प्रकट हुई'।[2] 'ढोलामारू रा दूहा' के संपादकों का मत है—'प्रारंभ में डिंगल बोलचाल की राजस्थानी से नाममात्र की भिन्नता रखती थी, पर अब तो यह एक सर्वथा भिन्न भाषासी हो गई है।'[3] डा० मोतीलाल मेनारिया 'डिंगल' को राजस्थानी का एक रूप—भाषारूप—स्वीकार करते हैं, उसमें और मारवाड़ी में उतना ही अंतर

१. म. म. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : राजपूताने का इतिहास, पृ. २०--२१।
२. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी : राजस्थानी भाषा, पृ० ५८।
३. ढोलामारू रा दूहा, नागरीप्रचारिणी सभा, पृ० १६०।

बताते हैं जितना साहित्यिक हिंदी और बोलचाल की हिंदी में है।[4] डा० हीरालाल माहेश्वरी ने डिंगल को चारण शैली बताकर भी उसे पुनः भाषा रूप में स्वीकार कर लिया, 'वास्तव में पिंगल और डिंगल दो भिन्न भाषाएँ हैं। पिंगल का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है और डिंगल का गुर्जर अपभ्रंश से।'[5] डा० माहेश्वरी ने मरुभाषा और डिंगल को एक ही भाषा सिद्ध करते हुए उसके पक्ष में पर्याप्त प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।[6] श्री नरोत्तमदास स्वामी के मतानुसार 'डिंगल शब्द का प्रयोग कभी तो राजस्थानी की चारण शैली के लिये किया जाता है और कभी समस्त राजस्थानी के लिये।'[7]

इन मतों पर पुनर्विवेचना करते हुए डा० सरनाम सिंह शर्मा ने प्रश्न उठाया है कि क्या डिंगल एक भाषा है? 'यदि डिंगल भाषा है तो कहाँ की?'[8] यह प्रश्न निःसंदेह बहुत विचारणीय। 'डिंगल' को एक भाषा के रूप में स्वीकारने पर हमारे सामने कुछ अन्य प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनके उत्तर इस समस्या पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं। डिंगल, यदि भाषा है तो उसका निम्नलिखित रूपों में से कोई एक रूप अवश्य होना चाहिए अर्थात् डिंगल यदि एक भाषा है तो—

१–वह राजस्थानी से पृथक् भाषा है?
२–या राजस्थानी की ही एक शाखा या बोली है?
३–या वह चारणों की भाषा है?
४–या वह राजस्थानी भाषा का ही पर्यायवाची शब्द है?

उपर्युक्त प्रश्नों का पृथक्‌पृथक् विवेचन इस समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगा।

१. डिंगल : राजस्थानी से पृथक् भाषा है

डिंगल को राजस्थानी से पृथक् भाषा मानने पर पुनः कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यदि डिंगल राजस्थानी से पृथक् भाषा है तो—

४. डा० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १६।
५. डा० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ७।
६. वही, पृ० ८।
७. श्री नरोत्तमदास स्वामी : स्वसंपादित 'वेलि क्रिसनरुकमणी, भूमिका, पृ० ४।
८. डा० सरनामसिंह शर्मा : विमर्श और निष्कर्ष, पृ० २२८।

(क) डिंगल का विकास राजस्थानी से पृथक् होना चाहिए अथवा उनके पृथकत्व का—यदि वे किसी समय एक रहकर फिर पृथक् हुई हों तो—एक विकास होना चाहिए जैसे गुजराती-राजस्थानी का है ।

(ख) डिंगल का पृथक् भाषा रूप में गद्य और पद्य साहित्य होना चाहिए, उसकी बोलचाल की भाषा का कोई रूप तो होना चाहिए।

(ग) यदि डिंगल, राजस्थानी से पृथक् एक भाषा है तो वर्तमान में यह जीवित भाषा है या मृत। यदि जीवित है तो उसके स्वरूप, क्षेत्र, गति आदि के विषय में शोध होकर प्रकाश डाला जाना चाहिए। यदि मृत है तो उसके अवसान-काल और तत्कालीन रूप आदि पर विचार होना चाहिए।

(घ) यदि डिंगल को राजस्थानी से पृथक् माना जाय तो उसके ग्रंथों को भाषावैज्ञानिक आधार पर राजस्थानी से अलगाया जाय। डिंगल की विशेषताओं के आधार पर उसके भाषा रूप पर पृथक् अन्वेषणकार्य किया जाय।

उपर्युक्त बिंदुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके अनुसार डिंगल का राजस्थानी से पृथक्करण संभव नहीं है, न उसका राजस्थानी से पृथक् रूप में विकास दिखाया जा सकता है, न उसे बोली रूप और गद्य-पद्य रूप में राजस्थानी से बिलगाया जा सकता है। जीवित अथवा मृत भाषा के रूप में भी उसका विवेचन संभव नहीं है और उसके ग्रंथों को राजस्थानी से नितांत पृथक् करने की बात भी अयुक्तिसंगत सिद्ध होगी।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि डिंगल भाषा को राजस्थानी से पृथक् भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. डिंगल राजस्थानी की ही एक शाखा या बोली है ?

दूसरा प्रश्न हो सकता है कि डिंगल यदि राजस्थानी से पृथक् भाषा नहीं है तो क्या उसकी एक शाखा या बोली है ? भाषा रूप में डिंगल को राजस्थानी की शाखा या बोली मानने पर भी लगभग वे ही प्रश्न उठ खड़े होते हैं जो उसे स्वतंत्र मानने पर उठे थे। प्रश्न हो सकता है कि यदि यह राजस्थानी की एक शाखा या बोली है तो यह किस प्रदेश की है ? इसकी परंपरा क्या रही ? गद्य-पद्य के साथ इसका कोई बोली रूप भी होना चाहिए। डिंगल को राजस्थानी की एक शाखा या बोली मानना इसलिये भी असंभव लगता है कि विद्वान् इसे एक साहित्यिक रूप ही अधिक मानते रहे हैं, बोली रूप में तो राजस्थानी के मारवाड़ी रूप को ही मान्यता देते आए हैं। स्पष्ट है कि किसी भी भाषा या बोली का केवल साहित्यिक रूप ही नहीं होता, उसके लिये उसका बोली रूप भी अपेक्षित है और 'एक ही समय में गद्य और पद्य में भाषाविज्ञान की एक दृष्टि से भेद नहीं

होता, ऐसा भी संभव नहीं है कि एक प्रदेश की दो जातियाँ बोलचाल में तो एक भाषा का प्रयोग करें और काव्य में भिन्न भाषाओं का"[९] इसलिये यह मानना भी असंगत प्रतीत होता है कि डिंगल राजस्थानी भाषा की विभाषा या बोली है।

३. डिंगल चारणों की भाषा है ?

कुछ लोगों का मत है कि डिंगल चारणों की भाषा है। यदि इन लोगों का इसे चारणभाषा कहने का अभिप्राय उस प्रकार की भाषा से है जिसे शैली के अंतर्गत रखा जासके जैसे भाषावादी कवियों की भाषा या नई कविता की भाषा, तब तो भिन्न बात है, किंतु उनका अभिप्राय किसी वर्ग विशेष की भाषा से है—यथा भीलों की भाषा, सांसियों की भाषा, वणजारों की भाषा, तो निश्चय ही यह एक भ्रमपूर्ण कथन है। डिंगल को चारण भाषा प्रमाणित करने के लिये बहुधा १६वीं शताब्दी के 'उदैराम' कवि के निम्नलिखित कथन को उद्धृत किया जाता है—

चारण डिंगल चातुरी, पिंगल भाट-प्रकास।
गुण संख्या कल-वरण-कण, यारो करो उजास॥

इसके आधार पर डिंगल को चारणों की भाषा और पिंगल को भाट-भायखा (भाट-भाषा) नाम दिया जाता है। इस संबंध में भ्रामक बात यह है कि शैली और भाषा को अभिन्न अर्थों में स्वीकार कर लिया गया है। चारणभाषा और भाटभाषा से उनकी भिन्नभिन्न शैलियों का अभिप्राय लिया जाना चाहिए, न कि भाषाओं का। चारणों की परंपरा राजपूतों से विच्छिन्न नहीं रही और न इस डिंगल भाषा का प्रयोग वे बोलचाल के रूप में ही करते थे। इसलिये उसे चारण-भाषा नाम देना अनुचित प्रतीत होता है।

इन तर्कों से स्पष्ट है कि डिंगल को न तो राजस्थानी से पृथक् भाषा रूप में ही स्वीकारा जा सकता है और न उसके शाखा रूप में। चारणभाषा कह कर उसे भाषा रूप में पृथक् प्रतिष्ठा देना भी असंगत ठहरता है। डा० सरनामसिंह शर्मा ने इसे पृथक् भाषा के रूप में अस्वीकार करते हुए लिखा है—'कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सुप्' और 'तिङ्' के आधार पर ही किसी भाषा का निर्णय किया जा सकता है। यदि डिंगल के 'सुप् और 'तिङ्' उसके अपने हैं तो अवश्य ही डिंगल एक भाषा है। यह ठीक है कि डिंगल की कुछ अपनी प्रवृत्तियाँ हैं, किंतु उसके 'सुप्' और तिङ् उसे मरुभाषा से पृथक् सिद्ध नहीं कर पाते, उसके छंद अलंकार, द्वित्व रूप आदि उसको स्वतंत्र भाषा का पद नहीं दे सकते।'[१०]

९. वही, पृ० २२८।
१०. वही, पृ० २२८।

डिंगल शब्द राजस्थानी भाषा का पर्यायवाची शब्द है ?

कुछ विद्वानों ने राजस्थानी अथवा मरुभाषा के ही पर्याय रूप में डिंगल को मान्यता दी है। डा० हीरालाल माहेश्वरी ने 'मरुभाषा और डिंगल एक हैं'[11] शीर्षक देकर उसके समर्थन में सूर्यमल्ल मिश्रण, मुंशी देवीप्रसाद, पं० रामकरण आसोपा, श्री उदयराज उज्वल, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि विद्वानों को साक्षी रूप में प्रस्तुत किया है। डा० माहेश्वरी ने जो साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं, यहाँ उनपर कोई आक्षेप अपेक्षित नहीं है, किंतु प्रश्न उठता है कि क्या संपूर्ण राजस्थानी (अथवा मरुभाषा) को 'डिंगल' अभिधा प्रदान की जा सकती है ? क्या राजस्थानी के उद्भव काल से आजतक के साहित्य और भाषा रूपों को इस अभिधा से अभिहित किया जा सकता है ? इस प्रश्न पर तनिक विस्तार से विचार करना पड़ेगा।

डिंगल की प्राचीनता सिद्ध करते हुए डा० माहेश्वरी ने पुष्पदंत के महापुराण, मुनि कनकामर के 'करकंडुचरिउ', सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध' श्रीधर के 'रिणमल छंद' आदि से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

१—छुडु भड़ भारे ढलहलिय धरणि—छुडु पहरण फुरणों हरि उतरणि।
छुडु चक्कइँ हत्थग्गमियाइँ—छुडु सेल्लइँ भिन्नइँ भीमयाइँ॥
—पुष्पदंत : उत्तरपुराण—र० का० वि० सं० ६६४

२—नयण-मग्ग-संलग्ग लोल कल्लोल परंपरु।
निक्करु घुक्कउ नक्क-चंक्क चंकमण दुहंकरु॥
उच्छलंत-गुरु-पुच्छ-मच्छ, रिच्छोलि निरंतरु।
विलासि माणि जाला-जडाल-वडवानल दुत्तरु॥
आवत्त बयायलु जलहिलहु गोपहि जींव ते नित्थरहि।
नीसेस-वसल-गल निद्दवण पासनाहु जे संभरहि॥
—सोमप्रभाचार्य : कुमारपालप्रतिबोध, र० का० वि० सं० १२४१

३—कड़क्कि मुंछ भींछ मेच्छ, मल्ल मोलि मुग्गरि।
चमक्कि चल्लि रणमल्ल, भल्ल फेरि संगरि॥
धमक्कि धार छोड़ि धान छंडि धाडि धग्गड़ा।
पड़क्कि वाहि पक्कड़ंत मारि भीर मक्कड़ा॥
—श्रीधर : रणमलछंद, र० का० वि० स० १४५५

११. डा० हीरालाल माहेश्वरी: राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०-११।

इन उदाहरणों में काल की दृष्टि से २०० से लेकर ४५० वर्षों तक का अंतर है। इनमें वर्णों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति की ओर झुकाव उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है। डिंगल के इन रूपों के साथ बादर दाढ़ी कृत 'वीरमायण', जो सं० १४५० के आसपास की रचना मानी जाती है, के पद्यों को मिलाने से एक बड़ा अंतर स्पष्ट दिखाई दे जायगा। नीचे दिए गए पद्यखंडों से इनकी तुलना की जा सकती है—

पग पग नेजा पाड़िया पग पग पाड़ी ढाल।
बीबी पूछै खान नै जोध किता जगमाल॥
भूखा तिरसा आपरा बांधी जे नेड़ाह।
ढलियां हत न आवही, गोगा दे घोड़ाह॥
कहियो कमधज रीसकर रहजा अब राणी।
मैं पण नेमज बाँधियो पीवज मुख पाणी॥
रावत सारा रोस में अम रूठा आणी।
धन नह जावै धाड मैं ऊभां सलपांणी॥[11]

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'वीरमायण' की इस भाषा को उक्त उदाहरणों की भाषा के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। द्वित्ववर्णों की न्यूनता के साथ-साथ इसमें बोलचाल की उस भाषा का रूप है जिसे आज भी बोला और समझा जा सकता है। इसके विपरीत, इसके बाद के रचे हुए डिंगल ग्रंथों में वही पुरानी प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' की भाषा, जो इसके बाद की रचना है, 'वीरमायण' की भाषा से पर्याप्त भिन्नता रखती हुई प्राचीन पद्धति का अनुसरण करती है। ऐसा ही क्यों, आज भी कवि मुकुन्दसिंह ने जो 'बेलियाँ' रची हैं, उनकी भाषा में भी उस परंपरा का निर्वाह देखा जा सकता है, उदाहरण के लिये 'पाबूजी री वेलि' में से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अणमेधी अणियो आवंता, सावंता साथ्या सस्त्रांण।
कण-कण काय कटाणी कलहां, अड आखै अखियाता आंण॥

स्पष्ट है कि 'वीरमायण' की भाषा की अपेक्षा इस भाषा में प्राचीनता की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है।

इन उदाहरणों को सम्मुख रख कर तुलना करने का अभिप्राय यह है कि राजस्थानी के संपूर्ण रूप को 'डिंगल' अभिधा के अंतर्गत नहीं समेला जा सकता। जहाँ एक ओर मध्यकालीन गद्य, बोलचाल की भाषा और वर्तमानकालीन गद्य-पद्य एवं बोलचाल की भाषा को 'डिंगल' से पृथक् करना पड़ता है, वहाँ राजस्थानी

११. डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०-११।

के उद्भव काल की पद्य शैली और मुकुनसिंह (आधुनिक काल) की वेलि-शैली में डिंगल को स्वीकार करना पड़ता है। यदि हम संपूर्ण राजस्थानी को 'डिंगल' की अभिधा दे सकते हैं---आधुनिक काल में लिखी जाने वाली राजस्थानी (मारवाड़ी) की कविताओं को भी 'डिंगल' की कविता कह सकते हैं---तो इसको राजस्थानी अथवा मरुभाषा से अभिन्न मान सकते हैं, किंतु ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। मध्यकाल की बोलचाल की भाषा को डिंगल से बिलगाया जाकर अथवा वर्तमान राजस्थानी (मारवाड़ी) की कविताओं और गद्यरूपों एवं बोलियों को इससे पृथक् रखकर 'डिंगल' को राजस्थानी के पर्याय के रूप में किस प्रकार ग्रहण कर सकेंगे, यह विचारणीय है।

विश्वविद्यालयों की एम०ए० परीक्षाओं में 'डिंगल' नाम से एक पृथक् प्रश्नपत्र रखा गया है, जैसे वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा गुजराती, मराठी की भाँति कोई भाषा है। ध्यान देने की बात है कि उस प्रश्नपत्र में संकलित पुस्तकें मध्यकालीन राजस्थानी की विशिष्ट शैली में लिखे गए ग्रंथ ही हैं। यदि डिंगल को राजस्थानी का पर्याय माना जाता है तो उसमें उद्भव काल से वर्तमान काल तक की रचनाओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, जो नहीं है और यदि उसे 'पालि', 'प्राकृत', 'अपभ्रंश' की भाँति मृतभाषा या गुजराती-मराठी की भाँति जीवित भाषा मानकर स्थान दिया गया है तो वे ही प्रश्न पुन: उठ खड़े होते हैं जिनपर उपर्युक्त विवेचन हुआ है। उल्लेखनीय है कि राजस्थान विश्वविद्यालय ने डिंगल' के स्थान पर 'राजस्थानी' नाम रखने का निर्णय कर लिया है।

वस्तुत: बात यह है कि डिंगल कोई भाषा नहीं, राजस्थानी भाषा की शैलीविशेष है। डा० माहेश्वरी ने राजस्थानी की चार शैलियाँ स्वीकार की हैं--- १. जैन शैली, २. चारण शैली, ३. संत शैली और ४. लौकिक शैली और 'डिंगल' को चारणशैली के अंतर्गत स्वीकार किया है। 'चारणशैली की अधिकांश रचनाएँ अब डिंगल नाम से अभिहित हैं'।[१२] इसके बाद भी पता नहीं पुन: वे कैसे उसे भाषा का नाम दे गए। यह वैसे ही एक रचनापद्धति है जैसे संस्कृत में समस्त शैली। यदि बाणभट्ट की कादंबरी शैली का संस्कृत में बहुत अधिक अनुकरण हुआ होता और उस पद्धति पर रचे गए साहित्य का एक स्पष्ट वर्ग बन जाता तो क्या उसे अलग 'भाषा' का स्थान दिया जा सकता था? युद्ध वर्णनों और उनके साथ ही श्रृंगार वर्णनों में चारणों ने एक विशिष्ट काव्य संघटना और पद्धति का आश्रय लिया जिसमें शब्दों को द्वित्व करने, छंदों को विशेष ढाल में लाने तथा क्रिया रूपों

१२. वही, पृ० ५।

को प्रभावात्मक एवं प्राचीन बनाने की प्रवृत्ति पर जोर दिया गया। यह कोई जरूरी नहीं था कि इस शैली में चारण ही रचना करते, पृथ्वीराज राठौर जैसे कवि भी इसको अपनाने में समर्थ हुए।

'डिंगल' को 'पिंगल' से भिन्नता दिखानेवाली भाषा मानते हैं। वस्तुत: पिंगल भी कोई भाषा नहीं है, वह भी शास्त्रीय रचना की एक शैली थी जिसकी भाषा ब्रजभाषा थी। डा० सरनामसिंह शर्मा ने ठीक ही लिखा है पिंगल ब्रजभाषा की एक शैली थी जो मरुवाणी के प्रभाव से राजस्थान में निर्मित हुई।[13] इसी प्रकार डिंगल भी मारवाड़ी की एक शैली मात्र है जिसका पोषण विशेषतः चारणों के हाथों हुआ।[14]

*

१३. डा० सरनामसिंह शर्मा : विमर्श और निष्कर्ष, पृ० २३४।
१४. वही, पृ० २३०।

वेलि क्रिसन-रुक्मणी री के कुछ संदेहास्पद अर्थ

मूलचंद 'प्राणेश'

'वेलि सिरी क्रिसन रुकमणी री राठौड़ पृथुदास री कही' राजस्थानी भक्ति साहित्य का एक बहुमूल्य रत्न है। राजस्थानी साहित्य की डिंगल शैली में ग्रथित इस महान कृति के लिये रचयिता के समसामयिक कवि दुरसा आढ़ा ने 'चिहुं पांचमो वेद चलवियो, नव दूणम गति नीगमियो' कह कर इसे वेद और पुराणों की परंपरा का काव्य बताया है। अतः इस प्रकार के महत्वपूर्ण काव्य का रसास्वादन करने के लिये टीकाओं की आवश्यकता स्वतः प्रमाणित है। वेलि पर वर्तमान तक सत्रह-अठारह के लगभग टीकाएँ, टब्बे एवं अनुवाद उपलब्ध हैं। इन सब में सर्वप्रथम टीका किसने लिखी इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है, फिर भी यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि चारणलाखू की (संभवतः मारवाड़ी टीका) और अज्ञात-नाम कवि कृत ढुंढाड़ी टीका में से कोई एक टीका सर्वप्रथम लिखी गई होगी। शेष टीकाएँ इन्हीं टीकाओं की अनुकृतियाँ हैं। इनमें शब्दभेद एवं शैली के अतिरिक्त कोई नवीनता नहीं है। प्राचीन कवि एवं टीकाकारों में यह एक प्रवृत्ति रही है कि अपने से पूर्व निर्मित काव्य, कथा एवं टीका-टब्बों को अपनी बना कर साहित्य जगत में प्रकट करना। इसका सब से सुंदर उदाहरण—कुशलधीर कृत—नारायणवल्ली बालावबोध (टीका) है जो जयकीर्तिकृत वनमाली वल्ली बालावबोध (टीका) की अक्षरशः प्रतिकृति है। यह परंपरा वर्तमानकालिक टीकाकारों में भी कुछ अंशों में पाई जाती है। लोग नाम की भूख अथवा द्रव्य के लोभ के कारण पूर्व प्रचलित किसी कृति को थोड़े हेर फेर के साथ प्रस्तुत करने की अनधिकार चेष्टा में लगे रहते हैं जिसका दुष्परिणाम होता है पूर्व प्रकल्पित भ्रम का विस्तार।

प्राचीन टीकाकारों में से जैन टीकाकारों ने चारणी टीकाओं को आधार बनाया है और संस्कृत टीकाकार ने भी चारणी टीकाओं को ही। अतः पूर्ववर्ती टीकाकारों द्वारा जो जो त्रुटियाँ की गई हैं उन सबका विस्तार परवर्ती टीकाकारों द्वारा किया जाना स्वाभाविक ही है।

वेलि की सर्वप्रथम नव्य टीका के टीकाकार कृतिकार के ही वंशज स्व० ठा० श्रीजगमाल सिंह जी हैं। जिन्होंने प्राचीन टीकाओं के साथ साथ स्व० ठा० श्रीहनुमंत सिंह जी चारण एवं स्व० श्रीरामदानजी के सत्परामर्श को आधार स्वरूप

ग्रहण किया। इसी टीका का संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन करके श्रीमान ठा० रामसिंह जी, स्व० श्रीसूर्यकरण जी तथा आचार्य श्री नरोत्तमदासजी स्वामी ने हिन्दी साहित्य अकादमी से प्रकाशित करवाया। तत्पश्चात् श्रीआनंदप्रकाशजी दीक्षित, आचार्य श्री नरोत्तमदासजी स्वामी एवं शुक्लजी ने अपनी अपनी टीकाएँ क्रमशः विश्वविद्यालय-प्रकाशन, गोरखपुर, श्रीराम मेहरा ऐंड कंपनी, आगरा से प्रकाशित करवाईं। इन सब में श्रीस्वामीजी को छोड़कर अन्य दोनों टीकाकारों ने अकादमी द्वारा प्रकाशित टीका की थोड़े बहुत शब्द भेद के साथ प्रतिलिपि मात्र की है। श्री स्वामीजी भी प्राचीन टीकाकारों द्वारा प्रकल्पित अर्थविभ्रम से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके हैं। परिणामस्वरूप नव्य टीकाकारों की तुलना में इनकी टीका अधिक प्रमाणिक होते हुए भी सर्वथा निर्दोष नहीं है।

मुझे अपने अध्ययन एवं अध्यापन काल में वेलि के कुछ स्थल अर्थ की दृष्टि से संदेहास्पद प्रतीत हुए। जब मैंने उक्त संदेह निवारणार्थ वेलि के विभिन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित संस्करणों का अध्ययन प्रारंभ किया तो इस प्रयत्न से मेरा संदेह तो दूर हुआ ही साथ साथ त्रुटियों के क्रमिक विकास का भी परिचय प्राप्त हुआ। पाठकों के लाभार्थ आगामी पंक्तियों में उक्त प्रयत्न को प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, इसके द्वारा वेलि के पाठकों को सही अर्थ तक पहुँचने में सहायता मिलेगी और वेलि के संपादकों एवं प्रकाशकों को आगामी संपादन एवं प्रकाशन में सुधार की प्रेरणा मिलेगी।

(१) द्वाला, ४ 'पहि'

= १. मार्ग—सुबोध मंजरी टीका।
  २. मारगि—वनमालीवल्ली बालावबोध।
  ३. मारगि—नारायणवल्ली बालावबोध।
  ४. परंतु—संपादकत्रय।
  ५. कह—श्री नरोत्तमदास स्वामी
  ६. परंतु—श्री दीक्षित

विमर्श—उक्त उदाहरणों में प्रथम तीन टीकाकारों ने पहि, पथि. पथ = मार्ग समझा है। चतुर्थ टीकाकारों से अटकल से अर्थ लिया है जिसका अनुकरण षष्ठ टीकाकार ने किया है। पंचम टीकाकार ने इसे 'कहि' समझ कर अर्थ लगाया है, परंतु उक्त सभी टीकाकारों को टीका से पदगत भाव अस्पष्ट रहता है। क्योंकि इन टीकाओं में 'कर्तावाची पद स्पष्ट नहीं है। अतः इस शब्द का अर्थ **'पथिक'** लिया जाना उचित है।

अन्य उदा० : पावणैं भेलो 'पहि' गाम करै सो सही।—एक राजस्थानी लोकोक्ति

(२) ढाला, ८ **'संथ'**

= १. एक संथ इति एकः केवलः पुरुषप्रधानः श्रीगोविंदः तस्यैव स्तुति कृतवंतः—सुबोधमंजरी ।

२. रीति—ढूंढाड़ी टीका ।

३. स्तुति—१. वनमालीवल्ली बालवबोध ।

२ नारायणवल्ली बालावबोध ।

४. मत—संपादकत्रय ।

५. एक निष्ठ, मत—स्वामीजी

६. संति, हैं—श्रीदीक्षित

विमर्श—उक्त उदाहरणों में प्रथम व अंतिम को छोड़कर प्रायः सभी टीकाकार समान अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। अत. 'एक संथ' का अर्थ 'एक ही मत के हैं' लिया जाना चाहिए।

(३) ढाला, १० **'सिरहर'**

= १. स्वयशः प्रसिद्धया प्रकट नामान्वयः कारणविशेषे **मान्योऽपिति** तत्त्वार्थ—सुबोधमंजरी ।

२. सबही तइ अधिक अधिक सोभति छै ।—ढूंढाड़ी टीका ।

३. सिरहर छइ–आपरइ जसरी प्रसिद्ध इयां मांहे पणि प्रगट नाम वंस छइ ।—वनमालीवल्ली बालावबोध ।

४. आपरउ वंस नाम जस इयां मांहे पिण प्रसिद्ध छई ।—नारायणवल्ली बालावबोध ।

५. शिरोधार्य १. संपादक त्रय ।

२. श्रीस्वामीजी ।

३. श्रीदीक्षित ।

विमर्श—उक्त उदाहरणों में अंतिम को छोड़कर सभी टीकाकारों ने शब्द की व्याख्या की है, फिर भी पदगत भाव स्पष्ट नहीं हो पाता है। अतः 'सिरहर = शिखर = चोटी, ऊँचा, बढ़कर' अर्थ लेना चाहिए।

विशेष—उक्त शब्द में 'र' का निरर्थक आगम है।

(४) ढाला, १४ **'बीरज'**

= १. इति द्वितीया चन्द्रस्य लेखेवेति ।—सुबोधमंजरी ।

२. द्वितीया को चंद्रमा ।—ढूंढाड़ी टीका ।

३. बीजि रइ ।—१. वनमालीवल्ली बालावबोध ।

२. नारायणवल्ली बालावबोध ।

४. निर्मल। १. संपादक त्रय
२. श्रीस्वामीजी
३. श्रीदीक्षित

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से अंतिम तीन टीकाकार व्युत्पत्ति के चक्र में पड़कर 'वी = बिना + रज = धूलि' अर्थ करते हैं परंतु इस अर्थ से कविवर्णित भाव स्पष्ट नहीं हो पाता है। अतः 'वीरज' का अर्थ 'बीज = द्वितीया' ही लिया जाना चाहिए।

विशेष—इस शब्द में भी 'र' का निरर्थक आगम है।

(५) द्वाला, २२ 'मेन'

= १. मेन केसेति—केशाः रात्रिरूपा इत्यपि। मेन शब्देन चारणभाषया भुजङ्ग सदृशाः।—सुबोध मंजरी।
२. रातिकउ अंधकार।—ढूंढाड़ी टीका।
३. भुजंग—१. वनमालीवल्ली बालावबोध।
२. नारायणवल्ली बालावबोध।
४. अंधकार—संपादकत्रय।
५. अँधेरी रात या अंधकार।—श्रीस्वामीजी।
६. मदन—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से अंतिम को छोड़कर सभी ठीक हैं। मेन = भुजंग, रात्रि, पर्वत शाब्दिक अर्थ लेते हुए लाक्षणिक अर्थ 'कृष्ण' लेना चाहिए।

(६) द्वाला, २९ 'सांभलि'

= १. श्रुत्वा—सुबोध मंजरी।
२. सांभलि-सांभलि—ढूंढाड़ी टीका।
३. सांभळी—१. वनमालीवल्ली बालावबोध।
२. नारायणवल्ली बालावबोध।
४. समझकर—१. संपादकत्रय।
२. श्रीदीक्षित।
५. सुनकर—श्रीस्वामीजी

विमर्श—उक्त उद्धरणो में से चौथे को छोड़कर सभी टीकाकारों ने 'सांभळी' शब्द का अर्थ 'सुनकर' ठीक समझा है।

विशेष—'सांभळणो' क्रिया 'सुनने' के अर्थ में इतनी प्रचलित रही है कि प्राचीन टीकाकारों ने उसका पर्यायवाची देना तक उचित नहीं समझा।

(७) ढाला, २९ 'जिका'

= १. तया—सुबोधमंजरी।

२. जिकाई—ढूंढाड़ी टीका।

३. जिका—१. वनमालीबल्ली बालावबोध।

२. नारायणबल्ली बालावबोध।

४. जो—१. संपादकत्रय

२. श्रीस्वामीजी

५. थाका, जो कोई।

विमर्श—अंतिम उद्धरण के अतिरिक्त अन्य सभी ने शब्दार्थ ठीक किया है। अतः 'जिका' शब्द का अर्थ 'जो' ही लिया जाना चाहिए।

(८) ढाला, ३२-३३, 'पांतरिया', 'पांतरि'

= १. बुध्या विहीनो जातो—सुबोधमंजरी।

२. चूके छै, भूलिमां—ढूंढाड़ी टीका।

३. मूरिख म थाई, बुद्धि रहित थया—१. वनमालीबल्ली बालावबोध।

२. नारायणबल्ली बालावबोध।

४. बुद्धि विहीन हो गए, मूर्खता मतिकर—संपादकत्रय।

५. बावले हो गए हैं, बावलापन मत कर—श्रीस्वामीजी।

६. बुद्धि भ्रष्ट होना, मूर्खता मत कर—श्रीदीक्षित।

विमर्श—ढूंढाड़ी टीकाकार को छोड़कर अन्य सभी टीकाकारों ने एक सा मत व्यक्त किया है। 'पांतरणो' शब्दका व्यवहार साहित्य में तो हुआ ही है पर वर्तमान की बोलचाल की भाषा में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—

१. भई! हूं तो पांतरग्यो।

२. म्हारै पांतरो पड़ग्यो।

३. मारग पांतरग्यो जद मोड़ो आईग्यो।

४. म्हनै तो तूं हीज पांतरियोड़ो दीसै है।

उक्त सभी प्रयोगों में 'पांतरणो' का 'बुद्धिभ्रष्ट होने' के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। अतः इस शब्द का अर्थ 'भूलना' अथवा 'भ्रमित होना' अर्थ लिया जाना चाहिए।

अन्य उदा० १. राण सेस वसुधा छत्र राखण, रागि न पांतरियो अहिराउ।

—प्राचीन राजस्थानी गीत, भा० ३,६३

२. राज हिवइ मा पांतरउ आ घण घड अवरांह।

—ढोलामारू रा दूहा, पृ० ८।

३. दुर्जन केरा बोलडां, मत पांतरज्यो कोय—वही, पृ० ४४६।
४. म्हे पांतरिया बीर, तूं ब न थायइ बीजग।—एक ह० लि० पत्र।

(९) द्राला, ३४, 'वरसालू वाहला'

= १. वर्षा काले अंबु वलेन बाहलास्तुच्छ नदी।—सुबोधमंजरी।
२. वरसाला कउ वाहल्यो—ढूंढाड़ी टीका।
३. बरषा कलि अंत्र पाणी तेबईनवलइ वाहलउ, तुच्छ नदी।
—१. व० बा०; २ ना० बा०।
४. बरसने को उद्यत बादल—संपादकत्रय
५. बरस ती नाले के—श्रीस्वामीजी।
६. बरसने को तैयार बादल।—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरण सं० ६ के टीकाकार ने सं० ४ की नकल की है और संख्या ४ के टीकाकारों ने 'वाहला' शब्द को भ्रम से 'बादला' पढ़ लिया प्रतीत होता है। अन्य सभी टीकाकारों के शब्दार्थ ठीक हैं।

(१०) द्राला, ३८ निहस

= १. निर्घोषः—सुबोधमंजरी।
२. बाजै छै—ढूंढाड़ी टीका।
३. सबद, निरघोष—१. वनमालीबल्ली बालावबोध।
२. नारायणबल्ली बालवबोध।
४. चोट—१. संपादकत्रय।
२. श्रीस्वामीजी।
५. प्रहार—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से अंतिम तीन के टीकाकारों ने परस्पर अनुकरण किया है। अन्य सभी टीकाकारों का अर्थ ठीक है।

अन्य उदा०—१. निहस्से वाणासां बाढ़, गाजियो निहाव।
—प्राचीन राजस्थानी गीत, भा० १।१२८
२. निवसउ निहाय धरणि धम धमइ।—सदयवत्सचरित्र, ६४६
३. निहस्सै नगरा, सुरांरा सवारा।—नागदमण, १०५

(११) द्राला, ४० 'जोइ'

= १. जोइ इति स्त्री पर्याय—सुबोधमंजरी।
२. जोइ ए स्त्रीरउ नाम पर्याय छई—वनमालीवल्ली बा०।
३. जोइ एहवउ नाम स्त्रीरउ जाणिवउ सिंधू भाषायइ प्रसिद्ध।—नारा०बा०

४. जो—संपादकत्रय ।

५. देखो, जानो—श्रीस्वामीजी ।

६. जो या जो भी, पंडाल, स्त्री—श्रीदीक्षित ।

विमर्श—अंतिम उद्धरण के टीकाकार श्री दीक्षित ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थ को ग्रहण करते हुए 'पंडाल' एक नया अर्थ प्रकल्पित किया है जो संगत नहीं है। प्राचीन टीकाकारों के साथ साथ श्रीस्वामीजी द्वारा प्रकल्पित अर्थ भी काफी सही प्रतीत होता है।

(१२) द्वाला, ४१ 'जान'

= १. जानीति परिणयनसमये स्वजनसंबंधीबंधुवर्गसमुदायः ।—सुबोधमंजरी ।

२. जानि—१. वनमालीबल्ली ।
२. नारायणबल्ली ।

३. बरात—संपादकत्रय ।

४. बरात (यज्ञ जण्ण-जान) ।—श्रीस्वामीजी ।

५. यान, सवारी—श्रीदीक्षित

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से अंतिम श्रीदीक्षितजी के मनः प्रकल्पित अर्थ को छोड़कर अन्य सभी अर्थ ठीक हैं।

(१३) द्वाला, ५६ 'लगै'

= १. (भवत) सकाशे—सुबोधमंजरी

२. लगे—ढूंढाड़ी टीका

३. पासि—वनमालीबल्ली बालावबोध ।

४. समीपइ—नारायणबल्ली बालावबोध ।

५. लिए—१. संपादकत्रय ।
२. श्रीदीक्षित ।

६. तक, पास—श्रीस्वामीजी ।

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से संख्या ५ के टीकाकारों द्वारा प्रकल्पित अर्थ के सिवाय अन्य सभी टीकाकारों द्वारा किया गया अर्थ ठीक है।

अन्य उदा०—राजा राह म रोकि तूं, साह लगै दे जांण ।—वचनिका, पृ० १६

(१४) द्वाला, ६७ 'सांभलि'

= १. श्रुत्वा—सुबोधमंजरी ।

२. सुणिकरि—ढूंढारी टीका ।

३. सांभलि—१. वनमालीवल्ली ।
२. नारायणवल्ली ।
४. समझकर—१. संपादकत्रय ।
२. श्रीदीक्षित ।
५. सुनकर—श्रीस्वामीजी ।

विमर्श—उक्त उद्धरणों में से सं० ४ के टीकाकार ने संपादकत्रय के अशुद्ध अर्थ की नकल की हैं । अन्य सभी टीकाकारों द्वारा किया गया अर्थ ठीक है ।

अन्य उदा०—१. संभळत धवल तेथि साहुळि संभळी ।—वेलि, ११२
२. पुराणा डोकरा अरज सांभळि परि ।—पीरदान ग्रंथावली, पृ० १०२
३. पुकारां सामळो बडा पतिसाह ।—वही, पृ० ६६
४. कानै ही नथी सांभळयो नाग काली ।—नागदमण, छं० ३८

(१५) द्वाला ७६ 'केवी'

= १. दुर्जना—सुबोधमंजरी ।
२. शत्रु—ढूंढाड़ी टीका ।
३. दुरजन—१. वनमालीवल्ली बालावबोध ।
२. नारायणवल्ली बालावबोध ।
४. कई—संपादक त्रय
५. शत्रु (केऽपि)—श्रीस्वामीजी ।
६. कोई अन्य, केऽपि—श्री दीक्षित ।

विमर्श—संपादकत्रय का अर्थ देखकर श्रीस्वामीजी एवं श्रीदीक्षित जी स्वयं के निर्णय से विचलित हो गए हैं एवं मनःकल्पित अर्थ किया हैं । प्रथम तीनों टीकाकारों का अर्थ सही है ।

अन्य उदा०—रुमण करै जुध तुसां केवी—पीरदान ग्रंथावली, पृ० १९

(१६) द्वाला १०६ 'चाहि'

= १. अनुलक्षीकृत्य—सुबोधमंजरी ।
२. उद्दिसी—१. वनमालीवल्ली बालावबोध ।
२. नारायणवल्ली ,, ।
३. बड़े चाव से—संपादकत्रय ।
४. देख कर, लक्ष्य कर—श्रीस्वामीजी
५. की ओर—श्रीदीक्षित ।

विमर्श—उक्त उद्धरणोंके सभी टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट किए

हैं, जिनमें से अंतिम अर्थ की तो किसी भी प्रकार संगति नहीं बैठती। अतः 'चाहि' का अर्थ 'चाह इच्छा + इ = करके' लेना चाहिए।

(१७) दूहा, १०९ 'संच'

= १. प्रपंचकृत—सुबोधमंजरी।
२. उद्यम कियो—ढूंढाड़ी टीका।
३. प्रपंच कीधउ—१. वनमालीवल्ली बालावबोध।
२. नारायणवल्ली ,, ।
४. प्रवेश किया—संपादकत्रय।
५. संचित किया (या सचार किया)—श्रीस्वामीजी।
६. संचारि किया—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त सभी उद्धरणोंमें से श्रीस्वामीजी का अर्थ काफी निकट है। श्रीदीक्षितजी ने तो स्वामीजी के अर्थकी नकलकी है। संपादकत्रय 'संच' को 'संचर्' मानते हुए प्रतीत होते है। प्राचीन टीकाकारों ने लगभग समान अर्थ व्यक्त किया है अतः इसके आधार की भी खोज होना आवश्यक है।

(१८) दूहा, ११२ 'साहे'

= १. संगृह्य—सुबोधमंजरी।
२. पकड़ि—ढूंढाड़ी टीका।
३. साहि—वनमालीवल्ली बा०।
४. झाली—नारायणवल्ली बा०।
५ थामे—संपादकत्रय।
६. पकड़कर—श्रीस्वामीजी।
७. साधकर—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरणोंमें से अंतिमको छोड़कर अन्य सभी टीकाकारोंके अर्थ ठीक हैं। 'साहणो' राजस्थानीकी सर्वाधिक प्रचलित क्रिया है जिसका अर्थ—'पकड़ना, धारण करना' होता है।

अन्य उदा०—१. वामइ करि सिर साही वेणि!—सदयवत्स वीरप्रबंध, १६२
२. बहिन भणी नइ साही बाह—वही, पृ० २४०
३. वीजल साहे बोलियो, इणडाकण भू आय—वीरसतसई
४. कै चूड़ी साहो करां।
५. ऊभो साहइ लाज—ढोलामारू, दूहा ४८०

(१९) द्वाला, ११६ मारकुओं, मारगुओ।

= १. मार्गिकैः स्तेयं विधायाग्रे गच्छद्भिर्भटैः —सुबोधमंजरी।

२. चोरी करी आगइ जाते भड़ै —वनमालीवल्ली।

३. चोरी करी नइ नीकळयां आगइ जातां भडां। ना० व०।

४. मारकुओं ने (प्रहारकों ने)—संपादकत्रय।

५. मार्गनेवालों ने, आक्रमण करनेवालों ने, लुटेरों ने, मार्ग चलनेवालों ने, आगे भागनेवालों ने—श्रीस्वामीजी

६. प्रहार सहनेवाले—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरणोंमें से अंतिमको छोड़कर अन्य सभी टीकाकारोंके शब्दार्थ ठीक है। श्रीस्वामीजी के सभी शब्दार्थ ग्राह्य हैं।

(२०) द्वाला, ११७ 'आडंग'

= १. वर्षण समयं--सुबोधमंजरी।

२. मेघ को आडंग—ढूँढाड़ी टीका।

३. वरसिवारउ समय जाणि—१. वनमालीवल्ली।

२. नारायणवल्ली।

४. बरसने को उद्यत, वर्षासूचक—संपादकत्रय।

५. आसार—श्रीस्वामीजी।

६. चिह्न—श्री दीक्षित।

विमर्श—उपर्युक्त प्राचीन टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य किसी भी टीकाकार ने इस शब्द के सही अर्थ को नहीं जाना प्रतीत होता है। श्री दीक्षितजी का अर्थ तो बिल्कुल ही कपोलकल्पित है। अतः 'आडंग' शब्द का अर्थ 'वर्षा का पूर्वरूप, युद्ध' लिया जाना चाहिए।

(२१) द्वाला, १२१ 'औझड़ै'

= १. शस्त्र मोक्ष विवादे—सुबोधमजरी।

२. औझडांको—ढूँढाड़ी टीका।

३. हथियार मूँकणरइ विवादइ—वनमालीवल्ली।

४. हथियारारै मूँकणरइ विखई—नारायणवल्ली।

५. अविरल—संपादकत्रय

६. लगातार बाण चलाते हैं—श्रीस्वामीजी।

७. निरंतर—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उपर्युक्त सभी टीकाकारों में से ढूंढाड़ी टीकाकार के अतिरिक्त

किसी ने भी इस शब्द के सही अर्थ को नहीं जाना है। अतः 'ओझड़इ' का 'शस्त्र प्रहार करते हैं, तिरछे प्रहार' अर्थ लिया जाना चाहिए।

(२२) द्वाला, १८१ 'मातौ'

= १. झड़मातउ इति वर्षाः—सुबोधमंजरी।
२. लागो छै—ढूंढाड़ी टीका।
३. झड़करि वरसवालागउ—१. वनमालीवल्ली।
२. नारायणवल्ली।
४. वर्षा ने गहरी झड़ी लगा रखी है—संपादकत्रय।
५. मोटा, गहरा—श्रीस्वामीजी।
६. मोटा—श्रीदीक्षित।

विमर्श—'मातौ' शब्द का अर्थ 'मचा' लेना चाहिए।

अन्य उदाहरण—कालीनाग नै जुद्ध मातौ किसनै।—नागदमण, छं० १०८

(२३) द्वाला, १२५ 'पिड़ि'

= १. रणभूम्यां—सुबोधमंजरी।
२. खेत—ढूंढाड़ी टीका।
३. रणभूमिकारइ विखई—१. वनमालीवल्ली।
२. नारायणवल्ली।
४. पेड़ियों पर—संपादकत्रय।
५. युद्धभूमि में—श्रीस्वामीजी।
६. पिंड, तना—श्री दीक्षित।

विमर्श—उपर्युक्त टीकाकारों में से संपादकत्रय एवं श्रीदीक्षित के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ ठीक समझा है। अतः 'पिड़ि' शब्द का अर्थ 'युद्ध, युद्धभूमि' ही लेना चाहिए।

(२४) द्वाला, १२८ 'भिड़'

= १. शत्रु संकट्टरूपो धान्यसमूहो—सुबोधमंजरी।
२. फौजां का समूह—ढूंढाड़ी टीका।
३. वैरी संघट्टरूप—१. वनमालीवल्ली।
२. नारायणवल्ली।
४. युद्ध करके—संपादकत्रय।
५. ऊँचा ढेर—श्रीस्वामीजी।
६. भिड़ जाना—श्री दीक्षित।

विमर्श—अंतिम और तीसरे टीकाकार के अर्थ के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकारों ने 'भिड़' के दोनों अर्थों को सही समझा है। वैसे भिड़ शब्द का अर्थ सामान्यत: 'समूह' ही लिया जाता है।

(२५) द्वाला, १२९ 'साहियै'

विशेष—इस शब्द को द्वाला ११२ के विवेचन में देखिए।

(२६) द्वाला, १३० 'आपड़ै'

= १. आपतित्वा—सुबोधमंजरी।
२. पुहतो—ढूंढाड़ी टीका।
३. आपड़ी—वनमालीवल्ली।
४. पहुँचौ—नारायणवल्ली।
५. आकर—१. संपादकत्रय।
२. श्रीस्वामीजी।
६. सामने आकर—श्रीदक्षित।

विमर्श—'आपड़ी' शब्द का अर्थ 'पकड़ कर' लिया जाना चाहिए। वर्तमान में भी 'पकड़णो' के लिये ग्रामीण 'अपड़णो' ही बोलते हैं।

(२७) द्वाला, १३२ 'आरणि'

= १. लोहकृत् महानसे—सुबोधमंजरी।
२. आगिमांह—ढूंढाड़ी टीका।
३. लोहाररउ चूल्हउ—वनमालीवल्ली।
४. आरणिरइ विषइ—नारायणवल्ली।
५. ऐरण पर—१. संपादकत्रय।
२. श्रीदीक्षित।
६. अहरन पर—श्रीस्वामीजी

विशेष—'आरण' शब्द का अर्थभ्रम नव्य टीकाकारों की कृपा से हुआ है। अन्यथा यह शब्द—'लोहार की भट्ठी' के अर्थ में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक चलता है। इस शब्द का 'अहरन' अर्थ प्रकल्पित करनेवाले महाशयों ने इतना सोचने का कष्ट भी नहीं किया कि अहरण पर तो लोहे को कूटा पीटा जाता है, तपाया नहीं जाता।

अन्य उदा०—अषै आरण नै विषै कोयला।—गोरखवाणी, पद ६

(२८) द्वाला, १३३ 'सनस'

= १. लज्जया—सुबोधमंजरी।
२. सनस—ढूंढाड़ी टीका।

३. सनसइ लाजई—वनमालीवल्ली ।

४. ए सालउ लागइ इण लाजइ—नारायणवल्ली ।

५. (साला होने के) संबंध की लाज से—संपादकत्रय ।

६. लिहाज—श्रीस्वामीजी ।

७. संशय, संकोच—श्री दीक्षित ।

विमर्श—उक्त सभी टीकाकारों में से अंतिम को छोड़कर अन्य सभी ने संभवतः संस्कृत टीका अथवा मारवाड़ी टीका को आधार बनाया प्रतीत होता है। टीकाकारों ने जो अर्थ प्रकट किया है उसकी संगति नहीं बैठती है। 'सनस' का एक अर्थ 'निसानी' भी वर्तमान में प्रचलित है। यदि इस अर्थ को स्वीकार कर लिया जाय तो कुछ मेल बैठ सकता है।

(२९) ढ़ाला, १३५ 'वासना'–'सासन।'

= १. दुष्टस्य भव्या वासना, महत्वंदत्तं—सुबोधमंजरी।

२. दुसट सासना कहतां बुरी सजा दीनी—ढूंढाड़ी टीका।

३. वासना–महत दीधउ—वनमालीवल्ली।

४. सासना–सिख्या भली दीधी—नारायणवल्ली ।

५. दंड–१. संपादकत्रय

२. श्रीदीक्षित

६. सजा, दंड—श्रीस्वामीजी ।

विमर्श—उक्त दोनों पाठांतरों में से यदि 'सासना' को स्वीकार लिया जाय तो यह शब्द निश्चित ही 'शासन' से संबंधित होगा जिसका अर्थ 'दंड, निर्णय, अनुशासन' आदि लिया जा सकता है; पर उक्त उद्धरणोंमें एक टीकाकारने इसे 'सीख' का पर्यायवाची माना है, इस तरफ भी ध्यान रखना उचित है।

(३०) ढ़ाला, १६५ 'आहुटि'

= १. पश्चाद्वलित्वा पुनस्तत्र गंतुकामा भवतीति कुलज्जानिदानं—सुबोधमंजरी।

२. एकबार तो द्वारे आय कान दे आहट सुणे छै—ढूंढाड़ी टीका।

३. पाछीवळी नइ—१. वनमाली०।

२. नारायणवल्ली ।

४. आहट पर—१. संपादकत्रय

२. श्रीस्वामीजी।

५. आहट—श्रीदीक्षित ।

विशेष—'आहुटि' शब्दका प्रयोग 'आहट' अर्थके लिये राजस्थानी साहित्य

में देखनेको नहीं मिला। इस शब्दसे मिलता जुलता एक 'ओहट्टा, अहुट्टि' शब्द का प्रयोग 'गुप्त, छिपते हुए, लुप्त' अर्थ में मिलता है। इसका तथा उक्त शब्द का संबंध विचारणीय है।

अन्य उदा०—१. आगै खबर फिरै ओहट्टा—राजरूपक, पृ० ६५

२. पथिक वधु पय दृष्टि अहुट्टि—पृथ्वीराज रासो, ११-३३

(३१) द्वाला, १८७ 'दीह'

= १. दिनानि—सुबोधमंजरी।

२. दिन—१. ढूंढाड़ी टीका।

२. नारायणवल्ली।

३. दीह—वनमालीवल्ली।

४. दिन—संपादकत्रय।

५. दिन—(दिवस, दिग्रह)—श्रीस्वामीजी।

६. बड़ा—श्रीदीक्षित

विमर्श—श्रीदीक्षितजी के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकारों के अर्थ ठीक हैं। श्रीदीक्षितजी ने 'दीह, दीर्घ = बड़ा' मानकर कल्पित अर्थ किया प्रतीत होता है।

(३२) द्वाला १८९ 'दळि'

= १. दलयित्वा संचूर्ण्य—सुबोधमंजरी।

२. दली-पीसी घालि—१. वनमालीवल्ली।

२. नारायणवल्ली।

३. अंगो पर—संपादकत्रय।

४. शरीर में—श्रीस्वामीजी।

५. शरीर पर—श्री दीक्षित।

विमर्श—उक्त उद्धरणों में प्राचीन टीकाकारों एवं नव्य टीकाकारों में भेद स्पष्ट है। नव्य टीकाकारों ने संभवत: ढूंढाड़ी टीका को आधार बनाया है; परंतु अर्थ की प्रामाणिकता का झुकाव प्राचीन टीकाकारों की ओर ही अधिक प्रतीत होता है।

(३३) द्वाला, १९२ 'विहाणै'

= १. नवेनवे निष्पादिते स्थाने पूर्वदिन भुक्तं परित्यज्य सद्यस्कमङ्गी चक्रे —सुबोध मंजरी।

२. नित नित—ढूंढाड़ी टीका।

३. जे नवउ नवउ थानक-घर पहिलिइ दिनइ भोगव्यउ जे घरते छोड़ी नवउ घर अंगीकार करइ—१. वनमालीवल्ली।

२. नारायणवल्ली।

४. प्रत्येक नए प्रभात में—संपादकत्रय ।

५. नए प्रातःकाल (विभात)—श्रीस्वामीजी ।

६. विधि— श्रीदीक्षित ।

विमर्श—श्री दीक्षितजी ने अकादमीवाली प्रति के परिशिष्ट में दी गई कोष-व्याख्या के चक्र में फँसकर कल्पित अर्थ किया प्रतीत होता हैं। शेष टीकाकारों में से संपादकत्रय एवं श्रीस्वामीजी द्वारा किया गया अर्थ अधिक स्पष्ट है।

अन्य उदा०—विहाणू नवो नाथ जागो वहेला ।—नागदमण, छंद १

(३४) द्वाला, १९४ 'बलाहकि'

= १. बकि—सुबोधमंजरी ।

२. बगुली—१. ढूंढाड़ी टीका ।

२. वनमालीबल्ली

३. नारायणबल्ली ।

३. बादल—१. संपादकत्रय ।

२. श्रीदीक्षित ।

४. बादल या बलाका—श्रीस्वामीजी ।

विशेष—यद्यपि 'बलाहक' बादल का पर्यायवाची है, परंतु यहाँ पर 'बलाहकि = बगुली' अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

(३५) द्वाला, २०३ 'आधोफरै'

= १. अर्धमार्गे गगनमध्ये—सुबोधमंजरी ।

२. दुहुं तरफां—ढूंढाड़ी टीका ।

३. आधइ मारगि आकास मध्यइ—१. वनमालीवल्ली ।

२. नारायणवल्ली ।

४. छज्जों पर—संपादकत्रय ।

५. आधे आकाश में, अधर में, (या छज्जों से)—श्रीस्वामीजी ।

६. छज्जों पर—श्रीदीक्षित ।

विमर्श—प्राचीन टीकाकारों के अतिरिक्त नव्य टीकाकारों में से श्रीस्वामीजी को छोड़कर अन्य सभी ने इस शब्द को बिल्कुल नहीं समझा है। श्रीस्वामीजी की स्थिति भी संदेहास्पद ही है। प्रस्तुत 'आधो फर' शब्द राजस्थानी साहित्य में बहुप्रचलित शब्द है और इसका अर्थ 'बीच, मध्य' लिया जाता।

अन्य उदा०—१. डूंगरड़ा आधोफरि, लगगउ सीयली वाय ।

—पर्वरिका (ह० लि०)

२. यहु संसार धार में डूबे, अधफरि थाकि रहे ।–कबीर ग्रंथावली, पृ० ३१०
३. भौजल अधफर थाकी रहेदें ।–वही, पृ० ३१८
४. मारग पूगलि आधोफरे, एकणि पुहरे पुहकर परइ ।–ढोलामारू, दू० २७०
५. आडावले आधोफरइ ।–वही, दू० ४३६
६. धरा व्योम आधोफरै उड्डिड धज्जं ।–खिड़ियाजगा-वचनिका, पृ० ८

(२६) द्वाला, २१५ 'भुगति' 'रासि'

= १. नवैर्नवैः पक्वान्नैः सुगंधद्रव्यादिभिर्वस्त्रैश्च ।–सुबोधमंजरी ।
२. सुतो रास की क्रीड़ा करि समस्त वितीत हुयैं छै ।–ढूंढाड़ी टीका ।
३. नवा नवा पकवान तीए सुगंध द्रव्य वस्त्रे करी ।–१. वनमालीवल्ली ।
२. नारायणवल्ली ।
४. रास क्रीड़ा में व्यतीत होती है ।–संपादकत्रय ।
५. भोगों की राशि, अनेक भोग ।–श्रीस्वामीजी ।
६. विषयोपभोग, रास क्रीड़ा ।–श्रीदीक्षित ।

विमर्श–उक्त टीकाकारों में से प्रथम, तृतीय और पंचम को छोड़कर अन्य सभी ने मनःकल्पित अर्थ किए हैं। 'भुगति' 'भगति' राजस्थानी साहित्य का बहु-प्रचलित शब्द है।

अन्य उदा०–१. करइ भगति राजान क्रुसन री ।–वेलि, १४८
२. भोजन भगति करई तिणबार ।–वीसलदेव रास, १४
३. भोज भगति जुगति जुजूई ।–सदयवत्स वीरप्रबंध, ५०१
४. पूगल भगतां नवी नवी ।–ढोलामारू, दूहा ५६४
५. ढोलो कुमर पधारिया भगत करो बहुभंत ।
–वही, दूहा २४५
६. कासु भगत करेस ।–वही, दूहा २४६
७. भगती करी परधान नह तणी ।–वही, २२३
८. भीमसेन भगताविया नलरायह परधान ।
–वही, दूहा (परिशिष्ट)
९. भगति घणी मंडइ बहु भाय ।–वही, दूहा (परिशिष्ट)

(२७) द्वाला, २१६ 'भीरिकजि'

= १. सहायत्वे समागतः ।–सुबोधमंजरी ।
२. सहाय मांगिवा कै काजि ।–ढूंढ़ाड़ी टीका ।
३. भरिद्द आव्या–१. वनमालीवल्ली ।
२. नारायणवल्ली ।

४. पक्षयाचनार्थ—संपादकत्रय ।

५. सहायता के लिए—श्रीस्वामीजी ।

६. कष्ट पड़ना, कार्य से—श्रीदीक्षित ।

विमर्श—उपर्युक्त टीकाकारों में से श्रीदीक्षितजी ने तो 'भीर' का अर्थ बिल्कुल ही नहीं समझा है और संपादकत्रय भी संदेह में हैं। शेष सभी टीकाकारों ने अर्थ ठीक किया है ।

अन्य उदा०—१. तुं भोमि भरथरी भीर भगतरी ।—पीरदान ग्रं०, पृ० २१
२. सझि दैत सांमला भीर नमंयो भगतांनां ।—वही, पृ० ५५
३. भाइयां री वेगि करी भीर ।—वही, पृ० ६०

(३८) द्वाला, २२७ 'रीरी, रोरी, रोर'

=१. रीरींति वादं स्वरेण—सुबोधमंजरी ।
२. सुर नीके करि ।—ढूंढाड़ी टीका ।
३. रोर—गाढ स्वर करी—१. वनमालीवल्ली ।
२. नारायणवल्ली ।
४. करि रोरी = हाथों में गुलाल—संपादकत्रय ।
५. रीरी करके, सुंदर ऊँचे स्वर से ।—श्रीस्वामीजी ।
३. रोरी = रोली ।—श्रीदीक्षित ।

विमर्श—उक्त टीकाकारों में जिन्होंने 'रोरी' पाठ मान कर उसका अर्थ 'रोली, गुलाल' किया है, वे राजस्थानी भाषा की प्रकृति से अपरिचित से प्रतीत होते हैं। प्रथम तो 'रोली' के लिए 'रोरी' पाठ भी संभावित नहीं है, यदि इसे मान भी लिया जाय तो इसका अर्थ गुलाल न होकर कूंकूं (रोली) होता है। जिसका फाग के खेल से कोई संबंध नहीं है। 'रोरी, रोर' शब्द का राग से ही संबंध प्रतीत होता है।

(३९) द्वाला, २३३ 'तोरण'

=१. तोरण—१. सुबोधमंजरी ।
२. ढूंढाड़ी टीका ।
३. वनमालीवल्ली ।
४. नारायणवल्ली ।
५. संपादकत्रय ।
६. श्रीस्वामीजी ।
२. बंदनवार—श्री दीक्षित ।

विमर्श—श्री दीक्षितजी के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकारों को 'तोरण' के वास्तविक अर्थ का ज्ञान है। श्री दीक्षितजी ने राजस्थानी सभ्यता एवं संस्कृति से अनभिज्ञ होने के कारण ही यह कल्पित अर्थ किया है।

विशेष—'तोरण' विवाह के अवसर पर मकान के मुख्य द्वार पर लगाया जानेवाला एक काष्ठ उपकरण होता है जिसके ऊपर काष्ठ विनिर्मित चिड़ियाँ व एक गणेशजी की मूर्ति लगी रहती है। वर्तमान में इसे रंगीन तस्वीरों द्वारा भी निर्मित किया जाने लगा है। मुख्य द्वार के ऊपरी भाग को जहाँ तोरण लगाया जाता है उसको शिल्पी 'तोरण' ही कहते हैं।

(४०) द्वाला, २४१ 'लसहय'

= १. श्रेणी: हयानामश्वानां लासरिति मन्दुरा—सुबोधमंजरी।
  २. घोड़ां की पाइगह—ढूंढाड़ीटीका।
  ३. श्रेणीते घोड़ांरी लासि—पायगा—१. वनमालीवल्ली।
  २. नारायणवल्ली।
  ४. घोड़ों की पंक्ति—संपादकत्रय।
  ५. घुड़साल में—श्रीस्वामीजी।
  ६. हयलास = सईस—श्रीदीक्षित।

विमर्श—उक्त सभी टीकाकारों में से प्राचीन टीकाकारों ने लास शब्द को समझा है, पर संदेहास्पद स्थिति में। नव्य टीकाकारों में से संपादकत्रय को छोड़ कर अन्य किसी ने इसे नहीं समझा है। श्री दीक्षितजी ने तो शब्द विपर्यय करके अर्थ करने में कमाल ही दिखाया है, फिर भी यह अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। 'लास' शब्द का अर्थ 'पंक्ति, श्रेणी, समूह' लिया जाना चाहिए।
अन्य उदाहरण—१. अस छूटै ल्हास उतावालियं।—मेह, पाबूजी धांधलरो, छंद, १६
२. साथि आवइ घोडांनीं लास।—कान्हड़दे प्रबंध, १७८

*

वैदिक वाङ्मय में वृषभ

माताप्रसाद त्रिपाठी

ऋग्वेद भारतीय वाङ्मयका प्राचीनतम ग्रंथ है। ऋग्वेदीय ऋचाओं में वृष, वृषा, वृषभ एवं उनके वैभक्तिक रूपांतरों का कुल ६-८ बार प्रयोग हुआ है। इसमें मूलतः 'वृषभ' के वैभक्तिक शब्द लगभग २०० बार और वृष एवं वृषा के अन्य रूपांतर ४०० से अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं। खिलांश में 'वृषभ' एवं 'वृषभाणाम्' का एक-एक बार उल्लेख है। वृषभके समानार्थी ऋषभ, वंसग, उक्षा एवं अनड्वान् तथा उसके रूपांतरों का क्रमशः ४, १०, ६६, एवं २ बार उल्लेख हुआ है।[1] इस प्रकार ऋग्वेद के प्राथमिक स्तरों से ही वृषभ' शब्द का प्रयोग अनेकत्र मिलने लगता है। इन उल्लेखों से वृषभ के स्वरूप, उपमानत्व एवं उसकी अथर्वत्ता का परिज्ञान होता है। एक विशेष अर्थ में यह ऋग्वेदीय देवों के विशेषण अथवा उपमान के रूप में वर्णित है। (प्रमुख वैदिक देव) इंद्र को प्रायः नियमितरूप से 'वृषभ' कहा गया है और यही शब्द अपेक्षाकृत कुछ कम बार अग्नि तथा कभी-कभी द्यौस जैसे देवों के लिये भी व्यवहृत हुआ है।[2] इनके अतिरिक्त सोम, मरुत्, रुद्र, सूर्य आदि प्रायः समस्त ऋग्वेदीय देवों के उपमान अथवा विशेषण रूप में प्रयुक्त है। उत्तरवैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में भी ऋग्वेदीय देवों की स्तुति में प्रायः इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

विचारणीय है कि वैदिक साहित्य में 'वृषभ' शब्द के प्रभूत प्रयोग का क्या अभिप्राय था ? अवश्य ही वैदिक वाङ्मय में यह शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा, अन्यथा यह स्वीकार करना होगा कि समस्त वैदिक देवता इसके रुढ़िगत अर्थ 'बैल'के रूप में प्रतिष्ठित थे—जो (अर्थ) सर्वथा अग्राह्य है। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय का प्रत्येक शब्द अपनी अर्थवत्ता के कारण ही महत्व रखता है। कालांतर में इन शब्दोंके रूप रुढ़िगत होते गए और आंग्लभाषी पाश्चात्य वैदिक अध्येता, इन शब्दोंके अनुवाद में शब्दार्थ की अज्ञानता अथवा रुढ़िगतरूपों की अंधानुकृति के कारण उनका यथार्थ अनुवाद न कर सके। उदाहरण स्वरुप 'वृषभो रोरवीति इंद्रः' का अर्थ 'इंद्र

१. ऋग्वेद संहिता, भाग ५, सूची खंड (१९५१) वैदिक संशोधन मंडल, पूना।

२. वैदिक माइथोलोजी (मैक्डानल) अनु० रामकुमार राय, पृ० २८६।

बहुत रँभानेवाला बैल है' (इंद्र द ग्रेट रोरिंग बुल) किया गया है। इन विद्वानों ने इस प्रकार के हास्यास्पद अनुवादों द्वारा वैदिक देवों को बैल अथवा (अन्यत्र) घोड़ा[3] बनाने में कुछ कसर उठा नहीं रखी है। वस्तुतः मेघ-वर्षण, रेत-निषिंचन आदि कर्म सब वृष् धातु के किसी न किसी भाव से संबद्ध है, इसके अर्थ वीर्यसंपन्न पुरुष के हैं।[4] बैल भी वृषशक्ति का भंडार है, इसलिये उसे भी 'वृष' कहते हैं। इसी तरह काम, मेघ आदि भी वृषसंज्ञक हैं। परंतु कालांतर में वृष बैल के लिये रूढ़ हो गया।

वृषभ शब्द के भाषावैज्ञानिक रूप–वृषभ योरोपीय भाषा परिवार का एक शब्द है। भारोपीय भाषा परिवार में इसके लिये किन शब्दों का प्रयोग किया गया है और वे कहाँ तक इस शब्द से ध्वनि अथवा अर्थ साम्य रखते है, ज्ञातव्य है। संस्कृत के वृष, वृषा, ऋषभ, और वृषभ के लिये ग्रीक में अर्सेन, अरेंस, एर्सेन और अरस-न शब्द कहे गए हैं। इन्हीं शब्दों के लिये अवेस्ता में अर्सन अथवा वेरेश्न तथा लैटिन में वेरेंस जिसका अर्थ (पुरुष) शूकर होता है, आया है।[5] ग्रीक भाषा में कहीं-कहीं पर वृषभ को 'अर्स्यो' या अर्यो कहा गया है।[6] ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त समस्त शब्द पुरुषवाची हैं, दूसरे शब्दों में वृषभ के लिये प्रयुक्त उपर्युक्त भाषाओं में जो शब्द मिलते हैं, वे (पशु अर्थ में) शक्तिमान् युवा वृषभ (साँड़) अर्थ के परिचायक हैं। इन शब्दों से वृषभ के पशुस्वरूप का ज्ञान होता है।

दूसरे अर्थ में वृषभ के लिये संस्कृत वाङ्मय में अनेक शब्द मिलते हैं। इस संदर्भ में 'उक्षा'[7] और 'ऋषभ'[8] दो शब्द महत्वपूर्ण हैं। उक्षा के लिये अवेस्ता में 'उक्सन' और ग्रीक में 'तौरु' शब्द मिलते हैं। यहाँ उक्षा का अर्थ सेचक है। सेचन अर्थ में भी यह शक्ति का प्रतीक समझा जासकता है। उक्षा अथवा वृषभ शब्द के लिये लैटिन में 'रोस' शब्द आया है जिसका अर्थ शक्तिशाली

३. द्रष्टव्य : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'वाजपेयविद्या' लेख जिसमें आपने वैदिक वाङ्मय के शब्दों की अर्थवत्ता पर ध्यानाकर्षण कराते हुए 'वाजपेय' यज्ञ की यथार्थतापर प्रकाश डाला है।–उरुज्योति (वैदिक अध्यात्म सुधा) १९५३, पृ० ५६-५७।

४. वही।

५. बक, सी० डी०—ए डिक्शनरी आव सेलेक्टेड सिनोनिम्स इन दि प्रिंसिपल इंडोयोरोपियन लैंगुएजेज, पृ० ८४-८५।

६. रिजडेविड्स—पाली डिक्शनरी, पृ० १५६।

७. उक्षन्—उक्ष् सेचने (सायण भाष्य) ऋ० ४।१।१०, १०।८६।१४,८।२५।२२।

८. ऋषभत्प्रशस्तं ऋषभम्—(सा० भा०) १०।६६।१।

या बलवान् होता है। संस्कृत की तव् धातु का जो बल (शक्ति) अर्थ के लिये प्रयुक्त होती है ग्रीक के 'तौरु' शब्द में स्पष्टतः ध्वनि एवं अर्थसाम्य है। संस्कृत 'उक्षा' और उसके (अन्य भाषाओं में) सगोत्रीय शब्द सेचनार्थक[९] हैं। वृषभ के लिये (उक्षा अर्थ में) इंडोजर्मनिक भाषा में इरेस अथवा 'रस' शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ सेचन करना है।[१०] इसके लिये ही लैटिन भाषा में 'रेस' तथा ग्रीक में 'एर्साई' शब्द प्राप्त होते हैं। इन तीनों शब्दों का अर्थ एवं ध्वनि साम्य संस्कृत के 'वृषभ' शब्द से है। इस संदर्भ में संस्कृत का 'अर्षति' शब्द उल्लेखनीय है। इससे संबधित शब्द 'ऋषभ' है साथ ही 'ऋषति', 'ऋषि' 'इरस्यति' और 'रस' शब्द भी एक ही धातु से संबंधित है।[११] 'अर्षति' शब्द बहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस शब्द से संबंधित 'रस' शब्द का अर्थ 'सारभूतत्व' अथवा 'सत्त्व' होता है। 'रस' रसति शब्द का एक रूप है और रसति शब्द से ही संबंधित शब्द 'रसित', रासम और रास तथा 'रस' हैं।[१२] रसति का अर्थ आवाज करना होता है। ध्यातव्य है कि वृषभ-गर्जना अथवा वृषभ हुँकार का ऋग्वेद में[१३] बहुत उल्लेख हुआ है।

उक्ष् धातु से 'ऊक्षति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'बहना' होता है, 'दक्ष' 'ओज' और 'उग्र' इसी से संबंधित शब्द हैं। छिड़कने अर्थ में 'उक्षति' शब्द के लिये ग्रीक में वग्रोस और लैटिन में उविदुस शब्द प्राप्य हैं साथ ही उक्षन् को लैटिन में उक्सोर कहा जाता है। संस्कृत का 'उक्षा' गोथिक का 'औक्ष' तथा अंग्रेजी का ओक्स एक ही शब्द के रूपांतर हैं। उक्त विवरण के आधार पर 'वृषभ' एवं उससे संबंधित अन्य संस्कृत शब्दों के भाषावैज्ञानिक रूप का ज्ञान होता है। उक्त विवेचन से वृषभ शब्द के दो अर्थ प्रीतत होते हैं—प्रथम उसका पुरुषवाची पुरुषत्त्व (पशु स्वरूप) और द्वितीय सेचक या कामपरक स्वरूप जिसके नाते वृषभ शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में व्यापक रूप में सार्थक सिद्ध होता है। निम्न तालिका से 'वृषभ' एवं उसके लिये विभिन्न भाषाओं के शब्दों की सूची द्रष्टव्य है।[१४]

९. बक, सी० डी०—वही, पृ० १५२-५५।

१०. रिजडेविडस्—वही।

११. मैन्फ्रेड मायहोफेर–ए कंसाइज एटीमोलाजिकल संस्कृत डिक्शनरी, भा० १, पृ० ५३।

१२. वही, लीफ्रंग १८, पृ० ४७-४८।

१३. ऋग्वेद १।४७।१, १०।१०२।५, १०।७५।३ आदि।

१४. रिजडेविड्स, वही, पृ० १५६; बक,—वही, पृ० ८४-८५; मैन्फ्रेड० वही, भा० १, पृ० ५३, ८८; १२५, लीफ्रंग १८ पृ० ४७-४८।

सगोत्र (वृषभ) शब्द-तालिका

क्रम संस्कृत	ग्रीक (यवन)	अवेस्ता (ईरानी)	लैटिन	अंगरेजी अर्थ	हिंदी अर्थ
१. वृषा, ऋषभ, वृषभ	अर्सेन, अर्रेम, एर्सेन, अर्रेम-न	अर्सन वेरेस्न	वेरेस वेर्सिस	बुल	बैल (पुरुष, वीर्य संपन्न अर्थ में)
२. तव् धातु	तौरु	उक्सन		ऑक्स	(बैल) शक्तिमान
३. गौ	बोउस	गवो		ऑक्स	बैल
४. गौ वशा	बोउस	गवो		काऊ	गाय
५. वत्स	मोसखोस			काफ	बछड़ा
६. गात्र:	बोएस	गावो		कैटिल	पशु
७. उक्षति	उग्रोस		उर्-दुस		छिड़कना
८. उक्षा[15]	एसाइ		उक्स।र रास		बैल; सेचक
९. ऋषभ[16]	अरर्यैन	अर्सन			बैल; श्रेष्ठ
१०. अर्षति	येर्रो			टु फ्लो	बहना

१५. वशा उक्षा—वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः (अथर्व १।१०।१)। यहाँ वशा का अर्थ ईश्वरीय नियम या नियामक शक्ति है। वशा का अर्थ पृथिवी (शत० ब्रा० १।८।३।१५) एवं संतानको वश में रखनेवाली उत्तम स्त्री तथा औषधि विशेष भी होता है। ऐसे ही उक्षा आदि वृषार्थक शब्द के सेचनसमर्थ अर्थात् पुष्टिकरण उक्ष-सेचने–उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः (ऋषभालः) वृषभ महौषधि के पत्रादि (उत) और वशाः —इस प्रकारके अर्थ ज्ञेय हैं। विशेष के लिये द्र० विद्यावाचस्पति धर्मदेव—वेदोंका यथार्थ-स्वरूप, पृ० २७८-७६।

१६. ऋषभ शब्द का अर्थ औषधि भी होता है उसका उल्लेख वाचस्पत्यम् वृहदभिधान एवं शिवराम आप्टे के संस्कृत-इंगलिश-शब्दकोश पृ० २५४ में मिलता है। ऋषभ को औषधिपरक अर्थ में सोम भी कहा गया है। ऋषभ नामक औषधि का वर्णन अथर्व० १६।३६।५ में आया है। इन प्रमाणों से ऋषभ का वीर्यवर्धक (औषधि) होना सिद्ध है। इसी अर्थ में वह वृषभ के समकक्ष रखा गया होगा।

पूर्वोक्त भाषावैज्ञानिक विवेचन एवं शब्द तालिका द्वारा वृषभ और उसके सजातीय या सगोत्रीय (कौग्नेट) शब्दों एवं अर्थों का ज्ञान होता है। वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त 'वृषभ' शब्द की अर्थगरिमा के स्पष्टीकरण के लिये इस शब्द की निरुक्ति, भाष्य एवं इसके पर्यायरूप का ज्ञान आवश्यक है।

निरुक्ति—निरुक्तिकार यास्क ने 'वृषभ' शब्द की निरुक्ति[१७] इस प्रकार की है—'वृषभः प्रजां वर्षतीति वाति वृहति रेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः—अर्थात् वृषभ प्रजा को बरसाता है, वीर्यनिषेक से प्रजोत्पत्ति करता है या बहुत वीर्यवर्षण के लिये अपने को उद्यत करता है इसलिये वृषभ में वृह् धातु उद्यमार्थक है। (तद् वृषकर्मा) इसलिये यह वर्षा करनेवाला है और (वर्षणाद्) वर्षण से ही वृषभ कहलाता है।

व्युत्पत्ति (सायण भाष्य)—ऋग्वेद के भाष्यकारों में सायण प्रमुख हैं अतः ऋग्वेद में बार-बार उल्लिखित 'वृषभ' शब्द का सायणभाष्य भी द्रष्टव्य है। ऋग्वेदीय टीकाकार सायण ने वृषभ शब्द का सामान्यतः 'कामानांवर्षिता' अथवा 'वर्षितापाम्' अर्थ किया है। तृतीय मंडल की एक ऋचा के भाष्य में उन्होंने 'वृषभ' शब्द की व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार वृषभ शब्द 'वृषु सेचने' अर्थात् सेचनार्थक वृष् धातु से बना है अतः 'वृषभ' 'सेचक' 'वर्षक' एवं कामनापूरक आदि अर्थों का शब्द है, यह सिद्ध होता है।

पर्याय एवं रूप—प्राचीन भारतीय वाङ्मय में (संस्कृत एवं पालि साहित्य में) वृषभ के लिये मुख्यतः तीन शब्द मिलते हैं—वृषभ, ऋषभ, और वुसभ। पर, जैसा कि पूर्वोक्त वर्णन में देखा गया इस अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली अन्य शब्दों की भी शब्दवाली हमें ऋग्वेद से ही मिलने लगती है। उक्षा (ऋ० १०।८६।१४); वंसग[१८] (१०।१०६।५) और ऋषभ (१०।१६६।१) वृषभ के प्रसिद्ध नाम हैं। इसी तरह पालि साहित्य में वृषभ के लिए वुसभ, निसभ, आसभ, इसभ, एसभ और वासभ—इस प्रकार के शब्द प्राप्य हैं जो सामान्यतः उसभ के रूपांतर हैं। वुसभ भी वृषभ का एक रूपांतर है। पाली भाषा में संस्कृत 'वृषभ' का 'वुसभ' हो जाता है।[१९]

कालांतर में 'वृषभ' शब्द बैल के अर्थ में रूढ़िगत होगया। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनिकाल तक वृषभ जनसामान्य में एक विशिष्ट पालनीय पशु

१७. निरुक्तम् ६।१७।

१८ वृषा यूथेव वंसगः, ऋ० १।७।८।

१९. वृ० पाली डिक्शनरी, वही, पृ० १५६,

हो गया था। अष्टाध्यायी[20] में बछड़े को 'वत्स', दो वर्ष की उम्र में 'दित्यवाह्', विकसित स्वस्थ रूप को 'आर्षभ्य' कहा गया है। इसी तरह तरुण रूप को 'उक्षा' तथा उसकी विकसित अवस्था में उसे क्रमश: उक्षतर, महोक्ष और वृद्धोक्ष अथवा ऋषभतर की संज्ञा दी गई है। रथ एवं हल में चलनेवाले बैलों का नाम 'रथ्य' (४।४।७६), युग्म (४।४।७६), धुर्य और धोरेय (४।४।६६), शाकट (४।४।८०) हालिक या सैरिक (४।४।८१), वाम-दक्षिण (बाँव-दाहिन) दोनों तरफ चलनेवाले को 'सर्वधुरीण' और एक ही तरफ चलनेवाले को 'एकधुरीण' की संज्ञा प्राप्त थी। वृषभ के उक्त नाम अमरकोश में भी मिलते हैं।[21]

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय में 'वृषभ' एवं उसके सगोत्र अथवा सजातीय 'उक्षा' ऋषभ आदि शब्द अपने व्युत्पत्तिगत वैशिष्ट्य के कारण एक विशेष अर्थ के बोधक हैं। बैल अर्थ में यह शब्द स्वल्पसंख्यक ऋचाओं में ही प्रयुक्त हुए हैं। वह भी अपने वृष-शक्तिगुण के कारण। विद्वानों के वैदुष्य ने इन ऋचाओं की जो अन्यार्थक मीमांसा की है वह निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति की अज्ञानता में शब्दार्थ की गड़बड़ी से उत्पन्न हुई है वस्तुत: वृषभ, ऋषभ, वशा एवं उक्षा आदि अन्यार्थव्यावर्थक शब्द है।

२०. वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० २२४-२६।

२१. अमरकोश—उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृष। अनड्वान्सौरभेयो गौ।—अमरकोश, २।६।५६-६०।

'विद्यापति-पदावली' में अर्थसंशोधन के कुछ सुझाव

माताप्रसाद गुप्त

•

'विद्यापति पदावली' के कई संस्करण प्राप्त हैं, इनमें से अंतिम, जिसका प्रथम खंड ही प्रकाशित हुआ है, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का है। इसके संपादक हैं श्री काशिनाथ झा और दिनेश्वरलाल 'आनंद'। यह खंड विद्यापति के उन्हीं पदों से संबंधित है जो नेपाल की एक प्राचीन प्रति में पाए जाते हैं। इसमें विभिन्न पदों का उक्त प्रति का पाठ मोटे टाइप में देते हुए अन्य प्रतियों एवं प्रमुख संस्करणों के पाठ पाठांतर के रूप में दिए गए हैं, और पाठ के संबंध में संपादकीय अभिमत भी दिया है। साथ ही कठिन शब्दों के अर्थ देते हुए प्रत्येक पदका अर्थ भी दिया गया है। यहाँ पर मैं केवल इस संस्करण में दिए गए कुछ शब्दों और उनके अर्थों पर संक्षेप में अपने सुझाव प्रस्तुत करूँगा। आशा है कि इनपर पदावली के विद्वान् संपादक तथा अन्य विद्यापति-प्रेमी सज्जन विचार करेंगे।

इस लेखमें जो संक्षेप प्रयुक्त किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं—

झा० । श्री सुभद्र झा द्वारा संपादित संस्करण,

न० गु० : श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संपादित संस्करण,

ने० : नेपाल की प्रति,

मि० म० : श्री विमानविहारी, खगेंद्रनाथ मित्र एवं मजूमदार द्वारा संपादित संस्करण,

राम० : रामपुरा की प्रति,

सं० अ० : संपादकीय अभिमत, जिसका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है,

पा० स० म० : पाइअ सद्द महण्णवो—संपा० हरगोविंद त्रिकमजी सेठ,

मोनियर विलियम्स : संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—संपादक : मोनियर विलियम्स।

कुछ पुस्तकोंसे उद्धरण दिए गए हैं, उनके प्रयुक्त संस्करण इस प्रकार हैं—

कीर्तिलता : संपा० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक साहित्यसदन, चिरगाँव, झाँसी।

कबीरग्रंथावली : संपा० डा० श्यामसुंदरदास तथा पीतांबरदत्त बड़थ्वाल नागरीप्रचारिणी सभा, बाराणसी।

कवितावली—'तुलसी ग्रंथावली' का नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण।

पदमावत—संपा० प्रस्तुत लेखक, प्रकाशक—भारतीभंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

मृगावती—संपा० प्रस्तुत लेखक, प्रकाशक—प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा।

१

१.१३-१४ : घर गुरुजन दुजन शंका 'न गुनह' माधव 'मोहि' कलंका।

'न गुनह' के स्थान पर राम० में 'लओलह', न० गु०, मि-म० तथा ने० में 'नगुनह' और झा० में 'गुनह' है। सं० अ० में पाठ 'लओलह' सुझाया गया है। 'नगुनह' को 'न' तथा 'गुनह' के रूप में लेते हुए और 'मोहि' का अर्थ 'मुग्ध होकर' करते हुए चरण का अर्थ किया गया है : हे माधव! तुमने मुग्ध होकर कलंक का विचार नहीं किया। 'गुनह' से सामान्य भूतकाल का अर्थ 'विचार किया' नहीं लिया जा सकता है। 'गुनह' से 'गुनो—विचार करो' का अर्थ भले ही लिया जाए। किंतु वस्तुत: शब्द 'न गुनह' था, जिसका सुगम पर्याय राम० में 'लओलह' है। इस पाठ-विकार की पृष्ठभूमि में भाषाविकार कुछ इस प्रकार हुआ लगता है : नगुनह—लगुलह—लगउलह—लअउलह—लओलह। पुरानी मैथिली में ल ध्वनि के स्थान पर न इसी प्रकार और भी कुछ शब्दों में प्रयुक्त मिलता है, यथा नुकाएल (१३.३) में। (अउ) ध्वनि के लिए (उ) मात्रा का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासउ' की प्रतियों में अनेक स्थानों पर मिलता है; यथा : सुं (—सउं), भु (—भउ), सु (—सउ) (दे० प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित उक्त ग्रंथ की भूमिका, पृ० ८)। यह प्रवृत्ति कदाचित् अपभ्रंश-काल से ही प्रारंभ हो गई थी, इसी लिये वह इतने व्यापक क्षेत्र में मिलती है। 'मोहि' का भी अर्थ 'मुग्ध होकर' नहीं 'मुग्ध करके' होगा। किंतु यहाँ पर 'मोहि' प्रथम पुरुष सर्व० का एक० कर्म का रूप है। अत: चरण का अर्थ होना चाहिए : हे माधव, तुमने मुझे कलंक लगा दिया।

२

२.२ : पथ निशाचर सहसे संचर 'घन पर' जलधार।

'घन पर' पाठ अन्य सभी प्रतियों और संस्करणों में है, केवल झा० में इसके स्थान पर 'घनतर' पाठ दिया गया है, और सं० अ० में घनतर स्वीकार किया गया है। शब्दार्थ में 'घनतर' = 'जोरों से' दिया गया है और अर्थ में 'घनघोर का समानार्थी' माना गया है। 'घनतर' पाठ तभी संगत होता जबकि किसी 'घन' वस्तु की तुलना में उसका प्रयोग किया गया होता, जैसा कि यहाँ पर नहीं हुआ है। 'पर' वस्तुत: 'पर्' धातु का सामान्य वर्त० एक० का रूप है। पुरानी अवधी में यह—अ अंत्य रूप

प्रायः मिलता है (दे० 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण'–भाषाभूमिका, अनु० ७१) विद्यापति की कीर्तिलता में भी यह 'पर्' क्रिया मिलती है, और एक स्थान पर वह–अ अंत्य है, तथा दूसरे स्थान पर —उ अंत्य :

भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअ राए गएनेस 'पर'। (१-२५)
मारंत राए रण रोल 'परु'। (२-२)

अतः 'घन पर' पाठ ही संगत और सार्थक है। चरणार्द्ध का अर्थ होगा—जब कि जलधारा सघनरूप में पड़ रही है।

३

३.७ : पिआ देसातर हृदय 'आतर' पर दुआरे समाद।

यद्यपि 'आतर' का कोई पाठांतर नहीं दिया गया है, सं० अ० में पाठ 'आंतर' सुझाया गया है, शब्दार्थ में 'आंतर = आतुर' दिया गया है और अर्थ भी 'आतुर' के साथ किया गया है। पाठ 'आंतर' ही संगत है, प्रतिलिपि-क्रिया में सानुनासिकता का बिंदु छूटा हुआ लगता है, किंतु 'आंतर = अंतर' है, और शब्द अन्यत्र भी इसी प्रकार 'आंतर' के रूप में और 'अंतर' के अर्थ में रचना में प्रयुक्त मिलता है :

अतिभयाउनि 'आतर' जउनि कैसे कए आउलि पार। (२.५)

फलतः विवेच्य चरण का अर्थ होना चाहिए : उन (प्रिय) के हृदय (हृदयगत भावों) में अंतर (पड़ा हुआ) है।

४

३.८ : काज 'विपरीत' बुझए न पारिअ अपद हो अपवाद।

'विपरीत' का अर्थ 'विपरीत' ही दिया गया है, जिससे आशय स्पष्ट नहीं होता है। पुरानी अवधी में 'बिपरित' शब्द भयानक, उग्र विषम आदि अर्थों में प्रयुक्त मिलता है :

फुनि रे सांप एक **बिपरित** आवा।—मृगावती २३३-१
सात सीस सों आएउ **बिपरित**।—वही १२८-६
बिपरित मोंट न रेंगा जाई।—वही, १६६-५
इहां भुअंगम **बिपरित** पेखा।—वही, ११०-२

पदावली के उद्धृत चरण में भी 'विपरीत' इसी प्रकार प्रयुक्त हुआ लगता है।

५

४.८ एत दिन रस तोहे 'बिरसल' अबहु नहि बिराम।

अर्थ किया गया है : 'इतने दिन तुमने रस को विरस (शुष्क) किया'। किंतु 'बिरसल'का अर्थ 'विरस किया' नहीं है, कहीं भी शब्द इस प्रकार प्रयुक्त नहीं मिलता है। 'बिरस' 'बिलस्' = 'विलास करना' है; 'रस बिरसल' का अर्थ होगा 'रस का विलास किया', तभी 'अबहु नहि विराम = अब भी तुम्हें विराम नहीं हुआ' कहना सार्थक और संगत होगा।

६

८.१० : '....' 'सेनेह' बरए जनि दीबे।

चरण का प्रथम शब्द ने० में त्रुटित है। न० गु० ने तरौनी प्रति के आधार पर उसका पाठ 'बिदु' किया है, मि-म० ने अज्ञात आधार पर उसका पाठ 'बिनु' दिया है, सं० अ० में 'बिदु' सुझाया गया है, किंतु अर्थ 'बिनु' पाठ के अनुसार 'विना' किया गया है। 'जनि' 'जनु = मानो' है, और बिना तेल के दीपक के जलने की कल्पना नहीं की जा सकती है, इसलिये बिनु पाठ संभव नहीं है। स्वीकृत पाठ में 'से' तथा 'नेह' को अलग-अलग रक्खा गया है। वस्तुतः 'सनेह : स्नेह' है और उसे एक शब्द के रूप में होना चाहिए था। 'बिदु सेनेह' का अर्थ होगा : 'बिंदु [मात्र] स्नेह (तेल) से......'।

७

१०.५ : 'हेरि हल' सुंदरि सुनति बचन रे।

'हेरिहल' को एक शब्द मानकर शब्दार्थ में उसका अर्थ 'देखो' किया गया है। वस्तुतः 'हेरि' तथा 'हल' दो शब्द हैं, 'हेरि = देखो' है, 'हल = हला' संबोधन का अव्यय है (दे० मोनियर विलियम्स में शब्द)।

८

११.६ : कहिलिओ 'कहिनी' कहवि कत बेरि।

'कहिनी' का शब्दार्थ 'कथा' और अर्थ 'कहानियाँ' किया गया है। प्रसंग कथा-कहानी का नहीं है, 'कथनी = कथनीय बात' का है, और बाद में शब्द पुनः अर्थ में प्रयुक्त मिलता है :

अपने रभसे कर कहिनी कान। (११.८)

९

१३.१ **कोकिल कुल कलरव काहल बाहर बाजे।**

'बाहर' का अर्थ 'कहीं दूर से' किया गया है। किंतु यह 'बाहर'— 'बाहल' = व्याहत-व्याघात किया हुआ, ताड़ित' है। 'काहल' एक प्रकार का ढोल होता ही है।

१०

१३.७ **वेदन सहए न 'पार'।**

'पार' का शब्दार्थ है किया गया है 'है'। 'पार = सकना' है, यथा :
सहहि न पारइ·· ···(कीर्तिलता ३.७)

११

१३.९ **सिरिस कुसुम सेज 'ओछाओल' तहू न आवए नीन्द।**

'ओछाओल' का अर्थ 'बिछाई' किया है। 'ओछाओल—अवच्छादित' है; अर्थ होगा : शिरीश कुसुमों से शैया अवच्छादित थी।

१२

१५.१ : **सजल नलिनि दल सेज सोआइय परसे जा असिलाए।**

'सोआइय' का शब्दार्थ 'सुलाती हूं' करते हुए चरण का अर्थ किया है— 'सजल नलिनि दल की शैया पर सुलाती हूं, तो स्पर्श से ही वह कुम्हला जाती है।' स्पष्ट है कि इस अर्थ में 'वह' से अभिप्राय 'नायिका' का है। न० गु० तथा मि-म० ने पाठ 'ओछाइय' दिया है। यह शब्द १३-९ में ऊपर आचुका है और अधिक संगत लगता है। अर्थ होगा : शैया को नलिन-दल से ओछाइए (अवच्छादित कीजिए), तो वह (नलिन-दल) उसके स्पर्श करने से असिलाता है। 'असिलाना = अशील होना, शील-रहित होना, गुण-रहित होना' है।

१३

१५.३.६ : **'साजनि' सुदृढ़ कइ ए जान।**

'साजनि' से अर्थ 'सखी' लिया गया है। किंतु यह द्रष्टव्य है कि इसके पूर्व की पंक्तियों में कृष्ण को संबोधन है और निवेदन नायिका की विरह-दशा का किया गया है :

सजल नलिन दल सेज ओछाइय परसे जा असिलाए।
चान्दने नहि हित चान्द बिपरित करब कओन उपाए॥

और बाद की पंक्ति में भी जहाँ चलता है, उसमें कान्ह संबोधनकारक में आता है, कर्ता कारक में नहीं, जैसा कि माना गया है—

तोहि बिनु दिने दिने तनु खिन विरहे विमुख कान्ह। (१५.४)

वस्तुत: पूरे पद में विरहिणी की विरहदशा का ही निवेदन है, कृष्ण का नहीं, यह बाद की पंक्ति में आए हुए स्त्री विशेषण 'तेजलि' से भी प्रकट है—

कारनि बैदे निरसि 'तेजलि' आन,नहि उपचार। (१५.५)

अत: 'साजनि' 'स्वजन' से संबोधन कृष्ण का मानना होगा। ठीक इसी प्रकार शब्द अन्यत्र भी कृष्ण के संबोधन में आया है :

सुनि सुनि 'साजनि' बचन हमार। (११८.३)

१४

१९.८ : **'मनाहु मुह मलान न करब ·····।**

'मानहु मुह' का अर्थ 'मन एवं मुह को' किया गया है। 'मन को' के लिये शब्द 'मनहु' होता। 'मनाहु'—मनाग् अपि = तनिक भी' है।

१५

१९.१२ : **'निकृत' नेह निमेषेओ बहुत 'नइछछ' छैले ओ जान।**

अर्थ किया गया है : शठ (नायक) का प्रेम निमेष मात्र के लिये भी बहुत है, निछक्का (सच्चा) छैला ही उसे जानता है। शठ (नायक) के प्रेम को निछक्का (सच्चा) छैला ही जानता है, यह अर्थसंगतिहीन लगता है। 'निकृत = शठ' नहीं है, 'शठ' अर्थ अनुमान से ही किया गया लगता है। 'निकृत' कदाचित् शुद्ध पाठ भी नहीं है, शुद्ध पाठ कदाचित् 'निकरित = सारीकृत, सर्वथा संशोधित' है (दे० 'निकरिय' शब्द पा० स० म० में)। 'नइछछ' भी 'निछक्का' नहीं है और न 'निछक्का' का अर्थ 'सच्चा' होता है, 'णिछक्क = निर्लज्ज, 'धृष्ट, अवसर को न जाननेवाला'-आदि होता है (पा० स० म०)। 'छछ' संभवत: 'स्वच्छ' है, और 'नइछछ' संभवत: 'अति स्वच्छ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

१६

२०.७ : **पेअसि समाद सुनिअ हरि**
विसमय 'करु पाए' ततहि बेरा।

'करु पाए' का अर्थ 'प्रयाण किया' किया गया है, जिसका कोई आधार नहीं है। 'करु' 'कर' का संबंध कारक एक० पु० का परसर्ग है, जो 'करो' के रूप में 'कीर्ति-

लता' में कम से कम डेढ़ दर्जन स्थानों पर प्रयुक्त मिलता है (दे० 'कीर्तिलता' की शब्दानुक्रमणी), 'पाए = प्राप्त किया', तथा 'विसमय = विषाद, परेशानी' हैं। चरण का अर्थ होगा : जब हरि ने प्रेयसी का यह संवाद (संदेश) सुना, तब उन्होंने विस्मय (–सागर,) का बेड़ा प्राप्त किया।

१७

२०.८ : **कबि भने विद्यापति रूप नरोएन लखिमा देवि 'सुसेला'।**

सं० अ० में पाठ 'सुसेरा' का सुझाव देकर कदाचित् उसके आधार पर शब्दार्थ 'सुंदर आश्रय' किया गया है, और चरण का अर्थ किया गया है : कवि विद्यापति कहते हैं—रूप नारायण लखिमा देवीके सुंदर आश्रय हैं। पद का प्रसंग भिन्न है; कृष्ण किसी कामिनी से मिलने के लिये आतुर हैं और उसने एक संदेश भेजा है, जिससे उन्हें विस्मय-सागर से संतरण केलिये बेड़ा मिल गया है। इस अवस्था में आश्रय वह कामिनी हुई जिसके प्रेम में कृष्ण विह्वल हैं, कवि के आश्रयदाता-दंपति में इसी प्रकार आश्रय हुई लखिमा देवी और उस आश्रय के लिये आतुर हुए रूपनारायण।

१८

२१.५-६ : **जे मधु भमर निन्दहु सुमर बासि बिसरए न पार।**
'एलि' मधुकर जहि उडि पल सेहे ससारक सार॥

'एलि-एडि = अहित कर' कहा गया है और अर्थ 'पास आने पर' किया गया है। किंतु 'एड् (दे०) = त्याग करना, छोड़ना' है (पा० स० म०)। इस 'एडि' का कर्म पूर्व के चरण में आया हुआ 'जे (पुष्प)' है। यह शब्द रचना में अन्यत्र भी आया है, यथा—कमलिनि एडि के तकि गेला। (१८४.१)

दूरहु दुगुण एडि मञे आवओ……। (१६६.३)

१९

२४.९ : **सुपहु क बचन [दु ?] रह सम अखलल भान।**

'अखलल' का अर्थ अक्षर (टस से मस न होनेवाला) किया गया है। 'अखलल' मेरी राय में 'अस्खलित' अथवा 'अस्खल+ल (स्वार्थिक) है, जिसका अर्थ होगा 'स्खलित न होनेवाला।'

२०

२५.३४ **कहब पथिक पिया मन दृए रे जौवन बले चलि जाए।**
जञो आविअ तञो अइ (स) ना, आओब विजयी रितुराज।

'अइ ना' को 'अइ (स) ना' मानकर उसका अर्थ किया गया है 'इस अव-

सर में,' और चरण का अर्थ किया गया है : यदि आना हो तो ऐसे ही अवसर में आए जब तक कि विजयी ऋतुराज है। 'अइ-अस् = यह' है, अर्थ होगा यदि आप (बाद में) आए भी, तो यह जो (?) विजयी ऋतुराज है (लौटकर) न आएगा।

२१

२९.२६ : **कामिनि पिआ बिरहिनी। रहलि कहनी।**

अर्थ किया गया है : कामिनी प्रिय की विरहिणी हो गई; (प्रिय की) केवल कहानी रह गई। किंतु दोनों वाक्यों में परस्पर कोई संबंध नहीं है। अर्थ कदाचित् होना चाहिए : वह कामिनी (कमनीय कलेवर वाली स्त्री) प्रिय की विरहिणी [होकर] (ऐसी क्षीणकाया हो गई है है कि) एक कहानी मात्र रह गई है।

२२

३२.७-८ : **'बहिर' होइआ नहि कहिअ समाद।**
होएतो हे सुमुखि पेम परमाद॥

अर्थ किया गया है : संवाद नहीं कहने से (संवाद ले जाने वाला) बहरा हो जाता है। (इसी लिये मैं संवाद कह रही हूँ।) हे सुमुखि, (नहीं जाने से) प्रेम में प्रमाद हो जायगा। संवाद न कहने से संवाद ले जानेवाला गूंगा हो जाता है—ऐसा विश्वास कभी रहा हो, यह संभव है, किंतु वह बहरा हो जाता है–ऐसे विश्वास की कल्पना नहीं की जा सकती। 'बहिर-वहि: = बाहर' है और न० गु० में वह पाठांतर के रूप में है भी। उद्धृत दूसरे चरण के अर्थ में '(नहीं जाने से)' शब्दावली पता नहीं किस आधार पर रख दी गई है। अर्थ सीधा है : उन्होंने जो संवाद (भी) कहा, वह बाहर होकर (खुलकर) नहीं कहा, क्योंकि तब हे सुमुखि, (सुननेवाले या संवादवाहक को उस गोपनीय) प्रेम का भ्रम हो सकता था।

२३

३३.७ : **थोथल थैआ थन दुइ भेल।**

'थोथल थैआ' का अर्थ जर्जर किया गया है जो अनुमानाश्रित ही है। 'थोथल' है 'थोत्थ-थुत्थ+ला (स्वार्थिक) = थोथा, खाली' और 'थैआ-स्थगिका = थैली, कोथली' है (पा० स० म०)। अर्थ स्पष्ट ही है।

२४

३६.३ : **'अलुरि' धरब हमर उपदेस।**

'अलुरि' का अर्थ 'कर्तव्य-ज्ञान शून्य' किया गया है, किंतु इस अर्थ का आधार क्या है, यह नहीं बताया गया है। मेरी समझ में 'अलुरि = अलोल होकर, स्थिर होकर' है। शेष स्पष्ट ही है।

२५

३९.२ : **पुलकित तनु मोर कत धर भान्ति।**

अर्थ किया गया है : मेरा शरीर पुलकित हो गया; (उसने) कितने प्रकार (रूपरेखाओं) को धारण किया। किसी का शरीर रूपरेखाएँ धारण करना है, वस्तुस्थिति यह नहीं हैं। 'भान्ति-भाति = दीप्ति, प्रभा' है।

२६

३९.८ : **रस भरे ससरू 'कसनी' मोर।**

'कसनी' का अर्थ नीवी-बंध किया गया है। 'कसनी' एक प्रकार की चोली या स्तनपट्टिका है, यथा :

हुलसे कुच '**कसनी**' बंद टूटे।—पदमावत २८०.४

और यह बाद की पंक्तियों में भी प्रकट है :

करे कुच मंडल रहल्हि गोए। कमले कनकगिरि झापि न होए।

'ससर'-'स्रंस्' से है, जिसका अर्थ होता है 'ढीला होना, गिरना'। इसलिये विवेच्य चरण का अर्थ होगा : इस भार से विभोर होने के कारण मेरी कसनी ढीली हो गई।

२७

४२.३-४ : **अधर अरुण निमिष नहि होए।**
किसलय सिसिर छाडि 'हलु' धोए॥

'हलु' का अर्थ 'है' किया गया है। 'किंतु हलु = घल्ल्–डालना' (पा० स० म०) है। अतः दूसरे चरण का अर्थ होगा : (जैसे) शिशिर ने किसलयों को धोकर छोड़ (दिया) हो।

२८

४६.३ : **साए साए उगलि रे बथा।**

'साए' का अर्थ 'सखी' किया है, जिसका कोई आधार नहीं दिया गया है। 'साए–साइ = असत्य वचन, झूठ' है (पा० स० म०)।

२९

५२.३-४ : **कैतवे बारि सखीजन 'रंग'। अह अभिसार 'तूर' रतिरंग।**

दोनों चरणों के अंत में शब्द 'रंग' है, जो कि दोषपूर्ण है। न० गु० ने प्रथम चरण में तुक 'संग' दिया है, जो कि इस दोष से मुक्त और अधिक संगत है।

उद्धृत दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : (नायिका ने) दिन में अभिसार किया; (कारण) रतिरंग (का लक्ष्य) दूर था। यदि रतिरंग का लक्ष्य दूर था, तो नायिका ने दिवाभिसार ही क्यों किया ? न० गु० ने तरौनी प्रति का पाठ पूर दिया है। वही संगत है। फिर जो उद्धृत दूसरे चरण का अर्थ किया गया है वह भी असंगत है, क्योंकि अभी तो दिवाभिसार के लिये दूती नायिका को तैयार (प्रेरित) कर रही है। इसलिये अर्थ होना चाहिए : दिवाभिसार द्वारा रतिरंग पूरा करो। इसी प्रकार पद्य की अन्य दो क्रियाओं का भी अर्थ विधिरूप में लेना होगा यथा : धालि = धारण करे (चरण २), करहि = करे (चरण ५); अन्यथा चरण ५ में अभिसार करने के अनंतर अभिसारिका क्यों किसी से कहेगी : 'ए सखि, वचन करहि अवधान' ?

३०

५३.८ : **कौतुकहु किछु वाम न बोलब 'निउरि' आउबि हसी।**

'निउरि' का अर्थ 'निकट' करते हुए चरण का अर्थ किया गया है : कौतुकवश भी कुछ विरुद्ध न बोलिएगा, जिससे (वह पुनः) हँसती हुई निकट जायगी। यह भाव तो पद में पहले ही आ चुका है—

बिनु हकारेओ सुमिकेतन आवए दोसरि बेला।

पुनः 'निकट' से 'निअर' हुआ है, 'निउर्-निवृ-निवृत्त होना, निबटना' है। अर्थ होना चाहिए, जिससे वह (कार्य से) निवृत्त होकर हँसते हुए (वापस) आए।

३१

५४.५-६ : **'निधन' मागओ बिहि एक पए तोही।**
थिरता दिहह अवसानहु मोही।

'निधन' का अर्थ 'निर्धन–सं० = भिखारी' किया गया है, किंतु इस पाठ अथवा अर्थ से 'मागओ' क्रिया कर्महीन हो जाती है। न० गु० ने पाठ 'इ धन' दिया है, वही शुद्ध है। अर्थ स्पष्ट है।

३२

५७.२ : **अधरेओ 'ललए' बाढ टकटोरि।**

'ललए' का अर्थ 'चलता है' किया गया है। इस अर्थ से काम तो चल गया है किंतु पूरा आशय नहीं निकलता है। 'लल् = विलास करना, मौज करना,

भूलना है' (पा० स० म०)। इसलिये यहाँ पर 'लल्' का अर्थ 'धीमे-धीमे चलना' होगा।

३३

५७.३ : **फल पाओल कए तोह सनि 'सीठ'।**

'सीठ' का अर्थ 'गुप्त संबंध' किया गया है, किंतु इस अर्थ का आधार क्या है, यह नहीं बताया गया है 'सीट-शिष्ट = शिष्टता, सद्व्यवहार' है।

३४

५७.४ : **कएलह 'हाडी' बासक बीट।**

'हाडी' का अर्थ 'हांडी' करते हुए चरण का अर्थ किया गया है: तुमने मुझे बाँस की कोठी (बंसवाड़ी) की हांडी बना दिया। बाँस की कोठी में हाँडी कहाँ होती है, और उसकी विशेषता क्या होती है ? 'हाडी—हड्डी = अस्थि' है; यथा :

चौहते च्यंतामणि चढी हाँडी मारत हाथि।

(कबीर : साखी—शीर्षक ५.६)

विवेच्य चरण का अर्थ होगा; तुमने मुझे अस्थि-शेष कर डाला है, जैसे (पत्र-पुष्प से हीन) बाँस की कोठी होती है।

३५

६२.१–२ : **जहिआ कान्ह देल तोहि आनि।**
मने पाओल चौगुन 'बानि'।

'बानि' का अर्थ 'बंधन' करते हुए दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : तब मन में पाया कि (प्रेम का) बंधन चतुर्गुण हो गया है—जिसका कोई आधार नहीं है। 'बान' है 'वर्ण'। अतः दूसरे चरण का अर्थ होगा : उनका मन पाकर तुम चौगुने वर्ण की हो गईं। 'बानि' इस अर्थ में मध्ययुगीन साहित्य का एक बहुप्रयुक्त शब्द रहा है।

३६

६४.२ : **अछए सुरत रस हमरे 'पसारे'।**

'पसार' का अर्थ '(पण्यशाल–सं० = हाट' किया गया है। यहाँ पर प्रसंग से अर्थ 'दूकान' ज्ञात होता है, और रचना में अन्यत्र भी शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा:

अबहि उगत ससि तिमिरे तेजब ससि उसरत मदन **पसारे**। (२४२-४)

३७

६४.४ : **आरति मनि हलिअ अडाइ।**

'हुलिअ मडाइ' का अर्थ 'त्याग देना चाहिए' किया गया है। 'मडाना' अन्य कुछ हिंदी बोलियों का 'लड़ना = लुढ़काना, गिराना' है, और हल्—घल्ल = डालना है। अर्थ होना चाहिए : प्रीति में मान को लुढ़का-गिरा न डालिए।

३८

६५.८ : **'भल जन हृदय' तेजय नहि 'मन्द'।**

अर्थ किया गया है : भला आदमी हृदय का त्याग (हृदय परिवर्तन) करता है, मंद नहीं। 'हृदय का त्याग' क्या है और भला आदमी यह करता है, मंद नहीं, यह अद्भुत है। अर्थ सीधा है : (इस युग में भले (भद्र) जनों का हृदय (भी) मान्द्य (मंदता) नहीं छोड़ता है।

३९

६७.१-२ : **दरसने लोचन दीघर धाव। दिनमणि तेजि कमल 'जनि' जाव।**

दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : (जान पड़ा जैसे) कमल का त्याग कर सूर्य जा रहा हो (और कमल लालायित होकर उसके पीछे) दौड़ रहा हो। कमल के लालायित होकर दौड़ने की कल्पना विचित्र-सी है। प्रयुक्त 'जनि' निषेध-वाची है, अर्थ होगा : (उस दर्शन को पाकर नेत्र कैसे स्थिर हो रहे, जैसे) दिनमणि (सूर्य) को त्याग कर कमल न जा रहा हो।

४०

७१.७-१० : **छव ओ बारह मासक मेलि। नागर चाहए रंगहि केलि।**
ते परि तकर करओ परिहार। करसु बोल जनु होए वि(का)र॥

उद्धृत दूसरी अर्द्धाली का अर्थ किया गया है : इसलिये उसका उसी तरह परिहार करना चाहिए; कटु वचन बोलकर विकार नहीं उत्पन्न करना चाहिए। 'उसका',–किसका ? क्या पूर्ववर्ती अर्द्धाली में आए हुए 'केलि का' ? अर्थ वस्तुतः होगा : नागर छहों ऋतुओं और बारहो महीनों को मिलाकर रंग की केलि चाहता है, तिस (उस) पर भी तुम उस (नागर) का परिहार (परित्याग) कर रही हो, और ऐसे वचन कह रही हो जिससे विकार (बिगाड़) हो।

४१

७२.३-४ : **तोह हुनि दरसन ई हम लाग।**
'तत' कए सुमुखि जैस न तोर भाग॥

'तत कए' का अर्थ 'सो सब करने पर भी' किया गया है। 'तत' से 'सो' का अर्थ लेना कदाचित् भाषा-प्रयोग-संमत नहीं है। 'तत' है 'विस्तारयुक्त' (पा०

स० म०)। इस स्थान पर शब्द ततत्व = विलंब, दीर्घसूत्रता' के अर्थ में प्रयुक्त लगता है। बाद के भी एक चरण में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

'तत मत' करइते न होअए अकाज।

वहाँ इस 'ततमत' को तारतम्य' मानकर अर्थ किया गया है किंतु 'ततमत—दीर्घसूत्रता' है। 'तारतम्य' को विद्यापति ने 'तरतम' कहा हैं :

तरतम तजे कर दूरे। छैलहछहि छोडहि मोर चीरे। (१४५.६-१०)।
हमें एक सरि पिअतम नहि गाम। तेँ तरतम अछइते एहि ठान।
(१६८.१-२)

४२

७८.१-४ : त्रिबली अछ (लि) तरंगिनि भेलि।
जनि बढिहाए उपढि चलि गेल॥
जेआ सओ हे ऊजबल आए।
कनक भूधर गेल 'दहाए'॥

दूसरी अर्द्धाली का अर्थ किया गया है : नीचे से (वह) (तरंगिणी) ऊँचे (की ओर) दौड़ चली, (जिससे) कनक-भूधर (स्तन) ढह गया। 'दह गया' क्या है, ज्ञात नहीं है। मेरी समझ से 'दह-ह्रद' है और 'गेल दहाए' का अर्थ होगा 'ह्रद के भीतर चला गया'।

४३

८३.१-२ : पछां सुनिअ भेलि महादेइ कनके लाबेओ कान।
गगन परसि रह समीरन 'सूप भरि' के आन॥

द्वितीय चरण का अर्थ किया गया है : हवा आसमान छू रही है; किंतु उसे सूप में भर कर कौन ला सकता हैं ? यहाँ पर पहले की स्थिति और वर्तमान की स्थिति की तुलना है। आकाश को छूती हुई हवा को सूप में भर कर कर लाने में ध्वनि यह होगी कि 'जो वस्तु इतनी बढ़ चुकी है, उसे नियंत्रण में कैसे लाया जा सकता है, अथवा उसका आकार कैसे कम किया जा सकता है ?' जो कि प्रसंग में अभीष्ट नहीं लगता है। मेरी समझ में विवेच्य चरण का अर्थ होगा : (ठीक है कि किसी समय) समीर गगन का स्पर्श कर रहा था, किंतु (अब) उस समीर को सूप-परिमाण भी कौन ला सकता है ?

४४

८३.३ : बिनु 'हटवइ' अच्छ बिपुन बेसन हाटक गेह।

कदाचित् अनुमान से ही 'हटवइ' का अर्थ 'वणिक्' किया गया है। 'हटवइ-हट्टवइ = हट्ट+पति है।

४५

८४.७ : **जत 'अनुराग भेल सबे 'राग' ।**

'राग' का अर्थ 'द्वेष' किया गया है, जिसका आधार नहीं बताया गया हैं। मेरी समझ में 'अनुराग' और 'राग' में अंतर प्रकट है, 'अनुराग है 'प्रेम' तथा 'राग' है 'वासना'। चरण का अर्थ होगा : जितना अनुराग (समझा हुआ) था, वह सब राग (वासना) (सिद्ध) हुआ।

४६

८५.२ : **'टुना चटक' 'राज' सओ बेसन दूती अइसन भास।**

अर्थ किया गया है : अंगुली की हल्की चोट से जो टूट सकता है (वह कहीं) राजा से व्यसन (झगड़ा) करे—दूती इसी तरह कहती है (अर्थात्—तुम्हें भी झगड़ा न करना चाहिए)। 'टुना चटक' का अर्थ होता है 'छोटी सी चिड़िया' और इस अर्थ में यह प्रयोग अन्यत्र भी आया है। पुनः 'राज' के स्थान पर पाठ 'बाज' होना चाहिए, जैसा झा० में है; राजा और छोटी चिड़िया में जहां व्यसन विरोध की कोई संगति नहीं हो सकती है, वहाँ बाज और छोटी चिड़िया में व्यसन-विरोध की संभावना और संगति अनायास देखी जा सकती है।

४७

८५.५ : **'टेना' चढल बक बहुल देखल अंधेअ पोसल आनि।**

'टेना' का अर्थ किया गया है : मछली बझाने के लिये डाला गया मिट्टी सिरकी आदि का घेरा। इस अर्थ का कोई आधार नहीं दिया गया है, लगता है कि यह अनुमान से ही किया गया है। 'टेना-तेण्ण-स्तेन्य = चोरी' है। तौलते समय चोरी से जो तराजू की डंडी को झुका या उठा दिया जाता है, उसे अब भी 'टेनी मारना' कहते है। अर्थ होगा : टेने से (चोरी-चोरी, छिपे-छिपे) बहुतेरे बगुलों (दुर्जनों) ने तुझे देख लिया है।

४८

९१.१-२ : **सुजन बचन षोटि न लाग। जनि दिढ कठु आलक दाग।**

अर्थ किया गया है : सज्जनों का बचन बुरा नहीं लगता जिस प्रकार आल का कठोर धब्बा बुरा नहीं लगता। 'षोटि' का अर्थ 'बुरा' नहीं, 'कमी (त्रुटि)' है अतः प्रथम चरण का अर्थ होना चाहिए : सुजानों के वचनों में कोई कमी (त्रुटि) नहीं आती है। 'कठु—कट्ठ = विलिखित, चासा हुआ' है (पा० स० म०)। अतः द्वितीय चरण का अर्थ होना चाहिए : वह ऐसा होता है मानों चढ़ाया हुआ आल का रंग हो। पहले आल से रंगी हुई साड़ियों को प्रायः 'काठे की साड़ियाँ' कहा जाता था।

४९-५०

९३.९ : **पिआ मुख सुमुखि चुम्ब तजि 'ओज'।**
२३०.९ : **गमने केतबे करसि 'ओज'॥**

दोनों पर 'ओज' का अर्थ 'अवद्य = कृपणता' लिया गया है, किंतु 'ओज' कदाचित् 'भय, डर' है, क्योंकि 'ओज्जर—भीरु, डरपोक' है (पा० स० म०)। दूसरे स्थान पर 'कृपणता' असंगत है, यह स्वतः देखा जा सकता है।

५१

९६.३ :-४ **आनक 'बोलिअ' गोप गमार।**
तोहरा सहजक कुल बेवहार।

उद्धृत प्रथम चरण का अर्थ किया गया है : दूसरे का (भी) कहना है कि गोप गंवार होते हैं। बोलिअ अपने व्याकरण रूप के अनुसार '(आप) बोलते हैं' का अर्थ रखता है। अतः अर्थ होगा : जब औरों को (आप) गोप गंवार कहते हैं…।

५२

१०३.२ **चान्द गगन रह आओर तारागण सुर उगए 'परचारि'।**
निचल सुमेर अथिक कनकाचल आनब कओने परचारि॥

दूसरे चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ किया गया है (लेकिन) चारों को किस तरह ला सकते हैं। किंतु 'चारों को लाने' का प्रसंग ही क्या है ? प्रसंग तो यह है कि इनमें से किसी को भी कैसे लाया जा सकता है और जिस प्रकार ये अविचल और अप्राप्य हैं, उसी प्रकार वह नायिका भी है। दूसरे चरण का परचारि = प्रचारित अथवा प्रचालित कर' लगता है।

ने० में प्रथम चरण का तुक भी 'परचारि' है द्वितीय का तो है ही जैसा औरों में है, अतः उसका पाठ सदोष है। न० गु० ने तरौनी प्रति के आधार पर पाठ 'उपारि' दिया है जो संगत और दोषमुक्त है। इसलिये वह स्वीकार होना चाहिये।

५३

१०४.५ : **कुलक धरम पहिलहि 'अलिआतल' कओने देब पलटाए।**

'अलिआतल' का अर्थ 'विदा किया' किया गया है किंतु इस अर्थ का आधार नहीं बताया गया है। 'अलिआतल' के स्थान पर न० गु० में 'अलिआएल' और रा० पु० में 'सुनि आउल' पाठ हैं। 'सुनि आउल' तो प्रक्षिप्त लगता है—वह 'अलिआउल' को निरर्थक समझ कर बनाया गया है। 'अल्' है 'अड्—आड़े

आना, बाधक होना'; इसलिये 'अलिआतल' का व्याकरण रूप अशुद्ध लगता है। 'अलिआएल = आड़े आया' और 'अलिआउल = आड़े किया या लाया गया' है। इनमें से 'अलिआएल' संगत है, दूसरा नहीं। चरण अर्थ होगा : कुल का धर्म पहले ही आड़े आया था (और उसको दूर करना पड़ा था) अब पुनः उसे लौटा-कर कौन देगा ?

५४

१०६.१-२ : **थाके निवेदिअ जे मतिमान।**
'ज(न)लहि' 'गुण' फल के नहि जान॥

दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : कौन नहीं जानता कि गुण समझने पर ही फल मिलता है। प्रश्न यह है कि इस अर्थ की संगति क्या है ? न० गु० में भी पाठ 'जलहि' है, जैसा कि न० में है अतः 'ज(न)लहि' पाठ का सुझाव अनधिकृत है। 'जलहि' पाठ के साथ अर्थ होता है : [कुएँ में] जल के होने से ही गुण (रस्सी) का भी फल (लाभ) मिलता है, इसे कौन नहीं जानता है। मतिमान और उसकी मति की तुलना क्रमशः कूप और उसके जल से तथा उससे निवेदन की तुलना रस्सी से की गई है।

५५

१०६.३-४ : **तोरे बचने कएल 'परिछेद'।**
कौआ मूह न भनिअए वेद॥

उद्धृत प्रथम चरण के 'परिच्छेद' का शब्दार्थ 'निश्चय' करते हुए उसका अर्थ किया गया है : तुम्हारे कहने से (मैंने उसे ले आने का) निश्चय किया। प्रश्न यह है कि 'मैंने उसे ले आने का' का आधार क्या है ? 'परिच्छेद' का एक अर्थ 'अलगाव', बिलगाव' भी होता है, और उस अर्थ के साथ चरण का अर्थ होगा : तुमने ऐसे वचन कहे कि उनके कारण उसने परिच्छेद (अलगाव, बिलगाव) कर लिया।

५६

१०७.१० : **'हसि' 'पलिछल' कामे संदेश।**

अर्थ किया गया है : (जैसे) कामदेव ने हँस करके संदेश का परीक्षण किया हो। 'संदेश का परीक्षण' प्रसंग में सर्वथा अर्थहीन लगता है। 'पलिछ-पडिच्छ्‌-प्रति+इष्‌ = ग्रहण करना' है और 'हसि = है' है। अर्थ होगा : (लगता है) तूने काम का संदेश (उपदेश) ग्रहण किया हुआ है।

५७

११०.७-८ : **नवल बात छल पहिलुक मोह।**
किछु दिन गेले भेल पनिसोह॥

'पनिसोह' का अर्थ पानी-सा किया गया है, किंतु इस अर्थ का आधार क्या है नहीं बताया गया हैं। 'पनिसोह-पानीय-शोष = जल का सूखना है; अतः 'भेल पनिसोह' का अर्थ हुआ जल सूख गया है—अर्थात् स्नेह समाप्त हो गया है।

५८

११०.९-१० : **अबे नहि रहले 'निछछेओ' पानि।**
का (स)रि नस हे करब जानि॥

निछछेओ-निछक्का-निरा' माना गया है। 'निछक्क-णिछक्क-निर्लज्ज, बेशरम, धृष्ट, अवसर को न जाननेवाला, नासमझ' है (पा० स० म०)। 'निछछ' मेरी समझ से 'नि+स्वच्छ = अतिशय स्वच्छ, खरा, निर्मल' है। यथा :

निकृत नेह निमेषेओ बहुत **नइछछ** छैले ओ जान। (१६.१२)
कैओ बोल माधव के ओ बोल कान्ह। मञे अनुमापल **निछछ** पखान।
(१४१.५-६)

५९

१११.१-२ : **से अति नागरि तञे सब सार।**
पसरओ 'मल्ली' प्रेम 'पसार'॥

'मल्ली' को 'मल्लिका' मानते हुए अर्थ 'वीथी' किया गया है और दूसरे चरण का अर्थ किया गया हैं : (इसलिये) वीथी वीथी में प्रेम का बाजार फैल जाए। 'मल्ली' के इस अर्थ का आधार क्या है, यह नहीं बताया गया है। 'मल्ली' संबोधन के रूप में है, वह सं० मल्ला = स्त्री है (दे० मोनियर विलियम्स में 'मल्ल' शब्द)। चरण का अर्थ होगा : ऐ सुंदरी, प्रेम का पसार फैला हुआ है। 'पसार' के संबंध में हम ऊपर अन्यत्र देख ही चुके हैं।

६०

१११.३ : **जौवनि नगरि बेसाहब रूप।**

'बेसाहब' का शब्दार्थ 'खरीदना' करते हुए भी चरण का अर्थ किया गया है : यौवन रूपी नगर में (अपने) रूप को बेचना। अर्थ होना चाहिए : यौवन के नगर में रूप का क्रय होगा (अथवा—होता है)।

६१

१११.९ : **तोह दुबि 'उचित' रहत नहि भेद।**

चरण का अर्थ किया गया है : वास्तव में उनके साथ तुम्हारा भेद नहीं रहेगा। होना चाहिए : तुम्हारे और उनके बीच भेद रहना उचित नहीं है।

६२

११२.७-८ : **दूधे पटाइअ सींचीअ 'नीत'।**
सहज न तेज करइला तीत॥

'नीत' का अर्थ 'नवनीत' किया गया है, जिसका कोई आधार नहीं है। 'नीत-नित्य' है, अतः 'सींचीअ नीत' का अर्थ होगा : नित्य ही उसे (दूध से) सींचिए।

६३

११५.१-२ : तोरा अधर अमिअे लेल बास।
भल जन नेओतल दिअ बिसवास।

दूसरे चरण का अर्थ किया गया हैं : (तुमने) भले आदमी को विश्वास देकर न्योता दिया है। 'बिसवास' 'विश्वासघात' के अर्थ में मध्ययुगीन हिंदी काव्य का एक बहुप्रयुक्त शब्द रहा है। यहाँ भी वह उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ लगता है। अर्थ होगा : एक भद्र पुरुष को न्योता देकर तुमने उससे विश्वासघात किया है।

६४

१२६.९-१० : 'कठे' घटी अनुगत केम।
नागर लखत' हृदय गत पेम।

अर्थ किया गया है : काच के बड़े का अनुगामी जल जैसे (देखा जाता है,, वैसे ही) नागर हृदयगत प्रेम को देखता है। इस अर्थ की अर्द्धाली के पूरे पद से कोई संगति नहीं ज्ञात होती है। मेरी समझ से 'कठ-कट्ठ-कृष्ट = खिंचने पर' है और 'लखत = देखते हुए, देखकर' है। अतः अर्थ होना चाहिए : जिस प्रकार (कूप से) खींची जाने पर घटी (रज्जु या उसके आकर्षण का) अनुगमन करती है, उसी प्रकार नागर के देखते ही (उसकी दृष्टि के आकर्षण से) हृदयगत प्रेम उसका अनुगमन करता है।

६५

१३०.९-१० : बहलि पेन्द टेढ सम बोल।
कतपक नागर 'आओ' 'चौ'छोल।

उद्धृत दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : कहाँ नागर कहाँ चतुर छैला। 'आओ' है 'अपर' और अओ के रूप में यह अन्यत्र भी आया है—

एकक धम्मे अओ क उपहास।—कीर्तिलता २.३१

साजनि अबे कि बोलब आओ।—पदावली ५.३

पद यावक रस जाहेरि हृदय अछ आओ कि कहब अनुरागे। (१७८.६)

'छोल—छाल्ल—छुल्ल—क्षुद्र है। 'चौ' मेरी समझ से 'चव् = कहना' है (पा० स० म०)। अतः अर्थ होगा : कहाँ नागर व्यक्ति और कहाँ एक क्षुद्र व्यक्ति को (के विषय में) कहा जाए।

६६–६७

१४१.५-६ : **केओ बोल माधव केओ बोल कान्ह।**
मझे अनुमापल 'निछछ' पखान।

२: ३.४ : **भेटल 'निछछ' गमारे।**

दोनों स्थानों पर 'निछछ' का अर्थ 'निछक्का' किया गया है, जो कि ठीक नहीं है। यह शब्द ऊपर आचुका है, वहीं (११०.६-१० विषयक) इसका विवेचन देखिए।

६८

१४५.१ : **'सयन' 'चरावहि पारे'।**
दुर कर सैसव सकल सभारे।

'सयन' का अर्थ 'शैया' करते हुए प्रथम उद्धृत चरण का अर्थ किया गया है : तुम्हें शैया की रचना करनी ही होगी। 'चरावहि पारे' से रचना करनी ही होगी' अर्थ किस प्रकार किया गया है, यह बताया नहीं गया है। मेरी समझ से अर्थ होगा : तू तो अब नेत्रों से संकेत चला सकती है, इसलिये शैशव के समस्त संभार दूर कर।

६९

१४६.६ : **विरहि वध बेआधि पचसर जानि न जम जुडाओ।**

'बेआधि' का अर्थ 'व्याधि' किया गया है, जो कि अशुद्ध है। 'पचशर' का प्रयोग साभिप्राय है : पंचशर (काम) एक व्याध (वधिक) है, जो (एक नहीं पाँच शरों से) विरही का वध कर रहा है।

७०

१४६.७ : **कओन कुलवहु… बान हो अनंग जावे से बालमु वाम।**

'बान' का अर्थ 'सहन करना' किया है और चरण का अर्थ किया गया है : कौन कुलवधू कामदेव का सहन कर सकती है ? 'बान-वएग-वर्ण' है। अर्थ होना चाहिए : हे अनंग, कौन-सी कुल-वधू अपने वर्ण में हो सकती है, जब तक उसका वल्लभ उससे वाम (रुष्ट) हो।

७१

१५७.४ : **परक वेदन दुषन बुझन मुरुष पुरुष 'निरापन' चपलमती।**

'निरापन–(निरापन्न-सं०) = निरापद' कहा गया है। किंतु प्रसंग में यह

ठीक नहीं बैठता है। 'निरापन' है 'निर् + आपन—जो अपना नहीं है, पराया है', यथा :

आपने सकल दुख **निरापने** सकल सुख··· ।—कवितावली ७.१२४
आपन सबै **निरापन** होई ।

७२

१५८.६ : **ओछा सओ हरि न करिअ परिपरि ते कर बर 'अनिसाति'।**

'अनिसाति' का अर्थ अनुमान से 'झुंझलाहट' किया गया है। वह कदाचित् 'अशांति' का तद्भव रूप है।

७३

१६५.६ **'करज' कमल लए कुच सिरिफल दए शिव पूजए निज गेहा।**

'करज' का अर्थ किया गया है 'कर-रूपी' जो अशुद्ध है। 'करज' है 'उंगली' और यह यहाँ बहु० में प्रयुक्त हुआ है। चरण का अर्थ स्पष्ट ही है।

७४

१७०.४ : **भमर 'गओ सओ समो आबे कमलिनि पास।**

'गओसओ' का अर्थ 'धीरे से' किया गया। 'गओ—गम=बोध, ज्ञान, समझ' है (पा० स० म०)। चरण का अर्थ होगा : भ्रमर (अपनी) गौं (समझ) से—अपनी समझ के अनुसार—कमलिनी के पास चला जाएगा।

७५

१७३.१-४ : पूरा पद नायिका के द्वारा दूती को संबोधित है, न कि नायक को। किंतु अर्थ में प्रथम चार चरण नायिका द्वारा नायक को तथा शेष चरण ही दूती संबोधित माने गए हैं, इसी लिये प्रथम चार चरणों का अर्थ करने में खींच-तान करनी पड़ी है। ये चार चरण हैं :

प्रथमहि हृदय बुझ तोलह 'मोहि'।
बड़े पुने बड़े तपे पौलिसि तोहि॥
कामकला रस दैब अधीन।
मंञे बिकाएब तञे वचनहु 'कीन'॥

इनका अर्थ किया गया है : पहले (तुमने मेरे) हृदय को मोहकर समझा दिया (अर्थात् मेरे हृदय को मोह लिया; मैंने समझा कि) बड़े पुण्य से, बड़े तप से तुम्हें पाया; (यद्यपि) काम-कला-रस दैवाधीन है (तथापि) मैं बिकूँगी;

तुम वचन से भी खरीद लो। किंतु दूती को संबोधित मानने पर अर्थ होगा : मेरे हृदय ने मुझे ही समझाया कि मैंने तुझे बड़े पुण्य और बड़े तप से पाया है; कामकला-रस दैवाधीन (अवश्य) है, किंतु मैं तेरे वचन से भी क्रय होने पर बिक जाऊँगी (अर्थात् तू जो भी कहेगी, मैं करूँगी)।

७६

१७८.१-२ : नयन काजर अधरे चोरा ओल नयने चोराओल रागे।

अर्थ किया गया है : ओठों ने (तुम्हारी) आँखों का काजल चुरा लिया (और) आँखों ने (तुम्हारे ओठों की) लाली चुरा ली। पद माधव को खंडिता नायिका द्वारा संबोधित है। इसलिये अर्थ होना चाहिए : (तुम्हारे) ओठों ने (किसी अन्य रमणी की) आँखों का काजल चुरा लिया है, और (तुम्हारी) आँखों ने (उसके ओठों की) लाली चुरा ली है।

७७–७९

१७९.३ : **पलटि 'हेरि हल' पे असि वयना मदन सपथ तोहि रे।**
१८८.३ : **'हेरि हल' हसि समुह उगओ ससि बरिसओ अभिअक धारा।**
१९९.५ : **'हेरि हल' माधव करि अवधान।**

इन तीनों स्थानों पर 'हेरि हल' का अर्थ 'देखो' किया गया है। 'हेरि' 'हेर्' क्रिया का पूर्वकालिक कृदंत रूप है, 'हल-हल्-घल्ल् = डालना' क्रिया का विधि का रूप है अतः शाब्दिक अर्थ होना चाहिए 'देख डालो', जिसके लिये खड़ीबोली हिंदी में प्रायः 'देख लो' का प्रयोग होता है।

८०

१८१.१ : काह दिस 'काहल' कोकिल राबे।

इस चरण का अर्थ किया गया है : किसी ओर काहल और कोकिल बोल रहे हैं। 'काहल' कोकिल के समान स्वतः कोई बोलने वाला प्राणी नहीं है। 'काहल' एक प्रकार का ढोल होता था, जैसा हमने ऊपर देखा है जो पीटकर बजाया जाता था। रूपक पद में मदन के अभियान का है। विद्यापति के युग में सैनिक अभियान का एक अनिवार्य अंग 'काहल' होता था। अर्थ होना चाहिए : किसी दिशा में कोकिल काहल का रव कर रहा है।

८१

१८१.८ ध्वज का 'धोरणि' देखिअ बहुते।

'धोरणि' का अर्थ '(धरणी सं०) पृथ्वी (पर)' किया गया है जो

कि स्पष्ट ही अशुद्ध है, 'धरणी' का 'धोरणि' नहीं हो सकता है। 'धोरणि = पंक्ति है (पा० स० म०)। अर्थ होगा : ध्वजाओं की बहुतेरी पंक्तियाँ दिखाई पड़ रही हैं।

८२-८३

१८४.१ : कमलिनि 'एडि' केतकि गेला।
१९६.३ : दुरहु दुगुण 'एडि' मञ आयलो…।

प्रथम स्थान पर 'एडि' का अर्थ 'अपमानित करके' किया गया है तथा दूसरे पर 'बल कर' जो अनुमानाश्रित ही लगते हैं। 'एड् (दे०) = छोड़ना, त्याग करना' है (पा० स० म०), और इस अर्थ की संगति दोनों स्थानों पर स्वत: देखी जा सकती है।

८४

१८४.२ : मुख 'माषल' धूरि।

'माषल' का अर्थ 'भर गया' गया है, किंतु 'माख्–मक्ख्–मक्ष्–चुपड़ उठना, लिपटना, लगना' है। अर्थ होगा : उसके मुख में धूल लिपट गई।

८५

१८७.८ : नेह बिसर जंओ सूतिअ नीन्दे।

अर्थ किया गया है : यदि सोता है (तो) विरह भुलाती है। कोई विरहिणी इसलिये नहीं जागती रहती है कि सोने से उसका विरह विस्मृत हो जाएगा। अर्थ होना चाहिए : यदि स्नेह भूले तब तो वह नींद में सोए।

८६-८७

१८८.४ : कतनहि दुरजन कत आमिक जन 'परिपन्तिअ' अनुरागे।
२६१.६ : 'परिपन्तिहि' पेखए पंचबान।

दोनों स्थानों पर 'परिपंती' का अर्थ 'प्रतिपक्षी, शत्रु' किया गया है, जो कि अशुद्ध है। 'परिपंथी = डाकू, बटपार' है।

८८

१८९.७-८ : दिन दस 'चातर' 'हलिअ' बिथारि।
ततें होएत जत लिहल कपाल॥

अर्थ किया गया है : दस दिनों तक विचार चतुरता रहता है, (उसके बाद

तो) उतना ही होगा जितना माथे में लिखा होगा। 'चातर-चत्वर-चौक' है। यहाँ पर भाव है 'चौकस—सभी प्रकार से ठीक-ठाक'। 'हलिग्र-घल्लिग्र-डालिए' है, जैसा हम ऊपर 'हेरि हल' के प्रसंग में देख चुके हैं। अर्थ होना चाहिए : यह विचार डालो (लो) कि चौकस (सभी प्रकार से ठीक-ठाक) अवस्था दस ही दिन रहेगी'''।

८९

१९१.१ : दारुण सुनि दुरजन बोल जनि 'कम कम' लागए गून।

'कमकम' का अर्थ 'बहुत थोड़ा' करते हुए चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ किया गया है : (कृष्ण को मेरा) गुण बहुत थोड़ा जान पड़ा। 'कम = क्रम' है। अर्थ होना चाहिए मानो वे (कृष्ण) क्रम-क्रम से (धीरे-धीरे) (उस दुर्जन बोल पर) विचार करने लगे (और वह उनको प्रभावित करने लगा)।

९०

१९९.११ : एत दिने सैसबे लाओल 'साठ'।

'साठ—साट् = साथ' कहा गया है और चरण का अर्थ किया गया है : इतने दिनों तक शैशव ने साथ दिया। 'साट-संटंक (?) = अन्वय, संबंध' है। अर्थ होना चाहिए : इतने दिनों तक शैशव ने संबंध लगा रखा था।

९१

२०३.२ : हृदयक हार भुअंगम भेल। दारुण 'दाढ़' मदने रिस देल॥

'दाढ़' का अर्थ 'घाव' किया गया है, जो अनुमानाश्रित ही है। 'दाढ़-दंष्ट्रा' है। सर्प की दाढ़ों में ही विष होता है। पुस्तक में 'मदने रिस देल' के स्थान पर 'मदनेरि सदेल' मुद्रण की भूल ज्ञात होती है।

९२-९३

२०६.९ : घसपस करए धरिअ कुच जाति। सगर सरीर धरए कत भान्ति॥
२३६.३ : विघटल नीवी करे घर जान्ति। अंकुरल मदन धरए कत भान्ति॥

दोनों 'जाति' तथा 'जान्ति' का अर्थ 'दबाकर किया गया है, जो कि सर्वथा अनुमानाश्रित है। 'जाति, जान्ति—जत्तिअ—यावत्=जितना' है। (पा० स० म०)

९४

२११.९-१० : ऐसन मुगुध थीक मुरारि। 'गवउ' भषए अमिअ छाडि॥

'गवउ' का अर्थ 'गो-सदृश पशु-विशेष' करते हुए दूसरे चरण का अर्थ किया गया है : गवय ही अमृत को छोड़कर (दूसरी वस्तु) खाता है। प्रश्न यह है कि

'दूसरी वस्तु' का अर्थ किन शब्दों से लिया गया है। 'गवय–गोमय=गोबर' है। अर्थ प्रकट है : ऐसे मुग्ध (मूर्ख) मुरारि ही हैं कि वे अमृत को छोड़कर गोबर का भक्षण करते हैं (ऐसी सुंदरी को छोड़कर अन्य स्त्रियों से प्रेम करते हैं।)

९५

२१३.३ : **मनसिज 'भंगे' रचल मञे जेओ। हृदय बुझाए बुझए नाहि सेओ॥**

'भंगे' का अर्थ 'भय से' किया गया है। स्पष्ट ही यह अर्थ असंभव है। 'भंग=भंगिमा' है। अर्थ होगा : मनसिज (मदन) की भंगिमा (संकेत) पर मैंने जो कुछ रचना की मुझे लगता है कि वह (गोप-गंवार) उसे भी नहीं समझ पाता है।

९६

२१७.४ : **दिने दिने पेम आबे तन्हि बिसरल बिनु 'बाहले' 'पह' खील'।**

अर्थ किया गया है : उन्होंने दिन-दिन (क्रमशः) प्रेम को भुला दिया, घाव के नहीं बहने से (उसमें) कील पड़ गई। प्रश्न यह है कि 'घाव में' कहाँ से आ गया। प्रकट है कि यह अर्थ अनुमानाश्रित ही है। 'पह–पथ' है वाह्–वाहय्= बहन करना, चलाना' है (पा० स० म०)। 'खील–खिर्–क्षर्=गिरना, गिर पड़ना' है (पा० स० म०) जो 'नष्ट-भ्रष्ट होने' के अर्थ में प्रयुक्त ज्ञात होता है। अतः चरण का अर्थ होगा : उन्हें दिन-दिन अब प्रेम विस्मृत होता गया, जैसे बिना चलाए (प्रयोग में लाए) पथ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

९७

२२३.६ : **तेली बलद 'थान' भल देखिअ पालब नहि उजिआइ।**

'थान' का अर्थ 'बथान' किया गया है। 'थान=स्थान' है। तेली का बैल अपने स्थान पर (कोल्हू में जहाँ वह चलता है), भला दीखता है।

९८

२४२.२ : **चान्द क भरसे अमिअ लालच अैठ कए जाएत चकोरे।**

'अैठ' का अर्थ 'जूठा किया गया है, जिसका कोई आधार नहीं बताया गया है। अैठ·अइट्ठ-अतिष्ठ=अतिकान्त, उल्लंघित' है (पा० स० म०)। चरण के उत्तरार्द्ध का अतः अर्थ होगा : कहीं चकोर अतिक्रमण या उल्लंघन न करे।

९९

२४६.३ : **रूसल बओसब बड परेआस।**

'बओसब' का अर्थ 'मनाऊँगी' किया गया है। 'बओस्–'विमृश' का प्रेरणार्थ रूप लगता है। अतः अर्थ होना चाहिए : रूठे को विमर्श (विचार) करने के लिये बड़े प्रयास से प्रेरित करूँगी।

१००

२५१.१३-१४ : **कसल कसौटी न भेल मलान।**
बिनु हुतासे भेल 'बारह बान'।

अर्थ किया गया है : बिना आग के ही (बिना आग में तपाए ही) बारह गुनी कांति हो गई। 'बारह बान' शब्द 'पद्मावत' में अनेक स्थलों पर आता है; यथा :

तेन्ह मह दीपक बारह बानी'—पद्मावत ४६.७
घालि कसौटी कसिए कंचन बारह बानि।—वही २७३.६
कुंदन कया दुवादस बानी।—वही ४६८.१

कंचन (खरा सोना) बारह वर्णों का माना जाता था और जो सोना जितना ही मिलावट का होता था, बान (वर्ण) में उतना ही हीन माना जाता था। स्पष्ट है कि वही 'बारह बान' शब्द इस स्थान पर भी आया हुआ है।

वररुचिकृत पत्रकौमुदी

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

पत्रकौमदी विविध प्रशस्तियों की एक लघु रचना है जिसके रचयिता के रूप में वररुचि का उल्लेख मिलता है। इस रचना की हस्तलिखित प्रतियाँ शोध-भांडारों में संरक्षित हैं और उसके सम्यक् पाठ के संपादन की अपेक्षा है। बुलेटिन आफ दी डेकेन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट के भाग २०, खंड एक-चार में (जिसका प्रकाशन सुशीलकुमार डे अभिनंदन अंक के रूप में हुआ है) डा० सुरेशचंद्र बनर्जी (दार्जिलिंग) ने पत्रकौमुदी का प्रकाशन कराया है। अपने लेख में डा० बनर्जी ने रचना की विषयवस्तु के संबंध में भी संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया है। संस्कृत साहित्य में छह वररुचि नामक व्यक्तियों के उल्लेख से यह कहना कठिन सा प्रतीत होता है कि इस रचना के निर्माता कौन से वररुचि थे। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में लेखक वररुचि को विक्रमादित्य की सभा का रत्न कहा गया है और कवि द्वारा प्राकृत प्रयोग की चर्चा की गई है किंतु इससे इस ग्रंथ के लेखक एवं रचना-काल पर सम्यक् प्रकाश नहीं पड़ता है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल द्वारा संपादित ग्रंथ 'डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आव् मैनस्क्रिप्ट्स इन मिथिला' में इसकी हस्तलिखित प्रति का परिचय देते हुए लिखा गया है कि इस पुस्तक की रचना निश्चित रूप से कागज के परिचय के पूर्व हुई थी जब लेखन सामग्री के रूप में पत्र का प्रयोग होता था; यद्यपि यह कथन निश्चित रूपेण स्वीकार करने योग्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि पुस्तक के 'पत्र' शब्द का प्रयोग पत्र के लिये न होकर लेखन कर्म द्वारा अभिहित पत्र के लिये भी संभावित हो सकता है।

डा० बनर्जी ने पुस्तक का संपादन मुख्यः तीन प्रतियों के आधार पर किया है जो क्रमशः गवर्नमेंट कालेज राजशाही, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन एवं संस्कृत कालेज कलकत्ता से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने ८ अन्य हस्त-लिखित प्रतियों की सूचना भी दी है जिसका वे उपयोग नहीं कर पाए हैं। डा० बनर्जी द्वारा प्रस्तुत पाठ का पूर्वार्द्ध जो पद्यमय प्रशस्ति का खंड है अधिक सम्यक् है, किंतु उत्तरार्द्ध के गद्यमय प्रशस्ति खंड को इन प्रतियों के आधार पर वे पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। प्रयागस्थ सर गंगानाथ झा शोध संस्थान में पत्रकौमुदी की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें गद्य प्रशस्तिवाला अंश पूर्ण है। शब्दकल्पद्रुम कोष में पत्रकौमुदी की अधिकांश सामग्री उद्धृत कर दी

गई है। वहाँ पत्रपरिचय क्रम में जो सामग्री उद्धृत की गई है वह सब गंगानाथ झा शोध संस्थान में संरक्षित प्रति से अधिक भिन्न नहीं है। फिर भी पत्रकौमुदी की अधिकाधिक प्रतियों के उपयोग के अनंतर उसके सम्यक् पाठ संपादन की अपेक्षा है।

डा० बनर्जी द्वारा प्रस्तुत पाठ का मंगलाचरण, प्रस्तावना, अनुक्रमणिका तथा लेखक-लक्षण-वाला प्रकरण गंगानाथ झा शोध संस्थान की हस्तलिखित प्रति में नहीं है। इस प्रति में 'श्रीगणेशायनमः' के अनंतर पत्र-रंजन-प्रकरण प्रारंभ हुआ है।

डा० बनर्जी द्वारा प्रस्तुत पाठ में समाविष्ट निम्नलिखि अंश विशिष्ट हैं—

पत्र कौमुदी ।। श्री वररुचिकृता ।।

श्रीमन् कृष्ण पदारविन्द युगलं ब्रह्मनेश्वराद्यमा
श्रोणी नम्र किरीट कोटि वडभि पुष्पार्चितं सन्ततम्
वाणीं च प्रणमामि विश्वजननीं प्रत्यूह विध्वंसिनीं
भक्तानुग्रह विग्रहां भगवतीं नित्यं वचोवृद्धये ॥
विक्रमादित्य भूपस्य कीर्ति सिन्धोर्निदेशातः
श्रीमद्वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम् ॥
राज्ञां मन्त्रि प्रवीणां पण्डितानां तथैवच
गुरुणां स्वामिभार्याणां तथैव पितृपत्रयोः ॥
सन्यासि भृत्य शत्रूणां तथैवान्यविवेकिनाम्
एतेषामपि सर्वेषां पत्र चिह्नादिके ब्रुवे ॥

अथानुक्रमणिका

पत्राणां रंजनं चैव पत्र प्रमाणभङ्कम्
पत्र लेखक चिह्नानि पत्रस्य रचनाक्रमः ॥
पत्र लेखक प्रकारश्च पत्रस्यनयनक्रमः
पत्रस्य पठनं चैव पत्र चिह्नं ततः परम् ॥
पदन्यास प्रकारश्च पत्र कोणस्य कर्त्तनम्
प्रशस्ति पदविन्यासः श्री शब्दस्य पदक्रमः ॥
उत्थाप्याकाङ्क्ष्यपत्रं च शङ्कितलिखनक्रमः
अङ्कपत्र विभाषा च भाषापत्रस्य लक्षणम्
कीर्ति वर्णन श्लोकाश्च प्रीतिश्लोकाश्चतथैवच ।
नीति श्लोकाश्च ग्रन्थेऽस्मिन् समासेनोपवर्णिताः

इसी वर्गीकरण के क्रम में लेखक का निम्नवत् परिचय दिया गया है—

ब्राह्मणो मन्त्रणाभिज्ञो राजनीति विशारदः
नानालिपिज्ञो मेधावी नानाभाषा समन्वितः ॥
मन्त्रणा चतुरोधीमान् नीति शास्त्रार्थ कोविदः
सन्धि विग्रह भेदज्ञो राजकार्य विचक्षणः ॥
सदा राजहितान्वेषी राजसन्निधि सङ्गतः ।
कार्याकार्य विचारज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः
स्वरूपवादी शुद्धात्मा धर्मज्ञो राजधर्मवित्
एवमादि गुणैर्युक्तः स एव राजलेखकः ॥

यद्यपि यह अंश गंगानाथ झा शोध संस्थान की प्रति में नहीं है किंतु निश्चित रूप से यह पत्रकौमुदी के अन्य हस्तलेखों में उपलब्ध है। यह अंश एक और श्लोक सहित लेख पद्धति के परिशिष्ट में पत्रकौमुदी से उद्धृत बतलाया गया है। अधिक श्लोक निम्नवत् है—

नृपानुवर्ती सततं नृपविश्वास रक्षकः
नृपतेर्हितकान्वेषी स एव राजलेखकः ॥

शब्दकल्पद्रुम कोश में भी लेखक की यह परिभाषा पत्रकौमुदी से उद्धृत की कई है।

लेखन कार्य की गुरुता एवं महत्ता प्राचीन संदर्भों से पुष्ट होती है। महाभारत के लेखक रूप में श्रीगणेश का ही नाम लिया जाता है—

श्रुत्वैतत् प्राहविघ्नज्ञो यदि मे लेखनीक्षणम्
लिखतो नावतिष्ठेत तदास्यां लेखकोह्यहम्
व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुद्धामलिख क्वचित्
ॐ मित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल ॥

राजा के संदर्भ में लेखक की अनिवार्य आवश्यकता प्रतिपादित हुई है। 'लेखपद्धति' परिशिष्ट के एक श्लोक में कहा गया है कि सागर पर्यंत पृथ्वी मंडल में राजा के बिना देश की तथा लेखक के अभाव में राजा की सार्थकता नहीं है—

चतुः सागर पर्यन्ते सकले क्षितिमण्डले ।
देशोनास्ति विना राज्ञा न राजा लेखनं विना ॥

पत्रकौमुदी की विषयवस्तु महत्वपूर्ण है इससे सामाजिक गतिविधि का अन्वेषण संभव है। राज लेखक के जिन गुणों का ऊपर उल्लेख हुआ है उसकी विस्तृत परंपरा उपलब्ध होती है। पत्रकौमुदीकार ने लेखक को ब्राह्मण मंत्रणाभिज्ञ राजनीतिविशारद, नानालिपिज्ञ, मेधावी एवं नाना भाषा समन्वित बतलाया है। उसका

मंत्रणा में चतुर, धीमान, नीतिशास्त्रविशारद, संधिविग्रहभेदज्ञ तथा राजकार्य में विचक्षण होना आवश्यक बतलाया गया है। वह सदा राजा का हितचिंतक होता है तथा उसके साहचर्य में निवास करता है। उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार सिद्ध है तथा वह सत्य भाषण करने वाला जितेंद्रिय व्यक्ति होता है। वह स्वरूपवादी, शुद्धात्मा, धर्मज्ञ एवं राजधर्मविपू होता है। पत्रकौमुदी में चित्रित लेखक की यह पृष्ठभूमि अपनी एक प्राचीनतम परंपरा सी रखती प्रतीत होती है जिसका क्रमशः विकास हुआ है। लेखकपद्धति (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा) के परिशिष्ट में मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण एवं शार्ङ्गधर पद्धति से लेखक के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं जिसमें लेखक की उपर्युक्त विशेषताओं की संक्षिप्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत है—

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्र विशारदः
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषुवै
शीर्षोपेतान सु संपूर्णान् शुभश्रेणी गतानसमान्
अक्षरान् वै लिखैद्यस्तु लेखकः सवरः स्मृतः
उपायवाक्य कुशलः सर्वशास्त्रविशारदः
राजाभिप्रायतत्वज्ञो देशकाल विभागवित्
अनहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम् ॥

—मत्स्यपुराण अ० १८९

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येष साधुः सलेखकः ॥

—गरुड़पुराण

मेधावी वाक्पटुर्धीरो लघुहस्तो जितेन्द्रियः
पर शास्त्र परिज्ञाता एव लेखकः उच्यते ॥

—शार्ङ्गधर पद्धति

इसके अतिरिक्त शुक्रनीतिसार में लेखक का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

गणना कुशलो यस्तु देशभाषा प्रभेदवित्
असंदिग्धमगूढार्थं विलिखेत्सचलेखकः ॥

मानसोल्लास के लेखक राजा सोमेश्वर चालुक्य (११ वीं शताब्दी) ने भी लेखक की परिभाषा करते हुए लिखा है—

सर्वदेशलिपिज्ञाता लेखने कुशलः पटुः
अधीतो वाचको धीमान् योज्यो राज्ञा सलेखकः ॥

—मानसोल्लास १।१३१

चाणक्य संग्रह में सर्वशास्त्र ज्ञाता लेखक की प्रशंसा की गई है—

सकृदुक्त गृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्र समालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ।

—चाणक्यसंग्रह

पत्रकौमुदीकार ने लेखक के ब्राह्मण होने का उल्लेख किया है । लेख पद्धति में लेख की दृष्टि से यह आग्रह कायस्थ के प्रति है—

प्रणम्य शम्भुं गुरुपाद पद्मं पत्रस्थितं लेखविचित्र रूढ़म्
कायस्थ कण्ठस्थ विभूषणार्थं विज्ञायतत्वाङ्गमशेष भेषाम् ॥

पृ० ५८

लेख पद्धति के संपादकों ने इसका रचनाकाल मिश्रित संस्कृत प्रयोग के आधार पर १५ वीं शताब्दी का अंत स्वीकार किया है और गुजराती भाषा के इतिहास के अध्ययन के लिये इसे उपयोगी बतलाया है । इस प्रकार पत्रकौमुदी-कार द्वारा लेखक का ब्राह्मण बतलाया जाना दो विभिन्न परंपराओं का सूचक है । यद्यपि यह निश्चित है कि इन दोनों रचनाओं के निर्माण के समय ये वर्ग लेखनकार्य में प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण कर चुके थे ।

कायस्थ तथा उसका लेखनकार्य से संबंध प्राचीन पृष्ठभूमि रखता है । मनु-स्मृति में 'करण' रूप में कायस्थ का उल्लेख है । याज्ञवल्क्य संहिता, उशनस् संहिता महाभारत आदि में कायस्थ जाति एवं उसके गुणों का उल्लेख है । याज्ञ-वल्क्यसंहिता भाष्य—मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर ने कायस्थ के गणक, लेखक आदि कर्मों की चर्चा की है । उशनस् संहिता में उसके राजसेवक अंतःपुर रक्षक आदि कर्मों का उल्लेख हुआ है । महाभारत में उसके लेखक और गणक होने का उल्लेख हुआ है । राजतरंगिणी, मृच्छकटिक आदि साहित्यिक कृतियों में उसके कुछ गुणधर्मादि वर्णित हैं । मध्यकालीन शब्दकोषों में उसे करण, कायस्थ, पंजी-कारक, कूटकृत् कहा गया है । डा० दिनेशचंद सरकार ने भारतीय विद्याभवन, बंबई की शोधपत्रिका, भारतीय विद्या, भाग १० में प्रकाशित अपने एक लेख में कायस्थ एवं उसके कर्मों की चर्चा इन संदर्भ ग्रंथों की पृष्ठभूमि में की है ।

पाराशर संहिता में भी लेखाकर्म कायस्थ का कर्तव्य माना गया है—'लेखकानपि कायस्थान् लेख कृत्ये विचक्षणाः ।' लेख पद्धति परिशिष्ट के एक श्लोक में कायस्थ की लेखनी पर विश्वास न करने की चर्चा हुई है, उसकी अपेक्षा कृष्ण सर्प एवं व्याघ्र पर विश्वास श्रेयस्कर है—

लेखनी कृतकर्णस्य कायस्थं न विश्वसेत्
विश्वसेत्कृष्णसर्पस्य वनं व्याघ्रस्य विश्वसेत् ॥

महाकवि क्षेमेंद्र की कलाविलास, देशोपदेश आदि कृतियों में कायस्थ एवं उसकी कुटिल लिपि की विशेष चर्चा हुई है। देशोपदेश में लेखक की इसी लेखन-कुटिलतावश उसे कवि ने साक्षात् कालस्वरूप कहा है—

आकार शीर्ष हारी नवदरकारी पदार्थ संहारी
अक्षरभक्षक भेलालिप्त मुखो लेखकः कालः ॥

पत्रकौमुदी की विशिष्ट सामग्री का अनुशीलन उसकी विषयवस्तु के संदर्भ में भी आवश्यक है। रचनाकार ने उत्तम, मध्यम एवं सामान्य पत्रों के रंजन की चर्चा की है। उत्तम पत्र का रंजन स्वर्ण रूप रंग से होना चाहिए। उत्तम पत्र हाथ से षडंगुल अधिक, मध्यम पत्र हाथ भर का तथा सामान्य पत्र मुट्ठी बाँधे हाथ भर का होना चाहिए। मंगल के लिये पत्र में अंकुश और बिंदु के विशिष्ट प्रयोग के अभिप्राय का आग्रह किया गया है। पत्रानयन क्रम में राजा पत्र मूर्ध्नि, मंत्रिपत्र ललाट तथा गुरु ब्राह्मण, यति संन्यासी एवं स्वामी के पत्र को मस्तक से संबद्ध किया है। भार्या, पुत्र, मित्र का पत्र सुधिगों द्वारा हृदय में धारण करने योग्य तथा प्रवीर पत्र कंठ में धारण करने योग्य बतलाया गया है। इसी प्रकार पत्र-चिह्न प्रकरण में राजपत्र कस्तूरी कुंकुम, मंत्रिपत्र कुंकुम, पंडितपत्र चंदन, गुरुपत्र चंदन, स्वामिपत्र सिंदूर, भार्यापत्र उत्पल या आलक्तक (पाठभेदानुसार) पिता पत्र चंदन, संन्यास पत्र चंदन, यति पत्र कुंकुम, भृत्यपत्र रक्तचंदन तथा शत्रुपत्र शोणित से चिह्नित करने का उल्लेख हुआ है। पत्रकौमुदीकार ने राजपत्र को दक्षिण कोण में छेदन करने के अभिप्राय को भी व्यक्त किया है। गद्यमय प्रशस्तियों में व्यावहारिक तथा आत्मीय अभीष्ट जनों के उपाधि तथा गुण को प्रमुख रूप से प्रश्रय दिया गया है।

संस्कृत साहित्य के व्यापक परिवेश में लेखन सामग्री की प्रचुर प्राप्ति की जा सकती है किंतु एक विशिष्ट विधा के रूप में इस साहित्य का जो एक स्वतंत्र रूप बना है उसके सम्यक् अनुशीलन की अपेक्षा समाजशास्त्रीय महत्व का विषय है। दलपतराय कृत प्रशस्तिरत्नकोष, विद्यापति कृत लिखनावली प्रकाशित हो चुके हैं। लेखपद्धति का सुंदर प्रकाशन पहले ही से गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज में हुआ है। वररुचि कृत पत्रकौमुदी के पाठ भी कतिपय स्थलों पर प्रकाशित हुए हैं यद्यपि उसके समग्र एवं सम्यक् पाठ की अपेक्षा है। बालकृष्ण त्रिपाठी एवं शंभुनाथ की प्रशस्तियों के गवेषणात्मक अध्ययन एवं प्रकाशन की अपेक्षा है। इस कोटि का साहित्यिक संभार अब भी शोध भांडारों की शोभा बढ़ा रहा है जिसके अनुशीलन एवं प्रकाशन की अपेक्षा सामाजिक विषयवस्तु की दृष्टि से है।

संदर्भ ग्रंथ

१. डा० एस० के डे० फैलिसिटेशन वाल्यूम, बुलेटिन आफ दी डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग २०, अंक १–४, पूना, भाग १० ।
२. डेस्क्रिप्टिव कैटलाग आव् मैनस्क्रिप्ट्स इन मिथिला—डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पटना ।
३. डेस्क्रिप्टिव कैटलाग आव् मैनस्क्रिप्ट्स इन सर गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट—डा० उमेश मिश्र, इलाहाबाद ।
४. शब्दकल्पद्रुम–चौखंभा संस्कृत सिरीज, भाग ३–४ ।
५. लेखपद्धति–संपादक चिम्मनलाल दलाल, श्रीगोंडेकर, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, भाग १ ।
६. मानसोल्लास–गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा ।
७. भारतीय विद्या—शोधपत्रिका (विद्याभवन, बंबई) खंड १, पृ० २८० ।
८. क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह—संस्कृत अकादमी, हैदराबाद ।

*

डोगरी और पुंछी का तुलनात्मक अध्ययन

सत्यपाल श्रीवत्स

•

डोगरी का क्षेत्र मोटे तौर पर जम्मू नगर से पश्चिम की ओर चिनाब नदी से लगभग ५० मील पश्चिम बहनेवाली तवी नदी से कुछ आगे तक, उत्तर की ओर राम वन, उत्तर-पूर्व में भद्रवाह, पूर्व की ओर चंबा, पूर्व दक्षिण की ओर कांमड़ा में धर्मशाला तक और दक्षिण में जिला गुरदासपुर और सियालकोट के उन भागों तक जो जम्मू प्रांत की सीमा के आस-पास हैं (जो अब पाकिस्तान में हैं) तक है। इसी प्रकार पुंछी—जो डा० ग्रियर्सन के अनुसार लहंदी के उत्तर-पूर्वी रूप-पुठोहारी के उपरूप चिभाली का स्थानीय नाम (थोड़े परिवर्तित रूप में) है—का क्षेत्र भूतपूर्व पुंछ रियासत का वह संपूर्ण प्रदेश है जिसकी चार तहसीलों—बाग, सुधनोती, हवेली और मेहंडर में से बाग और सुधनोती संपूर्ण और हवेली तथा मेहंडर का अधिकांश भाग अब पाकिस्तान के कब्जे में है और शेष भाग जम्मू-कश्मीर राज्य में।

डोगरी और पुंछी भाषी प्रदेशों की सीमाएँ परस्पर मिली हुई होने के कारण इन प्रदेशों के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक (व्यापारिक) संबंधों के आदान-प्रदान के कारण इन दोनों के संबंधों एवं विकास परंपरा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता रहता है। यद्यपि भर्तृहरि ने भाषा के विकास में उत्पत्तिवाद, अनुकरणवाद, अनुमानवाद एवं व्याकरणात्मक उत्पत्ति में से किसी एक को भी कारण नहीं माना है तो भी उन्होंने भाषा के विकास में लोक प्रसिद्धि एवं स्वानुभूति को तो कारण माना ही है। वह एक भाषा का दूसरी पर प्रभाव एवं भाषाओं के आदान प्रदान को भी अवश्य स्वीकार करते हैं। इसी भाषाई आदान प्रदान के कारण ही डोगरी और पुंछी में विषमता की अपेक्षा समता अधिक पाई जाती है। असमानता केवल स्थानीय लहजे एवं प्रभाव के कारण ही है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी दोनों एक ही परिवार से संबंधित हैं।

भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण की दिशा में डा० ग्रियर्सन का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है, किंतु वह कहीं कहीं दो पड़ोसी भाषाओं, उपभाषाओं या बोलियों के मध्य एक निश्चित विभाजक रेखा निर्धारित करने में पूर्णतया असफल हुए हैं। वास्तव में यह है भी कठिन कार्य, क्योंकि भाषाएँ और बोलियाँ पूर्णतया किसी निश्चित सीमाओं के घेरे में नहीं बाँधी जा सकतीं। डोगरी और पुंछी के

विषय में यह बात और भी सत्य सिद्ध होती है। १९४७ में देश के विभाजन और १९६५ में पाकिस्तान के आक्रमण के कारण जौड़ियाँ से लेकर पुंछ तक के सीमावर्ती लोगों को अपने घर छोड़कर इतस्तत: जाना पड़ा है। इनमें से बहुत से लोग तो अपने घरों में वापस भी नहीं आ पाए हैं। पाकिस्तान अधिकृत मीरपुर, भिंबर, कोटली, पुंछ, नौशहरा आदि प्रदेशों के अधिकांश लोग आज या तो जम्मू में बस गए हैं या भारत के विभिन्न स्थानों में बिखरे पड़े हैं। पुंछ नगर की लगभग १०,००० की जनसंख्या में कठिनता से अब १/१० ही पुंछ के मूल निवासी शेष रह गए हैं। बाकी सभी शरणार्थी हैं, जो पुंछ की बाग और सुधनोती तहसीलों से आए हुए हैं।

डा० ग्रियर्सन ने डोगरी को पंजाबी की उपभाषा माना है और इन्हीं के कार्य को आदर्श मानकर चलनेवाले कई भारतीय विद्वान् भी उसे पंजाबी का ही उपरूप मानने लगे हैं। हाँ, कुछ स्वतंत्र अनुसंधित्सु डोगरी का विकास स्वतंत्र रूप से मानते हैं।

डोगरी का क्षेत्र बहुत विशाल है। इसके उत्तर में रामवनी और पोंगुली—जो डोगरी से प्रभावित होने के साथ-साथ इसके उत्तरी भाग में बोली जानेवाली कश्मीरी से भी प्रभावित है—बोली जाती है। इसके पूर्वोत्तरी भाग में (नाला रग्गी के पार डोडा के पास) भद्रवाही, भलेसी और पाडरी (पांगी और किश्तवाड़ के मध्यवर्ती पाडर प्रदेश में बोली जानेवाली) पूर्व में चंपाली वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं। इसी प्रकार डोगरी और चंपाली के मध्य भटेयाली बोली जाती है। इधर उत्तर में भद्रवाह, रामवन और डोगरी भाषा के प्रदेश की मध्यवर्ती लंबी पर्वतशृंखला में बसनेवाले लोगों में खसाली, गोजरी और पहाड़ी बोलियाँ प्रचलित हैं। ये सभी बोलियाँ डोगरी से प्रभावित ही नहीं अपितु संबंधित भी हैं। इसी लिये इन्हें डोगरी की उपबोलियाँ माना जाता है। ये सभी शब्दसमूह, ध्वनियों और वाक्यविन्यास की दृष्टि से डोगरी के साथ बहुत अधिक समानता रखती हैं। डोगरी के दक्षिण पूर्वी भाग में कांगड़ी और कंडियाली बोलियाँ बोली जाती हैं, जो डोगरी के ही स्थानीय प्रभाव के कारण बदले हुए रूप हैं। डा० ग्रियर्सन के पदचिह्नों पर चलने वाले विद्वान् भले ही डोगरी को कांगड़ी से पृथक् मानें पर वास्तव में डोगरी और कांगड़ी अलग अलग नहीं हैं।

इससे आगे दक्षिण से पश्चिम की ओर गुरुदासपुर की शकरगढ़ तहसील (अब पाकिस्तान में) और जम्मू प्रांत के दक्षिण पूर्वी और दक्षिणी भाग की मध्यवर्ती सीमा रेखा के आस पास का भाग (जो अब पाकिस्तान में है) और उससे आगे सियालकोट का पूर्वोत्तरी और उत्तरी भाग जो उक्त दोनों राज्यों की मध्यवर्ती सीमा के आसपास का सारा भाग है—डोगरी भाषाभाषी हैं। इससे आगे

चिनाब नदी से पश्चिम में ५० मील से भी आगे तक डोगरी (कुछ परिवर्तित रूप में) बोली जाती है।

डा० ग्रियर्सन ने चिनाब नदी के पार कुछ मील तक ही डोगरी का प्रदेश माना है, उससे आगे चिभाली का। डा० ग्रियर्सन के इस मत से आज कोई भी भाषाशास्त्री सहमत नहीं है। तवी नदी के सीमावर्ती प्रदेश से उत्तर की ओर बढ़ते-बढ़ते पौनी भारख और वहाँ से रियासी के पश्चिमोत्तरी प्रदेश से होते हुए पूर्वोत्तरी प्रदेश रामवन पहुँच जाने पर डोगरी के संपूर्ण प्रदेश का सर्वेक्षण हो जाता है।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कहना है : 'प्रतीत तो यह हो रहा है कि वर्तमान डोगरी एक बहुत विशाल भाषा का भग्नावशेष है। इन अवशेषों के समर्थन इतिहास से भी मिल जाते हैं।' अपने मत की पुष्टि में उन्होंने ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण की भूमिका के प्रथम पृष्ठ का उदाहरण देते हुए लिखा है—'कवि अमीर खुसरो ने भारत की बोलियों की जो सूची दी थी उसमें दिल्ली की भाषा के पश्चात् डुग्गर की भाषा का स्थान था। पंजाबी का नाम तक नहीं था। इसी प्रकार अंगरेजी राज्य काल में पादरी कैरी ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में इसी प्रकार की सूची बनाई थी। उसमें भी दिल्ली की भाषा के बाद डोगरी भाषा का स्थान माना गया था।'

डा० ग्रियर्सन के आंकड़ों (जो उन्हें १९०२ की जनसंख्या के आधार से प्राप्त हुए थे) के अनुसार डोगरी बोलनेवालों की संख्या इस प्रकार है—

जम्मू प्रांत =४३,४००
स्यालकोट =७४,७२७
गुरुदासपुर =६०,०००
कांगड़ा =४३,६५००
भटियाली =१४,०००

कुल जोड़ =६०,८,६२७

अब हम चिभाली के क्षेत्र की ओर आते हैं, जिसके मध्यवर्ती प्रदेश में हमें इसका स्थानीय उपरूप पुंछी मिलता है जो इस लेख का दूसरा पहलू है।

डा० ग्रियर्सन के अनुसार लहंदी के उत्तर-पूर्वी रूप पुठोहारी का स्थानीय नाम चिभाली और इसी का उपरूप पुंछी है। उन्होंने लहंदा के उत्तर-पूर्वी रूप के विभिन्न भेदों का वर्गीकरण करते हुए चिभाली और पुंछी को कश्मीरी से भी प्रभावित ही नहीं बल्कि इसकी बोलियाँ भी माना है। अपने मत की पुष्टि में उनका कहना है कि चिभाली प्रदेश और काश्मीरघाटी के मध्य एक लंबी पर्वतशृंखला (पीर-पंचाल) है, जिसमें कई दर्रे हैं। इन्हीं दर्रों के द्वारा परंपरा से कश्मीरी और चिभाली प्रदेश का ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनैतिक और संस्कृतिक

संबंध रहा है। विक्रमी सं० १८०० में डोगरा वंशीय दो भाई गुलाबसिंह और ध्यानसिंह के क्रमशः जंमू व काश्मीर और पुंछ के राजा बन जाने के बाद इन प्रदेशों के संबंध और भी घनिष्ठ हो गए। १९४७ के बाद जंमू-पुंछ सड़क के चालू हो जाने पर तो डोगरी और पुंछी भाषी लोग और भी समीप आगए।

डा० ग्रियर्सन एक ओर पुंछी और चिभाली को लहंदा के पुठोहारी रूप का उपरूप मानते हैं तो दूसरी ओर कश्मीरी की बोलियाँ। इसी प्रकार वह ड्रिऊ महोदय के आंकड़ों का समर्थन करते हुए चिभाली का क्षेत्र एकदम चिनाब और जेहलम नदियों के संपूर्ण मध्यवर्ती प्रदेश को मानते हैं, जबकि डोगरी चिनाव नदी से लगभग ५० मील पश्चिम बहनेवाली तवी नदी से भी आगे तक बोली जाती है, जैसा कि ऊपर कहा भी जा चुका है। ग्रियर्सन महोदय के इस प्रकार के निराधार आंकड़ों के विषय में क्या कहा जाय। वास्तव में इसी उपर्युक्त डोगरी की पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी सीमा के आगे से चिभाली का क्षेत्र आरंभ हो जाता है. जो नौशहरा, राजौरी पुंछ (इसके पाक अधिकृत प्रदेशों सहित) भिबर, मीरपुर, मुफराबाद, ऊड़ी किशन गंगा घाटी तक। उधर मरी के पहाड़ी प्रदेश में बोली जाने वाली पुठोहारी की उत्तरी सीमा तक और उत्तर में काश्मीर घाटी में बोली जाने वाली कश्मीरी की दक्षिणी सीमा तक हैं।

ऊपर भिबर से लेकर जितने देश गिनाए गए हैं, वे आजतक सभी पाकिस्तान के अधिकार में हैं। डा० ग्रियर्सन और ग्राहम बेली का कथन है कि इसी प्रदेश (चिभाली) की सबं से महत्वपूर्ण जाति चिब्ब राजपूतों की बोली ही चिभाली के नाम से प्रसिद्ध हो गई है।

चिभाली के इस विशाल क्षेत्र के मध्य ही पुंछ प्रदेश है। इसी का प्राचीन नाम 'परणोत्स' है। डा० ग्रियर्सन का कथन है कि यद्यपि प्राचीन समय में पुंछ में मुसलमान शासकों का जेहलम घाटी के प्रभावशाली लोगों के साथ संबंध होने के कारण (इसके पुंछ रूप को मिलाकर) उनकी बोली पुठोहारी का भी प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था, पर कश्मीर के साथ इसकी सीमाएँ मिली होने के कारण कश्मीरी का भी इसपर पर्याप्त प्रभाव पड़ता रहा जिसके कारण चिभाली के इस स्थानीय रूप का एक स्वतंत्र नाम 'पुंछी' पड़ गया।

पुंछ कालेज में पंजाबी के प्रा० श्री उज्वल सिंह बाहरी (जो आजकल पुंछी पर अनुसंधान कर रहे हैं) ने पुंछी को पंजाबी की बोली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी विषय में उनका एक लेख (पंजाबी अते पुंछी) लुधियाना से प्रकाशित होने वाली पंजाबी पत्रिका 'आलोचना' में प्रकाशित भी हो चुका है। परंतु पुंछी का विकास तो भाषाओं और बोलियों के विचित्र संग्राम से हुआ है।

चिभाली, डोगरी, काश्मीरी, पुठोहारी, लहंदी और पंजाबी सभी का योगदान पाकर भी पुंछी अपनी स्थानीय विशेषताओं को लेकर ही विकसित हुई है।

पुंछी और चिभाली का अंतर बहुत थोड़ा है। परस्पर इनमें बड़ी समानता है—क्या शब्दसमूह और क्या व्याकरण हर बात में। इसी प्रकार डोगरी और पुठोहारी के साथ भी इसकी पर्याप्त समानता है। पुंछी और चिभाली के दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी भाग में पंजाबी का विशाल क्षेत्र होने के कारण इन दोनों पर पंजाबी का अच्छा प्रभाव है।

इस प्रकार चिभाली का पुंछी रूप दक्षिण में पंजाबी और उत्तर में कश्मीरी से तो प्रभावित है ही, पर पश्चिम में पुठोहारी और पूर्व में डोगरी के शक्तिशाली प्रभावों ने भी इस पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। इ‍ी लिये यदि हम पुंछी को ठीक से जाँचने परखने के लिये एवं डोगरी के साथ इसकी तुलना करने के लिये इसे दो भागों (पुंछी का पूर्वी रूप जो डोगरी के अधिक निकट है और पश्चिमी रूप जो पुठोहारी से प्रभावित है) में विभक्त कर दें तो जहाँ पुंछी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करने में सुविधा हो सकती है और डोगरी के साथ इसकी तुलना भी सुगमता से हो सकती है। इसी तथ्य को सामने रखकर लेखक ने पुंछी को दो रूपों में विभक्त किया है। पुंछी के एक रूप को जो अपेक्षाकृत डोगरी के अधिक निकट और जिसक प्रचलन पुंछ नगर (भारत विभाजन से पहले पुंछ की राजधानी) और इसके आस-पास के बहुत बड़े प्रदेश में है, हम केंद्रीय पुंछी कहेंगे और दूसरा रूप जो पुंछ राज्य की सुधनोती और बाग नामक दोनों तहसीलों (जो अब दोनों पाकिस्तान के अवैध अधिकार में है) में प्रचलित है 'पहाड़ी पुंछी' के नाम से प्रसिद्ध है ही। यह रूप अपेक्षाकृत पुठोहारी क अधिक निकट है।

अब यदि इन दोनों रूपों के क्षेत्रों का स्थूल रूप से सर्वेक्षण करें तो इनकी डोगरी के साथ तुलना करने में अधिक सुविधा हो सकती है।

'म्हाड़ा' पुंछ नगर से लगभग ३२ मील पूर्व की ओर से दो मील आगे से चल कर हम दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ते हुए ज्हाड़ांवाली गली से होते हुए बाला कोट (अब पाकिस्तान के अधिकार में) में पहुँच जाते हैं। वहाँ से क्रमशः अह्लणी, म्हजाड़ी, अह्‌ड़ी, धर्मशाला, म्हेंडर (पुंछ राज्य की एक तहसील जिसका बहुत बड़ा भाग अब पाकिस्तान के अवैध अधिकार में है) मनकोट, स्हेड़ा (अब पाकिस्तान के अधिकार में) से होते हुए फगवाटी में पहुँच जाते हैं। इस स्थान तक हमें केंद्रीय पुंछी अपने शुद्ध रूप में मिलती है। इससे आगे पुंछ नदी पार करके पुंछ नगर से ठीक दक्षिण-पश्चिम में मंडोह्ल और उससे थोड़ा आगे (ऊपर की ओर) दौरांदी (पुंछ नगर से लगभग १२ मील) आकर हम केंद्रीय पुंछी और पहाड़ी का मिश्रित रूप देखते हैं। इससे आगे ककूटा (पुंछ नगर से १५

मील पश्चिम में जो अब पाकिस्तान के अधिकार में है) में पहुँच कर हमें पहाड़ी पुंछी का शुद्ध रूप मिलता है, परंतु इससे ऊपर की ओर हजीरा (पुंछ नगर से १५ मील पश्चिम) में भी हमें केंद्रीय और पहाड़ी पुंछी का मिश्रित रूप ही मिलता है। इससे ऊपर ब्हांडी गोपालपुर (पुंछ नगर से १२ मील पश्चिम उत्तर की ओर) भी केंद्रीय और पहाड़ी पुंछी की सीमा पर आता है। इससे आगे पुंछ नगर से ठीक उत्तर में छांजल नामक स्थान (पुंछ नगर से १५ मील जो अब पाकिस्तान के अवैध अधिकार में है) आ जाता है। इससे आगे राजपुरा (पुंछ नगर से लगभग १५ मील पूर्व पश्चिम की ओर) से होते हुए हम फिर 'म्हाड़ा' नामक स्थान पर पहुँच कर केंद्रीय पुंछी के प्रदेश का सर्वेक्षण समाप्त कर लेते हैं।

केंद्रीय पुंछी के प्रदेश में यत्र तत्र रहने वाले मुसलमान = गुज्जर गोजरी, पुंछ नगर में रहनेवाले कश्मीरी पंडित और ब्होरे (कश्मीरी क्षत्रिय) और मुसलमान नाई, कसाव धोबी आदि (जिनके पूर्वज कभी कश्मीर से आए थे) आपस में तो कश्मीरी ही बोलते हैं जब कि अन्य लोगों के साथ पुंछी। पुंछी के मूल निवासी हिंदू और सिक्ख (पुंछ नगर और गाँवों में रहने वाले) केंद्रीय पुंछी का ही व्यवहार करते हैं. जब कि शरणार्थी जो अधिकतर बाग और सुधनोती से आए हैं—अपने घरों में तो अधिकतर पहाड़ी पुंछी में ही बातचीत करते हैं परंतु अन्य लोगों के साथ उनकी बातचीत का माध्यम केंद्रीय पुंछी ही रहता है। इसी प्रकार पुंछ नगर के कुछ परिवार डोगरी और पंजाबी भी बोलते हैं। म्हेंडर और इसके आसपास रहनेवाली दुल्ली, जाट आदि जातियाँ भी पुंछी का ही व्यवहार करती हैं। उधर उत्तर की ओर छांजल घोटा आदि स्थानों के रहनेवाले मुसलमान गुज्जर गोजरी और हिंदू (जो अब भारतीय प्रदेश में रहते हैं) पुंछी का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार इस सारे प्रदेश में पुठोहारी के साथ पर्याप्त समानता रखने वाला चिभाली का स्थानीय रूप पुंछी, गोजरी, कश्मीरी, पंजाबी और डोगरी बोलियाँ बोली जाती है। सचमुच यह प्रदेश बोलियों का अद्भुत संगम है। संभवतः भविष्य में इससे कोई नया रूप भी प्रगट हो सकता है।

केंद्रीय पुंछी की पश्चिमोत्तरी और पश्चिमी सीमा के आगे पहाड़ी पुंछी का प्रदेश आजाता हैं। पुंछ राज्य की बाग और सुधनोती तहसीलों (जो अब पाकिस्तान के अवैध अधिकार में हैं) के सारे प्रदेश में पहाड़ी पुंछी ही बोली जाती हैं, जिसकी सीमा जेहलम नदी तक चली जाती है। इस बोली में कश्मीरी के अच्छ (अच्छणा) और गच्छ (गच्छणा) जैसे शब्दों का प्रयोग होता है जिसके आधार पर डा० ग्रियर्सन ने इसे और चिभाली को कश्मीरी की बोलियाँ कहा है। ग्रियर्सन के अनुसार चिभाली बोलने वालों की संख्या ७,४१,४०७ (तत्कालीन आँकड़ों के

अनुसार) है, जिसमें पुंछी बोलनेवालों की संख्या २,२०,०६६ है, जब कि लेखक द्वारा संगृहीत आंकड़ों के अनुसार पाकिस्तान बनने से पहले पुंछी बोलनेवालों की संख्या इस प्रकार थी—

१. बाग तहसील	= ७४,७९३
२. सुधनोती	= ७५,२१५
३. म्हेंडर	= ९०,०००
४. हवेली	= १०,०००
कुल	३,३०,००८

डोगरी और उससे संबंधित बोलियों चिभाली, पुंछी और पुठोहारी में डोगरी ही एक ऐसी भाषा है, जिसका लिखित साहित्य उपलब्ध है। डा० ब्हूलर ने जम्मू-काश्मीर राज्य, राजपूताना, मध्यभारत आदि स्थानों का भ्रमण करने के बाद एक विस्तृत रिपोर्ट लिखी थी जो १८७७ में बंबई से प्रकाशित हुई थी। उसमें उन्होंने लिखा था कि बहुत सी संस्कृत पुस्तकों जिसमें गणित की पुस्तक लीलावती भी एक है—का डोगरी में अनुवाद मिलता है। एक 'जम्मू' नामक डोगरी पुस्तक भी १८२६ में प्रकाशित हुई थी। महाराजा रणवीरसिंह के राज्यकाल में भी डोगरी की पुस्तकों का प्रकाशन हुआ था। महाराजा रणबीरसिंह ने तो डोगरी लिपि (जो टाकरी वर्ग के पुराने रूप के साथ संबंधित है और टाकरी के चंबा-कुल्लू के ताम्रपट्टों में १० वीं और ११ वीं शताब्दी के प्रमाण भी मिलते हैं) का भी सुधार करवाया था। खेद है कि महाराजा की असामयिक मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियों ने यथापेक्ष ध्यान नहीं दिया। हाँ, निजी स्तर पर अब प्रो० श्रीरामनाथ शास्त्री और उनकी ही प्रेरणा से उनके साथी डोगरी की साहित्य-साधना में जुटे हुए हैं। अब धीरे-धीरे डोगरी में विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण हो रहा है।

प्रस्तुत लेख का विषय डोगरी और पुंछी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इन दोनों का तुलनात्मक रूप व्याकरण संबंधी विशेषताओं और भाषा-वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

यद्यपि प्रत्येक भाषा का अपना लहजा, अपना स्वराघात, अपना उतार चढ़ाव, अपनी लचक, अपनी लय, अपना सुर, अपना विकासक्रम तथा इतिहास होता है जैसा कि श्री भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—भाषा की परंपरा सर्वथा मौलिक और स्वाभाविक है। भाषा न किसी द्वारा घड़ी जाती है और न ही किसी विशिष्ट दिन से आरंभ होती है। वह अपने प्रवाह में निरंतर बढ़ती चली जानेवाली एक मौलिक-भौतिक प्रक्रिया है (वा० २।२९)।

इसी प्रकार प्रसिद्ध भारतीय भाषाविद् श्री ज्यूल ब्लाख ने भी अपनी पुस्तक 'ल आंदो एरिया' में लिखा है—'प्रत्येक भाषा का अपना इतिहास है। इतिहास, जिसपर प्रकाश नहीं पड़ सकता।'

किसी भी भाषा का अध्ययन करने के लिये मुख्यत: इन चार अंगों को आधार मानना पड़ता है—ध्वनिसमूह, शब्दरचना, शब्दविन्यास और शब्दभंडार।

१. **ध्वनिसमूह**—डोगरी (अपनी बोलियों सहित) पुंछी और पंजाबी के ध्वनिसमूह समान हैं। घ, झ, ढ, ध और भ इनमें समान रूप से उच्चारित होते हैं। इतना ही नहीं ये घोष महाप्राण ध्वनियाँ अघोष प्रयत्नतर अल्पप्राण के रूप में भी उच्चरित की जाती हैं। जैसे—क्ह, च्ह, ट्ह, परंतु इनका इस प्रकार उच्चारण-तभी होता है जब ये ध्वनियाँ शब्द के आदि में प्रयुक्त होती हैं। जैसे—क्हर (घर) ट्होल (ढोल), प्हैण, च्हीर (झीर) आदि। इनका इस प्रकार उच्चारण करते समय एक विशेष प्रकार का सुर सुनाई पड़ता है। इसके विपरीत बुड्डा (बूढ़ा), अद्ध (आधा) कढ्डु (निकालना) आदि घोष अल्पप्राण-बहुल शब्दों में घोष अल्पप्राण से पहले ही सुर सुनाई पड़ता है।

(क) डोगरी और केंद्रीय पुंछी दोनों में बलहीन आदि स्वर का लोप हो जाता है, जब कि पहाड़ी पुंछी में इस नियम के कहीं कहीं अपवाद भी मिलते हैं—

	डोगरी	केन्द्रीय पुंछी	पहाड़ी पुंछी
(अ)	पराध	पराध	पराध
(उ)	मेद	मेद	मेद
(अ)	मरूद	अमरूद	×
(इ)	लाज	लाज	लाज
(आ)	समान	समान	(अ शमान) असमान
(इ)	लाची	लाची	लाची
(अ)	खोड़	खोड़	अखोड़ हिं० अखरोट

(ख) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में सबल आदि स्वर का लोप नहीं होता है। जैसे अन्‌जान, अदरक, आंमदन, आस्सरा, अवकरा आदि।

(ग) डोगरी के समान केंद्रीय पुंछी में भी चतुर्थी और सप्तमी कारकों में शब्द के अंत में 'ऐ' ध्वनि प्रयुक्त होती है, जब कि पहाड़ी पुंछी में इस नियम के अपवाद मिलते हैं। जैसे—

डोगरी	के० पु०	पहाड़ी पुंछी	हिंदी
आदमिरों वास्ते	आदमिरों वास्ते	इना आदमियाँ	इन आदमियों के लिये।
घरै' च (कन्दै'वर)	घरै' च (विच)	घरै' च	घर में
(कन्दा' वर) (कन्दा' र)	कन्दै उप्पर	कन्दा' र	दीवार पर

(घ) डोंगरी और पुंछी दोनों में शब्द के अंतिम अक्षर से प्रथम आ, ई, ऊ, ए, ऐ और ओ, हो तो अंतिम व्यंजन यद्यपि स्वरांत ही लिखा जाता है, पर उसका उच्चारण हलंत अक्षर के समान होता है। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
मेख	मेख	मेख	कील
सेक	सेक	सेक	सेंक
मोख	मोख	मोख	उद्यापन
स्हैक	स्हैक	स्हैक	मरते हुए जीव का धीमा श्वास।
आस	आस	आस	आशा
खास	खास	खास	खास
व्हूल	व्हूल (ओई)	व्हूल	पानी की अत्यंत छोटी नहर

(ङ) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में यदि 'अ' के आगे द्वित्व व्यंजन हो तो अंतिम व्यंजन स्वरांत हो जाता है। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
अक्ख	अक्ख	अक्ख	आंख
अग्ग	अग्ग	अग्ग	आग
अव्बल	अव्बल	अव्बल	बढ़िया

२. शब्द रचना

(क) संस्कृत के वे शब्द जो प्राकृत से तद्भव होकर आए थे डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में पंजाबी के समान तत्सम होकर ही आए हैं। जैसे—

संस्कृत	प्राकृत	डोगरी	केन्द्रीय पुंछी	पहाड़ी पुंछी	हिंदी
कर्म	कम्म	कम्म	कम्म	कम्म	काम
सर्प	सप्प	सप्प	सप्प	सप्प	साँप
शिला	सिल	सिल	सिल	सिल (सलोटी)	शिला

संस्कृत	प्राकृत	डोगरी	केन्द्रीय पुन्छी	पहाड़ी पुन्छी	हिंदी
दुग्ध	दुद्द	दुद्द	दुद्द	दुद्द	दूध
अक्षि	अक्ख	अक्ख	अक्ख	अक्ख	आँख
सप्त	सत्त	सत्त	सत्त	सत्त	सात
अश्रु	अत्थरूं	अत्थरूं	अत्थरूं	अत्थरूं	आँसू
रक्त	रत्त	रत्त	रत्त	रत्त	रक्त
सत्य	सच्च	सच्च	सच्च	सच्च	साँच
कर्ण	कन्न	कन्न	कन्न	कन्न	कान

पहाड़ी पुंछी में कहीं कहीं कोन्न भी प्रयुक्त होता है।

(ख) संस्कृत के 'र'-प्रधान शब्दों का 'र' हिंदी में तो लुप्त हो जाता है जब कि डोगरी और पुंछी में नहीं होता है। जैसे—

सं०	डो०	के० पुंछी	प० पुंछी	हिंदी
मित्रम्	मित्तर	मित्तर	मित्तर	मीत (मित्र)
सूत्रम्	सूत्तर	सूत्तर	सूत्तर	सूत
निद्रा	नीन्दर	नीन्दर	नीन्दर	नींद
ताम्रम्	त्राम्मा	त्राम्मा	त्राम्मा	ताम्बा
क्षेत्रम्	खेतर	खेतर	खेतर	खेत
पत्रम्	पत्तर	पत्तर	पत्तर	पत्ता
ग्रामम्	ग्रां	ग्रां	ग्रां	गांव

(ग) डोगरी के समान पुंछी के दोनों रूपों में भी कई शब्दों के तद्भव रूपों में 'र' का निक्षेप हो जाता है। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
परसीना	परसीना	परसीना	पसीना
पर्नाला (नाड़ा)	पर्नाला	नाड़ा	पनाला
गोड़ना	गोड़ना	गोड़ना	तोड़ना
द्रौड़ना (दौड़ना)	दोड़ना	दोड़ना	दौड़ना

(घ) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में स्वराघात के कारण शब्द के रूप में परिवर्तन हो जाता है और कभी कभी अर्थ में भी। जैसे—

उच्च स्वराघात			मध्य स्वराघात			निम्न स्वराघात		
डो०	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०
वाह्	वाह्	वाह्	साण्	साण्	साण्	वा	वा	वा
चाह्	चाह्	चाह्	स्हाण्	स्हाण्	स्हाण्	नांह्	नांह्	नांह्
राह्	राह्	राह्	वा	हवा	वा			
साह्न	साह्न	साह्न	हाल	हाल	हाल			
घा	घा	घा						
आह्ल	आह्ल	आह्ल						

(ङ) उन संयुक्त शब्दों में जहाँ अनुस्वार परक वर्ण अघोष हो तो प्रथम वर्ण के अंतिम 'अ' का उच्चारण डोगरी में 'ऐ' हो जाता है जब कि पुंछी के दोनों रूपों में 'अ' ही रहता है। जैसे—

डोगरी	के० पुं०	प० पुं०	हिंदी
नेन्त	नन्त	नन्त	अनन्त
जेन्तर	जन्तर	जन्तर	यन्त्र
सेन्तु	सन्तु	सन्तु	सन्तु
सेङ्ख	सङ्ख	सङ्ख	शंख
म्हेन्त	म्हन्त	म्हन्त	महन्त
मेन्तर	मन्तर	मन्तर	मन्त्र

(च) अनुस्वारपरक वर्णों के आगे घोष वर्ण होने पर डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में आदि अक्षर ह्रस्व रहता है जब कि हिंदी में अधिकतर दीर्घ ही रहता है। जैसे—

हिंदी	डोगरी	के० पु०	प० पुंछी
पाञ्च	पञ्ज	पञ्ज	पञ्ज
खाण्ड	खण्ड	खण्ड	खण्ड
दान्त	दन्द	दन्द	दन्द
गाँठ	ग्हण्ड	ग्हण्ड	ग्हण्ड
तन्तु	तंद	तंद	तंद
रांड	रण्ड	रण्डी	रण्डी
ठण्ड	ठण्ड	ठण्ड	ठण्ड
अंग	अंग	अंग	अंग

(छ) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में 'ह' ध्वनि से आरंभ होनेवाले शब्दों के 'ह' का लोप हो जाता है, परंतु एक अतिरिक्त 'ह' का आगम भी हो जाता है जो लुप्त होने वाली 'ह' ध्वनि से अगली ध्वनि के साथ संयुक्त होकर उच्चरित होती है। लुप्त होनेवाली 'ह' ध्वनि निर्बल अनुदात्त होती है। जैसे—

डोगरी	के० पु०	प० पु०	हिंदी
स्हाणा	अस्हाना	स्हाना	हसाना
म्हीरपुर	म्हीरपुर	म्हीरपुर	हमीरपुर
थ्याह्र	थ्याह्र	थ्याह्र (अथ्याह्र)	हथ्यार
स्हाब	स्हाब	स्हाब	हिसाब
फ्हाजत	फ्हाजत	फ्हाजत	हिफाजत
राह्णा	राह्णा	राह्णा	हराना
म्हेशां	म्हेशां	म्हेशां	हमेशां

पहाड़ी पुंछी में इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसे—हथोड़ा, हलवाई इत्यादि।

(ज) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में अवकंठित सुर पाया जाता है। ऐसे शब्दों के उच्चारण के समय गले में कुछ रुकावट जैसी आती हुई प्रतीत होती है। जैसे—

संस्कृत	डोगरी	के० पुंछी	प० पुंछी
हस्त	?अ̮थ	?अ̮थ	?अ̮थ
हल	?अल्ल	?अल्ल	?अल्ल

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इन शब्दों में सुर की पहचान के लिये '? अ' निश्चित किया है।

(झ) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में औरस्य ध्वनि भी पाई जाती है, जो इन दो भेदों में मिलती है—

(१) 'ह्' ध्वनि का सूक्ष्मतम रूप।

(२) 'ह' शब्द में पहले से ही विद्यमान ध्वनि का पूर्व निपात। जैसे—

	डोगरी	के० पु०	प० पु०
(१)	दोह्रा	दोह्रा	दोह्रा
	सौह्रा	सोह्रा	सोह्रा
(२)	बाह्रवीं	बाह्रवीं	बाह्रवीं
	तेह्रवीं	तेह्रवीं	तेह्रवीं

(३) शब्दविन्यास और शब्दभंडार —

(क) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों के शब्दों में द्वित्व की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है। जैसे —

हिंदी	डोगरी	के० पु०	प० पु०
दश	दस्स	दस्स	दस्स
आठ	अट्ठ	अट्ठ	अट्ठ
बाजा	बाज्जा	बाज्जा	बाज्जा
राजा	राज्जा	राज्जा	राज्जा
जाट	जट्ट	जट्ट	जट्ट
भात	भत्त	भत्त	भत्त
आंख	अक्ख	अक्ख	अक्ख
खाट	खट्ट	खट्ट	खट्ट
घूंट	घुट्ट	घुट्ट	घुट्ट
नाक	नक्क	नक्क	नक्क

(ख) डोगरी और पुंछी दोनों में कुछ देशज शब्द भी समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। जैसे —

डोगरी	के० पु०	प० पु०
थेंद	थिंद	थिंद
खिचड़ी	खिचड़ी	खिचड़ी
बट्टा	बट्टा	बट्टा
झाड़	झाड़	झाड़
सलाह्	सलाह्	सलाह्
ग्हुम्म	ग्हुम्म	ग्हुम्म
झक	झक	झक
च्हड़ा	च्हड़ा	च्हड़ा
मक्की	मक्क	मक्क
रज्जना	रज्जना	रज्जना
कोरा	कोरा	कोरा
भड़ास	भड़ास	भड़ास

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों के ध्वनिसमूह, शब्दरचना, शब्दविन्यास और शब्दभंडार में पर्याप्त समानता पाई जाती है।

ध्वनि परिवर्तन के हमारे सामने कई उदाहरण आए हैं। कहीं ध्वनि निक्षेप (वर्णागम) कहीं पर संहृति लोप आदि।

अब डोगरी और पुंछी की व्याकरण संबंधी विशेषताओं के आधार पर तुलना की जाती है।

२. डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों के अधिकांश संज्ञा शब्दों में समानता पाई जाती है। पहाड़ी पुंछी में इसके अपवाद भी मिलते हैं। जैसे —

(क) संज्ञा —

डोगरी	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०
बतख	बतक	बतक	कोरा	कोरा	कोरा
घोड़ा	घोड़ा	घोड़ा	खोफ	खोफ	खोफ
कणक	कणक	कणक	पिओ (प्यो)	पिओ (प्यो)	पिओ
ग्रां	ग्रां	ग्रां	सुत्थण	सुत्थण	सुत्थण
ल्हैर	ल्हैर	ल्हैर	चम्र	चम्र	चम्र
कुक्कड़	कुक्कड़	कुक्कड़	खब्बल	खब्बल	खब्बल
			कुल्फा	कुल्फा	कुल्फा
पिच्छ	पिच्छ	ओगरा (पिच्छ)	कम्र	कम्र	कम्र
			जागत	जागत	जंगत

(स) भाववाचक संज्ञाएँ

डो०	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०
दोस्ती	दोस्ती	दोस्ती	ज्वानी	ज्वानी	ज्वानी
बड़ापा	बड़ापा	बड़ापा	मूर्खता	मूर्खता	मूर्खता
			पणत्याई	पणत्याई	पणत्याई

(२) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में (कुछ अपवादों को छोड़कर) विशेषणवाचक शब्द भी एक समान ही बनते हैं। जैसे—

(क) विशेषणवाचक शब्द

डो०	के प०	प० पु०	डो०	के० प०	प० पु०
लिस्सा	लिस्सा	लिस्सा	मंदा	मंदा	मंदा
बड्डा	बड्डा	बड्डा	सोह्णा	सोह्णा	चगा (सूह्णा)
किदा	किदा	किदा	चंगा	चंगा	चगा
कच्चा	कच्चा	कच्चा	ढिल्ला	ढिल्ला	ढिल्ला
ह्लिग्रा	ह्लिग्रा	ह्लिग्रा	पक्का	पक्का	पक्का
बुक्भर	बुक्भर	बुक्भर	बुढ्ढ	बुढ्ढ	बुढ्ढ

(ख) विशेषण से भाववाचक संज्ञाएँ

डो०	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०
वड्याई	बड्याई	बड्याई	उचाई	उचाई	उचाई
लिसाई	लिसाई	लिसाई	भलाई	भलाई	भलाई
बराई	बुराई	बुराई	ढेल्ल	ढिल्ल	ढिल्ल

(३) डोगरी और के० पुंछी में संज्ञा के लिंग और वचन के अनुसार विशेषण के रूप भी बदल जाते हैं, जबकि पहाड़ी पुंछी में इस नियम का कहीं-कहीं अपवाद भी मिलता है। जैसे—

पुंलिंग कर्ता

	डोगरी	के० पुंछी	प० पुंछी
(क)	एकवचन = सोह्ना घोड़ा।	सोह्ना घोड़ा।	चंगा घोड़ा (सूनां घोड़ा)
	बहुवचन = सोह्ने घोड़े।	सोह्ने घोड़े।	चंगे घोड़े।

स्त्रीलिंग कर्ता

	डोगरी	के० पुंछी	प० पुंछी
(ख)	ए० व० = सोह्नी घोड़ी।	सोह्नी घोड़ी।	चंगी घोड़ी।
	ब० व० = सोह्नियाँ घोड़ियाँ।	सोह्नियाँ घोड़ियाँ।	चगीआं घोड़ियाँ।
	सोह्नीएँ घोड़िएँ दा, दे, दी।	सोह्नी घोड़ीआं, ना ने, नी।	चंगी घोड़ीआं, ना, ने, नी।
	सोह्नीएँ घोड़िएँ दा, दे, दी।	सोह्नियाँ घोड़ीआं ना, ने, नी।	चंगी घोड़ीआं ना, ने, नी।

क्रिया और क्रियाओं की रूपावली

(क) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में हिंदी के सामान धातु के अंत में प्रधान प्रत्यय ना या णा लगता है। जैसे—

डोगरी	के० पु०	प०	डो०	के० पु०	प० पु०
पीह्णा	पीह्णा	पीह्णा	घड़ना	घड़ना	घड़ना
जाना	जाना	गच्छना (ग्हेनां)	ढोणा	ढोणा	ढोणा
आना	आना	अच्छना (एह्नां)	आह्नना	आह्नना	आह्नना
छिल्लना	छिल्लना	छिल्लना	होना	होना	होना
चलना	चलना	जुलना	करलाणा	करलाना	करलाना
बुस्सना	मस्सना	मुस्कना	रुस्सना	रुस्सना	रुस्सना
कुट्टना	कुट्टना	कुट्टना	पुणना	पुणना	पुणना

(ख) क्रियाओं की भाववाचक संज्ञाओं के रूप भी प्रायः एक समान ही बनते हैं। जैसे —

डो०	के० पु०	प० पु०	डो०	के० पु०	प० पु०
घड़ाई	घड़ाई	घड़ाई	पुणाई	पुणाई	पुणाई
छिलाई	छिलाई	छिलाई	बाह्ई	बाह्ई	बाह्ई
करलट्ट	करलट्ट	करलाट			

(ग) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में क्रियाविशेषण कुछ अपवादों को छोड़कर समान रूप से ही बनते हैं। जैसे—

डो०	के० पुंछी	प० पुंछी
हुण्	हुण्	हुण्
कदें-कदें	कदें-कदें	कदें-कदें
जतुं (जदुं)	जदुं	जदुं
परूं	परूं	परूं
ऐतकी (अजू, एजूं)	ऐतकी	ऐतकी
कदुं	कदुं	कदुं
उप्पर	उप्पर	उप्पर
इत्थैं	इत्थैं	इत्थैं
जित्थैं	जित्थैं	जित्थैं
नेड़ै (कोल)	नेड़ै (कोल, नेड़ें)	नेड़ै (कोल)
खल्ल	ब्हुन	ब्हुन

वचन और लिंग के अनुसार डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में पुंलिंग

से स्त्रीलिंग बनाने के लिये अधिकांश शब्दों के अंत में 'ई' लगाई जाती है। किन्हीं शब्दों में 'नी' का आगम भी हो जाता है। जैसे—

डोगरी		के० पु०		प० पु०	
पुंलिंग	स्त्रीलिंग	पुंलिंग	स्त्रीलिंग	पुंलिंग	स्त्रीलिंग
घोड़ा	घोड़ी	घोड़ा	घोड़ी	घोड़ा	घोड़ी
पुत्तर	धी	पुत्तर	धी	पुत्तर	धी
माश्टर	माश्टरैनी	मास्टर (माशटर)	मास्टरानी (माशटरैनी)	मास्टर (माशटर)	माशटरयानी
जेठ	जठानी	जेठ	जठानी	जेठ	जठानी
मर्द	जनानी	मर्द	जनानी (कुड़ी)	मर्द (मड्द)	कुड़ी
बकरा	बकरी	बकरा	बकरी	बकरा	बकरा
कुत्ता	कुत्ती	कुत्ता	कुत्ती	कुत्ता	कुत्ती
देर	दरानी	देर	दरानी	देर	दरानी
सप्प	सप्पनी	सप्प	सप्पनी	सप्प	सप्प
चिड़ा	चिड़ी	चिड़ा	चिड़ा	चिड़ा	चिड़ी
बुड्ढा	बुड्डी	बुड्ढा	बुड्ढा	बुड्ढा	बुड्ढी

इस नियम के अपवाद इस प्रकार हैं—

डो०		के० पु०		प० पु०	
पुलिंग	स्त्रीलिंग	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री
धोबी	धोबन	धोबी	धोबन	धोबी	धोबिग्रानी
इल्लड़	इल्ल	इल्ल	इल्ल	गिज	गिज (गृध्र)

(२) अ, ई- अंत वाले शब्दों को डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में बहुवचन बनाने के लिये शब्दों के अंत में ए, ऐ आं और यां जोड़े जाते हैं। जैसे—

डोगरी		के० पु०		पहाड़ी पु०	
एकवचन	बहुवचन	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
कुड़ी	कुड़ियां	कुड़ी	कुड़ीयां	कुड़ी	कुड़ीयां
बिल्ली	बिल्लियां (आं)	बिल्ली	बिल्लीयां	बिल्ली	बिल्लीयां
स्हेली	स्हेलीयां	स्हेली	स्हेलीयां	स्हेली	स्हेलीयां
राणी	राणीयां	राणी	राणीयां	राणी	राणीयां
मुण्डी	मुण्डीयां	मुण्डी	मुण्डीयां	मुण्डी	मुण्डीयां
दोस्त	दोस्तें	दोस्त	दोस्तें	दोस्त	दोस्तें
घोड़ा	घोड़े	घोड़ा	घोड़े	घोड़ा	घोड़े
राज्जा	राज्जे	राज्जा	राज्जे	राज्जा	राज्जे
मेह्ता	मेह्ते	मेह्ता	मेह्ते	मेह्ता	मेह्ते

कारक

(क) डोगरी, केंद्रीय पुंछी और पहाड़ी पुंछी में कर्तृवाचक परसर्ग 'ने' विकल्प से प्रयुक्त होता है। जैसे—

१. कृष्ण पड़ारदा (डो० वर्तमानकाल)
२. कृष्ण (ने) अम्ब खादा (डो० भूतकाल)
१. कृष्ण पड़ना पिया (के० पु० वर्तमानकाल)
२. कृष्ण अम्ब खादा (के० पु० भूतकाल)
१. कृष्ण पड़नेस (प० पुंछी वर्तमानकाल)
२. कृष्ण अम्ब खादा सेस (प० पु० भूतकाल)
१. निक्के भ्राऊ ने अपने पुत्तरे दी कड़माई कीती (डो० भूतकाल)
२. निक्के भ्राऊ अपने पुत्तरे नी कड़माई कीती (के० पु० भूतकाल)
३. निक्के भ्राऊ अपने पुत्तर ना नात्ता कीता (प० पु० भूतकाल)
१. निक्के पुत्तरै पिओगी आखे या (डो० भूतकाल)
२. निक्के पुत्तरै (ने) पिऊ की आखेया (के० पु० भूतकाल)
३. निक्के पुत्तरै ने पिऊगी आखेया (प० पु० भूतकाल)

(ख) कर्मवाचक परसर्ग के स्थान पर डोगरी में 'एकी', 'एगी' और 'एई' प्रत्यय लगते हैं और केंद्रीय पुंछी में केवल 'एकी' और 'एई' प्रत्यय लगते हैं, जबकि पहाड़ी पुंछी में 'ऐ',ऐमी, और 'अ' प्रत्यय लगते हैं और कई स्थानों पर कोई प्रत्यय नहीं लगता है।

डो०	के० पु०	प० पुंछी
पुत्रेगी आख (ई की) आख मी दे (मिकी दे, मिगी दे)	पुत्रैकी आख मिगी देओ मेरे गी दे।	पुत्र आख मिगी देई देओ मैं की देओ।

(ग) करण और अपादान परसर्ग के लिये डोगरी में कोला, थ्वां, शा, कशशा और परा प्रत्यय लगते हैं, केंद्रीय पुंछी में कोलों और थीं जबकि पहाड़ी पुंछी में कोला प्रयुक्त होता है। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०
उस दे थ्वां ए कम्म करवा (करण)	उसने कोलों ऐ कम्म करवा	उसने थीं (कोला) ऐ कम्म करवा
उसदे शा, कश्शा, कोला कताब, लिया, आह्‌न	उसने कोलों थीं कताब लिया	उसने थीं (कोला) ए कताब लिया, आह्‌न।

(घ) डोगरी में संप्रदान परसर्ग के लिये वास्ते, आस्ते और गितै प्रत्यय लगते हैं जबकि के० पुंछी में केवल वास्ते और पहाड़ी पुंछी में ऐ, ऐ आ प्रयोग में लाए जाते हैं। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०
बकरी चारने आस्ते गेया (वास्ते)	बकरी चारने वास्ते गेया	बकरी चारया गा
मेरे (म्हाड़े) वास्ते (आस्ते) कताब आह्‌न	मेरै वास्ते कताब आह्‌न	मेरया कताब अह्‌न म्हाड़े आस्ते।

(ङ) संबंध कारक के बोधक परसर्ग डोगरी में दा, दे, दी और पुंछी के दोनों रूपों में क्रमशः ना, ने, नी में बदल जाते हैं। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०
पुत्रेदा दोस्त	पुत्रै ना दोस्त	पुत्रै ना दोस्त।

(च) अधिकरण कारक में र, वर, पर, उप्पर, च, विच परसर्ग डोगरी में प्रयुक्त होते हैं, केंद्रीय पुंछी में वर, उप्पर, विच और प० पुंछी में र, विच, इच परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०
पुत्तरेवर पत्थर पेया	पुत्तरै उप्पर पत्थर पिया	पुत्तरै' र पत्थर पेया
पढ़ने' च श्याह्‌र ऐ	पढ़ने विच श्याह्‌र ऐ	पढ़ने इच (विच) होश्यार

(१) अब सभी कारकों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) पुंलिंग

	डोगरी		के० पु०		प० पुंछी	
	एक व०	बहु व०	एक व०	ब० व०	एक व०	ब० व०
कर्ता—	पुत्तर (ने)	पुत्तर (पुत्तरैं)	पुत्तर (ने)	पुत्तर (पुत्तरैं)	पुत्तर (ने)	पुत्तरैं (ने)
कर्म—	पुत्तरे की (ई, गी)	पुत्तरैं की (ई, गी)	पुत्तरे की (ई)	पुत्तरैं की (ई)	पुत्तरे ई	पुत्तरैं ई
कर०—	पुत्तरे शा (ध्वां, कोला)	पुत्तरैं शा (ध्वां, कोला)	पुत्तरे कोलों	पुत्तरैं कोलों	पुत्तरे कोला	पुत्तरैं कोला
संप्र०—	पुत्तरैं आस्ते (वास्ते)	पुत्तरैं आस्ते (वास्ते)	पुत्तरे वास्ते	पुत्तरैं वास्ते	पुत्तरेयां (पुत्तरेकिया)	पुत्तरैं आस्ते (पुत्तरैं किया)
अपा०—	पुत्तरेशा (कश्शा, ध्वां कोला)	पुत्तरैं शा (कश्शा, ध्वां कोला)	पुत्तरैं कोलों	पुत्तरैं कोलों	पुत्तरे कोला	पुत्तरैं कोला
संबं०—	पुत्तरे दा, दी, दे	पुत्तरैं दा, दी, दे	पुत्तरे ना, नी, ने	पुत्तरैं ना, नी, ने	पुत्तरे ना, नी, ने	पुत्तरैं ना, नी, ने
अधि०—	पुत्तरे वर, उप्पर, च, विच,	पुत्तरैं वर, उप्पर, च, विच,	पुत्तरे' वर, उप्पर विच,	पुत्तरैं' वर, उप्पर विच,	पुत्तरे' र विच-विच,	पुत्तरैं' र, विच-विच,

(ख) स्त्रीलिंग

	डो०		के० पु०		प० पु०	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
क०—	धी ने धिम्रा ने, धिऊ ने	धिएं (ने)	धी (ने)	धीम्रां (ने)	धी (ने)	धीम्रां (ने)
कर्म—	धीए की, (ई, गी)	धीएं की (ई, गी)	धी की	धीएं की	धी (की)	धीएं (की)
कर०—	धीए थ्वां (कोला, शा)	धीएं थ्वां (कोला, शा)	धीए कोलों	धीएं कोलों	धीम्रा कोला	धीएं कोला
संप्र०—	धीम्रा म्रास्ते (धीए वास्ते)	धीएं म्रास्ते (वास्ते)	धी वास्ते	धीएं वास्ते	धीएम्रा (धीऊ किया)	धीऍम्रा (धीएं किया)
अपा०—	धीम्रा दा, दी, दे	धीएं दा, दी, दे	धी ना, नी, ने	धीएं ना, नी, ने	धीए ना, नी, ने	धीएं ना, नी, ने

(१) सर्वनाम शब्द

(क) उत्तम पुरुष

क०—	मैं (में)	अस	मेंह्	अस	मैंह्	अस
कर्म०—	मि की (गी)	असें ई (गी, की)	मिकी	असां की	मेंह् (मिकी)	असें (की)
कर०—	मेरे थ्वां (शा, कश्शा)	स्हाड़े थ्वां (शा, कश्शा)	मेरे कोलों	असां कोलों	मैं कोला	असें कोला

	डोगरी		के० पु०		प० पु०	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
संप्र०	मेरे आस्ते (वास्ते)	स्हाड़े आस्ते (वास्ते)	मेरै आस्ते (वास्ते)	असां आस्ते (वास्ते)	म्हाड़े आ (मिकी आ)	म्हाड़े या (असे क्या)
अपा०	मेरे ध्वां कोला, शा, कश्शा	स्हाड़े ध्वां कोलां, शा, कश्शा	मेरे कीं कोलों, कोलूं	स्हाड़े कोलों (कोलूं)	मैंह् कोला	स्हाड़े कोला (तीं, थीं, असे कोलां)
संबं०	मेरा, री, रे	स्हाड़ा, ड़ी, ड़े	मेरा, री, रे	स्हाड़ा, ड़ी, ड़े असां नां, नी, ने	म्हाडा, ड़ी, ड़े	स्हाड़ा, ड़ी, ड़े असें नां, नी, ने
अधि०	मेरै, च, र उप्पर, वर	स्हाड़े' र, च वर, उप्पर	मेरै' र, वर, उप्पर, विच	स्हाड़े' र, वर उप्पर, विच	मैंह्' च, मेरै' च म्हाडे वर, उप्पर	म्हाड़े' र, च, उप्पर

(ख) मध्यम पुरुष

	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
क०	तूं	तुस	तूं, तू	तुसां, तुस	तूं	तुसां, तुस
कर्म०	तुई (की गी)	तुसे ई (गी) की	तुयी (तुई)	तुसां की	तुई	तुस, तुसें की
कर०	तेरे ध्वां, शा कश्शा, कशे	तुआह् ड़े ध्वां, शा, कश्शा तुंदे ध्वां, कशे	तेरे नाल, तेरे कोलों, (लूं)	तुसां नाल, तुसां कोलों (लूं)	तू कोला	तुसें कोला
संप्र०	तेरै आस्तै (वास्तै)	तुहाड़े आस्तै, थुहाड़े वास्तै तुंदे, आस्तै	तेरे वास्तै	तुसां वास्तै	तुकिया	तुसें किया

	डोगरी		के० पु०		प० पु०	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
अपा०	तेरे थ्वां, वरा, शा, कश्शा	तुआह्‌ड़े थ्वां, शा, कश्शा, वरा, तुंदे थ्वां	तेरे कोलों (कोलं)	तुसां कोलों (कोलूं)	तुआह्‌ड़े कोला	तुसें कोला
संबं०	तेरा, रो, रे	तुआह्‌ड़ा, ड़ी, ड़े, थुआह्‌ड़ा, ड़ी, ड़े तुंदा, दी, दे	तेरा, री, रे	तुसां ना, नी, ने	तुआह्‌ड़ा, ड़ी, ड़े, (सुआड़ा)	तुआह्‌ड़ा, ड़ी, ड़े, सुआड़ा
अधि०	तेरै वर उप्पर' च, विच	तुआह्‌ड़े' वर उप्पर, च, विच तुंदै' वर, च, उप्पर, विच	तेरै' वर उप्पर, विच	तुसां' वर उप्पर, विच	तुसां' वर उप्पर, विच	तुआह्‌ड़े' र तुसें' र

(ग) अब कुछ संबंधवाचक सर्वनामों के उदाहरण दिए जाते हैं—

उसदा, दी, दे	उन्दा, दी, दे	उसना, नी, ने	उन्हाँनां, नी, ने	उसनां,नी,ने	उन्हाँना, नी, ने
इसदा, दी, दे	इन्दा, दी, दे	इसना, नी, ने	इन्हाँनां, नी, ने	इसना, नी, ने	इन्हाँनां, नी, ने
कहोदा, दी, दे	कहुन्दा, दी, दे	कुसना, नी, ने	कुन्हाँना, नी, ने	कुसनां, नी, ने	कुन्हाँना, नी, ने
जिसदा, दी, दे	ज्हिन्दा, दी, दे	जिसना, नी, ने	जिन्हाँना, नी, ने	जिसनां, नी, ने	जिन्हानां, नी, ने

नोट—पहाड़ी पुंछी के इन बहुवचन रूपों की ध्वनियाँ जिन्हें नां, नी, ने से व्यक्त किया जाता है वे न तो पूरी अनुनासिक है और न अनुस्वार ही। इनके मध्य की हैं।

(१) डोगरी के वर्तमान कृदंत रूप बनाने के लिये धातु के साथ दा, दे, दी लगते हैं और साथ ही अकारांत धातु को विकल्प से ह्रस्व भी हो जाता है। केंद्रीय पुंछी में इनके स्थान पर क्रमशः ना (णा), नी (णी), ने (णे) हो जाते हैं, परंतु डोगरी के समान धातु को ह्रस्व नहीं होता। पहाड़ी पुंछी के रूप भी केंद्रीय पुंछी के समान ही बनते हैं। जैसे—

डोगरी		के० पुंछी		प० पुंछी	
पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
जा—जन्दा	जन्दी	जाना	जाना	जुलना	जुलनी
जन्दे	जन्दीआं	जाने	जानीआं	जुलने	जुलनीआं
(जाता है	जाती है)			ग्हेना	ग्हेनी
(जाते हैं	जाती हैं)			ग्हेने	ग्हेनीआं
खा—खन्दा	खन्दी	खाना	खानी	खाना	खानी
खन्दे	खन्दीआं	खाने	खानीआं	खाने	खानीआं
गा—गान्दा	गान्दी	गाना	गानी	गाना	गानी
गान्दे	गान्दीआं	गाने	गानीआं	गाने	गानीआं
पीन्दा—पीन्दा	पीन्दी	पीना	पीनी	पीना	पीनी
पीन्दे	पीन्दीआं	पीने	पीनीआं	पीने	पीनीआं

(२) डोगरी के भूत कृदंत रूप बनाने के लिये धातु के साथ एधा, ता और दा प्रत्यय लगाए जाते हैं। केंद्रीय पुंछी में भी धातुओं के साथ ये प्रत्यय ही लगाए जाते हैं जब कि पहाड़ी पुंछी में ऐस, एस भी लगते हैं। जैसे—

खा—(१)	खादा	खादी	खादा	खादी	खादा	खादी
(२)	खादे	खादीआं	खादे	खादीआं	खादे	खादीआं
(१)	उस पुरुष ने फल खाया				उसने मिठाई खाई	
(२)	उन्होंने खाया				उसने मिठाई खाई	
लुआ—	लुआआ	लुआई	लुआआ	लुआई	लाएया	लाएईआं
	लुआए	लुआईआं	लुआए	लुअईआं	लाएए	लाएईआं
	(उसने कोट पहनाया		उसने कमीज़ पहनाई)			
	(उसने कोट पहनाए		उसने कमीजां पहनाईयां)			
दि—	दित्ता	दित्ती	दित्ता	दित्ती	दित्ता	दित्ती
	दित्ते	दित्तीआं	दित्ते	दित्तीआं	दित्ते	दित्तीआं
	(उसने फल दिया।		उसने मिठाई दी)			
	(उसने फल दिए।		उसने किताबें दीं)			

डोगरी		के० पुंछी		प० पुंछी	
ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
आख—आखेआ	आखी	आखेआ	आखी	आखेआ	आखी
आखे	आखीआं	आखे	आखीआं	आखे	आखीआं

(उसने कहा । उसने कही)
(उसने कहे । उसने कहीं)

कृदंत

(१) भूतकालिक कृदंत रूपों में डोगरी के दा, दे, दी पुंछी के दोनों रूपों में क्रमशः ना, ने, नी में बदल जाते हैं । जैसे—

डो०	के० पुं०	प० पुं०
सीतादा कपड़ा (टल्ला) (सिया हुआ कपड़ा)	सीताना कपड़ा	सीताना कपड़ा
आएदे लोग (क) (आए हुए लोग)	आएने लोक	आएने लोक
कित्तदी गल्ल (की हुई बात)	कीतीनी गल्ल	गीतीनी गल्ल

(२) पूर्वकालिक कृदंत रूपों में डोगरी में धातु के साथ 'ईए' 'इए' और कहीं-कहीं 'करी' भी जुड़ जाता है । केंद्रीय पुंछी में 'के' और 'कै' प्रत्यय लगते हैं, जब कि पहाड़ी पुंछी में केवल 'ई' ही लगाई जाती है । जैसे—

धातु	डोगरी	के० पुं०	प० पुं०	हिंदी
लिख्—	लिखिए (करी)	लिखी कै (के)	लिखी दै	लिखकर
पढ़—	पढ़िए (करी)	पढ़ी कै (के)	पढ़ी (दै)	पढ़कर
दौड़—	दौड़िए (करी)	दोड़ी कै (के)	दोड़ी (दै)	दौड़कर
आई—	आईए (करी)	आई कै (के)	अच्छी (दै)	आकर
कर—	करिए (करी)	करी कै (के)	करी (दै)	करके
रो—	रोईए (करी)	रोई कै (के)	रोई (दै)	रोकर
जा—	जाईए (करी)	जाई कै (के)	गच्छी (गेई)	जाकर

(३) डोगरी के अपूर्ण भूतकालिक कृदंत रूपों में दाहा, देहे, दीही के स्थान पर केंद्रीय पुंछी में नासा, नेसे, नीसी, सन और पहाड़ी पुंछी में नासेस नासिया, नासिश और नासिए प्रत्यय लगते हैं । जैसे—

(१) डो०	के० पु०	प० पुं०	हिंदी
मैं दौड़ा रदा हा	मैं दौड़ नासा	मैं दौड़ना लगाना सेस (मैं दौड़ना सेस)	मैं दौड़ रहा था

डोगरी और केंद्रीय पुंछी के सहायक क्रिया के रूप आ, ऐ, न समान हैं जब कि पहाड़ी पुंछी में ये, दा, देख, दी और दीआं प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

डो०	के० पुं०	प० पु०	हिंदी
उस्सी केह् कम्म रो ?	उस्सी कैह् कम्म रो ?	उस्सी कैह् कम्मदा ?	उसे क्या काम है ?
ओर् केह् करारदा ?	ओह् कैह् करना ?	(क) ओह् कैह् करना' स ?	वह क्या करता है ?
		(ख) ओह् कैह् करना (उदात्त स्वर)	
ओह् केह् आखदीए ?	ओह् कैह् आखनी ?	ओह् कैह् आखनी (उदात्त स्वर)	वह क्या कहती है ?
ओह् केह् आखदीआं न ?	ओह् कैह् आखनीयां न ?	ओह् कैह् आखनीयां ? (उदात्त स्वर)	वे क्या कहती हैं ?

(५) डोगरी, केंद्रीय पुंछी और पहाड़ी पुंछी की 'आना' और 'जाना' क्रियाओं के रूप भूतकाल, वर्तमान काल तथा भविष्यत् काल में क्रमशः इस प्रकार बनते हैं। जैसे—

	डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
(भू० का०)	आया, गेया	आया, गेया	आया, गा	आया, गया
(व० का०)	आवारदा, जारदा	आवना पिया, जावनां पैया	ऐना, ग्हेना	आता है, जाता है
(भ० का०)	आऊग, जाग	आवसी, जासी	ऐसी, ग्हेसी	आयगा, जाएगा

(६) (क) डोगरी की भविष्यत् कालिक क्रिया मनाने के लिये धातु के साथ ग, ङ, ए, गा, गे प्रत्यय लगाए जाते हैं, केंद्रीय पुंछी में सी, सए (सें, सों, सां) और पहाड़ी पुंछी में ऐसी, ऐले, एलिआं प्रत्यय लगाए जाते हैं। जैसे—

डो०		के० पु०		प० पु०	
एक व०	ब० व०	एक व०	ब० व०	एक व०	ब० व०
जाग	जाङ्ए	जासीगा	जासएगे	ग्हेसी	ग्हेले
जाएगा	जाएँगे				(ग्हेलियां)

(ख) केंद्रीय पुंछी की संभाव्य भविष्यत् सूचक क्रिया बनाने के लिये धातु के साथ सीग्, सीगा, सणगे, सणगियां, पहाड़ी पुंछी में एसी, एले, एलियां प्रत्यय लगते हैं । जैसे—

डोगरी		के० पु०		प० पु०		हिंदी
ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	
जाग	जाङ्ण	जासीगा	जासणगे	ग्हेसी	ग्हेले	जाएगा
			जासणगियां		(ग्हेलियां)	जाएँगे

(७) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों में कुछ क्रिया रूप 'उ' से आरंभ होते हैं । जैसे—

डोगरी	के० पु०	प० पु०	हिंदी
कुथैं	कुन्थैं, कुद्दर	कुथैं, कुथैं	कहाँ
कुन्थैं			
कुहैं, कुद्धर			
इत्थैं	इत्थैं	इथैं	यहाँ
जित्थैं	जित्थैं	जिथैं	जहाँ
उत्थैं	उत्थैं	उथैं	वहाँ

(८) प्रश्नवाचक सर्वनाम रूपों में हिंदी में क्या और कौन के स्थान पर डोगरी में केह् और कुण् (कोण) केंद्रीय और प. पु. में कैह् और कुण हो जाते हैं । जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
केह् आखारना ?	कैह आखनेओ ?	कैंह् आखनेया ?	क्या कहते हो ?
(आखडेओ)		कैंह् आखनाईं	(छोटों के लिये)
कु-कुण खारदा ?	कुण-कुण खाना-पेया	कुण-कुण खाना दा?	कौन-कौन खा रहा है ?

(९) डोगरी मे संज्ञाओं के कुछ संबंध वाचक रूपों के अंत में लगने वाली ए (े) मात्रा पुंछी के दोनों रूपों में ऐ (ै) में परिणत हो जाती है, परंतु पहाड़ी पुंछी में इसके अपवाद भी मिलते हैं। जैसे—

डोगरी	के० पु०	प० पु०	हिंदी
रामचन्दे बी प्हैण	रामचन्दै नी प्हैण	रामचन्दै नी प्हैण दी	रामचंद की बहन
शैह्रे दे लोग	शैह्रै ने लोक	शैह्रै ने लोक	शहर के लोग

(१०) डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों, कई संज्ञा रूपों और क्रिया के अंतिम 'अ' को दीर्घ ऊ (ू) हो जाता है । जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
प्हैणू ँ दी चिट्ठी	प्हैणू ँ नी चिट्ठी	प्हैणू ँ नी चिट्ठी	बहन का पत्र
सस्सू गी पुच्छ	सस्सू की पुच्छ	सस्सू की पुच्छ , (ई) ,,	सास को पूछो
धीऊगी श्राख	धीऊ की श्राख	धीऊ ई श्राख	पुत्री को कहो

यह मात्रा परिवर्तन भूतकालिक कृदंत के संज्ञा रूपों में भी हो जाता है। जैसे–

डोगरी	के० पु०	प० पु०	हिंदी
ए कम्म कियां कित्ता ?	ऐ कम्म कियां कीता ?	ऐ कम्म कुइयां कीता ?	यह काम कैसे किया ?

(११) डोगरी के सामान्य भूत के रूप बनाने के लिये धातु के साथ या, श्राया श्रौर ए, प्रत्यय लगाए जाते हैं, केंद्रीय पुंछी में श्रा, श्राया, या श्रौर ई तथा पहाड़ी पुंछी में एश्रा, स, ऐस, एस, स श्रौर श्रा प्रत्यय लगाए जाते हैं। यथा—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
उन छोडेंश्रा (उन्नी छोडेंश्रा)	उस छोड़ी दित्ता	उन्नी छोडेंश्रा	उसने छोड़ दिया।
उन उस्सी सनाया	उस उसकी सनाश्रा	उन्नी सनाया (उस सनाया)	उसने उसे सुनाया।
उन खादीए	उस (ने) खादी	उन्नी खादी (उस खादी)	उसने खाई।
में जारहा हा	मैं जाना पंश्रा सां	मैं ग्हेना सेस	मैं जा रहा था।

(१२) भविष्यत्कालिक डोगरी रूपों में ग, ङ्, गा प्रत्यय लगते हैं, केंद्रीय पुंछी में सी श्रौर पहाड़ी पुंछी में सैस प्रत्यय लगते हैं। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
श्रोह् मारग्	श्रोह् मारसी	श्रोह् मारसैस	वह मारेगा

(१३) श्राज्ञा सूचक क्रिया के साथ डोगरी में एश्रां, श्रां, श्रायां, श्रो श्रौर श्र प्रत्यय लगते हैं, केंद्रीय पुंछी में श्रा, श्रां, श्रौर श्र एवं पहाड़ी पुंछी में श्राऐस श्रौर श्रं प्रत्यय लगाए जाते हैं। जैसे—

डो०	के० पु०	प० पु०	हिंदी
समजाह् (समज्हायां)	समझा	समझाए' स	समझाश्रो
समजां	समझां	समझाए' स	समझाश्रो
करां	करां	करां	करूँ
कर	कर	कर	करो

श्रब नीचे विभिन्न कालों के विविध भेदों के श्रनुसार क्रिया रूपों के उदाहरण दिए जाते हैं—

कर्तृवाच्य सकर्मक धातु

१. सामान्य भूत काल

	डो०		के० पु०		प० पु०		हिंदी	
पुंलिंग	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	मैं गेया	असे गे	मैं गेआ	असे गे	मैं गेस	अंस गेआं	मैं गया	हम गए
म० पु०	तू गेआ	तुस गे	तू गेआ	तुस गे	तू गेआई	तुस गे	तू गया	तुम गए
अ० पु०	ओह् गेआ	ओह् गे	ओ गेआ	ओह् गे	ओह् गा	ओह् गे	वह गया	वे गए
स्त्रीलिंग								
उ० पु०	मैं गई	असे गेइआं	मैं गेई	असे गेईआं	मैं गेई	अंस गेइआं(असे)	मैं गई	हम गईं
म० पु०	तू गेई	तुस गेइआं	तूं गेई	तुस गेईआं	तूं गेई	तुस गेइआं	तुम गई	तुम गईं
अ० पु०	ओह् गेई	ओह् गेइआं	ओह् गेई	ओह् गेईआं	ओह् गेई	ओह् गेईआं	वह गई	वे गईं

२. आसन्न भूत काल

	डो०		के० पु०		प० पु०		हिंदी	
पुंलिंग	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	मैं गेआ उठी	असे गे उठी	मैं गेआ	असे गे	मैं गेआ सेसठी	अंस गे सेआंठी	मैं गया	हम जा चुके
म० पु०	तूं गे आउठी	तुस गे उठी	तूं गेआ	तुस गेओ	तूं गाठी	अंस गेठी	तुम जा चुके	तुम जा चुके
अ० पु०	ओह् गेआ ईउठी	ओह् गे उठी	ओह् गेआ	ओह् गे	ओह् गेयाठी	ओ गेठी	वह जा चुके	वे जा चुके

स्त्रीलिंग

	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०—	मैं गेई उठी	असं गेईआं उठी	मैं गेईआं	असं गेइआं	मैं गेई उठी	असं गेईआं उठीआं
म० पु०—	तूं गेई उठी	तुस गेईआं उठी	तूं गेई	तुस गेई आंउठी	तूं गेईठी	तुस गेईआं उठी
अ० पु०—	ओह् गेई उठी	ओह् गेइआं उठी	ओह् गेईठी	ओह् गेईआंठी	ओह् गेईठी	ओह् गेई आंठी

३. अपूर्ण भूत काल

पुंलिंग

	डो० ए० व०	डो० ब० व०	के० पु० ए० व०	के० पु० ब० व०	प० पु० ए० व०	प० पु० ब० व०
उ० पु०—	मैं जारदाहा (आऊं)	असं जार देहे	मैं जाना पेया सां	असं जाने पेसां	मैं ग्हेणा सेस	असं ग्हेणे सेआं
म० पु०—	तूं जारदाहा	ओह् जारदे हे	तूं जाना पेयासैं	तुस जाने पेसो	तूं ग्हेणासी	तुस जुलने सेओ
अ० पु०—	ओह् जारदाहा	ओह् जारदे हे	ओह् जाना पेआसी	ओह् जाने पेसन	ओह् जुलना सी	ओह् जुलने से
				(असं ग्नेहीआं सिआं)		
(१)	मैं जुलनी सिअस (मैं ग्हेनी सिअस)	असं जुलनीआं सिआं				
(२)	तू जुलनी सिएं	तुस जुलनीआं सिआं				
(३)	ओह् जुलनी सी	ओह् जुलनीआं सिआं				

स्त्रीलिंग

उ० पु०—	मैं जारदी ही	असं जारदीआं हां	मैं जाणी पेईसां (जानी लगीनीसां)	असं जाणीआं पेआसां
म० पु०—	तूं जारदी ही	तुस जारदीआं हां	तूं जाणी पेई सैं	तुस जाणीआं पेइआं सो
म० पु०—	ओह् जारदी ही	ओह् जारदीआं हां	ओह् जाणीपेई सी	ओह् जाणीआं पेइआं सण्

४. पूर्ण भूतकाल

	डो०		के० पु०		प० पु०		हिंदी	
पुंलिंग	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०—	मैं गेआ हा	असे गे हे	मैं गेआ सां	असे गे सां	मैं गासेस	असंगे सेआं	मैं गया था	हम गए थे
म० पु०—	तूं गेआ हा	तुस गे हे	तूं गेआ सैं	तुस गे सो	तूं गासीं	तुस गे सेआ	तुम गए थे	तुम गए थे
अ० पु०—	ओह् गेआ हा	ओह् गे हे	ओह् गेआ सी	ओह् गे सण्	ओह् गासी	ओह् गे से	वह गया था	वे गए थे
स्त्री०								
उ० पु०—	मैं गेई ही	असे गेइआं हां (हियां)	मैं गेई सां	असे गेई आं सां	मैं गेई सिउस	असं गेई आं सि आं	×	
म० पु०—	तूं गेई ही	तुस गेईआं हियां	तूं गेई सैं	तुस गेई आं सो	तूं गेई सिएं	तुस गेईआं सिआ	×	
अ० पु०—	ओह् गेई ही	ओह् गेईआं हियां	ओह् गेई सी	ओह् गेईआं सण्	ओह् गेई सी	ओह् गेईआं सिआं	×	

५. संदिग्ध भूतकाल

	डो०		के० पु०		प० पु०	
पुंलिंग						
उ० पु०—	मैं गेआ ओह्ङ	असे गे ओह्गे	मैं गेआ ओह्सां	असे गे ओह्सां	मैं गेआ ओह्सां	असं गे ओह्सां
म० पु०—	तूं गेआ ओह्गा	तुस गे ओह्गे	तूं गेआ ओह्सैं	तुस गे ओह्सो	तू गा ओह्सैं (गा ओह्ना)	तुस गे ओह्सो (ओह्ल्या)
अ० पु०—	ओह् गेआ ओह्ग	ओह् गे ओह्ङ्ण	ओह् गेआ ओह्सी	ओह् गे ओह्सण्	ओह् गा ओह्सी	ओह् गे ओह्सण (ओह्ले)

स्त्री

	डो०		के० पुं०		प० पु०	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	में गेई ओह्ङ	अस गेईआं ओह्गियां	मैं गेई ओह्सां	असे गेईआं ओह्सां	मैं गेई ओह्सां	अस गेईआं ओह्सां
म० पु०	तु' गेई ओह्गी	तुस गेईआं ओह्गियां	तूं गेई ओह्सैं	तुस गेईआं ओह्सो	तूं गेई ओह्सैं (तूं गेई होनी)	तुस गेईआं ओह्सो
अ० पु०	ओह् गेई ओह्ग	ओह् गेईआं ओह्ङण	ओह् गेई ओह्सी	ओह् गेईआं ओह्सण्	ओह् गेई ओह्सी	ओह् गेईआं ओह्सण (ओह्लियां)

६. हेतुहेतुमद्भूतकाल

पुंलिंग

उ० पु०	जे में जंदा (आऊं)	जे अस जंदे	जे मैं जानां	जे अस जाने	जे मैं जुलना	जे असं जुलने
म० पु०	जे तूं जंदा	जे तुस जंदे	जे तूं जाना	जे तुस जानिआं	जे तूं जुलना	जे तुस जुलने
अ० पु०	जे ओह् जंदा	जे ओह् जंदे	जे ओह् जाना	जे ओह् जाने	जे ओह् जुलना	जे ओह् जुलने

स्त्री

उ० पु०	जे में जंदी (आऊं)	जे अस जंदिआं	जे मैं जानी	जे अस जाने	जे मैं जुलनी	जे असं जुलनीआं
म० पु०	जे तूं जंदी	जे तुस जंदिआं	जे तूं जानी	जे तुस जानिआं	जे तूं जुलनी	जे तुस जुलनीआं
अ० पु०	जे ओह् जंदी	जे ओह् जंदे	जे ओह् जानी	जे ओह् जानीआं	जे ओह् जुलनी	जे ओह् जुलनीआं

१. सामान्य वर्तमान

पुंलिंग

उ० पु०	में रोज जन्ना(आऊं)	अस रोज जन्ने	में रोज जाना	अस रोज जानेआ	मैं रोज ग्हेना'स	असं रोज ग्हेनेआं
म० पु०	तूं रोज जन्ना	तुस रोज जन्ने	तूं रोजा जानाए	तुस रोज जानेओ	तूं रोज ग्हेनाहैं	तुस रोज ग्हेंनेओ
अ० पु०	ओह् रोज जंदा	ओह् रोज जंदे	ओह् रोज जानाए	ओह् रोज जाने'न	ओह् रोज ग्हेना	ओह् रोज ग्हेने

	डो०		के० पु०		प० पु०	
स्त्री						
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०—	मैं रोज जन्नी आऊँ	अस रोज जन्नियां	में रोज जानी	अस रोज जानीआं	मैं रोज ग्हेनी	अस रोज ग्हेनीआं
म० पु०—	तूं रोज जन्नी	तुस रोज जन्नियां	तूं रोज जानी	तुस रोज जानीआं	तूं रोज ग्हेनी	तुस रोज ग्हेनीआं
अ० पु०—	ओह् रोज जन्नी	ओह् रोज जन्नियां	ओह् रोज जानी	ओह् रोज जानीआं	ओह् रोज ग्हेनी	ओह् रोज ग्हेनीआं

२. अपूर्ण वर्तमान काल

पुंलिंग

उ० पु०—	में जारना	अस जारने	मैं जाना पिया	अस जाने पियां	मैं जुल नैंस	अंस जुलनेआं
म० पु०—	तूं जारना	तुस जारदे	तूं जाना पिया	तुस जाने पेओ	तूं जुलनांई	तुस जुलनेओ (आ)
अ० पु०—	ओह् जारदा	ओह् जारदे	ओ जाना पिया	ओ जाने पे'न	ओह् जुलनां	ओह् जुलने

स्त्री

उ० पु०—	में जारनी	अन जारनियां	मैं जानी पेईआं	अस जानीयां पेईआं	मैं जुलनी उस	अंस जुलनीआं
म० पु०—	तूं जारनी	तुस जारदियां	तूं जानी पेईए	तुस जानीआं पेईओ	तूं जुलनीए	तुस जुलनीआं
अ० पु०—	ओह् जारदी	ओह जारदियां	ओह् जानी पेईए	ओह् जानीआं पेईयां	ओह् जुलनी	ओह् जुलनीआं

३. संदिग्ध वर्तमान काल

	डो०		के० पु०		प० पु०	
पुंलिंग	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०—	मैं जारदा ओह्ङ (आऊं जारदा ओह्गा)	अस जारदे ओह्गे	मैं जाना ओह्सां	अस जाने ओह्सां	से जुलना ओहसां	अस जुलने ओह्नेआं
म० पु०—	तूं जारदा ओह्गा	तुस जारदे ओह्गे	तूं जाना ओहसैं	तुस जाने ओह्सो	तूं जुलनां होनां	तुस जुलने ओह्लेआं
अ० पु०—	ओह् जारदा ओह्ग	ओह् जारदे ओह्ङ्ण	ओह् जाना ओह्सी	ओह् जाने ओह्सन	ओह् जुलना ओह्सी	ओह जुलने ओहले
स्त्री						
उ० पु०—	मैं जारदी ओह्गी (ओह्ङ)	अस जारदियां ओह्गियां	मैं जानी ओह्सां	अस जानीआं ओह्सां	मैं जुलनी ओह्सां	अंस जुलनीआं हुनियां (अंस जुलनीआं ओह्लियां)
म० पु०—	तूं जारदी ओह्गी	तुस जारदियां ओहगियां	तूं जानी ओह्सैं	तुस जानीआं ओह्सो	तूं जुलनी हुनी	तुस जुलनीआं
अ० पु०—	ओह् जारदी ओह्गी	ओह् जारदियां ओह्ङ्न् (ओह्नियां)	ओह् जानी ओह्सी	ओह् जनिआं ओह्सन	ओह् जुलनी	ओहे जुलनी ओह्लिया ओह जुलनीयां ओह्लियां

१. सामान्य भविष्यत् काल

	डो०		के० पु०		प० पु०	
पुंलिंग	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० म०—	मैं जाङ्	अस जाह्गे	मैं जासां	अस जासां (जासांगा)	मैं ग्हेसां	अस ग्हेनेआं ।
म० पु०—	तू जागा	तुस जागे	तू जासैं (जासेंगा)	तुस जासो (जासोगे)	तूं ग्हेनां	तुस ग्हेलेआ
अ० पु०—	ओह् जाग	ओह् जाङ्ण	ओह् जासी (जासीगा)	ओह् जासण् (जासण्गे)	ओह ग्हेसी	ओह् ग्हेले
स्त्री						
उ० पु०—	मैं जाङ्	अस जाह्गिआं	मैं जासा	अस जासा (जासांगियां)	मैं ग्हेसां	अस ग्हेनीआं
म० पु०—	तू जाह्गी	तुस जाह्नियां	तूं जासैं (जासेंगी)	तुस जासो (जासोगे)	ओह् ग्हेसी	ओह् ग्हेलीआं
अ० पु०—	ओह् जाह्ग (वह जाएगा	ओह् जाह्ङ्ण वे जाएंगे)	ओह् जासी (जासीगी)	ओह् जाह्सण (जासनगीआं)	ओह् ग्हेसी	ओह् ग्हेलीआं

२. संभाव्य भविष्यत् काल

	डोगरी		के० पु०		प० पु०	
पुंलिंग						
उ० पु०—	मैं जा	अस जाह्चै	मैं जां	अस जां	मैं गच्छां	आस गच्छां
म० पु०—	तूं जा	तुस जाओ	तू जा	तुस जाओ	तूं गच्छें	तुस गच्छा
अ० पु०—	ओह् जा (वह जाए	ओह् जाह्ण वे जाएं)	ओह् जा	ओह् जाह्ण	ओह् गच्छै	ओह् गच्छैण

	डो०		के० पु०		प०पु०	
स्त्री						
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	मैं जां	असं जाह्चै	मैं जां	असं जां	मैं गच्छां	अंस (अस) गच्छां
म० पु०	तू जा	तुस जाओ	तूं जा	तुस जाओ	तूं गच्छें	तुस गच्छा
अ० पु०	ओह् जा	ओह् जाह्ण	ओह् जाए	ओह् जाह्ण	ओह् गच्छै	ओह् गच्छैण

३. हेतु हेतु मद् भविष्यत् काल

	डो०		के० पु०		प०पु०	
पुंलिंग						
उ० पु०	जे मैं जाऊं (जे आऊं जाह्गो)	जे असं जाह्गे	जे मैं जां	जे असं जां	जे मैं गेस्	जे अंसगे
म० पु०	जे तू जाह्गा	जे तुस जाह्गे (जे तुसगे)	जे तू जाएं	जे तुस जाओ	जे तूं गैं	जे तुसगे
अ० पु०	जे ओह् जाह्ग (यदि वह जाए	जे ओह् जाह्ङण (गे) यदि वे जाएं)	जे ओह् जाए	जे ओह् जाह्ण	जे ओह्गा	जे ओहगे
स्त्री						
उ० पु०	जे मैं जाऊं	जे असं जह्गियां	जे मैं जां	जे असं जां	जे मैं गेहं उस	जे अंस गेईआं
म० पु०	जे तूं जाह्गी	जे तुस जाह्गीआं	जे तूं जाएँ	जे तुस जाओ	जे तूं ग्यें	जे तुस गेईआं
अ० पु०	जे ओह् जाह्ग	जे ओह् जाह्ङण	जे ओह जाए	जे ओह् जाह्ण	जे ओह् गेंई	जे ओह गेईआं

आज्ञा

इसके रूप केवल मध्यम पुरुष में ही बनते हैं। जैसे—

	डो०		के० पु०		प०पु०	
म० पु०	जा	जांओ	जा	जाओ	गच्छ	गच्छा
म० पु०	आ	आओ	आ	आओ	अच्छ	अच्छा
म० पु०	ऊह्णें जा (ऊह्ण गैजा)	ऊह्णें जाओ	हूणें जा	हूणें जाओ	हूण गैं गच्छ	हूण गैं गच्छा
म० पु०	अह्णें आ	अह्णें आओ	हूणें आ	हूणें आओ	हूणी ये अच्छा	हूणी यैं अच्छा

इस प्रकार डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों की व्याकरण संबंधी विशेषताओं के आधार पर तुलना करने पर भी हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पुंछी के पूर्वी रूप का (जिसे इस लेख में केंद्रीय पुंछी नाम दिया गया है) डोगरी के साथ पर्याप्त साम्य है, जब कि पश्चिमी रूप (पहाड़ी पुंछी) लंहदी के उत्तर पूर्वी रूप पुठोहारी से अधिक प्रभावित है। इसके अतिरिक्त इन दोनों पर पंजाबी का प्रभाव भी है। इसलिये पुंछी के इन दोनों रूपों के सही स्रोत का पता लगाने के लिये निष्पक्ष रूप से कार्य करने की आवश्यकता है।

अब डोगरी और पुंछी के दोनों रूपों के कुछ नमूने प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) वाक्य—

डोगरी	के० पु०	प० पु०	हिंदी
१. माऊ धी टोरी (माऊ ने धीऊंगी टोरेआ)	माऊ धी टोरी (माऊ धीऊ की टौरैंआ)	माऊ धी टोरी (माऊ धीऊ टोरैंआ)	माँ ने पुत्री को भेजा
२. राजैंगी कहैदा घाटा?	राजे की किसना घाटा?	राजे किसना घाटा ? (ई)	राजा को किस की कमी ?
३. दुद्दैं'च मिट्ठा नेईंए	दुद्दैं'च मिट्ठा नेईंए	दुद्दैं'च मिट्ठा नेईं	दूध में चीनी नहीं है

(२) गद्यांश (डोगरी) :—

"अस सारे बुत्त जन बने दे कदें हरीश बक्खी ते कदें खन्ने बक्खी दिक्खै दे हे। खन्ना जियां इस अनहोनी घटना दे धक्के कारण अपने आपैंगी सम्हाली नेईं सकेदा हा। इयै जनेह् मौकै उसी सिगरिटें दा बड़ा स्हारा हुंदा ऐ।

इसी गद्यांश के क्रमशः केंद्रीय पुंछी, पहाड़ी पुंछी और हिंदी अनुवाद इस प्रकार हैं—

(क) अस सारे बुत्त बनी कै कदें हरीश ने पासै ते कदें खन्ने ने पासै तकने सां। खन्ना जिस तरहां इस अनहोनी घटना ने धक्के ने कारण अपने आपैंगी सम्हाली नेईं सकना सी। इयैं जे वेले उप्पर उसकी सिगरिटें ना बड़ा स्हारा होना ऐ।

(ख) अस सारे बुत्त बनी कदें हरीश लै देक्खने सेआं, कदें खन्नै लै देक्खने सेआं। खन्ना जिस तराह इस अनहोनी घटना ने धक्के कन्नै अपने आपै सम्हाली नैं सकना सा। एसै वेलै पर उस सिगरिटें ना बड़ा स्हारा होना दा।

(ग) हम सभी बुत्त जैसे बनकर कभी हरीश की ओर और कभी खन्ना की ओर देख रहे थे। खन्ना जैसे इस अनहोनी घटना के धक्के के कारण अपने आपको सँभाल नहीं पा रहा था। इस प्रकार के समय पर उसे सिगरिटों का बड़ा सहारा होता है।

(३) लोकगीत (डोगरी)

(क) विच गुफा दे बैठी ऐ दुर्गा, जागे जोत नराली।
उच्चे भौण माता लबदे, काले पर्वतें वाली॥

दुर्गा भगवती की गुफा के भीतर अद्‌भुत ज्योति जल रही है। ये काले काले पहाड़ ही मानो माता के ऊँचे-ऊँचे भवन हैं।

(ख) चन्न मेरा चढ़या, उप्पर रजौरी,
बनी जाम्रां पखरू ते मिली जाम्रां चोरी।
चन्न मेरा चढ़या उप्पर भिंबरा,
सुक्की गेई जिंदड़ी रेई गेश्रा पिंजरा।
चन्न वे फेर मिलिए मेलग रब्ब मेले॥

मेरा चाँद राजौरी के ऊपर उदित हुग्रा है, इसलिये हे मेरे तुम पक्षी बनकर चोरी-चोरी श्राकर मुझे मिल जाम्रो। मेरा चांद भिंबर के ऊपर उदित हुम्रा है। प्रिय के वियोग में मेरा सारा शरीर सूख गया है श्रौर केवल पंजर ही शेष रहा है। तो भी मुझे आशा है कि मेरा प्रिय एक दिन मुझे अवश्य मिलेगा।

के० पुंछी

चन्न म्हाड़ा चढ़ेश्रा जाई लत्था पलंदरी।
बाहरी बंदी हसनी ते दाग सीने अंदरी।
होएनी परदेसिश्रा चन्ना मिली जाम्रां।

मेरा चाँद उदित होकर जाकर पलंदरी में अस्त हुम्रा। बाहर से तो हँसती है पर इसके हृदय में बड़ी वेदना छिपी हुई है। ए मेरे परदेसी प्रेमी तुम जल्दी आकर मुझे मिलकर चले जाम्रो।

आधुनिक कविता (डोगरी)

कदें ते म्हाड़े गराएं चालंग, नमें जुगा होई जागा तूं दंग।
धामाँ ते मेले कुड्डु ते छिज्जां, ढोलकी, घुंगरू बौंसरी जंग॥

हे नए युग, कभी तो हमारे गाँवों में से निकलो, तुम हैरान हो जाम्रोगे। तुम्हें इनमें खाने के निमंत्रण, मेले, कुड्डु (विशेष प्रकार का नृत्य), छिज्जां (कुश्तियाँ), ढोलकी, घुंगरू, बौंसरी (बंसरी) म्रादि ही देखने श्रोर सुनने को मिलेंगी।

के० पुंछी

(क) नेक कौम गुज्जर करदी नी उजर,
गुज्जर बे उजर ताब्यादार बख्शी।
पावें कुज होसी, गुज्जर दुद्द देसी,
कड्डके म्हंज तें गांदी धार बख्शी।

हे बख्शी (प्रधान मंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद) गुज्जरों की जाति बड़ी नेक है। इनकी किसी के साथ कोई शिकायत नहीं है। ये बड़े वफादार होते हैं। चाहे कुछ क्यों न हो जाए गुजर अवश्य दूध देंगे। ये सदा भैंस और गाय का दूध देते रहेंगे।

(ख) रामा तेरे बिना मेरा जिया दुखेआ,
अर्जां करी करी मैं थकेआ।
केले दे मुंड आणके करीड़ बस्सेआ,
केले दे मुंड आणके बसेआ।
रोई-रोई थकेआ पर आया न तूं,
केह्‌डी गल्ल अज्ज कल रुस्सेआ एं तूं।

हे राम, तेरे बिना मेरा मन बड़ा दुखी हो रहा है। मैं तुम्हारी प्रार्थनाएँ कर-करके हार गया हूँ। केले के मूल के पास करीर उत्पन्न हो गया है। मैं भी रो-रोकर हार गया हूँ, इसी लिये नहीं आए हो।

(ग) हमैं पुंछ रंडी जिसदी पे पहं्डी।
न कोई सुनन वाला पह्‌लकार देखो।
दीदार वख्श कैहं्दा सदा सुख रैहं्दा।
जेकर सुनन वाली होंदी सरकार देखो।

यह पुंछ अब एक विधवा स्त्री के समान हो चुकी है, इसी लिये अब इसका कोई संमान नहीं है। कोई भी अधिकारी इसके कष्टों की ओर ध्यान नहीं देता है। दीदारवख्श कहता है कि यदि सरकार इसकी ओर ध्यान देती तो यहाँ लोग सदा सुखी रहते।

पहाड़ी पुंछी

तूड़े नाल नेहु लाई, म्हाड़ा बुरा हाल होई पे।
अत्थरूआं की डोली डोली नीर सारा मुकिया।
तक्की तक्की थक्की गेईआं राह तूड़ा ढक्की वाला।
चन्न म्हाड़ा चढया न, केह्‌ड़े पासे लुकिया।
इक बारी अच्छी और हाल म्हाड़ा दिखी गच्छ।
मासै नां न लास रिहा पिंजरा ह सुकिया।
दाणा पाणी सूदना चिरोकना ई चुकिया।

हे प्रिय, तुम्हारे साथ प्रेम लगाकर मेरा बुरा हाल हो चुका है। मेरी आंखों के आंसू निकल-निकल कर आंखों का पानी भी सूख गया है। तुम्हारा

ढक्कीवाला रास्ता देख देखकर मैं थक गई हूँ। मेरा चाँद चढ़ कर भी (मेरा प्रिय या पति आकर भी) न जाने कहाँ छिप गया है। ओ मेरे चाँद, तुम एक बार मेरी अवस्था देखो और फिर चले जाओ। तुम देखोगे कि मेरे शरीर पर मांस का नाम भी नहीं रहा है और शरीर मात्र हड्डियों का पंजर ही रह चुका है। यदि मेरे श्वास अटके हुए हैं तो केवल तुम्हारी प्रतीक्षा में, अन्यथा मेरा इस संसार से दाना-पानी कब से समाप्त हो चुका है। अर्थात् मेरी मौत समीप आ चुकी है।

डोगरी मुहावरे

१. चोरें दा माल डांगे रे गज्ज।
   (चोरी की वस्तु का बंदर बाँट होता है)
२. चोरे दा मन काह्ला।
   (चोर व्यक्ति भीतर से भयभीत होता है)
३. शकल चड़ेलें दी दमाग परिएँ दा।
   (थोथा चना बाजे घना)
४. चोरे शा पंड काह्ली।

केंद्रीय पुंछी

१. चोरे ने कपड़े डांग ने गज।
२. शकल चुड़ेलें नी दमाग परीरां ना।
३. चोरें कोला पंड काह्ली)

हाड़ौती का क्षेत्र तथा उसका सीमावर्तिनी बोलियों से अंतर

कन्हैयालाल शर्मा

हाड़ौती बोली ८१५८५९ व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है।* डा० ग्रियर्सन के अनुसार 'हाड़ौती बूंदी तथा कोटा में बोली जानेवाली टोंक भाषा है जहाँ प्रमुख रूप से हाड़ा राजपूत बसे हुए हैं। यह समीपवर्ती ग्वालियर, (छबड़ा) तथा झालवाड़ राज्यों में भी बोली जाती हैं।[1] आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हुए एक-एक करके इन सभी राज्यों को लेकर उसका निश्चित स्थान निर्धारित करते हैं उत्तर-पश्चिम राज्य के भाग को छोड़ कर सारे बूंदी राज्य में, दक्षिणी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी भूभाग को छोड़कर समस्त कोटा राज्य में, कोटा के सीमावर्ती शाहाबाद और छबड़ा परगना के मध्य में, तनिक कम शुद्ध रूप में सीपरी या श्योपुरी नाम से श्योपुर परगने में, टोंक के छबड़ा परगने में तथा झालावाड़ राज्य के उत्तर में स्थित पाटन परगना में हाड़ौती बोली जाती है।

डा० ग्रियर्सन को हाड़ा राजपूतों के कोटा तथा बूंदी में प्रमुख रूप से बसे होने का भ्रम हाड़ौती नाम करण से हो गया। वस्तुतः हाड़ा राजपूत यहाँ के शताब्दियों से शासक रहे हैं, न कि यहाँ के प्रमुख निवासी हैं।

डा० ग्रियर्सन ने जिस हाड़ौती के क्षेत्र का उल्लेख किया है उसमें सीपरी या श्योपुरी का क्षेत्र श्योपुर परगना नहीं हो सकता। श्योपुरी या सीपरी एक ऐसी बोली है जो हाड़ौती से भिन्न और बुंदेली के अधिक निकट है। शताब्दियों से श्योपुर परगने के राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक और धार्मिक संबंध पश्चिम स्थित कोटा जिले से न होकर पूर्व स्थित ग्वालियर राज्य या वर्तमान मध्यप्रदेश से रहे हैं। अतः श्योपुरी का विकास हाड़ौती से स्वतंत्र हुआ है। इसका अध्ययन हाड़ौती के अंतर्गत नहीं किया जा सकता।[2] दूसरी बात जो इससे भी महत्वपूर्ण है वह यह है कि सन् १९५१ की जनगणना में सीपरी के संबंध में जो आंकड़े दिए गए हैं उनके अनुसार सीपरी भाषी मध्यप्रदेश में कुल ३१५ व्यक्ति हैं जो मुरेना

* सेंसस आफ इंडिया, पेपर १,१९५४, पृ० १२ व ५११।

१. लि० सं० इ०, पुस्तक ९, भाग २, पृ० २०३।

२. विशेष जानकारी के लिये देखिए 'हाड़ौती और सिपरी का अंतर' उसी शीर्षक में।

जिले में रहते हैं।[३] इससे सीपरी का स्वतंत्र बोली के रूप में अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है। मुरेना जिले की कुल जनसंख्या ६३३५८१ है।

बूंदी जिले का अधिकांश भाग हाड़ौतीभाषी हैं। बूंदी तहसील के थोड़े से उत्तरी भाग में खैराड़ी बोली जाती है। इंद्रगढ़ और नैनवा के उत्तरी अर्धभाग क्रमशः खैराड़ी और नागरचाल भाषी हैं। इनके दक्षिणी भागों में हाड़ौती बोली जाती है।

कोटा जिले की सभी तहसीलों में हाड़ौतीभाषी जनसंख्या की प्रमुखता नहीं है। शाहबाद तहसील में हाड़ौतीभाषी व्यक्ति अत्यल्प रहते हैं, अधिकांश ब्रज-भाषी हैं। किशनगंज तहसील का पूर्वी भाग—भंवरगढ़ से पूर्व का भाग हाड़ौती क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता। इसी प्रकार चेचट और रामगंजमंडी की तहसीलें भी अधिकांश में मालवी क्षेत्र के अंतर्गत ही आती हैं। लाडपुरा, दीगोद, बड़ोद, इटावा, पीपल्दा, मांगरोल, अंता, बारां, अटरू, छीपाबड़ोद व बनवास और मनोहर थाना की तहसीलें प्रायः हाड़ौती भाषी हैं।

वर्तमान झालावाड़ जिले की केवल खानपुर तहसील पूर्णरूपेण हाड़ौती-भाषी है। अकलेरा तथा झालरापाटन तहसीलों के उत्तरी भाग हाड़ौती क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। असनावर, बकानी, मनोहर थाना ही तहसीलों के अधिकांश दक्षिणी भाग मालवी क्षेत्र के अंतर्गत हैं और पिड़ावा, ढग, गंगधार तथा पच पहाड़ तहसीलों में सौंदवाड़ी बोली जाती है।

इस सीमा निर्धारण को तनिक अधिक स्पष्ट सीमास्थ गाँवों को संकेतित करके बनाया जा सकता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गाँव-विशेष तक ही हाड़ौती बोली की कोई सीमा है, उससे आगे व पीछे नहीं तथापि कुछ गाँव ऐसे होते हैं जहाँ एक बोली अपना अस्तित्व खोती सी जान पड़ती है और दूसरी अपना अस्तित्व बनाती सी प्रतीत होती है। अतः यहाँ सीमानिर्धारण की दृष्टि से उन प्रमुख बड़े-बड़े गाँवों को दिया जा रहा है जो हाड़ौती की सीमा के निकटतम हैं और हाड़ौती प्रदेश में हैं।

हाड़ौती का उत्तर में प्रसार खातौली, इंद्रगढ़, नैनवा, तथा गोटड़ा ग्रामों तक है। पश्चिम में ऊमर, खीनिया व डाबी प्रमुख गाँव हैं। दक्षिणी सीमा झालावाड़, असनावर, इकलेरा और छबड़ा के समीप होकर गई है और पूर्वी सीमा छबड़ा, भंवरगढ़, पीपल्दा और खातौली से बनाई गई है। पूर्वोत्तर सीमा तो बहुत दूर तक पारवती नदी द्वारा भी बनाई जाती है। यह नदी हाड़ौती क्षेत्र को सीपरी क्षेत्र से पृथक् करती है।

३. सेंसस आफ इंडिया, पेपर १, १९५४, पृ० ५१२।

हाड़ौती की सीमाएँ

हाड़ौती के उत्तर में नागरचाल और डाँगभाग बोली जाती है। उत्तर-पूर्व में सोपुरी या सीपरी मिलती है। पूर्व में बुंदेलखंडी और मालवी बोली जाती हैं। दक्षिण पूर्व तथा दक्षिण में मालवी का प्रसार है। दक्षिण पश्चिम में मालवी और सौंदवाड़ी पाई जाती है। पश्चिम में मालवी के अतिरिक्त मेवाड़ी मिलती है और उत्तर-पश्चिमी भाग मेवाड़ी तथा खेराड़ी भाषी है।

हाड़ौती का सीमावर्तिनी बोलियों से अंतर

यहाँ हाड़ौती का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये उसकी सीमावर्तिनी बोलियों से उसका अंतर दिया जा रहा है।

मेवाड़ी और हाड़ौती का अंतर—हाड़ौती क्षेत्र के पश्चिम में मेवाड़ी भाषी प्रदेश है। मेवाड़ी सारे उदयपुर जिले के दक्षिण पश्चिमी तथा दक्षिणी भाग को छोड़कर जहाँ 'मीली' बोली जाती है, शेष समस्त जिले में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र के आस पास के भागों में यह सरवाड़ी, खैराड़ी तथा मेरवाड़ी नाम से बोली जाती है। मेवाड़ी, मारवाड़ी तथा जयपुरी का मिला हुआ रूप है। अतः इसमें मारवाड़ी और जयपुरी दोनों की विशेषताएँ मिलती हैं। मेवाड़ी तथा हाड़ौती में प्रमुख अंतर ये हैं—

१. जिन शब्दों में हाड़ौती में आदि में 'स् या श्' 'मिलता है वहाँ मेवाड़ी में आदि में 'ह' पाया जाता है; यथा, मे० हगला, हाबू, हात, हुईग्यो, क्रमशः हा० सगला, साबू, सात, सोग्यो।

२. मेवाड़ी में 'व' का प्रयोग शब्द में सर्वत्र प्रचुरता से होता है। हाड़ौती में शब्द के आदि 'ब', सर्वनामों तथा अन्य कतिपय शब्दों को छोड़कर प्रायः नहीं प्रयुक्त होता है और शब्दांत में भी 'व्' की अपेक्षा 'ब्' का प्रयोग अधिक मिलता है; यथा, मे०-वाट् आवा री क्रमशः हा० बाट आबा की।

३. जिन शब्दों में हिंदी में महाप्राण ध्वनि मिलती है हाड़ौती में तो उन्हें किसी न किसी प्रकार बनाए रखने की प्रवृत्ति हैं, पर मेवाड़ी के अनेक शब्द उसे खो चुके हैं, यथा, मे० व्यो, क्यो, रेबा, क्रमशः हा० होयो, रवी, रै, बा।

४. मेवाड़ी में अन्य पुरुष सर्वनाम संकेतसूचक सर्वनाम, संबंधसूचक सर्वनाम तथा प्रश्न वाचक सर्वनाम शब्दों मे 'णी, णां' ध्वनियाँ भी प्रायः सुनने में आती हैं। हाड़ौती में उक्त ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। यथा मे० उण्, अणी, वणी, अण, अणी, इणी, जणा, जणी, करण, कणी। हाड़ौती में इनके स्थान पर छ, वा, ई, यां, जी, ज्यो, खीं, ख्यां के प्रयोग मिलते हैं।

५. मेवाड़ी में कर्त्ता कारक का प्रयोग परसर्ग रहित होने की प्रवृत्ति प्रायः

दिखाई देती है जो जयपुरी से मिलती है। हाड़ौती में प्रायः 'नँ' परसर्ग का प्रयोग दिखाई पड़ता है यथा मे० राजा क्यो, हा० राजा नँ खी। मे० वणी राजा की आवभगत कींदी। हा० ऊनँ राजा की आवभगत करी।

अन्यथा दोनों में इस प्रकार के प्रयोग भी मिल जाते हैं—मे० तीजी नँ वही पूछ्यो और हा० म्हूँ ग्यो।

६. मेवाड़ी में संबंध कारक के परसर्ग रूप में 'रो' 'रा' प्रयोग संज्ञा शब्दों में भी मिलता है। हाड़ौती में ये परसर्ग केवल पुरुषवाचक सर्वनाम शब्दों के साथ दिखाई पड़ते हैं। मेवाड़ी में यह प्रवृत्ति मारवाड़ी से आई है। यथा, मे० राजा री बेटीरी हा० राजा की बेटी की। कहीं-कहीं 'पुरुषवाचक सर्वनामों के साथ जयपुरी के प्रभाव के फलस्वरूप 'लो' का इसी बिभक्ति में प्रयोग मिलता है जिसका हाड़ौती में सर्वथा अभाव है। यथा० मे० म्हालो, थालो क्रमशः हा० म्हारो, थारो।

७. मेवाड़ी में अपादान तथा करण कारकों में 'हूँ' परसर्ग का प्रयोग मिलता है। हाड़ौती में 'सूं या सैं' का; यथा, मे० हाथ 'हूँ' हा० हात सूं 'मे० रूंख हूँ' हा० रूंख सूं।

८. अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ के रूप हाड़ौती रूपों से भिन्न मिलते हैं : यथा मे० है, हा, हा० छै, छा।

९. कुछ क्रियाओं के भूत निश्चयार्थ के रूप मेवाड़ी में हाड़ौती से सर्वथा भिन्न होते हैं और इनका प्रयोग प्राय: मे० में देखने में आता है। यथा, मे० दी दो, लीदो, क्रमशः हा० द्यो, ल्यो, किंतु ग्यो उठ्यो आदि रूप दोनों में एक ही प्रकार से संपन्न होते हैं।

१०. मेवाड़ी का भूत अपूर्ण निश्चयार्थ अस्तिवाचक सहायक क्रिया का भूत-निश्चयार्थ का रूप और वर्तमान कालिक कृदंत के योग से संपन्न होता है। हाड़ौती का यह रूप अस्तिवाचक सहायक क्रिया के भूत निश्चयार्थ तथा मूल क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के योग से बनता है। यथा मे० रेती ही, हा० रैवै छी, मे० करता हा, हा० करै छो।

११. मेवाड़ी के पूर्वकालिक रूप धातु रूप के 'ईने' प्रत्यय लगाकर प्राय: बनाए जाते हैं। हाड़ौती में ऐसे रूपों से 'र' का प्रयोग मिलता है यथा मे० जाईने खाईने, हा० जार, खार।

डा० ग्रियर्सन मेवाड़ी की पूर्वकालिक क्रिया का अंत, 'और' के स्थान पर 'हर' से बताते हैं।[४] पर यह रूप आदर्श मेवाड़ी में नहीं पाया जाता। हाँ सीमास्थ प्रदेशों में यह मिलता है।

४. लि० स० ई०, पुस्तक ९, भा० २, पृ० ७८।

१२. मेवाड़ी में पूर्ण भूत अपूर्ण भूत का अर्थ भी बतलाते हैं। यथा, खावा हा, छावा हा।[5]

१३. क्रियार्थक संज्ञाओं के रूप राजस्थान में दो प्रकार के मिलते हैं। १. धातु में णो णू' जोड़कर २. धातु में बो, वो, जोड़कर। मेवाड़ी में प्रथम प्रकार के रूपों का प्रयोग प्रायः सुना जाता है और हाड़ौती में दूसरा प्रकार प्रायः प्रयुक्त होता है, यथा, मे० करणो, हा० करबो।

१४. मेवाड़ी में संयुक्त क्रियाओं के रूप हा० से भिन्न प्रकार से बनते हैं। यथा, मे० लेईग्यो आईग्यो, चाल सकूं, क्रमशः हा० लेग्यो, आग्यो, चाल सकूं। मेवाड़ी में दोनों क्रियाओं के बीच 'ई' की सस्थिति है।

१५. मेवाड़ी में 'वणीरीज, 'म्हारीज' जैसे शब्दों में 'ज' का प्रत्यय रूप में प्रयोग संस्कृत 'एव' के अर्थ में मिलता है। हिंदी में ऐसे शब्द के अर्थ होंगे 'उसकी ही' तथा 'मेरी ही'। हाड़ौती में इस प्रकार का प्रयोग नहीं मिलता।

नीचे पहले एक श्रुत लेख दिया जाता है, जिसके वक्ता उदयपुर निवासी एक प्राध्यापक हैं। दूसरा गद्य ग्रियर्सन के 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण' से उद्धृत है।

मेवाड़ी गद्य–१

एक डोकरी ही। वा एक गाँव मैं रैती ही। वणी गाँव मे एक नार रोज आवतो हो। एक दन गाँव वाला होच्यो कै डूंगरां मै जाईने कांटा ल्यावां। गाँव वाला डोकरी पाबी पोंच्या। डोकरी बोली कै म्हूँ तो चाली नी सकूं। थां डूंगरी पै जावा नै किस्तर को? गांव वाला क्यो कै थू थारो बंदोबस्त थूईज करली जै। यो कई नै गाँव वाला चल्या ग्या।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक डोकरी छी। वा एक गांव में रेवे छी। ऊं गांव में एक न्हार रोजीनै आवै छो। एक दन गांव हाला नै बच्यारी कै डूंगर मै जार काटां लावां। गाँव हालों डोकरी के गोडै बी ग्या। डोकरी नै खी कै म्हूँ तो न चाल सकूं। थां डूंगर मैं कस्यां जावैगा। गाँव हाला ने खी के थूईथारो अंतज्याम कर लीजै। या खैर गाँव हाला चल्या गया।

मेवाड़ी गद्य[6]–२

कुणी मनख कै दोय बेटा हा। वामां हूँ ल्होड़क्यो आपका बाप नै कह्यो है, बाप पूंजी मां हूं जो म्हारी पांती होवै म्हने द्यो। जद वां नै आपकी पूंजी बांट

५. वही, भा० २, पृ० ७८।

६. लि० सं० इ०, पुस्तक ६, भा० २, पृ० ७६।

दी दी। थोड़ा दन नहीं हुया हा कै ल्होडक्यो बैटो सगलो धन मैलो करहर परदेस परोगयो अर उठै लुच्यापण मां दन गमावता हुवां आपको सगलो धन उडाय दीदो। जद ऊ सगलो धन उड़ा चुक्यो तद वी देस मां भारी काल पड़यो अर ऊ टोटायलो हो गयो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक मनख के दो बेटा छा। वा मै सूं छोटानै आपण बाप सूं खी। हे भाई जी, पूंजी मैं सूं ज्यो म्हारी पांती होवै वा मई दे दो। जद वानै वांई आपणी पूंजी बांट दी। थोड़ा सा दनां पाछै छोटो बेटो सारो धन एकठो कर र पदेस चल्यो ग्यो। अर वहाँ लुच्यापण मैं दन बताबा लाग्यो अर आपणी सारी पूंजी उड़ादी। जद ऊं नै सारो धन उड़ा दयो तो ऊं देस मैं भारी काल पड़यो अर ऊ द्वाल्यो हो ग्यो।

सोंदवाड़ी और हाड़ौती का अंतर

सोंदवाडी हाड़ौती क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। यह दक्षिणी झालावाड़ जिला तथा उसके निकटवर्ती मध्यप्रदेश के क्षेत्रों में बोली जाती यह सोंदियों की बोली है जो यहाँ की प्रमुख जंगली जाति है। डा० ग्रियर्सन ने अपने भारत के भाषा सर्वेक्षण में इसे मालवी भाषा की बोली स्वीकार किया है।[७] उसी के अंतर्गत रखा है। इस बोली में कतिपय ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जो भीली बोलियों में मिलती हैं।

नीचे हाड़ौती और सोंदवाड़ी का अंतर दिया जा रहा है—

१. सोंदवाड़ी में हाड़ौती बोली के शब्द के आदि में पाए जाने वाले 'स' तथा 'श' 'ह' में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार हा० साला, सुण, सगलो, सोग्यो सोंद० क्रमशः हाला, हुण, हगलो, होइग्यो रूप में मिलते हैं जिनके क्रमशः अर्थ हैं साला, सुन, समस्त, तथा सो गया। दूसरी ओर सोंदवाड़ी में हाड़ौती का उच्चारण 'स'-वत् होता है यथा, सोंद० सुक्ला हा० छुक्ला।

२. सोंदवाड़ी में ह्रस्व 'इ' ध्वनि सुनाई पड़ती है जो हा० में नहीं मिलती है यथा, सोंद० कितरुं, बालदियाँ, मिले, दिना क्रमशः हा० कस्यां, बैल, मलै, दन।

३. सोंदवाड़ी में हाड़ौती की अपेक्षा दंत्य 'न' के मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति अधिक दीख पड़ती है, यथा, सोंद० दण, मण, होणा, दोण्यू क्रमशः हा० दन, मन, सूना दोंन्यू।

४. सोंदवाड़ी में मालवी महाप्राण ध्वनि प्रायः लुप्त हो जाती है[८] और

७. लिं० स० इं०, पु० ६, भा० २, पृ० २७८।

८. वही।

हाड़ौती में मिलती है। यथा, सोंद० लीडो, (मा० ल्होड़ी) ती (मा० थी) दीदो (मा० दीधो) जो हा० में क्रमशः ल्होड़क्यो, थां तथा द्यो रूप में मिलते हैं।

५. सोंद० में शब्द के आदि में 'व्' के प्रायः मिलने के उदाहरण मिलते हैं। यथा, सोंद० वोर, वच्यार, वांट, वणां, वर, हाड़ौती में आदि 'व' के उदाहरण अत्यल्प हैं—दो चार हैं, उपर्युक्त शब्दों का हाड़ौतीकरण होगा—अर, बच्यार, बांट ऊ छोको।

६. सोंदवाड़ी में अन्य पुरुष तथा मध्य पुरुष के सर्वनाम हाडौती से भिन्न होते हैं। यथा, सोंद० वणा, वी, थी, थे, क्रमशः हा० हा ऊ, वे, तू तथा था।

७. सोंद० में अस्ति वाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूतनिश्चयार्थ के रूप क्रमशः हैं, है तथा हो, थो जो हा० में क्रमशः छै तथा छो रूप में पाए जाते हैं।

८. सोंद० में अपूर्ण भूत की क्रियाओं का निर्माण हिंदी के समान भी होता है और हाड़ौती के समान भी। अतः उस क्षेत्र में दोनों प्रकार के रूप प्रचलित हैं, यथा, मूं खातो थो और मूं खावे थी।

९. सोंद० भूत निश्चयार्थ की क्रियाएँ हाड़ौती के समान 'यो' लगाकर बनाने के अतिरिक्त एक अन्य रूप में मिलती है, यथा, सोंद० लीदो, दीदो, खादो, जो क्रमशः हा० में ल्यो, दयो, खायो रूप में पाई जाती हैं। इन्हीं के लियो, दियो तथा खायो रूप भी सोंद० में प्रायः सुनने में आते हैं।

१०. सोंद० में पूर्वकालिक क्रिया का निर्माण मालवी के समान भी होता है। उसमें खाई के, मांज के तथा उठी के और खाई ने, मांजी ने तथा उठी ने रूप प्रचलित हैं। हाड़ौती में इनके स्थान पर क्रमशः खार, मांजर और खाकै, मांज कै उठ कै रूप प्रचलित हैं।

११. सोंदवाड़ी में संयुक्त क्रियाओं के निर्माण में दोनों क्रियाओं के मध्य में 'ई' ध्वनि का प्रायः आजाना इस बोली की विशेषता है। यथा, सोंद० आईगी, होईग्यो, लेईचाल्या, लागीग्यो, दईदे, खोवाईग्यो थो क्रमशः हा० आगी, होग्यो, लेचाल्या, लागग्यो, दै दै, गमग्यो छो।

सोंदवाड़ी में 'ई' ध्वनि तो क्रियार्थक संज्ञा में भी मिलती है, यथा, कईबो जाईबो, खाईबो जो क्रमशः हिंदी के कहना, जाना, खाना के अर्थ को प्रकट करते हैं। हा० में इनके स्थान पर खैबो, जाबो, खाबो शब्द प्रयुक्त होते हैं।

१२. सोंदवाड़ी की प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप भी हाड़ौती से भिन्न ही मिलते हैं, यथा सोंद०, खाबाड़ी, हा० ख्वाई।

१३. सोंदवाड़ी क्रियाओं के साथ 'ज' का प्रयोग अद्भुत सा मिलता है, जो हाड़ौती में नहीं मिलता, यथा, सोंद० पूछेज, हा० पूछै।

१४. सोंदवाड़ी में समुच्चय बोधक अव्यय के रूप में 'अर' 'बोर' तथा 'ने' का प्रयोग होता है। हा० में 'केवल', 'अर' तथा 'और' प्रचलित हैं, 'ने' का प्रयोग सोंद० में गुजराती के प्रभावस्वरूप आया प्रतीत होता है।

१५. सोंदवाड़ी के स्थानवाचक क्रियाविशेषण शब्द हाड़ौती से भिन्न हैं तथा बड़े आकर्षक हैं। यथा, सोंद० अयांड़ी, कयांड़ी, क्यांड़ी, अनांग, उनांग क्रमशः हा० अंठी, खटी, उठी, यां, वां। इनके अतिरिक्त सोंद० अठै, उठै, रूप भी सुन पड़ते हैं।

१६. सोंद० का शब्दकोश भी आकर्षक शब्दों से युक्त है। यथा, कितरुं (कैसे), अनांग (यहां), उनांग (वहाँ), कंयाडी (कहां जी), पिता, वार, वर्ष, रोठी (रोटी) आदि। ये शब्द हाड़ौती प्रदेश में नहीं सुनाई पड़ते।

नीचे दो सोंदवाड़ी गद्य खंड हाड़ौती अनुवाद सहित दिए जा रहे हैं--

एक आदमी के दो बेटा था। लोड़का बेटा ने वणी का जी है कही के माने वांटा की रुकम-पात दई दो। जदी वणी का जी ने अपनी रुकम पात वपया है वांट दी। थोड़ा दिना पाछे लोडो बेटो वणी का वांटा की रकम पात लई वेगलो चल्यो गयो। वाहा वणी ने वणी का वांटा की हगली रकम पात वींगाड दी दी। अर वणी के पां काई नहीं रयो। और वणी मूलक में काल पड्यो। जदी भूकां मरबा लाग्यो। जदी वणी मूलक का एक हाऊ आदमी पां गयो अर वणी हाऊ आदमी ने भंडूरा चरावा माल में मोकल्यो। ऊ लाचार वई ने वणी सूकला थी पेट भरे थो जो सूकलो भंडूरा के खाबा को थो। वणी ने खावा कोई नहीं दे दे थो। जंदी वणी ने गम पड़ी जंदी केवा लाग्यो के मारा जी के घणा हाली बालदी है।

हाड़ौती गद्य

एक आदमी के दो बेटा छा लोड़क्या बेटा ने उंका भाई जी सूं खी कै मंह्ई म्हारा वांटा की रुकम पात दे दो। जद ऊंका भाई जी ने आपणी रकम पात वां में बाट दी। थोड़ा दना पाछै ल्होड़क्यो बेटो ऊंका बांटा की रकम पात लेर दूरै चली-ग्यो। वां ऊनै ऊंकी पांती की सारी रकम-पात बगाड़ दी। अर ऊंकै नकै कोई कोईनै र्यो। अर ऊ मलक में काल पड्यो। जद भूकां मरबा लाग्यो। जद ऊ गाँव का एक भला आदमी के कनै गयो। अर ऊ भला आदमी ने टांडा चराबा माल मै खंदायो। ऊ लाचार होर ऊंबारा सूँ देट भरै छो ज्यो चारो डांडा के खाबा को छो। उई कोई भी खाबा न देवे छो। जद ऊने गम पड़ी जद खैबा लाग्यो के म्हारा भाई जी के घणा वेलांका हाली छै।

यह दूसरा गद्यांश पिड़ावा निवासी से श्रुत लेख है--

सौंदवाड़ी गद्य

दो ठग था वोर एक से एक जबरो थो। एक दन एक ठग के घरे दूजो ठग पावणू गयो। ऊण ने उण की हाऊ हार हमाल् करी वोर होणा की परात में राबड़ी खाबाड़ी। पावणां ठग के परात आसे आईगी। उण ने आपणा मण में बच्यार् करयो के हाला की या परात छाना सा लेई चालां। बेरां छाती राबड़ी खाईके आपणी परात राखोड़ी से माँज के आल्या में रख काड़ी। वोर दोणयाई चंवरा में बईग्या वोर चलम पीबा ने लागी ग्या। डाबी चलम बखे मेल के होईग्यो। पावणां ठगने उठी के दूसरा ठग ने हमाल्यो वोर कईबा लाग्यो के हाला के हाऊ तरां से होईग्यो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

दो ठग छा अर एक से एक जबरो छो। एक दन एक ठग के घरणे दूजो ठग पावणू ग्यो। ऊं ने ऊं की घणी आवोभगत करी अर सूना की परात में राबड़ी ख्वाई। फावणां ठग के परात आसैं आगी। उनै आपणा मन मैं बचार कर्योक् साला की या परात छाने लेक ले चालां। बैला छती राबड़ी खार आपणी परात बानी से मांजर आल्या मैं मेल दी। अर दोन्यू चूंतरा पै बैठग्या। अर चलम पीबा लाग्ग्या। डाबी अर चलम ठाम ठकाणे में मैलर सोग्या। फायणा ठग नै उठर दूसरा ठगीं संभार्यो अर खैबा लाग्यो के सालो छोकी तणां सूं सोग्यो।

मालवी तथा हाड़ौती का अंतर

हाड़ौती प्रदेश की दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी सीमाएँ मालवी बोली से बनाई जाती है। डा० ग्रियर्सन ने मालवी को राजस्थानी भाषा की उपशाखा की एक बोली स्वीकार करके मारवाड़ी जयपुरी, हाड़ौती आदि के साथ विचार किया है।[९] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के राजस्थानी बोलियों के वर्गीकरण के पाँच भेदों में से केवल दो—पश्चिमी राजस्थानी तथा मध्यपूर्वी राजस्थानी—को ही 'राजस्थानी' नाम देना उपयुक्त ठहराया और इन्हें क्रमशः पश्चिमी तथा पूर्वी राजस्थानी कहना उपयुक्त समझा।[१०] शेष अहीरवाटी, मेवाती मालवी, और निमाड़ी ये पछाँही हिंदी से ज्यादातर संपर्कित हैं या खास राजस्थानी से, इस पर चरम निष्कर्ष अब तक नहीं निकला है[११] अतः यह स्पष्ट है कि डा० चटर्जी

९. लि० स० इ० पु० ९, भा० २ पृ० ५२।
१०. चटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० १०।
११. वही, पृ० ७८।

मालवी को राजस्थानी की[१२] बोलियों के अंतर्गत रखने को तैयार नहीं हैं। वे समग्र राजपूताने और मालवे की बोलियों को एक मूल भाषा ही नहीं मानते।[१३] श्याम परमार के अनुसार मालवी का विकास शौरसेनी प्राकृत और अवंती अपभ्रंश से हुआ है। अत: इतना स्पष्ट है कि मालवी हाड़ौती की सीमावर्तिनी बोली होकर भी इस प्रकार विकसित हुई कि परस्पर काफी अंतर रखती हैं। नीचे दोनों के अंतर को स्पष्ट किया जा रहा है :

१. हाड़ौती में लघु 'इ' का उच्चारण स्वर अथवा मात्रा किसी भी रूप में नहीं मिलता जब कि मालवी में यह स्वर दोनों रूपों में विद्यमान है। मालवी के शब्द हिस्सो, दियो, मिले हा० में हस्सो, दयो, मलै रूप में उच्चरित होते हैं।

२. हाड़ौती में शब्द के आदि 'व्' का उच्चारण प्रायः नहीं मिलता, वह प्रायः 'ब्' में परिवर्तित हो जाता है, जब कि मालवी में आदि 'व्' के उदाहरण मिल जाते हैं। यथा, वात, वैठ, विचार आदि। हाड़ौती में आदि 'व्' केवल कुछ शब्दों में--वाने (उनके), वां (वहां), वांर (विलंब) आदि में दीख पड़ता है।

शब्द के मध्य में पाई जाने वाली मालवी 'व्' ध्वनि भी हाड़ौती में 'ब्' की ओर झुकने का प्रयास करती है। यथा, मे० मनावा, चरावा क्रमश: हा० मनाबा, चराबा।

३. हाड़ौती में महाप्राण ध्वनियाँ अपना अस्तित्व किसी न किसी रूप में बनाए हुए हैं। और उनकी प्रवृत्ति शब्द के आदि की ओर बढ़ने की देखी जाती है जहाँ वह ध्वनि आदि तक नहीं पहुँच पाई वहाँ मध्य में कंठनालीय स्पृष्ट ध्वनि सुनाई देती है, यथा, रेबो (रहना), से'र (शहर), जो'द (योद्धा), बै'ण (बहिन)। मालवी में ये प्राणध्वनियां अनेक शब्दों में लुप्त हो गई है, यथा, मा० काडो, अडाई, दूद क्रमश: हा० खाडो, ढाई, दू'द।

४. मालवी में प्राय: 'ई' ध्वनि सुनने में आती है जो हाड़ौती में इतनी प्रचुरता से नहीं मिलती। मा० गया थानी हा० ग्या छा नै, मा० करी दियो हा० कर द्यो, मा० उड़ाई दियो हा० उडा दयो।

५. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में जो शब्दसंकोच की ओर प्रवृत्ति देखी जाती है उस दिशा में हाड़ौती मालवी से आगे है, जिसे क्रिया के भूत कृदंत में स्पष्ट देखा जा सकता है। यथा, मा० गयो, कयो, दियो, दई दो, क्रमश हा० ग्यो, र्‌यो, द्यो, दे दो।

१२. वही।

१३. मालवी और उसका साहित्य, पृ० ११।

६. मालवी में कर्म कारक तथा संप्रदान की विभक्ति पाई जाती है जब कि हाड़ौती में उसके लिये परसर्ग मिलते हैं। मा० **छोटा लड़काए वणी का पिता ने कह्यो** (छोटे लड़के से उसके पिता ने कहा), **वी ने वणीएँ नी दिया** (उसने उसको नहीं दिया)। हाड़ौती में इन्हीं वाक्यों को क्रमशः इस प्रकार लिखेंगे— 'छोटक्या छोरा से ऊंका बाप न खी, 'ऊं ने ऊंई न द्यो। यह प्रयोग 'राँगड़ी' में अधिक देखने को मिलता है।

इसी प्रकार मालवी सप्तमी में 'घरे' जैसे प्रयोग भी देखने को मिलते हैं, जो सं० सप्तमी 'गृहे' से संबंध स्थापित किए हुए है। हाड़ौती में 'घरणे' में 'णे' परसर्ग इसी प्रकार की भ्रांति उत्पन्न करता, है, पर हाड़ौती में यह परसर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना चुका है।

षष्ठी का 'पिता रे घरे' मालवी का रूप मारवाड़ी, बंगला की याद दिलाता है। हाड़ौती में 'रे रा' की संयोगावस्था केवल सर्वनामों में देखी जा सकती है। संज्ञाओं के साथ 'रे, रा' के प्रयोग नहीं दिखाई पड़ते। मालवी के 'बाप रे घरें' के स्थान पर हा० में 'बाप का घरणें' प्रयुक्त होगा।

७. मालवी बोली में वीने, अणा ने आदि अन्य पुरुष सर्वनाम हाड़ौती ऊने, ईने रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये प्रयोग राँगड़ी में अधिक देखने को मिलते हैं। मालवी में कहीं कहीं मूर्धन्य अनुनासिक हाड़ौती ध्वनि 'ण' के स्थान पर दंत्य अनुनासिक ध्वनि के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं।

८. अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत चिश्चयार्थ रूपों में दोनों बोलियों में स्पष्ट अंतर है। मालवी में ये क्रमशः है, हू तथा था, थी मिलते हैं, जब कि हाड़ौती में ये रूप क्रमशः छै छूं तथा छा छो, रूप में प्रयुक्त होते हैं।

९. मालवी में भूत अपूर्ण मिश्चयार्थ मूल क्रिया के वर्तमानकालिक कृदंत में अस्तिवाचक सहायक क्रिया का भूत निश्चयार्थ रूप जोड़कर बनाया जाता है, जब कि हाड़ौती में इस रूप को वर्तमान निश्चयार्थ क्रिया के साथ अस्तिवाचक क्रिया के भूतकालिक रूप को सहायक क्रिया रूप में जोड़कर बनाया जाता है। यथा, मा० 'जाती थी' हा० जांवे छो मा० खाती थी 'हा० खावे छो।'

१०. मालवी में भविष्य निश्चयार्थ वर्तमान निश्चयार्थ क्रिया के साथ 'गा' जोड़कर बनाया जाता है, जो मारवाड़ी के समान वचन तथा लिंग में नहीं परिवर्तित होता।[१४] हाड़ौती क्रिया में भविष्यत् निश्चयार्थ का निर्माण भी इसी प्रकार होता है, पर यहां क्रिया लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है; यथा, म्हूँ जाऊँगा, वे जावेगा, थू जावेगो।

१४. लि० स० इ०, पु० ६, भा० २, पृ० ५२।

११. पूर्वकालिक क्रिया का निर्माण मालवी में हाड़ौती से भिन्न प्रकार से होता है। मालवी के जाय, हुइ, बांची रूप हाड़ौती के जार, हार, बाँचर रूपों से स्पष्टतया भिन्न हैं।

१२. मालवी में भूतकालिक कृदंत के लीधो, दीधो, किधो रूप बड़े आकर्षक हैं जो हाड़ौती में नहीं मिलते। गुजराती तथा मेवाड़ी में भी इसी प्रकार के रूप देखने को मिलते हैं। पर यह भूतकालिक रूप बहुत कम क्रियाओं तक सीमित हैं अन्यथा तो कियो, दियो तथा कभी-कभी ग्यो, द्यो आदि रूप ही, जो हाड़ौती के समान हैं, प्रचलित हैं।

१३. मालवी के समुच्चयबोधक अव्यय वे पर गुजराती का प्रभाव है वह गुजराती के 'अने' का घिसा हुआ रूप है। हाड़ौती में इसके स्थान पर 'अर' का प्रयोग होता है जो हिंदी के और का घिसा रूप है।

नीचे दो मालवी गद्य तथा उन्हीं के हाड़ौती रूपांतर प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

१–मालवी गद्य

कोई आदमी के दो छोरा था। उनमें से छोटा छोरा ने जई के बाप के कियो के दाय जी म्हारे धन को हिस्सो दईदो और ओने उनमें माल ताल को बाँटो करी दियो। थोड़ाई दन में छोटो छोरो सब अपनो माल मतो लई ने कोई दूसरा देस चल्यो ग्यो और वो आखोचैन-मौज में अपनो धन उड़ाई दयो।[१५]

हाड़ौती-गद्यानुवाद

कोई आदमी के दो छोरा छा। वां में से छोटा छोरा ने जार बाप से खी के भाई जी मइँ धन को बांटो दे दो अर ऊने वांमे मालताल को बांटो कर दयो। छणी स्याक दन में छोटो छोरो सैंदो आपणू मालताल लेर कस्या परदेस में चली ग्यो अर वां चैन-मौज में आखो धन उडा द्यो।

२–मालवी गद्य

एक अन्य उदाहरण आदर्श मालवी का दिया जा रहा है :

'काल' कुवार सुदी पाँच का दन आपकी चिट्ठी म्हारे मिली। बाँची ने गद्-गद् हुई ग्यो ने जदे मालूम पड़ी कि अरे योतो कवि संमेलन को नेवतो है। अबे क्यों म्हार से केवाडो आँदा के जाणे आंख मिली न मय्या पर कट्या पंछी के पांख मिली।[१६]

१५. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृ० १५।

१६. वही, पृ० १०२।

हाड़ौती गद्यानुवाद

काल आसोज सुद पाचे के दन आपकी छूंती मं ई भली। बांच र गद गद होयो। अर जद मालूम पड़ी के यो तो कवि संमेलन को नोतो छै अब म्हसैं क्यूं रूवावो छो भाया, जाणैं आंदाई आंख्या मलगी अर पांखड़ाहीण पंछी ई पांखड़ा मल ग्या।

बुंदेली तथा हाड़ौती का अंतर

बुंदेली बोली हाड़ौती की उत्तरी-पूर्वी सीमा बनाती है। यह पश्चिमी हिंदी की उपभाषा है। बुंदेले राजपूतों की प्रधानता के कारण ही इस प्रदेश का नाम बुंदेलखंड पड़ा तथा इसकी भाषा बुंदेली कहलाई। इस बोली का क्षेत्र बुंदेलखंड है। कहीं कहीं वह इस क्षेत्र के बाहर भी बोली जाती है।[17] बुंदेली क्षेत्र विस्तृत है। इस क्षेत्र में बुंदेली की अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं। नीचे जो हाड़ौती और बुंदेली का अंतर बताया जा रहा है उसमें आदर्श बुंदेली को ही आधार मानकर चला गया है।

१. बुंदेली में ह्रस्व 'इ' ध्वनि प्रचुरता से प्रयुक्त होती है जो हाड़ौती में नहीं मिलती; यथा, बुं० बिटिया, बिरोबर, चिरइया, भानिज क्रमश: हा० बेटी, बन्याबर, चड़ी, भाणेज।

२. बुंदेली में मूर्धन्य अनुनासिक ध्वनि नहीं मिलती। वहाँ इसके स्थान पर दंत्य अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग मिलता है। बुं० भानिज, अपनी, तेलनी, क्रमश: हा० भाणेज, आपणो, तेलण।

३. हाड़ौती की 'ड़' ध्वनि बुंदेलखंडी में प्राय: 'र' में परिवर्तित हो जाती है। यथा, हा० घोड़ो, दोड़र, पड़्यो, क्रमश: बुं० घुरवा, दौरके, परो।

४. अकारण अनुनासिकता के उदाहरण बुंदेली में हाड़ौती की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। यथा, बुं० एतरां, उठाकें, नेचें, पाकें, (हिं० इस तरह, उठाकर, नीचे, पाकर)।

५. बुंदेली में शब्दों के बहुवचन बनाने के लिये ब्रजभाषा की भाँति 'अन' प्रत्यय लगाया जाता है। हाड़ौती में इसका प्रयोग नहीं मिलता। यथा बु० घोरन, लरकन, क्रमश: हा० घोड़ा, छोरा (लड़का)।

१७. ति० मो० मा० सा०, उपोद्घात, पृ० १३१।

६. बुंदेली के पुरुष वाचक सर्वनामों के रूप हिंदी के अधिक निकट हैं, पर हाड़ौती से कुछ दूर हैं।

	बुंदेली	हाड़ौती
उत्तमपुरुष	में, मैं, हम	म्हूं, म्हां, मैं
मध्यमपुरुष	तू, तैं, तुम	तू, थां, तैं
अन्यपुरुष	वो, ऊं, वैं	ऊ, वैं

७. बुंदेली में कभी कभी कर्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग एक विचित्र ढंग से होता है; यथा, वाने बैठो (वह बैठा), ऐसा प्रयोग हाड़ौती में नहीं मिलता। इसके स्थान पर हाड़ौती में कहेंगे ऊ बैठ्यो।

८. बुंदेली में कर्म कारक का 'खों' प्रसर्ग परसर्ग हाड़ौती में नहीं मिलता। संबंध कारक के उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष के भी रूप मोको, मोरो, मोनो, हमको, हमाओ तथा तोको, तेरो, तोरी, तोनो, तुमको, तुमाओ रूप बड़े आकर्षक तथा हिंदी से स्पष्टतः भिन्न हैं। हाड़ौती में म्हारो, म्हांको तथा थारो थांको इनके समकक्ष रूप हैं।

९. बुंदेली में अस्तिवाचक क्रिया अपने वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ रूपों में हाड़ौती से स्पष्ट भिन्नता रखती है। बुं० के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप है, आय तथा भूत के हतो, जो हा० में क्रमशः छै, छो, रूप में मिलते हैं।

१०. बुंदेली के सामान्य भविष्यत् काल के रूप हे, हो जोड़कर भी बनाए जाते हैं; यथा, बु० मारिहो, मारिहै, चलिहै आदि। ये रूप हा० में नहीं मिलते। भविष्यकाल के दूसरे रूप दोनों में समान ढंग से बनाए जाते हैं।

११. बुंदेली में वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ मूल क्रिया के वर्तमानकालिक कृदंत तथा अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के योग से संपन्न होता है जब कि हाडौनी में मुख्य क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ रूप से बनता है; यथा, बुं० मारत हों, हा० मारूँ छूं।

१२. बुंदेली में भूत अपूर्ण निश्चयार्थ का निर्माण वर्तमानकालिक कृदंत तथा अस्तिवाचक क्रिया का भूत निश्चयार्थ रूप के योग से होता है जब कि हाड़ौती में यह मूल क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा अस्तिवाचक क्रिया के भूत निश्चयार्थ के रूपों को जोड़ कर बनाए जाते हैं। यथा बु० मारत हतो, हा० मारैछो।

१३. बुंदेली पूर्वकालिक क्रिया का अंत प्रायः 'के' से होता है जब कि हाड़ौती क्रिया का अंत प्रायः 'रे' में होता है और कभी कभी 'के' में भी होता है यथा, बुं० मारके, उठके, हा० मारर या मारके, उठर या उठके।

नीचे बुंदेली गद्य दिए जा रहे हैं। इनमें से प्रथम गद्य शिवसहाय की 'जलकन्या' बुंदेली लोककथा से उद्धृत है।

बुंदेली गद्य[१८]

एक समय की बात है। कौन ऊ नगर में एक राजा हतो। उके राज में रैयत के लोग पेट भर खात और नींद भर सोउत हते। कोऊ खों काऊ बात की अड़चन ने हती।

ओई शहर में राजा के महल के लिंगा एक जसोंदी की टपरिया हती। ऊके घर में मताई-बेटा दोई प्रानी हते। बेटा स्यानो हो गव तो जसोंदी तो आय, उए गावै-बजावै को बड़ो शौक हतो। जब मनमें हुलास उठे तब ई सारंगी उठाकें गाउन-बजाउन लगत तो। राजा साब जसोंदी कौ गावो सुन कें मगन हो जात ते। घंटो सुनत रैत ते। राजकाज सें फुरसत पाकें जब राजा रातखों अपने महल में सोबेखो आउत हते तो पलका पै परे-परे जसोंदी की तान सुनकें दिन भर की थकान भूल जात ते।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक बगत की बात छै। एक सै-' र में एक राजो छो। ऊंका राज मैं सब लोगांई भर पेट मलै छो अर सुख की नींदा सोवै छा। खीं भी कांई बात की तक-लीफ कोई नै छी।

ऊं सैरे मैं राजा का मैह्‌ल कै-कने जसोंदी की टापरी छी। ऊंका घर में माई बेटा दो जणा छा। बेटा जवान होग्यो छो। जसोंदी गाबा बजाबा को घणू सौक छो। जद मन में आवै ऊंई बगत सारंगी लेर गाबा-बजाबा लाग जावै छी। राजा जी जसोंदी को गाबो-बजाबो सुणर मगन हो जावै छा। घणी बरे तांई सुणबो करै छा। राजकाज नमटार जद राजाजी आपणा मैलां मैं सोबा बेई आवै छा तो पालक्या पै पड्या-पड्या जसोंदी को अलाप सुणर आखा दन की थकान भूल जावै छा।

एक अन्य बुंदेली गद्य जो एक ग्वालियर निवासी से सुनकर लिखा गया है—

हमने दो जोरी परेवा पाल लये। पहले जोरे की परेविन अपने जोरा के के संगे हलके में हमारे गाँव के सहरिया ल्याय थे। सहरियन को तो अपने रहबै के लांय मड़ैया नोनी नई होत तो वे परेवन को कहां ते लाय वोर कां राखें। उन्नै दोउअन का अपने मिलवेवारे चमार को वे दो जोरा दे दये। ई जोरा को परेवा बिलैया ने खालऊ।

हाड़ौती-गद्यानुवाद

म्हने दो जोड़ी कबूतर पाल ल्या। फैलका जोड़ा की कबूतरी आपणा जोड़ा

१८. हमारी लोककथाएँ, पृ० ६।

की लेर म्हांका गांव का सै-'रया हलका मैं लाया छा। सै-' इयां के पास तो आपणै रै बा बेई भी छोकी टापरी न होवै तो वै कबूतरां नी खां सैं लावै अर खां राखै। वानै दोन्याई आपणा मलबा हाला चमार ई वै जोडा दे द्या। ई जोड़ा को कबूतर बल्ली खागी।

सीपरी तथा हाड़ौती का अंतर

डा० ग्रियर्सन ने अपने भारत के भाषा सर्वेक्षण में सीपरी या श्योपरी बोली को हाड़ौती की उपबोली स्वीकार किया है[19] तथा हाड़ौतीभाषी जनसंख्या के कुल आंकड़ों में सीपरीभाषी जनसंख्या के आँकड़े भी संमिलित किए हैं। पर इसी ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने सीपरी पर स्वतंत्र रूप से भी विचार किया है। यद्यपि इस विवेचन में विस्तार अल्प है, पर इस विवेचन से डा० ग्रियर्सन का उपर्युक्त बोली के स्वतंत्र अस्तित्व की ओर झुकाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

वस्तुत: सीपरी एक स्वतंत्र बोली स्वीकार की जा सकती है, जिसे ग्वालियर निवासी 'श्योपुरी' कहते हैं तथा कोटानिवासी चंबल की सहायक नदी 'सीपे' के क्षेत्रवाली बोली होने से 'सिपरी' कहते हैं,[20] यह मूल रूप से मध्य प्रदेश के श्योपुर परगने की बोली है जो उस परगने के समीप के क्षेत्रों में भी बोली जाती है। यह बोली बुंदेली तथा डाँगी बोलियों से प्रभावित है,[21] अतएव हाड़ौती से इसका अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है :

१. सीपरी में ह्रस्व 'इ' का प्रयोग प्राय: मिलता है जो हाड़ौती में नहीं मिलता; यथा, सी० देखि, गियो, क्रमश: हा० देख, ग्यो।

२. सीपरी में 'ऐ' तथा 'औ' स्वरों की रक्षा हुई है जो उस पर ब्रज या बुंदेली के प्रभाव का परिणाम हैं। हाड़ौती में 'ऐ' तथा 'औ' का प्रयोग नहीं दिखाई देता; यथा, सी० और, में, पाछे, क्रमश: हा० अर, म्हूं, फाचे।

३. हाड़ौती में प्राणध्वनि शब्द के आदि की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है और कहीं वह कंठनालीय स्पर्श के रूप में विद्यमान है, पर सीपरी में उसका स्थान हिंदी के समान ही बना हुआ है; यथा, सी० कहाणी, वहाँ, नाहर, ऊभो, क्रमश: हा० ख्याणी, वां या व्हां, नार, ऊबो।

४. संस्कृत की 'इ' वर्गीय ध्वनियाँ सीपरी में लुप्त होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, हाड़ौती में उन्होंने स्थान या वेश बदल कर अपना अस्तित्व बना रखा है; यथा, सी० चारां, बचारी क्रमश: हा० च्यारा, बच्यारी।

१९. लि० स० ई०, पु० ६, भा० २, पृ० २०३।
२०. वही, पु० ६, भा० २, पृ० २१६।
२१. वही।

५. सीपरी में पुरुषवाचक सर्वनाम हाड़ौती से भिन्न मिलते हैं; यथा, सी० हूँ, मोको, मोइ क्रमशः हा० म्हू, मे, मई।

६. सीपरी में कर्म तथा संप्रदान कारकों में प्रयुक्त 'कूं' परसर्ग मिलता है, पर हाड़ौती में 'ई नै और के ताईं' प्रयुक्त होते हैं; यथा, सी० मोकूं, मोको, तोको, रामकूं क्रमशः हा० मईं, म्हारे, ताईं, थईं, थारेताईं, राम ने।

७. सीपरी में अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ के रूप क्रमशः 'है' व 'हा' हैं जब कि हाड़ौती में 'छै, छा' हैं।

नीचे सीपरी का गद्यांश दिया जा रहा है—

सीपरी गद्य

एक सुआड़्यो और एक सुआड़ी एक ठौर रहबो करे हा। एक दिन वांकूं प्यास लागी। जद सुआड़ी ने सुआड़्या सूं कही पाणी पीबा चालां तू कहाणूयां भी जाणे है, वहाँ एक नाहर की आंदर है। तू कोई कहाणी जानतो होव तो आपण पाणी पियां। हूँ प्यासी मरूं छूं। या कहर वै पाणी की ठौर पै गया, वहाँ जार सुआड़ी ने पूछी तू कोई कहाणी जाणे है। ज्यूं ही वे पास आया वांकूं नाहर ने देखि लिया।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक स्वाल्यो अर एक स्वाली एक ठौर रैबू करे छा। एक दन उईं तस लागी। जद स्वाली ने स्वाल्या सूं खी फाणी पीबा चालां। तू ख्याण्य. भी जाणे छे। वां एक न्हार की आंदर छे। तू कोई ख्याणी जाणतो होवे तो आपण फाणी प्यां म्हूं तसायां मरूं छूं। या खै' र वै फाणी की ठोर पै ग्या। वां जार स्वाली ने पूछी के तू कोई ख्याणी जाणे छे। जस्यांई वे गोडै आया ऊंई न्हार ने देख ल्यो।

डांग भांग तथा हाड़ौती का अंतर

हाड़ौती की उत्तरी सीमा डांगभांग बनाती हैं। डांगभांग जयपुर जिले के दक्षिणी पूर्वी भाग में कोटा जिले के उत्तर में तथा करौली के दक्षिणी सीमावर्ती क्षेत्र में बोली जाती है। इसपर जयपुरी का डांगी की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। हाड़ौती बोली से इसका अंतर इस प्रकार है—

१. हाड़ौती में ह्रस्व 'इ' 'ऐ' व औ स्वर ध्वनियाँ नहीं मिलती, जब कि डांगभांड में ये ध्वनियाँ मिलती हैं। यथा, डांग० रिप्यो, आपकै, कैबो, नौकर क्रमश. हा० रप्यो, आपके, खैबो, नोकर।

२. डांगभांग में जहाँ हाड़ोती मूर्धन्य 'ळ्' प्रयुक्त होता है वहाँ भी वर्त्स्य 'ल्' प्रयुक्त होता है; यथा, हा० रेबाहाळा, डा० रैबाला।

३. डांग भांग में मूल प्राणध्वनि अनेक शब्दों में लुप्त हो गई है। हाड़ौती में यह ध्वनि किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व प्रायः बनाए हुए है, यथा डांगभांग बूको, बुसी, कवाऊँ, चायना जीब्,क्रमशः हा० भूको, खुसी, ख्वाऊँ, छायना, जीब। डांग भांग में कुछ शब्दों में प्राणध्वनि हिंदी शब्दों के समान स्थान बनाए हुए है, पर हाड़ौती में इसकी प्रवृत्ति आगे बढ़ने की ओर दिखाई देती है, यथा डांग० महाराज, हा० म्हाराज।

४. डांग भांग के सर्वनाम हिंदी के अधिक निकट हैं। इसमें, तुमारो, मेरी उन आदि प्रयोग मिलते हैं, पर साथ हीमोकूं जैसे ब्रज-प्रयोग भी दिखाई देते हैं। हाड़ौती में इनके स्थान पर क्रमशः इन सर्वनामों का प्रयोग मिलता है—थारो, म्हारो, वा, तथा मंई।

५. संज्ञा सब्दों के बहुवचन बनाने में ब्रजभाषा की प्रवृत्ति से डांग भांग प्रभावित है, पर हाड़ौती के संज्ञा शब्दों के बहुवचन भिन्न प्रकार से बनाए जाते हैं, डांग० खेतन, चाकरन, नोकरन, बेटन क्रमश हा० खेतां, चाकरां, नोकरां, बेटां।

६. डांग भांग में कर्म तथा संप्रदान परसर्गों में 'कूं' का प्रयोग बहुतायत से होता है और हाड़ौती में ई' के प्रयोग का प्राचुर्य है। यथा डांग० मोकूं, नौकरन कूं क्रमशः हा० मई, नौकरानई।

७. डांगभांग में अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ और भूत निश्चयार्थ में दो-दो रूप मिलते हैं। पहिले हैं, हूँ, हा, हो और दूसरे : छे छूँ, छां, छो आदि; जिनमें से प्रथम का व्यवहार अधिक होता है तथा दूसरे रूप कम प्रयुक्त होते हैं। हाड़ौती में दूसरे प्रकार के रूप ही प्रचलित हैं।

८. डांगभांग में पूर्वकालिक क्रिया के अंत में 'कर' 'के' अधिक मिलते हैं और 'अर' अंत वाले कम, पर हाड़ौती में इसके विपरीत प्रयोग मिलते हैं, दोनों बोलियों में पूर्वकालिक क्रिया इस प्रकार बनती है—जाकर, जाके, जार, मारकर, मारके, मारर।

९. डांगभांग में भूत निश्चयार्थ क्रिया के अन्य पुरुष के रूप के साथ प्राय. 'स' या 'क' व्यंजनों को सुना जा सकता है, ये व्यंजन प्राचीन सर्वनामों के अवशेष हैं, ऐसे प्रयोगों का हाड़ौती में नितांत अभाव है, इस प्रकार डांगभांग में ये प्रयोग मिलते हैं—कैस (उसने कहा), पूछीस (उसने पूछा), मारैक (उसे पीटा)।

१०. डांग भांग में जब एक विशेषण सर्वनाम या संज्ञा के साथ आता है तब कभी-कभी परसर्ग दोनों के साथ प्रयुक्त होते हैं, हा० में परसर्गों का प्रयोग केवल संज्ञा के साथ मिलता हैं। यथा—डांग० ऊनैं राजानैं कई हा० ऊं राजानैं खी, डांग० रे बाला के एक के, हा० एक रे' बा हाला के।

डांगभांग गद्य[22]

कोई आदमी के दो बेटा हा। उनमें सूं छोटा बेटा ने ऊंका बाप सूं कई बाप पूंजी में सूं जो मेरी पांती आवे सो मोकूं दे। ऊंने ऊं की पूंजी उनकूं बांट दी। थोड़ा दन पाछे छोटो बेटो सारी पूंजी ले के दूर परदेस में चल्यो गयो। वहां जाकर ऊंने ऊं की पूंजी गैर चलण में उड़ा दी। उंने सब पूंजी उड़ा दी। पाछे ऊं देस में भोत सो काल पड़ गयो। जद वो कंगाल हो गयो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

कोई आदमी के दो बेटा छा। वां में सूं छोटा बेटा ने आपणा बाप सूं खी, बाप पूंजी में सूं जो म्हारी पांती आवे ऊ मई दे। ऊने आपणी पूंजी वांई बांट दी। थोड़ा दनां पाछे छोटो बेटो सारी पूंजी लेर दूर परदेस में चल्यो ग्यो। व्हां जार ऊंने सेंदी पूंजी उड़ा दी। पाछे ऊं देस में घणू काल पड़ ग्यो। जद ऊ कांगो हो ग्यो।

नागरचाल तथा हाड़ौती का अंतर

नागरचाल हाडौती की उत्तरी सीमा बनाती है। यह जयपुरी की ही उपबोली है। अतः इसमें एक ओर तो जयपुरी की विशेषताएँ मिलती हैं दूसरी ओर हाड़ौती की सीमा से लगी होने के नाते इसमें हाड़ौती की अनेक विशेषताएँ विद्यमान है। दोनों में निम्नलिखित अंतर हैं—

१. नागरचाल में 'ऐ' स्वर मिलता है, जो हाड़ौती में नहीं पाया जाता। हाड़ौती में 'ऐ' के स्थान पर 'ए' 'अ' 'ई' का प्रयोग होता है। यथा—ना० नीचै चावै, जठै क्रमशः हा० नीचे, छावे, जठीं।

२. नागरचाल में मूर्धन्य 'ल्' का प्रयोग हा० की अपेक्षा अधिकता से दिखाई पड़ता है। यथा—ना० कागलो, भायलो, मल्यो क्रमशः हा० कागलो, भायलो, मल्यो।

३. कभी-कभी संज्ञाओं में 'य्' ध्वनि आकर ना० में एक नवीन प्रकार के शब्द को जन्म देती है। यह ध्वनि हा० में इस रूप में नहीं पाई जाती। यथा ना० द्याल, ख्याल जो क्रमशः हाड़ौती में इस प्रकार मिलते हैं दाल, खाल्।

४. नागरचाल में पुरुषवाचक सर्वनाम के प्रयोग दक्षिणी हाड़ौती से काफी दूर हैं, पर उत्तरी हाड़ौती से मिलते हैं। उत्तम पुरुष में म्हू तथा मैं, मध्यम पुरुष में तू तथा तैं तथा संबंधवाचक सर्वनाम जो तथा जै पाए जाते हैं।

२२. लि० स० इ०, पु० ६, भा० १, पृ० ३५६।

५. नागरचाल में जयपुरी के समान कर्ता परसर्ग-रहित प्रयुक्त होता है। हा० में कर्ता 'नै' परसर्ग-युक्त तथा परसर्ग-रहित दोनों रूपों में मिलता है। यदि जयपुरी में यह कहना हो कि 'घोड़े ने घास खाई' तो कहेंगे, घोड़ो घास खाई, पर यदि भूल से कह दें 'घोड़ा ने घास खाई' तो उसका तात्पर्य होगा—'घास घोड़े को खा गई। हाड़ौती में 'घोड़ा ने घास खाई' का तात्पर्य हिंदी के अनुरूप ही होगा।

६. नागरचाल में सप्तमी में 'ने' परसर्ग का प्रयोग हाड़ौती से भिन्न प्रकार से होता है। यथा ना० रातनै दोन्यू सामल हो जावै, हा० रात में दोन्यूं सामल हो हो जावै। पर हाड़ौती में 'म्हूं ऊंका घरणं ग्यो' में 'णं' सप्तमी के परसर्ग रूप में भी कहीं-कहीं प्रयुक्त होता है।

७. नागरचाल का भविष्य निश्चयार्थ इन तीन प्रकारों से बनता है :

१. आपां भायैलो मंडस्यां	(हम मित्र बनेंगे)
२. आपां भायैलो मडांलां	,, ,,
३. आपां भायैला मडेंगां	,, ,,

हाड़ौती में दूसरे रूप का नितांत अभाव है। प्रथम तथा तृतीय रूप उत्तरी हाड़ौती में हीं मिलते हैं। दक्षिणी हाड़ौती में तो केवल तृतीय रूप प्रचलित है। दूसरा रूप बड़ा रोचक है। इसमें लिंग वचन का प्रभाव क्रिया के अंतिम अक्षर 'ला' तथा उसके पूर्व अक्षर दोनों पर पड़ता है जब कि शेष रूपों में केवल अंतिम अक्षर ही विभिन्न रूपों का बोध कराता है।

८. नागरचाल में अस' तथा 'स' का क्रिया के ठीक पश्चात् प्रयोग उसकी निजी विशेषता है। जयपुरी में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अन्यपुरुषवाचक सर्वनामों के लिये होता है।[२३] यहाँ यह 'कि' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा, स्यार बोल्यो—अस आपां तो मंडस्या (सियार ने कहा कि हम तो बनेंगे)।

उपर्युक्त अंतर को स्पष्ट करने के लिये नागरचाल का एक गद्य और उसका हाड़ौती अनुवाद दिया जा रहा है—

नागरचाल गद्य

जद फेर दूसरै दन ऊ स्याल़र हरण मल्यो तो कै आज तो तू थारा भायैला नै बूज्यायो। अब आपां दोन्यूं भायैला मंडां। जद हरण बोल्यो अरै भाई स्याल़ म्हारो भायैलो तो नटग्यो-अस तू भायैलो मत मंडे जद स्याल़ बोल्यो—अस आपांतो

२३. लिं० स० इ०, पु० ६, भा० २, पृ० १६१।

मंडस्यां । जद स्याल् बी आंथण का ऊँकी लार-लार ऊँई रोखड़ा नीचै गीयो जठै कागलो र हरण बैठे छा । जद हरण कागला नै फेर बूजी कै यो तो मानै कोनै । भायैलो मंडबा बेई आग्यो । जद कागलो बोल्यो तू म्हारी मानै छै तो ईंसूं भायैलो मत मंडे स्याल् की जात दगाबाज छै । दगो करर तेने कोई दन मरा घलासी ।

हड़ौती गद्यानुवाद

जद फेर दूसरै दन ऊ स्वाल्यो अर हरण मल्यो । तो खी आज तो तू थारा भायला से फूच्यायो । अब आपण दोन्यू भायला बण जावां । जद हरण बोल्यो अरे भाया स्वाल्या म्हारो भायलो तो नटग्यो कै तूं भायलो मत बण । जद स्वाल्या ने खी कै आपण तो बणैगां जद स्वाल्यो भी आंथण का ऊँकी लेर-लेर ऊँई रुखड़ा कै तलैग्यो ज्यां कागलो अर हरण बैठे छा । जद हरण कागला नैं फेर फूची कै यो तो मानै ई कोयनै, भायलो बणबा वेई आग्योज जद कागला नें खी, तू म्हारी मानै तो ई को भायलो मत बण । स्वाल्यो की जयात दगाबाज छै । दगो कर र तई कोई दन मरा न्हाकैगो ।

*

कूट-काव्य-कर्ता जमाल हिंदू भाट या मुसलमान कवि ?

मुरलीधर शहा

जमाल को सभी इतिहासकारों ने मुसलमान कवि माना है। गार्सां द तासी का इतिहास जमाल की कोई जानकारी नहीं देता, न कर्नल टाड के राजस्थान के इतिहास में उसका कहीं नाम है। जमाल का उल्लेख सर्वप्रथम शिवसिंह सरोज में प्राप्त होता है। परवर्तीकाल के लगभग सभी इतिहासकारों ने शिवसिंह सरोज और ग्रियर्सन के इतिहास को आधार मानकर जमाल की थोड़ी बहुत जानकारी अपने अपने ग्रंथों में दी है।

जमाल नाम के कुल ३ कवि प्राप्त होते हैं--१. जमाल, २. जमालुदीन और ३. जलालउद्दीन। ग्रियर्सन इनमें से दो कवियों की जानकारी देते हैं। जलालउद्दीन कवि और जमालउद्दीन।[1] उन्होंने जमालउद्दीन कवि का जन्म ई० १५५८ में माना है, और जमालउद्दीन का ई० १५६८ में। अर्थात् दोनों कवि भिन्न हैं। जमालउद्दीन को वे पिहानी, जिला हरदोई का मानते हैं। अधिक जानकारी देते हुए उन्होंने लिखा है—'कोई विवरण नहीं। यह संभवत: वही हैं जिन्हें शिवसिंह ने ई० १५४५ में उत्पन्न और कूट में प्रवीण जमाल कवि कहा है।'[2] इसी के साथ टिप्पणी देते हुए डा० किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है—'१५६८ ई० या सं० १६२५ उपस्थितिकाल है। जमाल और जमालुद्दीन की अभिन्नता की संभावना ठीक है।'[3]

अर्थ यह कि ग्रियर्सन और डा० किशोरीलाल गुप्त के अनुसार जमाल और जमालुद्दीन एक ही कवि हैं जो पिहानी, जिला हरदोई के रहनेवाले थे।

परंतु मिश्रबंधु इन दोनों को अलग मानते हैं। 'मिश्रबंधु विनोद' के प्रथम भाग में जमाल की जानकारी देते हुए उन्होंने लिखा है—'जमाल—ग्रंथ १. जमाल पचीसी, २. भक्तलाल टिप्पणी। जन्म सं० १६०२ रचनाकाल १६२७। विवरण—गूढ़ काव्य बनाया। साधारण श्रेणी।'[4] लेकिन आगे पृ० ३१९ पर जमालुद्दीन की

१. डा० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, किशोरीलाल गुप्त, पृ० ११०-१११।

२. वही, पृ० ११०।

३. वही, पृ० १११।

४. मिश्रबंधु विनोद, भा० १, पृ० २६५।

जानकारी देते हुए उन्होंने लिखा है—'पिहानी, जन्मकाल १६२५, रचनाकाल १६५०'।[५] अर्थ यह है कि उनके अनुसार जमाल और जमालुद्दीन दो भिन्न कवि थे और जमाल का जन्मस्थान पिहानी न होकर, कोई और ही था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक ही जमाल की जानकारी देते हैं। उनके अनुसार 'ये भारतीय परंपरा से पूर्ण परिचित कोई सहृदय मुसलमान कवि थे, जिनका रचनाकाल संवत् १६२७ अनुमान किया गया है।...इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। पर कुछ संपादित दोहे मिलते हैं। सहृदयता के अतिरिक्त इनमें शब्द क्रीडा की निपुणता भी थी, इससे इन्होंने कुछ पहेलियाँ भी अपने दोहों में रखी हैं।'[६]

जमाल के हिंदू भाट होने की संभावना सर्वप्रथम 'हिंदी साहित्य कोश' भाग दो में प्रदर्शित की गई है। कोश के अनुसार 'जमाल जमालुद्दीन जाति के मुसलमान थे यद्यपि कुछ लोग इन्हें हिंदू भाट मानते हैं। इनका जन्म शिवसिंह सरोज के अनुसार सन् १४४५ ई० में हुआ था। ये हरदोई जिले में पिहानी के रहनेवाले थे।'[७]

इन विविध जानकारियों से निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं—

१. जमाल और जमालुद्दीन एक ही कवि है, २. जमाल और जमालुद्दीन दो भिन्न कवि थे, ३. जमाल जाति के मुसलमान थे, ४. उनका जन्मस्थान पिहानी, जिला हरदोई है और ५. रचनाकाल या कार्यकाल अनुमानतः संवत् १६२७ है।

लगभग एक साल पहले एक पुराने पुस्तक विक्रेता से मुझे 'जमालमाला' नामक ५६-५७ पृष्ठों की एक छपी हुई पुरानी पुस्तक प्राप्त हुई। उक्त पुस्तक की भूमिका एवं उसमें दी गई जमाल की जीवनी मुझे काफी महत्वपूर्ण प्रतीत हुई। उस जीवनी से प्राप्त जमाल संबंधी सामग्री किसी भी इतिहास से मेल नहीं खाती, परंतु चूँकि उक्त पुस्तक के लेखक को वह जमाल के वर्तमान वंशज भानु कवि से प्राप्त हुई थी, इसलिये उसे अधिक प्रामाणिक एवं सत्य मानना योग्य होगा।

पुस्तक का आवरण पृष्ठ फटा हुआ है। इसलिये पुस्तक के प्रकाशक, प्रकाशन स्थल एवं साल के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। लेखक का नाम है श्री पन्नालाल भैया गयापाल राजउपाधा, नागपुर। प्रस्तुत लेखक ने जमाल के कुछ दोहे शिवसिंह सरोज से प्राप्त किए, लगभग सौ दोहे जमाल के वर्तमान वंशज भानु कवि से, और अन्य कुछ अन्यत्र कहीं से। इन दोहों में से १०८ दोहे छाँटकर 'उन पर रोला मिला और कुंडलियाँ कर' उक्त पुस्तक उन्होंने प्रकाशित की है।

५. मिश्रबंधु विनोद, भा० १, पृ० ३१६।

६. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल (१२ वाँ संस्करण), पृ० १६१।

७. हिंदी साहित्य कोश, भा० २, ज्ञानमंडल, वाराणसी, पृ० १६२।

दो पृष्ठों की भूमिका के बाद, दो पृष्ठों में जमाल की जीवनी दी है। यही जीवनी जमाल संबंधी नई सामग्री उपस्थित करती है। पुस्तक के पृष्ठ ३ पर 'जमाल कवि की जीवनी' शीर्षक से यह लेख प्रारंभ होता है। यथा—

'यह महाशय सन् १६०२ ईस्वी में उत्पन्न हुए **और सन् १६६२ ईस्वी में इनकी मृत्यु हुई। यह जात के बंदीजन थे।** इनके पिता का नाम अवध कवि था। ये तीन भाई थे। तीनों बड़े धुरंधर कवि थे। इनमें सबसे बड़े लाल कवि, बाद जमाल कवि इनके बाद देव या जैदेव कवि थे। लाल कवि का चित्र-काव्य अत्यंत प्रसन्सनीय था, और उक्त दोनों भाई श्रृंगाररस के पूर्ण ज्ञाता थे। **इनकी जन्मभूमि देवली नामक ग्राम उदैपूर राज्य में थी** और राज दर्बार में इनकी बड़ी कदर थी। अपने केवल व्यंग कूट दोहों से महाराज को अति प्रसन्न रखते थे कि जिसके फल से दर्बार में उक्त कवि को अत्यंत दर्ब (द्रव्य) प्राप्त हुई और जलपूर नाम ग्राम इन्हें मिली जो कवि महाशय ने जलपूर से जमालपूर नाम रक्खा, जो आज तक विद्यमान है, और **उनके बन्श में भानु कवि वर्तमान हैं, कि जिनसे मुझे श्री काशीपुरी में साक्षात हुई** और इनकी बीररस की कबिता उत्तम है। इन्हीं की कृपा से जमाल रचित कोई सौ दोहे के अंदाज प्राप्त हुये जिसकी बिदाई में मैंने उन्हें २५) मुद्रा और एक दोशाले की जोड़ी अर्पण की......[८]

यह लेख जिस तरह छपा है, वैसा ही यहाँ उद्धृत किया है। इससे कुछ तथ्य खुलते हैं, यथा—एक जमाल की मृत्यु की तिथि इस भूमिका द्वारा सर्व प्रथम ज्ञात होती है। दूसरे यह सिद्ध होता है कि जमाल पिहानी हरदोई के रहनेवाले नहीं थे और न पिहानी के जमालुद्दीन से उनका कोई संबंध ही था। तीसरी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे जाति के मुसलमान न होकर, हिंदू भाट थे।

फिर भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

लाल और जैदेव या देव इन दो हिंदू नामों के मध्य 'जमाल' यह मुसलमान नाम कैसे आया? क्या वह जयमाल हो सकता है?

दूसरे, जिनका चित्रकाव्य अत्यंत प्रख्यात है, वह लाल कवि कौन हैं? काशी नगरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट लगभग १३ लाल नामक कवियों की जानकारी देती है।[९] परंतु उनमें से कोई कवि इस लाल कवि की जानकारी से मेल नहीं खाता।

जमाल के संबंध में इन तथ्यों की खोज आवश्यक है।

*

८. जमालमाला, पन्नालाल राज उपाध्या, पृ० ३-४।

९. हस्तालिखित ग्रंथों का बिवरण, भा० २, ना० प्र० सभा, पृ० ३४५-३४६।

सिंधी मानव अभिधानों का अध्ययन

कृष्णचंद्र टोपणलाल जेतली

•

उपक्रम

सिंधी जन्मजात व्यापारी जाति है। अतः अपनी भाषा और इतिहास के अन्वेषणात्मक गहन अध्ययन की तरफ इनका ध्यान कम है। इसलिये इनमें अपने प्रयत्न से पुरातत्व और भाषा के संबंध में ठोस अभ्यास करनेवाले इनेगिने व्यक्ति मिलेंगे।

भारत विभाजन के बाद ये लोग न केवल भारत में अपितु इससे बाहर भी भी युरोप तथा एशिया के कई देशों में सपरिवार बस गए है। अतः इनकी भाषा और संस्कृति पर पड़ोसी समाज का प्रभाव पड़ना संभव ही है जिससे धीरे-धीरे सिंधी जाति के नामशेष रहने की आशंका है। इस बात को रोकना भी शक्य नहीं। उदाहरणार्थ, सर्वत्र आबालवृद्ध लोगों में सिनेमा देखने की आदत पड़ी हुई है, जिससे आज कल जन्म लेने वाले बालकों के नाम सिनेमा अभिनेताओं के नाम पर रखे जाते हैं। यद्यपि यह प्रवृत्ति सब में है, परंतु बड़े समाज की तुलना में–जहाँ इसका प्रभाव इतना जल्दी मालूम नहीं होता, वहाँ छोटे सिंधी समाज में यह बड़ी शीघ्र गति से चल रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सिंधी जाति में से पुराने नाम बहुत तेजी से मिटते जा रहे हैं। अतः अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति वाले लोगों का कर्तव्य हो जाता है कि ऐसे विषयों का संग्रह कर प्रकाशित करें।

यहाँ सिंधी व्यक्ति नामों के विशेष अध्ययन का सार मात्र इस निबंध में दिया जा रहा है।

उपपद

सिंधी व्यक्ति नामों के पीछे मलु, रामु, चंदु, दासु, लालु, आनंदु, राइ, सहाइ, सिंघु, राजु, पद जोड़ कर बोलने की रीति है।

'मलु' उपपद के आगे व्यक्ति नाम का अंतिम स्वर नहीं बदलता जैसे—

गिरीधारी—मलु	अचतु—मलु	अमिरू—मलु
आसूदो— ,,	दयानो— ,,	आतू— ,,

मलु के स्थान पर 'रामु' उ० पद जोड़ने से व्य० ना० का अंतिम 'ओ' स्वर 'आ' में बदल जाता है। जैसे—आसूदो-मलु का आसूदा-रामु, कुंदो-मलु का कुंदा-रामु।

प्राय: मलु के स्थान पर रामु उ० पद जोड़ने से व्य० ना० का अंतिम 'ऊ' स्वर 'आ' में बदलता है, जैसे—आलू-मलु का आला-रामु, रीझू-मलु का रीझा-रामु मनू-मलु का मना-रामु।

अपवाद—पेसू-रामु, खानू-रामु, चांडू-रामु।

रामु—प्राय: आ, ई, उ और ऊ स्वरांत नामों के पीछे 'रामु' उपपद जोड़ा जाता है। जैसे—

आशा—रामु	उधा—रामु	गंगा—रामु
ऐंशी— ,,	वली— ,,	खुशी— ,,
चोइथु— ,,	चंदनु— ,,	गागू— ,,

चंदु—इस उपपद के आगे व्य० ना० का अंतिम स्वर संवृत हो जाता है। जैसे—राम्[उ]-चंदु, लाल्[उ]-चंदु, होत्[ऊ]-चंदु, खान्[ऊ]-चंदु।

चंदु के आगे 'मो' का 'आ' होता है, जैसे—तारो का ताराचंदु, हीरो का हीरा-चंदु।

कहीं 'ओ' संवृत 'अ' में बदल जाता है, जैसे—खेमो का खेम्[अ]-चंदु, मूलो का मूल्[अ]-चंदु।

दासु—आ, ई और ऊ स्वरांत व्य० ना० के पीछे 'दासु' उपपद प्रयुक्त होता है। जैसे—गंगा-दासु, जमुना-दासु, मथुरा-दासु, आई-दासु, माई-दासु, तुलसी-दासु, अमरू-दासु, अमोलकु-दासु।

लालु—प्राय: ई, उ और ऊ स्वरांत व्य० ना० के पीछे 'लालु' उ० प० जोड़ते हैं। जैसे—मोती-लालु, मोहनु-लालु, चंदू-लालु।

आनंदु—प्राय: अ, ऊ और ओ स्वरांत व्य० ना० के पीछे 'आनंदु' उप प० जोड़ने पर व्य० नामांत स्वर 'आ' में बदल जाते हैं। जैसे—परम+आनंदु का परमानंदु, हासो का हासानंदु और सचू का सचानंदु।

राइ—प्राय: उ और ऊ स्वरांत व्य० ना० के पीछे 'राइ' उ० प० जोड़ते हैं जैसे—अमुलु-राइ, रामु-राइ, गनू-राइ, आलू-राइ।

कहीं व्य० ना० का अंतिम उ-कार इ-कार में बदल जाता है। जैसे—आवतु का आवति-राइ, कीमतु का कीमति-राइ, जमिअतु का जमिअति-राइ।

'राइ' के पहले व्य० ना० का 'ओ' 'आ' में बदल जाता है। जैसे—आसूदो का आसूदा-राइ, डेटो का डेटा-राइ, परिसो का परिसा-राइ।

सिंधी लोगों में राइ वंश प्रसिद्ध है। ये शाक्त संप्रदाय के हैं और अपने

नाम के पीछे 'राइ' उ० प० जोड़ते हैं। वास्तव में 'राइ' शब्द संस्कृत 'राजा' का प्राकृत रूप है।

सहाइ—यह भी एक वंश का विशेषण है जो अपने नाम के पीछे जोड़ा जाता है। जैसे—गुरु-सहाइ, रामु-सहाइ। सहाइ पद का अर्थ है सहायता करने वाला, मददगार।

सिंघु—गुरु नानक और गुरु गोविंद सिंघ के अनुयायी अपने नाम के पीछे यह पद जोड़ते हैं।

राजु—प्राय: ऊकारांत और ओकारांत व्य० ना० के पीछे 'राजु' पद जोड़ा जाता है। और वे 'ऊकार' और ओकार संवृत 'अकार' में बदल जाते हैं। जैसे—नेंभू का नेंभ्^अ-राजु, लेखू का लेख्^अ-राजु, सोभो का सोभ्^अ-राजु, भोजो का भोज्^अ-राजु।

देवी, बाई—स्त्री वाचक व्य० ना० के पीछे देवी अथवा बाई उपपद जोड़ा जाता है। जैसे—गंगा-देवी, गंगा-बाई जमुना-देवी, जमुना-बाई।

आकारांत पुंलिंग शब्द—प्राय: संस्कृत आकारांत स्त्री-लिं० शब्द सिंधी में पुरुष संबंधी उपपद जोड़ने पर पुंलिंग व्यं० नाम बन जाते हैं। जैसे—आशा-रामु, जमुना-दासु, कला-चंदु।

संस्कृत आत्मन् शब्द का सिंधी रूप 'आतिमा' होता है। यह व्य० ना० में होगा आतिमा-रामु।

अकारांत स्त्रीलिंग शब्द—अतोर-बाई, उतम-बाई, कर्म-, कूंज-, पटोल-, मूभल-, वींझुल-, सकाज-, हूर-, हीर-, नेंबह-, तहमुल-, रतोल-, रीझ-।

आकारांत स्त्रीलिंग नाम—ऊँचाँ-बाई, रोचाँ-, बुलाँ-, मोताँ-, रुकाँ-, लछाँ-, लीलाँ-, पदाँ-।

इनमें अनुनासिक कहीं दुलार सूचक बन जाता है। जैसे—मोतिला का मोताँ, रुक्मिणी का रुकाँ, लछिमी का लछाँ, पद्मा का पदाँ।

पुंलिग अनुनासिक नाम—मूल संस्कृत नाम में अनुनासिक न होने पर भी सिंधी में अनुनासिक जोड़ कर बोलने की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे—सं०-स्थावर:, सि०-थाँवरु। सं०-स्थाणु, सि०-थाऊँ। सं०-नाम, सिं० नाऊँ, नावों। सं० राजा, प्रा० राम्रो, हिंदी-रावलु, सिं०-राँवलु।

इकारांत स्त्रीलिंग नाम—ईसरि (= ईश्वरी), नवनिधि, (= नवनिधि:), पपुरि, पेंवदि, मल्हारि, जव्हारि, वराणि।

ईकारांत पुंलिग नाम—ऐंशी-रामु, खुशी-रामु गिरिधारी, गेड़ी-रामु, जौंकी-रामु, झांगी-रामु, टोली-, पकाई-, पिरी-, मोती-, हाथी-, सिपाही-, बापारी-।

ईकारांत स्त्रीलिंग—अंबी-बाई, धमोली-, आसूदी-, कुंदी (=कुंती), गागी (=गार्गी), गोमी-, पबी- ।

सिंधी व्यक्ति नाम प्राय: उकारांत होते हैं। जैसे—रामु, किशिनु, गोविंदु, अचतु, अटलु, पहिलाजु ।

ऊकारांत नाम—आडू-मलु, आतू-, आलू-, कर्मू-, खानू-, चंदू-, चांडू-, तेजू-, नंदू-, शामू- ।

ओकारांत नाम—आसूदो-मलु, कुंदो-, गोमो-, डूलो-, डेटो-, तारो-, थधो-, परिसो-, मथुरो-, भूरो- ।

अन्नंत नाम—सिंधी में ऐसे भी नाम हैं जो वास्तव में अन्नंत न होकर सिंधी में अन्नंत बन जाते हैं। जैसे—देवन् (=देव:), धमन् (= धम्म = धर्म्म:) पमन् (= पमो = प्रेमन्), रामन् (=राम:), शिवन् (=शिव:) ।

यह शायद द्राविड़ी भाषा का अवशेष है क्योंकि उनमें भी राधाकृष्णन्, रामन्, गोपालन्, शिवन् आदि नाम हैं।

दुलार के नाम—सिंधी पुंलिंग और स्त्रीलिंग व्यक्ति नामों के पीछे 'लु' और 'ल' जोड़ने से प्यार का बोध होता है। जैसे—तोता से तोतलु (पुं०), पुन्हू से पुन्हलु (पुं०), रोची से रोचलु (पुं०), पबी से पबुल (स्त्री), भंभी से भंभुल (स्त्री), शामी से शामुल (स्त्री) ।

क्रियापद नाम—सिन्धीमें क्रिया पदों के पीछे मलु, दासु आदि उपपद जोड़ने पर व्यक्ति नाम बन जाते हैं। जैसे—खिलणु-मलु (खिलणु = हँसना), घुमणु-मलु (घुमणु = घूमना), नचणु-(= नाचना), मोटणु-दासु (= लौटना) ।

पुंलिंग और स्त्रीलिंग में समान रूप—कीमति-राइ, कीमति-बाई, जोधा-रामु, जोधा-बाई, मूर्जि-मलु, मूर्जि-बाई; हरिजसि-राइ, हरिजसि-बाई ।

अपनाम अर्थात् भद्देनाम—किसी को संतति बहुत वर्षों के बाद होती हैं अथवा बहुत बालक मर जाने के बाद कोई बचता है तो माता-पिता उसका भद्दा अथवा कटु अर्थ बोधक नाम रखते हैं। जैसे—राहू-मलु (राहू, क्रूर ग्रह), खोदिरो-मलु (खोदिरो = क्षुद्र: = गर्द्दभ:), बसरु-मलु (बसरु = प्याज), मिरिचू-मलु (=काली या हरी मिर्च), कौड़ो-मलु (कौड़ो = कटु) ।

दीर्घायु वाचक नाम—चिरकाल से प्राप्त संतति के दीर्घायु बोधक नाम भी रखे जाते हैं। जैसे—जीवतु-रामु (= जीवित:), जीवणु-मलु (= जीना), हूँदो-मलु (= भविष्य में भी रहनेवाला), जिअंदि-राइ (= जीता रहे) ।

'दत्त' अर्थ बोधक नाम—जिस प्रकार संस्कृत में विष्णु-दत्त, यज्ञ-दत्त आदि नाम हैं। उसी प्रकार सिंधी में भी हैं, परंतु वहाँ 'दत्त' के बदले दिनो, रख्यो और बख्श उपपद जोड़े जाते हैं। जैसे—माता-दिनो (हिंदी में 'मातादीन') देवी-दिनो,

गुरु-दिनो, उदेर-दिनो (उदेरो = जल देवता), राम-रख्यो (राम-रक्षितः), हरि-बख्श, गुरु-बख्श ।

कहीं 'दिनो' पद के 'दि' का लोप हो जाता है और केवल 'नो' बचता है । जैसे—उदेर-दिनो का उदे-नों, गुरु-दिनो का गु-नों, दूलह-दिनो का दूलह-नो ।

नक्षत्र संबंधी नाम—जब किसी लड़के या लड़की का जन्म आश्लेषा, मघा, ज्येष्ठा और मूल नक्षत्र में होता है तब प्रायः सत्ताइसवें दिन जब जन्म नक्षत्र आता है, शांति पूजन कर उस नक्षत्र का नाम रखा जाता है । केवल आश्लेषा नक्षत्र का नाम सिंधी में बदल गया है और उस नक्षत्र में जन्म लिए हुए बालक को हासो-मल और हासी-बाई कहते हैं । सिंधी में आश्लेषा का 'हासो' रूप कैसे बना, यह विचारणीय है ।

मघा, ज्येष्ठा और मूल नक्षत्र में जन्म लेनेवाले को क्रमशः मंघो (पुं०) मंघी (स्त्री), जेठो (पुं०), जेठी (स्त्री), मूलो (पुं०) और मूली (स्त्री) कहते हैं ।

दिन वाचक नाम—आदित्य का सिंधी रूप आदित और आदू होता है । इससे आदू-मलु नाम बना जिससे आदवाणी वंश चला ।

सिंधी में आदित्य का दूसरा रूप 'आरित' (– वारु) होता है । जिससे आरित-मलु नाम बना ।

मुसलमान आदित्य को 'आचरु' कहते हैं । उन में यह व्यक्ति नाम के रूप में भी मिलता है ।

सोम (- वार) से सिंधी में सोमो-मलु, सोमार्यो-मलु (थड़-प्रदेश में) मंगलु से मंगलु-दासु, बुधरु से बुधरु-मलु, बृहस्पति का सिंधी रूप 'विस्पति' है । इस पर व्यक्ति नाम नहीं मिला । बाकी 'गुरु' पर नाम है । जैसे—गुरु-दिनो, गुर्नो ।

शुक्र (- वार) को सिंधी में 'जुमो' कहते हैं । इससे हिंदू और मुसलमानों में समान व्यक्ति नाम बने हैं । जैसे—जुमन्-मलु, जुमन्-शाहु ।

शनि को सिंधी में 'छंछरु' (= शनैश्चरः) कहते हैं । यह व्यक्ति नाम में नहीं परंतु जाति रूप में मिलता है । जो शनिवार को दान लेता है उसको छँछिरी, छँछिर्यो कहते हैं ।

राहु से 'राहू-मलु' नाम बना है ।

महीनों पर नाम चैत्र से चेत्रू-मलु, चत्रू-मलु, चेट्रू-मलु नाम मिलते हैं । स्त्री-लिंगमें चेती-बाई, चेती बाई । ज्येष्ठ से जेठो-मलु, जेठी-बाई । श्रावण से सांवणु-मलु । मार्गशीर्ष का सिंधी रूप 'नाहिरी' है, इससे 'नाहिर्यो-मलु' नाम बना । पौष से पोहू-मलु । माघ से मंघो-मलु, मंघी-बाई । फाल्गुन से फगुणु-मलु नाम बने हैं ।

दैवत और प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम—अंबा से 'अंबी', अंबू (पु०) । अंबिका से अंबिका-दासु; आई (= माता) से आई-दासु; अर्जुन से अर्जनु, अजू,

ईश्वर से ईसरु-दासु; ईश्वरी से ईसरि; उद्धव से ऊधवु, उधो-मलु वा दासु; कृष्ण से किसिनु, किशिनु, किशिनो, किशू । कृष्णा से किशिनी, किशाँ । कृष्ण का प्राकृत रूप 'कण्ह' होता है, इससे कान्हु, कानु, कन्हैयो नाम बने हैं; केशव से केशवु, केशो, केसो । कुंत से कुंदो-मलु; कुंती से कुंदी, 'कर्ण से कर्णां-मलु', क्षेम से खेमो-मलु, खेमी बाई; गार्ग्य से गागू, गार्गी से गागी; गोविंद से गोबिंदु; गोपाल से गोपालु, गुवालु, गुवालो; गोप से गोपु, गोपू; गंगा से गंगा-बाई, गंगुल-बाई, गंगा-दासु; गोवर्द्धन से गोर्धनु, गोधू; घनश्याम से घनिशामु, घनिशो, घनो, गनो, गनू, घनू, नाम बने हैं ।

सिंधी में चंद्रिका-दासु, भवानी-दासु नाम हैं परंतु भवानी-शंकरु और गौरी-शंकरु नहीं ।

बृह० उप० (अ० ६, ब्रा० ३) में एक ऋषि का नाम है **चूलो-भागवित्तिः** । यह सिंधी हिंदुओं में आज भी मिलता है । जैसे—चूलो-मलु, चूला-रामु । 'भागवित्तिः' यह गोत्र नाम है । भगवान् पाणिनि कहते है (वृद्धाट्ठक्० ४।१।१४८।।) 'भागवित्ति' गोत्र केवल सौवीर देश में ही है । यद्यपि आज यह हिंदुओं में नहीं मिलता परंतु सिंधी मुसलमानों में यह 'भुगुटी' रूप में विद्यमान है ।

चंद्र का सिंधी रूप 'चंडु' है । इससे चांडूमलु अथवा चामुंडा से यह नाम बना है । चतुर्भुज का चतुरुभुजु; जय कृष्ण से जैंकिशिनु; जय से जेऊ; जयराम से जेरामु; त्रिविक्रम से टीकमु, (गुज० त्रीकम) टिक्यो, टेकू, टेक-चंदु; ठाकुर का ठाकुरु, ठाकू; त्रिलोक का तिलोकु; तीर्थ से तीर्थ-दासु, तीर्थि-बाई; द्रौपदी से दुरूपदी, द्रू, ध्रू, दुरु, धुरू नाम बने हैं; दमयंती से दमयंती और धमी (धर्म से नहीं); दामोदर से दामोदरु, दामो-मलु; धर्म से धमो, धमू, धमनु, धर्मू धरमु; स्त्रीलिंग में धर्म-बाई; नारायण से नाराइणु (पुं०), नाराइणी (स्त्री); नंद से नंदु, नंदू, नंदीरामु; नर्मदा से निर्बिदा; पार्वती से पारिपती, पारी, पारू; पद्मा से पदिमा, पदिली, पदो, पदू; परशुराम से परिसिरामु, परिसो; पुरुष से पुर्सू, पुरूसिनो-मलु; प्रह्लाद से पहिलाजु, पहिलू; भगवान् से भगवानु, भगवानी (स्त्री); भगवती का भगवंती, भाग, भागू (पुं० - स्त्री); भीष्म से भीखमु, भीखो, भीखू; भैरव से भेरू; भोज से भोजो, भोजू; भोजा से भोजी; मथुरा से मथुरो, मथुरी (स्त्री); मधुसूदन से मधुसूदनु, मधू; माधव से माधवु, माधो, माधू; राम से रामु, रामो, रामू,—रामनु; राघव से राघवु, राघो, राघू; रघु से रघू; राधा, राधिका, राधी, लक्ष्मण से लछिमणु, लछू, लछो, लखो, लखू; लक्ष्मी से लछिमी, लछी, लछाँ, लखाँ लखी (पुं० स्त्री); विष्णु से विशिनू, विशिनो, विशू, और स्त्रीलिंग में विशिनी, विशिना, बिशाँ; षड्भाषा चंद्रिका (सू० १।४।६६।) और प्राकृत-प्रकाश (१, सू० १२।) में विष्णु का प्रा० रूप 'वेण्हू' दिया है । सिंधी में यह 'वेहों' के रूप में विद्यमान है ।

यमुना से जमुना, जमिनी, पुं० लि० में जमुनो, जमुना-दासु; यज्ञ अथवा जगत् से जगु, जगो, जगू, जगनु; अवेस्ता के यस्न से जशनु-मलु; यशोदा से जसोतां, जसोदां, जसोदी, जसोती, जसी; स्थाणु से थाऊँ, थांवरु, थाइं (स्त्री)।

षड्भाषा चंद्रिका में (१।४।६।) स्थाणु का रूप 'खाणू, भी दिया है इसी से सिंधी खानू-मलु, खान-चंदु नाम बने हैं। अभिधान अनुशीलन में कृष्ण का रूपांतर 'खान' (कान्ह, कान, खान) दिया है। पेशावर और अफगान के वासी अपने नाम के पीछे 'खान' उपपद जोड़ते हैं। क्या मालूम कि संस्कृत के स्थाणु और कृष्ण के परिवर्तित रूप 'खान' से इसका संबंध हो।

सहायक ग्रंथ

१. सिंधी भाषा का संक्षिप्त परिचय : कृष्णचंद्र टोपणलाल जैतली, पूना, १६५७।
२. षड्भाषा चंद्रिका—लक्ष्मीधर, बांबे संस्कृत ऐंड प्राकृत सीरीज, संख्या ७१।
३. प्राकृतप्रकाश, वररुचि (भामहकृत—मनोरमा टीका) पं० पंचानन भट्टाचार्य-संपादित, कलकत्ता—१६२२।
४. अभिधान अनुशीलन : डा० विद्याविभूषण विभु, एम्० ए०, प्रथम संस्करण, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।

मातृका गाथाकोश के पाठभेद और बुद्धिरसायन विवरण

अगरचंद नाहटा

•

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के वर्ष ७१ अंक-२ में मैंने 'श्वेतांबर वीरचंद्र रचित मातृका शृंगार गाथा कोश' प्रकाशित कराया है—१७ वीं शताब्दी की ८ प्रतियों के आधार से। संग्रह में १६ वीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण गुटका और प्राप्त हुआ है। हमारे संग्रहस्थ गुटके में–जो सं० १५७० का लिखा हुआ है—यह रचना 'मातृका पाठ शृंगार-रस गाथा कोस' नाम से पत्रांक ६४ a से ६६ b में लिखी हुई है। इसकी लेखन प्रशस्ति (पुष्पिका) इस प्रकार है—

"लि० ऊदा कालानूर मध्ये। धवलगिरि समीपे ।। विनोदार्थं पुस्तकं नंदतु ।। संवत् १५७० वर्षे कार्तिक शुक्लपक्षे ।। त्रितीयायां तिथौ शुभं लेखक पाठकयोः ।।"

प्राचीन प्रतियों में पाठांतर कुछ न कुछ रहते ही हैं। कुछ तो लेखक की असावधानी जनित अशुद्धियाँ हैं, कुछ पाठ इस प्रति के शुद्ध मालूम देते हैं। अतः प्रकाशित पाठ से इस प्रति में जो अंतर हैं, यहाँ प्रजाशित किये जा रहे हैं।

इस प्रति में मंगलाचरण में 'हरि' के स्थान पर 'जिण' पाठ है जो कर्ता के जैन होने के नाते जिनेश्वर देव को नमस्कार करने का सूचक है। दूसरी महत्व-पूर्ण बात रचयिता के नाम संबंधी है। प्रकाशित पाठ में श्वेतांबर वीरचंद आया है जब कि इस गुटके में 'वीरभद्देण' स्पष्ट लिखा है, अतः इसके रचयिता जसभद्–यशोभद्रसूरि (मुणिंद) के पदभक्त वीरभद्र प्रमाणित होते हैं। 'पदभक्त' शब्द दीक्षित शिष्य एवं गृहस्थ श्रावक के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है, प्रमाणाभाव से नहीं कहा जा सकता कि ये वीरभद्र या वीरचंद उनके अंतेवासी साधु थे या श्रावक ?

वर्णाक्षरोंवाली एक अन्य रचना दिगंबर पंडित महीराज रचित और प्राप्त हुई है जो प्राकृत और अपभ्रंश में है। इस रचना का नाम 'बुद्धिरसायन' रखा गया है और यह ३ संधियों में विभक्त है। ऐलक पन्नालाल दिगंबर जैन सरस्वती भवन में इसकी प्रति है। जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

नं० १३५, सं० १५२

बुद्धि रसायण। कर्ता पं० महीराज

११ इंच लंबे ५।। इंच चौड़े पत्र सं० ३०। एक पृष्ठ में १० पंक्तियाँ है और एक पंक्ति में ४२ अक्षर हैं। ग्रंथ शुद्ध और पूर्ण है।

'ओं नमः सिद्धं' से प्रारंभ कर अ–आ–इ–ई–उ–ऊ–ऋ आदि अक्षरों को वेष्ठित कर यह उपदेश का बावनाक्षरी ग्रंथ अर्द्धमागधी भाषा में किया गया है। श्लोक सं० ८१२ है।

ग्रंथ का विषय बहुत ही हृदयग्राही है।

आदि मंगला चरण—

सिद्ध वधूमणरंजणह–परमणिरंजण देव।
तो तसि वंदहु भवियजण–दोसरहिउ मुणिहेव।
सरसति पणउ तुव चलण (चरण) सामहि करहु पसाउ
णमयरिवतु कहहु अऊ-भवि करि हिआणु राउ।

ओं—ओंकार रवि कहवुह—भासे जिणवर देव।
आगम वेद पुराण रुचि–चितह धसीयइ सेव।
ओंकार भणॅतु इह णासइ दुरिय अणंत।
सिद्धि हिं मंगलु बहु करहि जिणवर एम मणंति॥

इत्यादि ओंकार के दोहा हैं।

न—णमहि जिणेसर जेव णर मायामाणु जिणेइ।
कोहु लोहु भय परिहरइ सुख अणंत लहेइ॥ १२॥

म—मण वय काय तिसुद्धि करि जिणवर ज्झायउ जेण।
ते संसार ण परिभमइ सिद्धि लहंता तेण॥ १७॥
मणुवतणू दुह पाविकरि धम्मह करहि अब्भासु।
तव लगि जिणवर ध्यायउहु जव लगि हियइ उसासु॥

सि—सील धरहि संजमु गहइ दह विह धम्मु करेइ।
कम्मह सो विन वंधियइ चउगइ दुक्ख हरेइ॥
सील विणा कुलुकाइ बुह सावय सत्तविहीणु।
जिणवर धम्मह वहिरए निप्फल जाणु प्रवीण॥ २५॥

ध—धणु तणु परियण घर घरणि ये खवि गव्वइ कोइ।
अंजुलि ही के णीर जिम देखत धीजइ सोइ॥ २६॥
धणु परियणहि असार बुह मूढ़ न चेतहिं काँइ।
जीवत अप्पा जाणि तुहु भुव विहडंता जाइ॥ ३०॥

अ—अप्पा दंसण णाणु बुह अप्पा चरणु वियाणु।
सो ज्झायतह परमपउ बुह लभइ णिवास॥ ३६॥

ऊ—ऊजड सो घरू जाणि तुहु जिहि घर दाण न पुण्ण।
ते घरू मसाणह भासियउ वसतह ऊजड सुण्ण॥

इति ओं नमः सिद्धं बावन दोहा—प्रथम संधि। ८३ दोहा।

क—काइ बहुत्तप संपयइं जइ की विण घर होइ।
सयरणीर खारइ भरिउ पाणिउ पीवइ न कोय।।
तित्थह तित्थ भमेइ जिय धोवउ चम्म जलेण।
इहु मणु किमु धोएसि तुहू मइल उपाव मलेण।।
इति बावन दोहा बुद्धि रसायण—द्वितीय संधि। महीराज पंडितकृत
क्षीर समुद्र जल न्हावियउ जय-जय करहिं सुरिंदु।
गुरन दिगंबर इम भणइ पुञ्जइ आदि जिणिंदु।।
इति बुद्धि रसायणु ओं नमः बावन दोहा पंडित महीराजकृत तृतीय संधि।

नागोर के दिगंबर भट्टारक भंडार में मातृकाक्षर बावनीवाली बहुत-सी अज्ञात रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। गोपालगंज के प्रो० कृष्णप्रसाद मागध ने बावनी साहित्य पर महत्वपूर्ण शोधप्रबंध लिखा है। बावनी की तरह बारहखड़ीया, बावनियाँ आदि भी बहुत-सी मिलती हैं। इन सबका संग्रहग्रंथ प्रकाशित हो सके तो अच्छा हो।

अब सं० १५७० लिखित गुटके से मातृका गाथाकोश के पाठभेद दिए जा रहे हैं—

१. नमिऊण जिण > नमियहरि, मराल > मदाल।
२. ओचिट्ठइघरि, तुवदारं, ओलविय, वाहं > वाहु।
३. लहइ > लहई।
४. मयरपय > मयरद्धय जू।
५. सारस > सारह, कोमलुल्लावा > कोमलालावा। मुहय > सुहय।
६. वल्लहा, कुसमा, धरइ, तुव।
७. अमिय, समकओला, पभारा, तुयमुखं > तुअ सुक्खं।
८. आहादं, सिजओ सुंदर।
९. °मत्ता > °मित्ता, मित्तं च > मित्तंपि, तुव संसगं।
१०. तुव > तव, इसंपि > ईसंपि, नेइ > जेई, ईसा विसाय, तुहाकए > तुअकए।
११. उनय, ओमूलियहत्थ, उजल कवोल, तुव कये > तुअकए।
१२. पउमत्थी, विभमषण्डा, ए णत्थी तुव, एकाहमं।
१३. °सिहणा, °गावा, °तणया।
१४. °वालीय, लुलिय चितुरचया, कमलमयं > कलमलयं, जनेसः मरइ
१५. °वियढ जातए > °वियट जाव तए, दुबलंगी।
१६. °गलिय > °गञ्जिय, गयवइ गंधग्ग, तुव > तुअ।
१७. पीण तुंग > तुंग पीण, सिहणा, कवोला।

१८. मुह > सुह, चचरतिगेसुकीलइ ।
१९. कवोल, छपय, छड्डइ, तुव > तुम्र ।
२०. णच्चिछव्व, जय > जइ, कहव्व, तुढक्का ता ।
२१. झरंत, तुव ।
२२. ठालिज्जंतीय, पट्टेहिं, टकुकि ।
२३. ठकुर, तयलछी ।
२४. छलंत, डमरू मरिच्छ, °झालाहिं ।
२५. तुव, ढलुहलु रोवेइ दियडु तुव,
२६. न > ण, तुम्र > तुह, न > ण, गमणी ।
२७. तवं > तणं, तुय > तुह,
२८. थंभत्थडियव, थक्का > धक्का, तुझ ।
२९. वियमिय, दिसिय सरंति कंतिया भारा, दीण ।
३०. पफुल्ल, लुद्धा > लद्धा, पयदियहं सुवय पसयत्थी ।
३१. डसण सुन्हा > उसण जुण्हा, त्त सोहा, वयणा > नयणा, फुरइ, तीइ तुय > तीय लुम्र ।
३२. विसाला > विलासा, भवेइ > °ब्भवेय, बंदि षिवियास सुंदर ।
३३. मच्छंका, भाल > भमर, भमय, मुघ ।
३४. मुधा, त्थल > च्छल, समणगय मत्ता > मयण सामत्त तुमं सनइ > म्रइ सरूवा ।
३५. लखण, लडहगी जक्क कदमा ।
३६. डसण > उमण, वरकरिवरकुंभम घणट्ठा ।
३७. मज्झ, हरिवसह, हक्कारइ ।
३८. एवं > तीए, तीइ > तीय जंत जु वित्तं > जं च विढत्तं ।
३९. चथं सुकमे ।
४०. वाइ गय > वाइग, भत्तेण > भंत्तेहिं, सेयंबर वीर भद्देण ।

*

भारतीय चिंताधारा में मृत्युधारणा

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

मनुष्य के लिये मनुष्य ही समस्या और उसका समाधान है। उसके लिये जीवन सबसे बड़ा सत्य है जिसे लेकर वह नित्य नए भावना-जाल बुना करता है। इसी कारण उसके मन में स्वभावतः जीवन के प्रति आस्था, आसक्ति और अनुराग है। ऐसी दशा में मृत्यु की कल्पनामात्र भीषण और भयावह है। उस समय उसकी भयंकरता बढ़ कर अभिशाप बन जाती है जब वह जीवन-समाप्ति की संभावना सोचने लगता है। इस प्रकार उसके सामने एक प्रश्न-चिह्न-सा उपस्थित हो जाता है जिसको लेकर आदि युग से ही चिंतन, मनन और विचार किया जाता आ रहा है। परंतु अभी तक इसका कोई सर्वसंमत समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।

जन्मांतरवाद का सिद्धांत स्वीकार कर भारतीय मनीषा ने उपर्युक्त प्रश्न का एक समाधान ढूँढ निकालने का यत्न किया है। भोगवृत्ति के कारण हिंदूमत यद्यपि जीवन और पुनर्जीवन के बीच किंचित् व्यवधान मानता है, किंतु बौद्धमत जीवन के नैरंतर्य को स्वीकार करता है। बौद्धधर्म अपनी नैतिकताप्रधान दृष्टि के कारण मच्चु (मृत्यु) का पर्याय 'मार' तक को मानता है। जैन धर्म भी पाप-पुण्य, लोक-परलोक, और स्वर्ग-नर्क मानता है। परंतु कर्मफल को ईश्वराधीन न मानकर उसे स्वयं कर्मप्रेरित स्वीकार करता है। वह आत्मा को एक स्वतंत्र तत्व के रूप में शरीर जैसा समझता है जो नित्य तथा अभौतिक है। जब तक वह पौद्गलिक कर्मों से आबद्ध है तब तक संसार में है अन्यथा 'सिद्ध-शिला' पर वह स्थित हो जाता है। वैदिक दर्शन की भाँति आत्मा को न तो वह अमर तथा व्यापक मानता है, न बौद्ध दर्शन की तरह अनित्य अथवा क्षणिक की उपज। उक्त व्यवधान-काल में स्वर्ग-नरक का फल भोगना पड़ता है। 'गरुड़ पुराण' में लिखा है कि एक बार मधु दैत्य को मारनेवाले भगवान के प्रसंग में शौनकादि मुनियों ने सूत जी से पूछा—

> इदानीं श्रोतुमिच्छामो यम मार्गं भयप्रदम्
> तथा संसार दुःखानि तत्क्लेशादथ साधनम्।
> ऐहिकामुष्मिकान्क्लेशान् यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ४-५ ॥

अर्थात् 'अब त्रासदायक यम के मार्ग का वृत्तांत और संसार के दुःख तथा उनसे उत्पन्न क्लेशों के विनाश का साधन आपसे सुनना चाहते हैं। इसलिये इहलोक और परलोक के दुःखों का यथावत् वर्णन कीजिए।' हिंदूमत का यह विधान कदाचित् नैतिकता के आग्रहस्वरूप है जिसका मूल उद्देश्य नरकादि का आतंक जमाकर नैतिकता की ओर उन्मुख करना है।

परंतु सेमेटिक अथवा हेलेनिक प्रभाववालों का जंमांतरवाद में विश्वास नहीं है। वे जीवन का अंत मृत्यु में ही मानते हैं। यहूदीमत में पुनर्जन्म का प्रवेश-बाद में हुआ है वह भी नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के आरोप से। इस्लाम का 'मर्सिया' गान तो प्रसिद्ध है ही।

'ऋग्वेद' के 'ब्रह्मचर्य सूक्त' में 'आचार्यो मृत्युः' कहा गया है। यहाँ पर 'मृत्यु' का अभिप्राय आचार्य के प्रति अपने को निःस्व कर देना है। फिर 'ऋग्वेद' के ही १०।१४।७ तथा १०।१४।६ में यम, पितर और मृतक के उल्लेख मिलते हैं।

'कठोपनिषद्' में नचिकेता और मृत्यु देवता यम विषयक एक रोचक उपाख्यान आया है। यहाँ पर यम और मृत्यु समानार्थी है। मृत्यु के संबंध में नचिकेता स्वयं सोचता है—

> **अनुपश्य यथापूर्वं प्रतिपश्य तथा परे।**
> **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः॥ ६ ॥**

अर्थात् 'जो तुझसे पहले हो चुके है उन्हें देख, जो तेरे पीछे होंगे उन्हें भी देख। यह मरनेवाला मनुष्य अन्न की भाँति उपजता है और पककर नष्ट हो जाता है, और पुनर्जन्म लेता है।'

फिर भी नचिकेता को संतोष नहीं होता और वह यम देवता के घर जाता है। आवभगत के प्रसंग में यम से वर माँगने का प्रश्न उपस्थित होता है। इसपर वह तीन वरों में से तीसरा वर मृत्यु संबंधी शंका का समाधान माँगता है। परंतु यम देवता अनेक प्रलोभनों द्वारा इस प्रश्न को टाल देना चाहते हैं और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

> **देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।**
> **अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सीरति मा सृजैनम ॥२१॥**

अर्थात् बड़े-बड़े विद्वानों ने इस विषय में पहले जिज्ञासा की है। इस रहस्य का जानना सरल नहीं है। यह बड़ा 'अणुधर्म' है, सूक्ष्म विषय है। हे नचिकेता, कोई अन्य वर माँग। इस विषय के लिये मुझे वाध्य न कर, इस विषय को छोड़ दे।' परंतु नचिकेता का आग्रह दृढ़ बना रहने पर भी कोई सीधा समाधान नहीं मिल पाता।

'कठोपनिषद्' के द्वितीय अध्याय में ही कहा गया है—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १-१० ॥

अर्थात् 'जो वहाँ है, वही यहाँ भी है। एक परमात्मा अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त है। जो उनको नानात्व भाव से देखता है उसे मृत्यु के अधीन होना पड़ता है।'

'छांदोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के ग्यारहवें खंड में वृक्ष का रूपक बांध कर सत असत का विवेक कराने की चेष्टा की गई है। इसी प्रसंग में मृत्यु की चर्चा आती है—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति।
स य एषोऽणिमे तदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मातत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एवमा...

अर्थात् 'जब जीव शरीर से अलग हो जाता है तब शरीर ही मरता है, जीव नहीं। वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म तत्त्व है यह स्थूल जगत उसी का शरीर है, वह सत्य है। वह सत् ही आत्मा है। हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि', तू वह है—तू भी उसी की तरह सत् है, असत् नहीं।'

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में मृत्यु की चर्चा योग के प्रसंग में की गई है—

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिखले समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोग न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥२।१२॥

अर्थात् 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचात्मक भूतों को जब योगी सिद्ध कर लेता है तब ये जागृत होते हैं।' पंचभूतों को वश में करने के बाद योगी का शरीर योग की अग्नि से देदीप्यमान हो जाता है, उसे रोग नहीं सताता। उसे जरा और मृत्यु नहीं सताती। वह रोगहीन, जराहीन और मृत्युहीन हो जाता है।' इस प्रसंग में 'गीता' के आठवें अध्याय का दसवां श्लोक भी द्रष्टव्य है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात् 'भक्तियुक्त पुरुष अंतकाल में भी योगबल द्वारा भृकुटी के मध्य प्राण को अच्छी तरह स्थापित करके निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।'

'ब्रह्मपुराण' का भी स्वर 'गीता' के संतुलित विचार से मिलता-जुलता है—

धर्माधर्मौ जन्म मृत्यु सुख दुःखेषु कल्पना।
वर्णाश्रमास्तथावासः स्वर्गेनरक एव च॥
पुरुषस्य न सन्त्येते परमार्थस्य कुत्रचित्।
दृश्यते च जगद्रूप सत्यं सत्यवन्मृषा॥

अर्थात् 'धर्म-अधर्म, जन्म-मरण, सुख-दुःख की कल्पना और वर्णाश्रम में निवास स्वर्ग तथा नरक में सर्वत्र उपलब्ध है। परंतु जो परमार्थी पुरुष हैं उनके लिये ये नहीं हैं। सांसारिक रूप से ये सब असत् होकर भी सत् भासते हैं।' और आगे भी कहा गया है—

सर्पस्य रज्जुता नास्ति नास्ति रज्जौ भुजंगता।
उत्पत्ति नाशयोर्नास्ति कारणं जगतोऽपि च॥

अर्थात् 'सर्प में जिस प्रकार रज्जुता नहीं और रज्जु में भुजंगता नहीं, उसी प्रकार संसार की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं है।'

यहीं तक नहीं—

मृत्योः सकाशान्मरणादथवान्य कृताद्भयात्।
न जायते न म्रियते न वध्यतो न च घातकः॥
न बद्धो बन्धनकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः।
पुरुष परमात्मा तु यदातोऽन्यदसच्च तत्॥

अर्थात् 'उसे मृत्यु-भय नहीं सताता, न मारता, न बध करता अथवा बांधता, न मुक्ति प्रदान करता है। परम पुरुष परमात्मा से जो परे है वह असत् हैं। यहां पर 'गीता' के दूसरे अध्याय का बीसवां श्लोक तुलनीय है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात् 'यह आत्मा किसी काल में न जन्मता है, न मरता है अथवा न यह आत्मा होकर फिर होने वाला है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।'

फिर श्रीकृष्ण भगवान 'नियतिवाद' को लक्ष्य कर आगे कहते है कि हे अर्जुन, 'यदि तू इसे सदा जन्मने और सदा मरने वाला मानता है तो भी इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापित्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२।२६॥

'महाभारत' के 'शांतिपर्व' में पतिहीना कबूतरी का विलाप, गृद्ध तथा शृगाल का संवादात्मक वृत्तांत और सत्ययुगीन अनुकंपक राजा के साथ नारदमुनि का वार्तालाप इन सबके विषय मृत्यु से संबद्ध हैं। परंतु सर्वाधिक आकर्षक 'मृत्यु की उत्पत्ति' की कथा है। शोक संतप्त अनुकंपक राजा का दुःखद वृत्तांत सुनकर नारद मुनि ने कहा कि हे राजन् एक विस्तृत आख्यान सुनाता हूँ, उसे सुन। आदिकाल में तेजस्वी पितामह ने इस जगत की सृष्टि की। समागम द्वारा प्रजा तो बढ़ती गई, किंतु मरा कोई नहीं। इससे ब्रह्मा रुष्ट हुए और सारी सृष्टि को भस्म कर डाला। शिवजी ने बीच बचाव के उद्देश्य से कोप न करने का उनसे अनुरोध किया और साथ ही निवेदन किया कि प्रजा को समूल नष्ट न कर इसे जन्म-मरण-शील बना दिया जाय। उसी समय से ब्रह्माजी ने अनुरोध स्वीकार करते हुए प्रलयलीला का संवरण कर जन्म-मरण का विधान किया। एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसके शरीर पर लाल और काले रंग का वस्त्र था। उसके नेत्रों का निम्न और भीतरी भाग श्याम वर्ण का था। उसकी हथेलियाँ काले रंग की थीं उसके कानों में कुंडल थे। वह दिव्य अलंकारों से सुसज्जित थी। ब्रह्मा ने उसे निकट बुला कर उससे प्रजा का नाश करने को कहा। यह सुनकर वह विषादयुक्त हो गई और विलख पड़ी। परंतु आँसुओं को अपनी हथेली में ही रोक लिया, उन्हें नीचे गिरने नहीं दिया। फिर हाथ जोड़ नतमस्क हो वह ब्रह्माजी से त्रस्त भाव होकर कहने लगी कि हे ब्रह्मा, जिन लोगों ने मेरे प्रति कभी द्रोह नहीं किया उन निरपराध बालकों, तरुणों और वयोवृद्धों को भला मैं कैसे मार सकती हूँ। मैं पाप से डरती हूँ। मृत्यु की ऐसी बातों से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने विश्व की ओर देखा और उनके क्रोध का शमन हो गया। मृत्यु ने वहाँ से मायापुरी जाकर तप किया। फिर ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन्होंने पुनः प्रजा संहार करने की प्रेरणा उसे प्रदान की। परंतु उसने करबद्ध होकर निवेदन किया कि हे अविनाशी, मैं प्रजा का संहार न कर सकूँगी। इस पर ब्रह्माजी ने कहा कि हे मृत्यो, तेरे नेत्र से निकले जो आँसू मैंने देखे हैं, वे व्याधि रूप में प्राणियों का नाश करेंगे। तू काम-क्रोध की सहायता से उनका नाश कर। फिर तुझे पाप न लगेगा। इसके बाद मृत्यु ने अपना दायित्व संभाल लिया। इनके अतिरिक्त भी मृत्यु एवं बध संबंधी अनेक प्रसंग अनेकानेक ग्रंथों में आए हैं।

'ब्रह्मसूत्र' के अनिष्टादि कार्याधिकरण' के अध्याय ३ पाद १ में कहा गया है, **संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति दर्शनात् ॥ १३ ॥**

अर्थात् '——यमगृह में यम की यातना का अनुभव करके ही पापी जन गमनागमन करते हैं। क्योंकि 'अयं लोकोनास्ति' आदि श्रुति में यमाधीनत्व रूप तद्गति का दर्शन है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय चिंताधारा में मृत्यु को दार्शनिक दृष्टि से नगण्य ही समझा गया है। काव्य में यद्यपि वह भाव के अंतर्गत आती है तो व्यवहार में संस्कारों के भीतर उसकी गणना की जाती है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥१।११४॥

अर्थात् 'यह नाट्य दुःखी, समर्थ, शोक-संतप्त तपस्वियों और थके-माँदे लोगों को विश्राम देने वाला है।

फिर भी इसमें बध तक का विधान है—

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद् युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥१।१०८॥

अर्थात् 'कहीं धर्म, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शांति, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध संबंधी भावों का समावेश रहता है।'

भरत ने इनके अतिरिक्त 'मरण' को इकलातीस भावों के भीतर माना है। धनंजयकृत 'दशरूपक' में तो 'मरण' का वर्णन तक वर्जित है—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाचनोच्यते

अर्थात् 'यहाँ पर मृत्यु की परिभाषा नहीं बतलाई जा रही है। कारण, मरण को सभी जानते हैं और मरण एक अनर्थ होता है।' 'साहित्यदर्पण' भी मृत्युवर्णन का समर्थक नहीं है।

क्रौंच-वध द्वारा प्रेरित होकर आदि कवि वाल्मीकि को 'रामायण' की रचना करनी पड़ी। उसमें भगवान राम का संबोधन कर कहा गया है—

यथा मृतस्तथा जीवन यथासति तथा सति।
यस्यैव बुद्धिलाभः स्यात्परित प्येत केन सः ॥

—अयोध्याकांड १०६।४॥

अर्थात् 'जिसके लिये जैसा मरा वैसे ही जीवित प्राणी है अथवा जो समझ रहा हो कि यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या, न रहा तो क्या। ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिये संताप होने लगा ?'

अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' में मृत्यु संबंधी कई प्रसंग आए हैं। एक स्थल पर सिद्धार्थ से कहलाया गया है—

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्म मृत्युक्षयं किल।
अकृतार्थो निरारंभो निधनं यास्यतीति वा ॥६।५२॥

अर्थात् 'मैं जन्म मरण का विनाश करके लौटूंगा अथवा अकृतार्थ होकर मृत्यु वरण करूँगा।'

कालिदास कृत 'कुमारसंभव' के 'रतिविलाप' और 'रघुवंश' के 'अज विलाप' से प्रत्येक काव्य रसिक परिचित है। महाकवि का यह कथन अविस्मरणीय है—

तुलनीयः जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठेत श्वसन्यदि जन्तुर्नुनु लाभवानसौ॥८७॥

अर्थात् 'मरण शरीररधारियों के लिये स्वाभाविक है और विद्वानों ने जीवन को विकृति मात्र माना है। इसलिये यदि क्षणमात्र के लिये श्वास लेता हुआ जीव ठहर सके तो उसके लिए लाभप्रद है।'

बाणकृत 'हर्षचरित' में निम्नलिखित प्रसंग 'महाराज-मरणवर्णन' के क्रम में आया है—

प्रविशन्नैवच्च विपणिवर्त्मनि कुतूहलकुबहल बालक परिवृत्त-मूर्ध्वयष्टि विष्कम्भवितते वामहस्तवर्तिनि भीषण महिषाधिरूढ़ प्रेतनाथ सनाथे चित्रवति पटे परलोक व्यतिकरं इतर कर कलितेन शरकांडेन कथयतं यमपट्टिकं ददर्श॥१५३॥

अर्थात् 'बाजार में घुसते ही हर्ष ने एक यमपट्टिक को देखा। सड़क के लड़कों ने उसे घेर रखा था। बाएँ हाथ में ऊंची लाठी के ऊपर उसने एक चित्रपट फैला रखा था जिसमें भयंकर भैंसे पर चढ़े यमराज का चित्र अंकित था। दाएँ हाथ में सरकंडा लिए हुए वह लोगों को चित्र दिखाता और परलोक में मिलनेवाली नरक-यातनाओं का बखान करता था।' अन्यत्र कहा गया है कि यमपट्टिक लोग चित्र दिखाते समय जोर-जोर से कुछ कहते जाते थे (उद्गीतिका—१३८)।

पुराणों में रौरवादि सात नरक गिनाए गए हैं और इनके नाम रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुंभी, तामिस्रा और अंधतामिस्रा बतलाए गए हैं।

वास्तव में मृत्यु की गणना हिंदूमत में संस्कार के अंतर्गत की गई है। धर्मशास्त्रों में अन्य संस्कारों की भाँति इसे भी महत्व दिया गया है। सामान्यतः व्यासमत के अनुसार षोड़ष संस्कारों की चर्चा की जाती है। अंगिरा ने पचीस संस्कारों को गिनाया है। गौतम इनकी संख्या चालीस बतलाते हैं। परंतु शारीरक भाष्य के अनुसार यह संख्या अड़तालीस तक पहुँच जाती है। मनु धर्मशास्त्र के व्याख्याता जान पड़ते हैं। 'मनुस्मृति' के चौथे अध्याय में एक स्थल पर आता है—

एकः प्रजायते जन्तुरेक एक प्रलीयते।
एकोऽनुभुक्तं सुकृतमेक एक च दुष्कृतम् ॥२४०॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठ लोष्ट समं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥

अर्थात् 'प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला पाप-पुण्य को भोगता है। संबंधी लोग मृत शरीर को काठ और मिट्टी के समान भूमि पर छोड़ मुंह फेर कर घर चले जाते हैं। एक धर्म ही साथ जाता है।' जीवन की नश्वरता तथा प्रारब्धवाद का यहाँ निदर्शन हुआ है।

उपर्युक्त विचार परंपरा का प्रभाव भक्ति साहित्य में तीन रूपों में प्रतिफलित हुआ। जन्मांतरवाद का अधिकतर प्रभाव कबीरादि में और प्रारब्धवादका अधिकतर प्रभाव सूर तथा तुलसी आदि में लक्षित हुआ। बौद्धमत में स्वीकृत जन्मांतरवाद का प्रभाव भी अधिकतर निर्गुनिए संतों में ही उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त बाह्य सूफीमत प्रेरित एक चौथा रूप भी देखने में आता है जिसका मूल शामीमत में ढूढ़ा जा सकता है।

वास्तव में, हिंदूमतानुसार मृत्यु पुराने वस्त्र का त्यागकर नए वस्त्र धारण करने की प्रक्रिया जैसी है जब कि जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर नए शरीर को ग्रहण करती है। इसका निदर्शन 'गीता' के दूसरे अध्याय के बाइसवें श्लोक द्वारा किया गया है।

आधुनिक युग तक में रवींद्रनाथ ठाकुर ने मृत्यु को जिस रूप में दुलराया हैं, वैसा इधर शायद ही किसी ने किया हो। उनके लिये वह 'मृत्यु अमृत करे दान' की स्थिति तक पहुँच गई है। वास्तव में मृत्यु ही मरती है, जीवन नहीं। वह तो महाप्रलय तक बना ही रहता है।

*

के लिये किया जाता था। सर्जनात्मक गद्य कम लिखा जाता था। जो लिखा जाता था वह भी प्रायः पद्यानुकारी और तुकमय होता था।[2]

सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व की उर्दू गद्य की कुछ रचनाओं का नामोल्लेख किया जाता है। परंतु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। श्री हामिद हसन कादरी ने अपने 'दास्ताने तारीखे उर्दू' शीर्षक ग्रंथ में दर्द काकोदवी के वक्तव्य के आधार पर चौदहवीं शती के सैयद अशरफ जहाँगीर समनानी नामक कछौछावासी सूफी संत की १३०८ ई० में निर्मित एक गद्यरचना की चर्चा की है।[3] 'अखलाको तसव्वुफ' नामक इस पुस्तक का विषय आचार और सूफी मत बताया जाता है। 'कछौछा शरीफ' (अकबरपुर, अवध) के कुतुबखानों में उक्त रचना की कोई प्रति इस समय उपलब्ध नहीं है। जहाँगीर काल के नवाब ईसाखाँ नामक लेखक की भी 'किस्सए मेहर अफरोज वा दिलबर' शीर्षक कथात्मक रचना और 'नसीहतनामा' संज्ञक उपदेशात्मक रचना बताई जाती है।[4] प्रामाणिकता इसकी भी संदिग्ध है।

वस्तुतः उर्दू गद्य के प्राचीनतम नमूने चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के मुसलमान संतों के 'मलफूजात' (लिखित प्रवचनों) और फारसी ग्रंथों में फारसी वाक्यों के बीच यत्र तत्र प्राप्त होनेवाले हिंदुस्तानी वाक्यों और एक दो अभिलेखों के ही रूप में प्राप्त हैं। इन वाक्यों की भाषा ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी आदि से प्रभावित है।

'सियरुलऔलिया', खैरुलमजालिस, 'सुरूरुस्सुदूर' आदि मलफूजात संबंधी ग्रंथों में 'खोजा बुरहानुद्दीन बाला है', 'पौनूँ का चाँद भी बाला होता है', 'ए साबिर बरो भूखा', 'रह रह', 'तू मेरा गुसाईं तू मेरा करतार, मुझ इस तप थई छुड़ा', 'जो मुडासा बाँधे सो पाइन पसरे'... 'अरे मौलाना ये बड़ा हाँसी', 'भलो हुई बुरोमत हुई सबको प्यारो हुई', इस प्रकार के हिंदुस्तानी वाक्य मिलते हैं। हिन्दुस्तानी के ये वाक्य यदि लिपिकों द्वारा परिवर्तित नहीं किए गए हैं तो १४ वीं शती की भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। शब्दरू-

२. गार्सा द तासी ने अपनी पुस्तक 'लितुआतेर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' में उर्दू गद्य के तीन प्रकार बताए हैं—मुरव्वज, मुसज्जा या सज्आ और आरी मध्यकाल में गद्य के ये तीनों प्रकार प्रचलित थे। मुसज्जा (तुकमय गद्य) का प्रचार अधिक था। गद्य शैली प्रायः तुकमय और रंगीन होती थी।

३. दास्ताने तारीखे उर्दू (१९४१), पृ० १६।

४. निजाम कालिज हैदराबाद के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री आगा हैदर-हसन का कहना है कि इनकी प्रतियाँ उनके पास सुरक्षित हैं।

के लिये किया जाता था । सर्जनात्मक गद्य कम लिखा जाता था । जो लिखा जाता था वह भी प्रायः पद्यानुकारी और तुकमय होता था ।[2]

सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व की उर्दू गद्य की कुछ रचनाओं का नामोल्लेख किया जाता है । परंतु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है । श्री हामिद हसन कादरी ने अपने 'दास्ताने तारीखे उर्दू' शीर्षक ग्रंथ में दर्द काकोरवी के वक्तव्य के आधार पर चौदहवीं शती के सैयद अशरफ जहाँगीर सामनानी नामक कछौछावासी सूफी संत की १३०८ ई० में निर्मित एक गद्यरचना की चर्चा की है ।[3] 'अखलाको तसव्वुफ' नामक इस पुस्तक का विषय आचार और सूफी मत बताया जाता है । 'कछौछा शरीफ' (अकबरपुर, अवध) के कुतुबखानों में उक्त रचना की कोई प्रति इस समय उपलब्ध नहीं है । जहाँगीर काल के नवाब ईसाखाँ नामक लेखक की भी 'किस्सए मेहर अफरोज वा दिलबर' शीर्षक कथात्मक रचना और 'नसीहतनामा' संज्ञक उपदेशात्मक रचना बताई जाती है ।[4] प्रामाणिकता इनकी भी संदिग्ध है ।

वस्तुतः उर्दू गद्य के प्राचीनतम नमूने चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के मुसलमान संतों के 'मलफूजात' (लिखित प्रवचनों) और फारसी ग्रंथों में फारसी वाक्यों के बीच यत्र तत्र प्राप्त होनेवाले हिंदुस्तानी वाक्यों और एक दो अभिलेखों के ही रूप में प्राप्त हैं । इन वाक्यों की भाषा ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी आदि से प्रभावित है ।

'सियरुलऔलिया', खैरुलमजालिस, 'मुरूरस्सुदूर' आदि मलफूजात संबंधी ग्रंथों में 'खोजा बुरहानुद्दीन बाला है', 'पौनूँ का चाँद भी बाला होता है', 'ए साबिर बरो भूखा', 'रह रह', 'तु मेरा गुसाईं तु मेरा करतार, मुझ इस तप थई छुड़ा', 'जो मुड़ासा बाँधे सो पाइन परे'··· 'अरे मौलाना ये बड़ा होनी', 'भलो हुई बुरोमत हुई सबको भलो हुई', इस प्रकार के हिंदुस्तानी वाक्य मिलते हैं । हिन्दुस्तानी के ये वाक्य यदि लिपिकों द्वारा परिवर्तित नहीं किए गए हैं तो १४ वीं शती की भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । शब्दरूप

२. गार्सा द तासी ने अपनी पुस्तक 'लितुरातेर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' में उर्दू गद्य के तीन प्रकार बताए हैं—मुरव्वज, मुसज्जा या सज्जा और आरी। मध्यकाल में गद्य के ये तीनों प्रकार प्रचलित थे। मुसज्जा (तुकमय गद्य) का प्रचार अधिक था । गद्य शैली प्रायः तुकमय और रंगीन होती थी ।

३. दास्ताने तारीखे उर्दू (१९४१), पृ० १९ ।

४. निजाम कालिज हैदराबाद के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री आगा हैदर-हसन का कहना है कि इनकी प्रतियाँ उनके पास सुरक्षित हैं ।

इनमें आधुनिक रूपों से प्राय: अभिन्न हैं। इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि उस समय की बोलचाल की हिंदुस्तानी में फारसी अरबी के शब्द अधिक नहीं होते थे।

'बिहार में उर्दू जबानो अदब का इरतका' नामक पुस्तक के लेखक सैयद अख्तर अहमद ने भी चौदहवीं पंद्रहवीं शती के कुछ वाक्य उद्धृत किए हैं। इन उक्तियों में शुद्ध हिंदी के भी शब्द हैं। फारसी अरबी शब्द इनमें भी अत्यल्प हैं। प्राय: सरल प्रचलित शब्द ही प्रयुक्त हैं। कहीं कहीं 'सुहाइयाँ', 'ढाइयाँ', 'खाइयाँ' जैसे बहुवचन स्त्रीलिंग रूप भी हैं। इस पुस्तक में उद्धृत किए गए कुछ वाक्य हैं—'नाहीं क्योंकर हो नसबलागी बात, नाहीं अभै नाहीं अभै कुछ जो मन चिन्ता हो सु ती पाओगी', आईं रात सुहाइयाँ जिन कारन ढाइयाँ खाइयाँ', 'मइता मन निमोइनां शिरोमनि कहा होई इहई देधा बेदमानमि, 'न माना जीव इहां न रहना हुआ'।

इस पुस्तक में सोलहवीं शती के अंत का एक अभिलेख भी उद्धृत है जिसमें फारसी के साथ हिंदुस्तानी प्रयुक्त है। राजा मानसिंह संबंधी यह लेख 'बंगाल पास्ट ऐंड प्रेजेंट' नामक ग्रंथ (जिल्द ६५, १९४६–४७) से अवतरित किया गया है। इसमें 'करो' जैसे आधुनिक शैली के क्रिया रूप भी प्रयुक्त हैं। यदि यह प्रतिलिपि अथवा प्रकाशन की भूल नहीं है तो महत्वपूर्ण है। 'लीजियो' क्रिया भी व्यवहृत है। ब्रजभाषा रूप भी प्रयुक्त है। शब्द प्राय: फारसी अरबी के हैं।[५]

मौलवी अब्दुल हक ने भी अपनी 'उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा में सूफीआए कराम का काम' नामक पुस्तक में १५ वीं–१६ वीं शती के सूफी संतों के कुछ हिंदुस्तानी वाक्य उद्धृत किए हैं। ये वाक्य फारसी की विभिन्न पुस्तकों में फारसी वाक्यों के मध्य आते हैं। हक साहब द्वारा उद्धृत कुछ वाक्य हैं—'अर्जुन जी का ओना भाया होए तो तुजसे फकीरों की बरसों तें कन्नासी करे,' 'तुसां राजे, असां ख्वाजे,' 'रो पीटने खुदा कों पोंचे,' 'शह की चोट शकर की पोट,' 'भीकी बच्चा खुदा कोन मेले,' 'जिस चीज में ज़ोको शौक पाये उसे तर्क न देवे,' 'भोंडा होवे सो न ना करे,' 'अपनो कूं क्या कशफ़ होए या न होए,' 'काम क्या हुआ जो भूकों मुआ, 'भूकों मुए तें क्या खुदा कूं अँपड़या,' 'खुदा को अँपड़ने की इस्तादाद होर', 'में कहाँ या कधा रियाजत कीती,' 'जैसी तजल्ली पकड़े, तैसा इरादा देवे,'

५. इस लेख से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—'श्री महाराजाधिराज श्री मानसिंह जीओ···खलल मत करो—वो हरसाल परवाना तलब मत करो साल तमाम में फी बीगा मजरूआ पीछे सिक्का यक खालसा लीजियो औरो और कछु खलल मत करो श्री श्री ९९९ हिजरी—'बिहार में उर्दू०' (१९५७), पृ० १३०।

'अगर अबद की तजल्ली पकड़े अबदिअत इरादा देवे'।[6] इन उद्धरणों में दो पंजाबी के और कुछ दक्खिनी शैली के हैं, शेष उत्तरी हिंदुस्तानी के। इन वाक्यों से यह प्रकट होता है कि उस समय मुसलमानों के बीच प्रचलित हिंदुस्तानी में भी फारसी-अरबी के शब्द अधिक नहीं होते थे। वाक्यरचना और रूपरचना आधुनिक भाषा के काफी निकट है। 'पंजाब में उर्दू' के लेखक ने 'जवाहर फरीदी' नाम के १६ वीं शती के ग्रंथ से 'आँख आई है' वाक्य उद्धृत किया है।[7] इस वाक्य से प्रतीत होता है कि १६ वीं शती तक हिंदुस्तानी अपने आधुनिक रूप के पर्याप्त निकट आ गई थी।

अकबरकाल के और उससे पूर्व के कुछ हिंदुस्तानी कागजों की भी सूचना मिलती है। श्री ब्लैकमैन के कलकत्ता रिव्यू के किसी अंक में प्रकाशित लेख के आधार पर पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि टोडरमल के समय तक मालगुजारी का कार्य हिंदी (हिंदुस्तानी) में होता था।[8] बाबू ब्रजरत्नदास 'खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' शीर्षक पुस्तक में लिखते हैं कि माल विभाग की कबूलियतें सं० १९२५ तक हिंदी में लिखी जाती रहीं।[9] बाबू राधाकृष्णदास ने 'मुसमलानी दफ्तरों में हिंदी' शीर्षक लेख[10] में लिखा है—'महाजनी के कागजों को टोडरमल ने हिंदी में जारी रक्खा...औरंगजेब काल तक हिंदी दफ़्तरों में चलती रही।' ये कागज इस समय अप्राप्त हैं।

उर्दू गद्य के १७वीं शती के भी दो तीन ही नमूने उपलब्ध है, वे भी इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध के। इनमें एक तो १६७४ ई० की 'सीधा रस्ता' शीर्षक रचना है। दूसरा १६८३ ई० का एक 'किबाला'—अनुवाद है और तीसरा प्रणामी संप्रदाय के 'मारफत सागर' संज्ञक ग्रंथ का 'हकीकत' नामक परिचय है जो किसी केशोदास द्वारा सन् १६९४ ई० में लिखा गया था। प्रथम दो की भाषा पूर्वी हिंदी से प्रभावित है। परंतु तृतीय में प्रायः शुद्ध हिंदुस्तानी प्रयुक्त है। सत्रहवीं शताब्दी के कुछ हिस्तानी पत्र भी बताए जाते हैं। 'ओरिएंटल कालिज मैगजीन' (अगस्त, १९३१ ई०) में प्रकाशित एक लेख में कहा गया है कि शाहजहाँ ने दाराशिकोह और प्यारे शुजा को नागरी लिपि और हिंदुस्तानी भाषा में पत्र लिखे थे। इन

६. उर्दू की इब्तदाई० (१९३६), पृ० २०, २१, २५, २६।
७. पंजाब में उर्दू, तृ० सं०, पृ० ३००।
८. हिंदी पर फारसी का प्रभाव (१९३७), पृ० ४३।
९. खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास (सं० १९९८), पृ० १७१।
१०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका-दूसरा भाग (१८९८), पृ० ११८।

पत्रों की चर्चा 'मुगल और उर्दू' (सैयद नसीर हुसेन खाँ-लिखित) में भी मिलती है। ये पत्र चतुर औरंगजेब द्वारा पकड़ लिए गए थे। इनके संबंध में औरंगजेब के शब्द हैं—'बखते हिंदवी दर जुबाने अहले हिंद अज दस्तखते खास।' ये पत्र इस पोथी को प्राप्त नहीं हो सके हैं।

सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध की एक महत्वपूर्ण हिंदुस्तानी रचना इमादुद्दीन कलंदर कृत 'सीधा रास्ता' (अपर नाम 'सिराते मुस्तकीन') है। इस रचना की प्रति खानकाह इमादिया, (फुलवारी शरीफ) मंगल तालाब, पटना सिटी से उपलब्ध हुई थी। यह पुस्तक 'रिसाला मियार' (पटना) में प्रकाशित हो चुकी है। 'बिहार में उर्दू०' के लेखक ने भी इसका उल्लेख किया है।[११] १६७४ ई० में लिखित इस पुस्तक में सात लघु 'फसलों' (अध्यायों) में इस्लाम की आवश्यक ज्ञातव्य बातें वर्णित हैं। इस्लाम को सीधा रास्ता कहा गया है। रचना शुष्क शिक्षात्मक है। भाषा पर पूर्वी प्रभाव पर्याप्त है। पूर्वी उच्चारण वाले 'बहेन', 'ऊन के', ऊस, दुसरा, घोरा (बुरा) 'अउर' 'बहुत' इत्यादि शब्दों के अतिरिक्त 'बनाइन हैं' ऐसी पूर्वी क्रियाएँ और 'सब की अल्लाताला', 'धड़बदन मेंटी से बनी हैं,' 'सब ऊन्हीं बनाइन हैं' ऐसे पूर्वी प्रयोग भी विद्यमान हैं। फारसी अरबी के क्लिष्ट अप्रचलित शब्द नहीं हैं। अधिकतर सरल व्यवहारिक भाषा लिखी गई है। शब्दावली, रूपविधान और वाक्यरचना तीनों दृष्टियों से इस पुस्तक की भाषा उर्दू की अपेक्षा हिंदी के निकट है। वर्तमान सामान्य काल में 'होवे है', 'सके है' ऐसे तिङन्त पदों के अतिरिक्त 'जाता' ऐसे कृदंत भी प्रयुक्त हैं। 'ऐसा', 'दिखलाना' इत्यादि आकारांत शब्द और 'जैसे थे वैसे ही हैं और वैसे ही रहें' इस प्रकार के खड़ी बोली शैली के प्रयोग पर्याप्त हैं।

इस पुस्तक से एक स्थल उद्धृत किया जाता है—'अम्माबाद पस जानो ए मुसलमान बहेन अऊर बेटी सबकी अल्लाताला एक हैं ऊनके तई धड़बदन हाथ अऊर पांव नाख कान पेट पीठ कुछ नहीं है। धड़ बदन मेंटी से बनी हैं व मेंटी पानी आग हवा सबके तई तो आपी बनाइन हैं, आसमान जमीन पहाड़ नदी दरिया सब ऊन्हीं बनाइन हैं'''उनके तई सूरत भी नई है। सूरत बदन की होवे है जब उनके तई बदन नई तो सूरत कैसे हो सकी अल्लाताला के ऐसा कोई नहीं है अऊर नहीं (नई) हो सके है। अल्लाताला का कोऊ शरीक साथी संघाती नहीं है अऊर नहीं हो सके है'''।[१२]

११. बिहार में उर्दू जबानो अदब का इरतका (१९५७), पृ० ३४८।
१२. वही, पृ० ३४८।

मुगलों के शासनकाल में मालविभाग में और संभवतः अन्यत्र भी हिंदुस्तानी में भी लिखापढ़ी होती थी। बाबू राधाकृष्णदास ने अपने एक लेख में औरंगजेब-काल का एक किबाला-लेख उद्धृत किया है जो सन् १६८३ ई० में बनारस की किसी अदालत में लिखा गया था।[१३] इस लेख की भाषा पर बनारसी प्रभाव तो है ही, फारसी का भी स्पर्श है। अनेक संज्ञापद और विशेषण फारसी के हैं। शब्दक्रम में भी फारसीपन है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया पूर्वी शैली पर कर्त्तरि है और उसका कर्ता कहीं सप्रत्यय है, कहीं अप्रत्यय। सर्वनामरूप, कारकचिह्न और क्रियापद पूर्वी और खड़ी बोली दोनों शैलियों के हैं। इनका प्रयोग कहीं कहीं अशुद्ध है। यथा—'खरीदारी बोही जमीन का किया।' शब्द रूपों में वैविध्य है। 'किया'-'कीया', 'हुआ',-'भा' दोनों प्रकार के रूप प्रयुक्त हैं। संज्ञाएँ प्रायः तद्भव हैं। शब्दों की एक विशेष प्रवृत्ति आदि या मध्य की 'इ' के स्थान पर 'ई' होना और 'स' के स्थान पर 'श' होना है। यथा—बीरादरी, तीशका, हाजीर, पहीले, कीआ। भूतकाल की पुंलिंग एक वचन प्रेरणार्थक क्रिया 'वा' प्रत्ययांत है। यथा—'बैठावा', 'करावा'। अन्य महत्वपूर्ण शब्दरूप हैं—अधिकरण का चिह्न 'मो' और पूर्वकालिक कृदंत 'होई कै।'

लेख के प्रारंभ में समयनिर्देश के साथ उन व्यक्तियों के नाम लिखे हुए हैं जिन्होंने अदालत में उपस्थित होकर बयान दिया था। आगे भूमिक्रय की चर्चा है। इस लेख का आरंभिक अंश और आगे के कुछ वाक्य उद्धृत किए जाते हैं—

'शंवत १७४० समें फागुन सुदी ६ तमुमी पुरुषक (?) करे बीकरै करै करता महाराज रघुनाथ सुत बीसेसर दास का पोता बीकरै करता सुरजन शाही कन्हई सुत रामभदर का पोता बा राज साही आनन्दराम सुत टोडरमल का पोता बा राम परसाद मचकूर का बेटा रामदास का पोता...दारूल अदालती बलदै महमदाबाद उर्फ बनारस मों हाजीर होई के बयान किया...हमारे हीशा मों हुआ...बोही जीमीन मजकूर मों बैठावा—बोही पर काबीज था अब महाराज मजकूर ने खरीदारी बोही जमीन की कीया तब बोही जीमीन का मोल करावा मोल भा—'-(ना० प्र० पत्रिका-दूसरा भाग, १८९८ ई०, पृ० ११९-१२०)।

'मारफत सागर' का परिचय—प्रणामी संप्रदाय के 'मारफत-सागर' ग्रंथ का 'हकीकत' संज्ञक यह 'पुस्तक-परिचय' १६९४ ई० का होने के कारण पर्याप्त

१३. ना० प्र० पत्रिका के दूसरे भाग (१८९८) में प्रकाशित 'मुसलमानी दफ्तरों में हिंदी' शीर्षक लेख, पृ० ११८। किबाले तो फारसी में होते थे परंतु उनके साथ हिंदी अनुवाद भी रहता था।

महत्त्वपूर्ण है।[१४] इस लेख की भाषा प्रायः फारसीपरक है। फारसी अरबी के शब्द तो इसमें हैं ही, फारसी शैली का शब्दक्रम भी है। अनेक विशेषण विशेष्य के बाद हैं, संबंध कारक के सर्वनाम संबंधित संज्ञा के पीछे हैं, कई क्रियाएँ कर्म और कर्ता के पूर्व हैं और परसर्ग पुरसर्गवत् प्रयुक्त हैं-'श्री किताब मारफत सागर। जो हकताला के हुकम सें पेंदा हुई। हादी के दिल पर आप बेठे कें × × मोमिनों ने इसके बाव बाँधे हैं। माफ़क अपनी अकल के, हरफ हरफ के माएनें मगज जाहिर के और बातुन के लेय के—सो दिषाए दई रूह की नजर सों रूह मोमिनों की ने कह्या है ('कुलजमस्वरूप'-पत्र ४०२) माफक अकल अपनी के—लेंएगे दिल अरस में—जिनके दिल अरस में सूरत षुदाए की (वही-पत्र ४२८)।

फारसी-वाक्य-शैली के स्पर्श के कारण वाक्यों में प्रायः वक्रता और अस्पष्टता है। वाक्य अधिकतर लघु हैं। मिश्र और संयुक्त वाक्य भी प्रयुक्त हैं। कुछ वाक्य लंबे भी हैं जिनमें क्रिया के दूर होने के कारण दुरूहता उत्पन्न हो गई है 'ज्यू'-'त्यू' वाले क्रियाविशेषणोपवाक्य और 'जो'-'तिनमें' वाले विशेषण उपवाक्य अधिक प्रयुक्त हैं। वाक्य के आदि में 'और' संयोजक बारबार आता है भूतकाल की सकर्मक क्रिया प्रायः कर्मणि है। कुछ विचित्र अशुद्ध प्रयोग भी मिलते हैं—यथा-'इस आलमना सूत सेती कूच करके', 'आराम पकड़े', 'इस चोपाइयों के', 'किस वास्ते के हक के हुकम में हादी के कदमों कदम धरेंगे', 'एपर जो चोपाई हादी ने फरमाई थी', 'हादी के अंगनू अलस्तर हुकुम का' (पत्र ४०२); 'फेल में ल्यावेंगे' (पत्र ४२८)। यद्यपि रचना फारसी-शब्द-प्रधान है, संस्कृत के भी कुछ शब्द प्रयुक्त हैं जो प्रायः अर्धतत्सम या तद्भव हैं—यथा-आषर, बिधों, जाग्रत, साष (पत्र ४२८)। फारसी-अरबी शब्द भी प्रायः अतत्सम हैं। शब्दरूप ब्रजभाषा और पूर्वी हिंदी के भी हैं। संज्ञा के विकारी बहुवचन रूप ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों शैलियों के हैं। 'आँ' विभक्ति वाले रूप नहीं हैं, 'ओं' और 'न' वाले रूप हैं—यथा-'मोहों से', 'चोपाइयों के', 'बातुन के' (पत्र-४२८)।

सर्वनामरूप कुछ तो पुराने ढंग के हैं, कुछ आधुनिक रूपों के निकट हैं—ए, सो, इसके, तुमकों, तिनकों, इनोंको, तिनमें, जो, जिनसों, अपना, सबका, कैयों, सोई (पत्र ४०२)। संबंध कारक और अंशतः कर्ता अधिकरण के अतिरिक्त शेष कारकों के चिह्न ब्रजभाषा और पूर्वी हिंदी के हैं—ने, नें, कों, वास्ते, सें,-सेती-सों, का-के-

१४. यह ग्रंथपरिचय लखनऊ की अमीरुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी में सुरक्षित 'कुलजम स्वरूप' (कलजम शरीफ़) नामक विशाल पोथे में पत्र ४०२ और ४२८ पर इस पोथे की 'मारफ़त सागर' संज्ञक पुस्तक के आरंभ और अंत में है।

की, पर, लों। विशेषण भी प्रायः तद्भव हैं। आकारांत विशेषणरूप भी हैं—यथा—'जादा'।

क्रियारूप मध्यकालीन शैली के हैं। इनमें आद्यक्षर बहुधा दीर्घ है। वर्तमान सामान्य काल के पुंलिंग एक वचन क्रियारूप प्रायः अकारांत हैं। वस्तुतः इस लेख में वर्तमानकाल के क्रियारूप बहुत कम हैं। इन रूपों में मध्य में प्रायः वकार है—यथा—'बुलावत हैं' (पत्र—४३८)। संभाव्यभूत के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं—'जाग्रत हुई होए,' 'षडी होए' (पत्र–४३८)। भूतकाल (पूर्णकाल) के क्रियापद प्राय; भूत कृदंत से निर्मित हैं जो पु० एक व० में 'या' प्रत्यय वाले हैं—कह्या,-कह्या हे (४०२), षोल्या, लिष्या हे (४२८)। आधुनिक हिंदी जैसे आकारांत रूप भी हैं - पंकड़ा (४०२), हुआ (४२८)। बहुवचन में ये एकारांत हैं— लिषे, रहे, बांधे हैं, उतरे हैं, बैठे हैं, पधारे हे, आए थे (४०२) अन्य रूप हैं—भविष्यत्–धरेंगे (४०२) लेंएगे, विचारंगे, ल्यावेंगे, देवेगा होएगी, मिलहें (४२८), संभाव्य भविष्यत्–रहें (४०२) लिषों (४२८); संयुक्त क्रिया आवते गए, सुनते गए, होता गया, होती गई थी, षोल दीए हैं, दिषाए दई, (४०२–४२८); विधि–देवें, उड़ावें (४१८); पूर्वकालिक–करके, लेयकें, लेके, करकें (४२८); षोलकें, बाध कर (४२८) प्रेरणार्थक—केहेवाई (४०२); नाम-धातु-क्रिया—विचारेंगे (४०२)। अव्यय प्रायः सभी मध्यकालीन ढंग के हैं—ज्यू, त्यू, त्यूही, अंगन, आंगे से, ओर, अर, किस वास्ते के, जरूर, सो, तले।

अठारहवीं शताब्दी का उर्दू शैली का गद्य पर्याप्त परिमाण में प्राप्त है। इस शताब्दी की मुख्य हिंदुस्तानी-गद्य-रचनाएँ हैं—'करबल कथा' और उसकी भूमिका, सौदा कृत 'कुल्लियात' की भूमिका और मीर की मसनवी 'सोलए इश्क' का गद्य रूपांतर, मीरजाफर जटल के 'कुल्लियात' का गद्य, किसी अज्ञातनामा लेखक का 'रिसाला हजार मसाइल', जहूरल हक कृत 'रिसालए नमाज', 'किस्सए चहार दरवेश' का तहसीन कृत अनुवाद, मीर शेरअली अफसोस का 'बागे उर्दू', 'नल दमन' का इलाहीबख्श कृत अनुवाद, 'आर्टिकिल्स ऑव् वार' का अनुवाद और ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्रकाशित इश्तहार और आईनें। एक चिकित्सा विषयक ग्रंथ और लघु कहानियोंका एक संग्रह भी प्राप्त है। इस समय का गद्य प्रायः फारसी-निष्ठ और अलंकृत है, विशेषकर पुस्तक-भूमिकाओं और कथात्मक ग्रंथों का गद्य। तुक की प्रवृत्ति भी मिलती है। परंतु उपयोगी विषयों की पुस्तकों और इश्तहार-आइनों में भाषा अधिकतर सरल, व्यावहारिक तथा तुकमुक्त है। रचनाएँ स्वतंत्र और अनूदित दोनों प्रकार की हैं।

मुहम्मदशाह के समय में फारसी और संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद हिंदी और हिंदुस्तानी में हुआ था। कवि फजली की 'दहमजलिस' या 'करबल

कथा' इसी समय की (सन् १७३३ ई० की) रचना है। फजली के कथनानुसार यह हिंदुस्तानी का प्रथम अनुवाद है।[१५] 'करबल कथा' काशिफी की फारसी रचना 'रौजतुश शुहदा' के किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए संक्षिप्त रूपांतर का उर्दू-भाषांतर है। फजले अली फजली ने इसे तर्जुमा कहा है परंतु यह अविकल अनुवाद नहीं है। इस पुस्तक की भूमिका भी फ़जली ने लिखी थी। इसका कहना है कि बेगमें हिंदुस्तानी में मसिये पढ़ना चाहती थीं, इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर उन्होंने यह भाषांतर प्रस्तुत किया—

'...लेकिन माने उसके (वाकआ शहादत शाहकरबला) औरतों की समझ में न आते थे और फ़िकरात पर सोज व गदाज इस किताब मजकूरा के बसबब लुग़ात फारसी उनको न रुलाते थे। अक्सर औक़ात बादे किताबख्वानी यह सब कहतीं कि सदहैफ व सद हजार अफसोस जो हम कमनसीब इबारत फारसी नहीं समझते और रोने के सबाब से बेनसीब रहते हैं। ऐसा कोई साहेब शऊर होवे कि किसी तरह मिनबअन हमें सकझावे और हम से बेसमझों को समझाकर रुलावे। मुझ अहकरे अहकर की खातिर में गुजरा कि अगर तरजुमा इस किताब व रंगीन इबारात और हुस्ने इस्तआरात हिंदी करीबुलफहम और आम्बाय मोमनीन व मोमनात कीजिए... तो बड़ा सवाब लीलिए।

स्पष्ट है कि फजली की भाषा निबिड़-फारसी और तुकमय है। उसने अपने इस अनुवाद की भाषा को 'हिंदी' कहा है। परंतु उसकी 'हिंदी' आधुनिक हिंदी के नहीं, उर्दू के निकट है। फजली के गद्य में फारसी-निबिड़ता और तुकांतता सर्वत्र नहीं है। सरल व्यावहारिक भाषा भी उसने लिखी है—

'एक मर्तबा एक शख्स मेरे ही साथ का आया उसने कहा कि भाई और आशना तुम्हारे सब सवार हो गए और तुम अब लग यहीं बैठे रहे बल्कि तुम्हारी सवारी का घोड़ा भी गया ज्यों मैंने सुना कि घोड़ा गया खुश हुआ उसे जहाब दिया कि भला हुआ गया लेकिन मैं तो यहाँ से न गया हूँ न जाऊँगा।[१६]

१५. लखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उर्दू प्राध्यापक श्री रिज्वी के पास इसकी भूमिका की प्रतिलिपि इस लेखक नें देखी थी। गिलक्राइस्ट-कालीन 'तबकाते शुअराए हिंद' शीर्षक तज्किरा में भी इस रचना का उल्लेख और उद्धरण प्राप्त होता है। नसीर हुसेन खाँ के 'मुगल और उर्दू' शीर्षक ग्रंथ में भी इसकी भूमिका का उद्धरण मिलता है। इसमें मुहर्रम के दस दिनों में पढ़े जाने वाले दस अध्याय होने से इसे 'दहमजलिस' और करबला की कथा से संबद्ध होने से 'करबलकथा' कहा गया है।

१६. 'करबल कथा' की भूमिका, 'तबकाते शुअराए हिंद', पृ० ६०।

उस समय को देखते हुए और हिंदुस्तानी गद्य का प्राथमिक (अथवा प्राचीन) प्रयास होने से फजली की रचना का महत्व है। फारसी शैली का शब्दक्रम तथा समासविधान, फारसी उच्चारण के अनुसार वर्तनी और फारसी-अरबी-शब्दावली का समावेश अधिकांश में है। संज्ञा बहुवचन के रूप भी प्रायः फारसी शैली के हैं। फजली कहीं तो आवश्यक शब्दों का प्रयोग करता है और बहुत सरल, सादा तथा संक्षिप्त हो जाता है, कहीं शब्दजाल और तुकबंदी की छटा दिखाता है। वाक्य अधिकतर लंबे हैं। भूतकाल की सकर्मक क्रिया प्रायः कर्त्तरि है और उसका कर्ता अप्रत्यय---यथा, 'तब आप जबाने एजाज बयां से फरमाए।' शब्दरूप भी आधुनिक उर्दू के समान हैं। ब्रजभाषा शैली के कारक-प्रत्यय और शब्दरूप भी यत्र तत्र हैं। फजली की भाषा से स्पष्ट है कि १८वीं शती की हिंदुस्तानी में भी 'किसू', 'अबलग', 'आवें', 'होवे', 'होय' ऐसे रूपों का स्थान था।

अठारहवीं शताब्दी के मीरजाफर जटल (अथवा जटल्ली) नामक लेखक के 'कुल्लियात' में पद्य के साथ गद्य का प्रयोग प्राप्त होता है। जटल्ली इंशा अल्ला की भांति मौजी प्रकृति के लेखक थे। इनकी रचनाओं में गालियों तक का प्रयोग हुआ है। जटल्ली का भी गद्य फारसी मिश्रित है परंतु फजली के गद्य की अपेक्षा सरल है। सौदा के 'कुल्लियात' की भूमिका में प्रयुक्त गद्य भी प्रायः फारसीनिष्ठ, अलंकृत और तुकमय है। इस कारण वह क्लिष्ट, कृत्रिम और प्रायः निर्जीव है— 'जमीरे मुनीर पर आईना वाराने मआनी के मुबरहन हो कि महज इनायत हक्के तआला की है जो तूतीए-नातका शीरीं सखन हो। पस ये चन्द मिसरे कि अज कबीले-रेख्ता ब रेख्ता खामा दो जबान अपनी से सफहए कागज पर तहरीर पाये।

उद्धृत गद्यांश में हिंदी अथवा हिंदुस्तानी के शब्द थोड़े-से ही हैं। केवल कुछ कारक-प्रत्ययों, दो एक संज्ञाओं, सर्वनामों और क्रियापदों के ही कारण यह रचना उर्दू गद्य मानी गई है। स्पष्ट है कि अठारहवीं शती में हिंदुस्तानी को फारसीनिष्ठ बना देने के प्रयास प्रारंभ हो गए थे। सौदा ने मीर की मसनवी 'सोलए इश्क़' की कथा भी फारसीपरक गद्य में रूपांतरित की थी।

'पंजाब में उर्दू' के लेखक ने 'रिसाला हज़ार मसाइल' नामक रचना का उल्लेख किया है।[१७] इस पुस्तक में 'को' का स्त्रीलिंग बहुवचन 'किआं', 'होगी' का स्त्री बहुव० 'होगियां', 'छपती' का 'छपतियां' और होती का 'होतियां' है। इस प्रकार के रूप पंजाबी में ही नहीं, राजस्थानी, दक्खिनी और पुरानी खड़ी बोली की

१७. 'पंजाब में उर्दू' (तृतीय सं०) पृ० ३६८। यह ग्रंथ संभवतः फारसी से अनूदित है। रचनाकाल १८ वीं शती का अंत है।

भी रचनाओं में मिलते हैं। 'बिहार में उर्दू०' के लेखक ने भी जहूरुलहक़ नाम के बिहारी लेखक के कई रिसालों की चर्चा की है।[१८] ये १७९४ ई० के आस पास लिखे गए थे। जहूरुलहक की कुछ पुस्तकों के नाम हैं—'रिसालए नमाज़', 'रिसालए फजाइल रमजान', 'रिसाला फ़ैज़ाम', 'रिसाला कस्बुननबी'। इनमें प्रयुक्त भाषा पर पूर्वी प्रभाव है।[१९]

मीर मोहम्मद अता हुसैन खाँ 'तहसीन' का 'किस्सए चहार दरवेश' का अनुवाद प्रसिद्ध है। यह अनुवाद अत्यंत फारसीनिष्ठ भाषा में है। यह अनूदित रचना, जिसका नाम 'नौतर्जे मुरस्सअ' है, अमीर खुसरो की फारसी रचना 'किस्सए चहार दरवेश' का भाषांतर है जो १७९८ ई० के लगभग किया गया था। भाषा-शैली क्लिष्ट है। इसमें फारसी के ही नहीं, अरबी के भी बहुत से शब्द आए हैं। रंगीनी और तुक की सज्जा भी है। 'तहसीन' की रचना के फारसी-अरबीमय होने के ही कारण गिलक्राइस्ट को इसका दूसरा भाषांतर मीर अम्मन से कराना पड़ा था।

इस पुस्तक का मुद्रण बंबई से सन् १८४६ में और कानपुर से १८७४ में हुआ था। और भी अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। एक अंश उद्धृत किया जाता है—

'कौन साथ दुख्तरे रौश (न) अरूज अपनी की जल्वा अफरोज तहत अरूसे का किया और ख्वाजा जादा यमनी को साथ दुख्तरे सुल्तान शाम के कुतखुदर किया और बादशाहे फारस को साथ शाहजादी मुल्के बुसरा के मुनअकिद किया।'[२०]

१७९८ ई० के आसपास की तीन कथात्मक पुस्तकें और प्राप्त हैं। एक है फैजीकृत 'फारसी नलदमन' का शेख इलाहीबख्श शौक कृत अनुवाद, दूसरी है मीर शेर अली अफ़सोसकृत 'बागे उर्दू' और तीसरी है झाझर के नवाब फैजअली खाँ द्वारा संगृहीत लघु कहानियों (टेल्स) और लतीफों की पुस्तक। प्रथम पुस्तक ११२ पत्रों की है। उसके कर्ता इलाहीबख्श मूलतः आगरा के निवासी थे। बाद में फरुखाबाद चले गए थे। दूसरी पुस्तक (बागे उर्दू) शेखसादी के 'गुलिस्ताने शीरोज़' का अनुवाद है। तीसरी संग्रहकार फैजअली नवाब अब्दअल रहमान खाँ के पितामह थे। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में ७४२ लघु कहानियाँ हैं। शेष दो में कुछ कम हैं। कहानियाँ अधिकतर शिक्षात्मक हैं। उनके साथ प्रायः कहावतें दी गई हैं। इनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल और

१८. बिहार में उर्दू० (१९५७), पृ० ३४९–५०।

१९. इनके पिता का नाम मीर बाकिर खाँ शौक़ था। ये इटावा के निवासी थे। जनरल स्मिथ के साथ ये कलकत्ता रहे। फिर पटना और अंत में नवाब शुजाउद्दौला की सेवा में फैजाबाद में इनका जीवन बीता।

२०. नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता की प्रति, पृ० १३१।

व्यावहारिक है। यह ग्रंथ ब्रिटिश म्यूजिअम के संग्रहालय में सुरक्षित है। 'बागे उर्दू' की भी भाषा सरल है।

अठारहवीं शताब्दी का हिंदुस्तानी शैली का व्यावहारिक और उपयोगी गद्य भी प्राप्त है जिसमें फारसी अरबी का प्रभाव कम और तुक की प्रवृत्ति का अभाव है। इस प्रकार के गद्य की एक चिकित्सा विषयक रचना, एक अनूदित सैन्यदंड-पुस्तक और कुछ इश्तहार-आईनें उपलब्ध हैं।[२१] चिकित्सा विषयक रचना ब्रिटिश म्यूजियम के संग्रहालय में सुरक्षित है। रोग औषधि-विषयक एक संग्रहग्रंथ के मध्य लिपिबद्ध दवा और जादू विषयक यह हिंदुस्तानी रचना तीन 'बाबों' (अध्यायों) और चालीस 'फसलों' (उपभागों) में विभाजित है। प्रथम 'बाब में पच्चीस संक्षिप्त 'फसलों' में साधारण रोगों का विवरण, उनकी चिकित्सा की चर्चा के साथ दिया गया है। दूसरे बाब में पाँच 'फसल' हैं जिसमें विशेष नुस्खों को तैयार करने की विधि, अग्निकर्म तथा गंधनिर्माण और स्त्रीसबंधी शारीरिक विकारों पर टिप्पणियाँ लिखित हैं। तीसरे 'बाब' में दस 'फसल' हैं जिनमें जादुओं का उपयोग, भूतों आदि को भगाने के मंत्र और सर्प एवं बिच्छू के विष के निवारण के उपाय लिखे गए हैं। पंजाबी शब्द भी प्रयुक्त हैं। रचना का नाम और रचयिता अज्ञात है।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की व्यावहारिक हिंदुस्तानी के नमूने के रूप में विलियम स्टाक कृत 'आर्टीकिल्स आव् वार' का अनुवाद काफी महत्वपूर्ण है। इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना के तत्कालीन सैनिक दंडों का उल्लेख है। इसकी भाषा फारसी अरबी के शब्दों और फारसी शैली के शब्दक्रम से युक्त होने पर भी सरल है और आधुनिक हिंदुस्तानी के निकट है। पूर्वी उच्चारण वाले शब्द और ब्रजभाषा के भी प्रयोग हैं। अठारहवीं शती तक के हिंदुस्तानी गद्य की प्रायः यही अवस्था है। साधारण व्यवहार की हिंदुस्तानी फारसीपरक होने के साथ ब्रजभाषा और पूर्वी हिंदी आदि निकटवर्तिनी भाषाओं से भी प्रदेशानुसार प्रभावित थी। प्रयुक्त शब्द क्लिष्ट या अप्रचलित नहीं हैं—'तेरहवीं आईन इगारवें बाब को—जो कोई उहदेदार या सिपाही दुश्मन के सामने कूचाल करके भागे या बेगैरती से किसी गढ़ को थाने या चौकी पहरे को कि जिसके थामने का उसे हुक्म है छोड़ जावे या ऐसी बातें कहे कि जिनसे और लोग वैसी ही कुचालें करें या फतह के बाद सरदार या थाने को लूटपात के वास्ते छोड़े और जो कोई ऐसा गोनहगार तहकीक की रू से ठहरेगा तो वोह लश्करी हुक्मों का न मानने वाला गिना जाएगा

२१. इंशा कृत 'दरियाएलताफ़त' भी १८०० ई० के आसपास की रचना है। यह फारसी में है। परंतु इसमें तत्कालीन हिंदुस्तानी के उदाहरण दिए गए हैं।

और वोह कत्ल होगा या यसी और सिग्रासत ज्यसी कोर्ट मार्शल में ठहरेगी पावेगा।'
—(द ओरिएंटल लिंग्विस्ट, पृ० १४४)।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा कलकत्ता गजट (जुलाई २१, १७९६, जिल्द २५ नं० ६४७) से उद्धृत एक 'ईस्तहारनामा' का यह अंश भी द्रष्टव्य है। इसकी भी भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा के निकट है—'साडे तीन लाख ऐक रुपैया आरकाट चलन मछली बंदर का सन हाल माह अकतुबर के ३१ तारीख ईग्रा उसके आगे बंदर मजकुर के बड़े साहेब वो कौसली साहेबों के पास दाखील करने का दरखासत सम लीफाफे पर मोहर कीग्रा हुग्रा ईहांके सकरतरी साहेब दफतरखाने में आज से सन हाल अगस्त महीने के २९ तारीख सोमवार के अँगरेजी दस घड़ी तक लीग्रा जाएगा...।[२२]

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में फोर्ट विलियम कालिज, हैलेबरी ईस्ट इंडिया कालिज तथा अन्य विद्यालयों में और विद्यालयों के बाहर कथात्मक एवं अन्यविध उर्दू गद्य का विशाल परिमाण में निर्माण हुआ। स्कूल बुक सोसाइटियों की प्रेरणा से विविध विषयों की पाठ्यपुस्तकें लिखी गईं। समाचारपत्रों का भी प्रकाशन होने लगा। फोर्ट विलियम कालिज के गिलक्राइस्ट, जेम्स मोअट, टेलर आदि प्रोफेसरों की प्रेरणा से फारसी, अरबी, संस्कृत और ब्रजभाषा से दर्जनों ग्रंथों का अनुवाद और रूपांतर किया गया। कथाग्रंथों के अतिरिक्त इतिहास, धर्म, नीति, जीवनी, व्याकरण आदि विषयों पर बहुत से पाठ्यग्रंथ तैयार किए गए।

उक्त कालिज से संबद्ध प्रमुख हिंदुस्तानी-मुंशी और उनके विशिष्ट ग्रंथ हैं—मीर बहादुर अली—'नस्रे बेनजीर', मीर हसन की मसनवी 'सहरुल बयाँ' का रूपांतर—शाहजादा बदरे मुनीर और शाहजादी मिरहे मुनीर की प्रेम कथा, 'अखलाके हिंदी' (हितोपदेशकथा), 'नक्लियाते लुकमानी', 'तारीखे आशाम', 'कुरान'—अनुवाद; शेर अली अफसोस—'बागे उर्दू', 'आराइशे महफिल'; मीर अम्मन—'बागोबहार', 'गंजे खूबी'; हैदर बख्श हैदरी—'किस्सा लैला औ मजनू', 'आराइशे महफिल', 'हफ्तपैर', 'तोता कहानी', 'किस्सए मटरोमाह', 'तारीख इ नादिरी', 'गुलशने शहीदाँ', 'गुलजारे दानिश', 'गुलशने हिन्द'; काजिम अली 'जवाँ'—'शकुंतला', 'सिंहासन बत्तीसी' (लल्लूलाल जी के साथ लिखित), 'तारीखेफरिश्ता' के एक भाग का अनुवाद; मजहर अली खाँ 'विला'—'बैताल पच्चीसी' 'माधोनल' (लल्लूलाल जी के साथ लिखित), 'हफ्त गुलशन', 'तारीखे शेरशाही' 'जहाँगीरनामा'; शेख हफीजुद्दीन—'खिरद अफरोज'; खलील अली खाँ 'अश्क'—'दास्ताने अमीर हम्जा' का अनुवाद, 'किस्सए रज्वाँ' मी० अमानत उल्ला—'अखलाके जलाली' का अनुवाद; गुलाम हैदर—'गुल ओहुरमुज'; बेनी

२२. आधुनिक हिं० सा० की भूमिका (प्रथम सं०), पृ० ३२८।

नारायन 'जहाँ'—'चार गुलशन'; निहालचंद लाहौरी—'किस्सए गुल बकावली'। ये पुस्तकें १८०० से १८१३ ई० के बीच प्रकाशित हुई थीं। भाषा इनको अधिकांश में उर्दूशैली की है। इनमें फारसी अरबी के शब्द और परसर्ग तो हैं ही, बहुवचनविधि, समासरचना और शब्दक्रम भी अधिकतर फारसी शैली का है।[२३]

फो० वि० कालिज से संबद्ध इस समय (१८०२ ई० के आसपास) के कुछ भाषणात्मक लेख (थीसिस) भी प्राप्त हैं। ये हैं—बेली कृत 'हिंदुस्तान में कारवाई के लीए हिंदी जबान और जबानों से जीआदः दरकार है', रोमर रचित 'ममालिक हिंद की जुबानो की असल बुनियाद संस्कृत है' और टर्नबल का 'पूर्वी भाषाएँ इंगलैंड की अपेक्षा भारत में अधिक सफलता और उपयोगिता से पढ़ी जाती है' विषय पर लिखित लेख। ये भाषणात्मक लेख आधुनिक निबंध के पर्याप्त निकट हैं। उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध की निबंधशैली की और भी उर्दू रचनाएँ प्राप्त हैं। बाइबिल के अनुवाद और ईसाई मत विषयक लेख तथा पुस्तकें भी काफी संख्या में प्राप्त होती हैं। समाचारपत्र उर्दू में हिंदी की अपेक्षा कुछ पहले प्रारंभ हो गए थे। उर्दू का प्रथम समाचारपत्र 'जामे जहांनुमा' है जो १८२२ ई० में प्रकाशित हुआ था। उल्लिखित सभी क्षेत्रों में उर्दू गद्य उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक प्रतिष्ठित हो चुका था। १८६८ ई० के आसपास से उर्दू में उपन्यास भी लिखे जाने लगे थे।

हिंदी गद्य की भाँति उर्दू गद्य का भी विकास तुकमयता, आलंकारिकता और क्लिष्टता-कृत्रिमता की स्थिति से शुद्ध गद्यत्त्ता, सरलता और स्वाभाविकता की ओर हुआ है। १८५० ई० से पूर्व का उर्दू गद्य तत्कालीन हिंदी गद्य की भाँति अधिकांश में सानुप्रास और काव्याभास है। उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण से यह प्रवृत्ति क्षीण होने लगती है। शब्दावली और वाक्यरचना सत्रहवीं शती के बाद से प्रायः फारसीनिष्ठ रहने लगी थी। आठारहवीं शताब्दी का उर्दू गद्य अधिकांश में, फारसीनिष्ठ और क्लिष्ट है। उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य में व्यावहारिक भाषा की ओर झुकाव दृष्टिगत होता है। फारसीनिष्ठता कहीं कहीं अब भी है। परंतु गद्य की प्रवृत्ति अधिकांशतः सहज सरल शब्दविधान की ओर हो रही थी। हिंदी गद्य के समान उर्दू गद्य में भी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से मौलिकता, कलात्मक सौष्ठव, विषयवैविध्य और रूपबाहुल्य का विकास हुआ।

*

२३. फोर्ट विलियम कालिज से बाहर की ये पुस्तकें भी उल्लेखनीय हैं—दिल्लीवासी अजमत उल्ला नियाज कृत 'किस्सा इ रंगीन गुस्तर' (१८११, शाहजादा हुमायूँ बख्त और एक गंधविक्रेता की पुत्री मिह्र चिहरा की प्रेमकथा) और गुलाम मुहम्मद कृत 'हश्त बहिश्त' का गद्य-पद्यमय अनुवाद (१८२१)।

'वंशभास्कर' और इतिहास

आलम शाह खान

भारतीय इतिहासपरंपरा

पुरातनता और परंपरा के बीच बिंदु और रेखा का संबंध है। पुरातन देश होने के नाते भारत सहज ही परंपराप्रिय रहा है। भारतीय तत्वचिंतक मनीषियों और साधक ऋषियों ने अपनी युग-युगीन धर्म और संस्कृति की धाराओं को अजर-अमर बनाने के लिये जो प्रयास किए हैं वे आज 'आर्ष ग्रंथों' के रूप में हमारे समक्ष हैं। वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रंथ, रामायण, महाभारत आदि ज्ञान-राशि के अक्षय कोष हैं। ये ही उनके धर्मग्रंथ हैं, ये ही दार्शनिक आलेख, ये ही उनके इतिहास, ये ही काव्यकृतियाँ और ये ही उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान और कला के भंडार। भारतीय मस्तिष्क की इस 'समन्वयात्मक-बुद्धि' ने उन्हें कभी खंड-दृश्यों में नहीं उतरने दिया, अपितु समस्त जीवन को एक इकाई के रूप में ग्रहण कर उससे संबद्ध तमाम तथ्यों को एक ही स्थान पर संग्रहीत करने के लिये प्रेरित किया है। यही कारण है कि आज का वैज्ञानिक और विश्लेषणवादी मस्तिष्क जब किसी एक दृष्टिकोण से इन भारतीय ज्ञानकोशों (संहिताओं) का अवगाहन करता है तो खिन्न हो उठता है। इतिहासकार जब इन वीथियों में प्रविष्ट होता है तो उसे इतिहासपादप पर कला और साहित्य की शाखाएँ, गणित-ज्योतिष आदि के किसलय, दर्शन के पुष्प एवं धर्म पुरुषार्थ-चतुष्टयादि के फल चित्र-विचित्रताओं के सहित दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें देखकर वह तुरंत निर्णय दे देता है कि 'भारतीयों में इतिहासविवेक' था ही नहीं।[1]

भारतीय कल्पना में इतिहास का स्वरूप

'वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया।'[2]

१. मैकडानल : संस्कृत लिटरेचर, पृ० १०; पार्जीटर : एंशिएंट हिस्टारिकल ट्रैडिशंस, पृ० २।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल (तृतीय-संस्करण), पृ० ७७।

भारतीय आचार्यों ने 'इतिहास' शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है वह आज के 'इतिहास-दर्शन' से सर्वथा भिन्न है। भारतीय दृष्टि में—

(क) जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेशों से समन्वित एवं पूर्व वृत्तांतों की कथा से युक्त है, उसे इतिहास कहेंगे।[3]

(ख) पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सब इतिहास हैं।[4]

इस प्रकार भारतीय विचारधारा में इतिहास का विषयांचल बड़ा विस्तीर्ण है जिसमें नाना विषय-विधाओं का समाहार है—वह किसी एक सीमारेखा में आबद्ध नहीं। इसमें तिथियों और घटनाक्रम की ओर ध्यान नहीं है, किंतु जन-जीवन के चित्रण को विशेष महत्व दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे यहाँ इतिहास, आज की परिभाषा में आनेवाले 'विशुद्ध इतिहास' की भांति व्यतीत वंशावलियों और पूर्वघटित तथ्यावलियों के आधार पर विगत युग का लेखाजोखा मात्र नहीं रहा है। इससे आगे बढ़कर वह और भी बहुत कुछ है।

ऐतिहासिक काव्य

'महाभारत' को इतिहास-पुराण कहते हुए[5] जो यह कहा गया है कि 'इस ग्रंथ में इतिहास और पुराण का मंथन करके उसका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में स्वतंत्र इतिहासलेखन की परंपरा नहीं रही। इसी तथ्य को लक्ष्य करते हुए विंटरनित्ज् ने कहा है कि 'भारत में पुराण तत्व (मिथ्स), निजंधरी कथाओं तथा इतिहास में भेद करने का कभी प्रयास नहीं किया गया। भारत में इतिहासलेखन का अर्थ महाकाव्य

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितं ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।।—महाभारत

४. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः ।
—कौटिल्य, अर्थशास्त्र १।१५।१४

५. द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ।। महा० १।१२

६. इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।। महा० १।६३

लिखने से भिन्न नहीं माना गया।[७] इतिहास को काव्य से समन्वित करने की इसी प्रवृत्ति ने ऐतिहासिक काव्यपरंपरा को जन्म दिया है जिसका प्रशस्त रूप संस्कृत के बाणकृत हर्षचरित (७वीं शती) कल्हण, रचित राजतरंगिणी (११२७-११४५ ई०) में दृष्टिगोचर होता है। इसी परंपरा के अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ 'पृथ्वीराज-विजय', 'जयंत विजय', 'हम्मीरमदमर्दन', वसंतविलास, कीर्तिकौमुदी आदि हैं।

'समसामयिक राजाओं के नाम से संबद्ध रचना सातवीं शताब्दी के पहले की नहीं मिली। बाद की शताब्दियों में यह बहुत लोकप्रिय हो जाती है और नवीं-दसवीं शताब्दी में तो संस्कृत प्राकृत में ऐसी रचनाएँ काफी बड़ी संख्या में मिलने लगती हैं।'[८] पालि का वंशसाहित्य[९] अपभ्रंश के चरित्रकाव्य और डिंगल-पिंगल में रचित रासोग्रंथ इसी परंपरा के विकसित रूप हैं।

इतिहास और काव्य

इतिहास और काव्य में बड़ा अंतर है। एक का उत्स जहाँ तथ्य और शुद्ध-सत्य है वहाँ दूसरे का भावना और कल्पना। एक वास्तविक सत्य का आश्रय लेता है तो दूसरा संभाव्य सत्य लेकर चलता है।[१०] काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से भिन्न—काव्य के उद्देश्य अर्थात् रसानुभूति का सत्य है—भावनाओं का सत्य है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक में सुनाई पड़ती है।[११] पोएटिक्स में इतिहास और काव्य का अंतर स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने भी कहा है—

'द ट्रू डिफरेंस इज़ दैट वन रिलेट्स ह्वाट हैज़ हैपेंड, द अदर ह्वाट मे हैपेन, पोएट्री देयरफ़ोर इज़ मोर फ़िलासाफ़िकल ऐंड हायर थिंग दैन हिस्टरी, फ़ार पोएट्री टेंड्स टु एक्सप्रेस द यूनिवर्सल, हिस्टरी द पर्टीकुलर्स।''

ऐतिहासिक काव्य में कवि इतिहास का आश्रय तो ग्रहण करता है, परंतु वह केवल ऐतिहासिक घटनावली अथवा तथ्यावली का कोरा ब्योरा उपस्थित नहीं करता।[१२] अपितु वह ग्राहक ऐतिहासिक विवरणों को अपनी कल्पना की खराद पर चढ़ाकर उसे अपने उद्देश्यानुरूप बना लेता है। इस प्रकार कवि स्वयं स्रष्टा होता

७. विंटरनित्ज : ए हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर, भा० २, पृ० २०८ तथा आगे।

८. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४।

९. डा० भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५४७।

१०. डा० जगदीशचंद्र जोशी, प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४५।

११. वही, पृ० ४५।

१२. न हि कवि रीतिवृत्तमात्र निर्वहणेन किंचित्य प्रयोजनम्—इतिहासादेव तत्सिद्धेः।—आनंदवर्धन, पृ० ८।

है जबकि इतिहासकार एक द्रष्टा अन्वेषक। एक का लक्ष्य जहाँ भावोद्वेलन-रस-चर्वण है वहाँ दूसरे का तथ्यप्रतिपादन एवं विगत संपादन।

क० मा० मुंशी इतिहासकार की 'स्वानुभव' से प्रेरित सरसता को कारण मानते हुए इतिहास को साहित्य की कलात्मक कृति कहते हैं।[१] किंतु इतिहास को हम ठेठ रूप में 'कलाकृति' स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि अंततोगत्वा इतिहासकार का लक्ष्य शैली-सौष्ठव और भावालोड़न न होकर तथ्यप्रतिपादन और सत्य-कथन ही रहता है। स्वयं श्री मुंशी इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—इतिहासकार की कल्पना और सर्जना को अतीत ऐतिहासिक प्रभावों का कठिन बंधन स्वीकार करना पड़ता है।[१४]

वंशभास्कर : एक काव्यमय इतिहास

इतिहास और काव्य के इस अंतर-विश्लेषण के प्रकाश में यदि वंशभास्कर का अध्ययन करें तो हमें विदित होगा कि वंशभास्कर विशुद्ध काव्यकृति अथवा ऐतिहासिक काव्य न होकर एक काव्यमय इतिहास (पोएटिक हिस्ट्री) है और सूर्यमल्ल इतिहासज्ञ कवि (पोएट हिस्टोरियन)। वंशभास्कर में कवि का उद्देश्य केवल काव्यरचना नहीं रहा। अपितु विविध राजवंशों के इतिहास और वर-विद्याओं का निरूपण करना रहा है। उसने इसे इतिहासज्ञान के विश्वकोश के रूप में उपस्थित किया है। यही कारण है कि इसमें काव्यात्मक स्थलों का किसी प्रकार अभाव न होते हुए भी अनेक ऐसे स्थलों की भरमार है जिन्हें काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कवि ने स्वयं ग्रंथ के प्रारंभ में वस्तुनिर्देश करते हुए कहा है '······ **महारावराजेन्द्र रामसिंहा तद्वंशवर्णननीत नियोग······' वंशभास्करऽभिध विविधबाहुजवंशविभक्तिविशिष्टवदनीय वरविद्याविषयकः**।-वंश० १।१।

इससे स्पष्ट है कि कवि को अपने आश्रयदाता रामसिंह से किसी काव्य-ग्रंथ-निर्माण की नहीं अपितु वंशवर्णन अर्थात् इतिहासवर्णन (लेखन) की आज्ञा मिली है—('रचो नृपगिरा करि बंस प्रबंध'—बंस० ६७।५)—इसी लिये ग्रंथ का मूल विषय क्षत्रियों के विविध वंशों का कथन है—वर-विद्याओं आदि का निरूपण गौण है।

कवि ने स्वयं अपनी कृति को 'अनल बंस उत्पत्ति कृति' (वंश० ८६।८६) कहते हुए उसकी रचना का मूल लक्ष्य हाड़ा वंश (चवान वंश) वर्णन बतलाया है—

> [अ] **हाडा ग्रंथ निदान है, सो सब मुख्य सुबोध।**
>
> —वंश० १२६७।४१

१३. क० मा० मुंशी, आदि वचनो, पृ० १६०।
१४. वही, पृ० १६०।

[आ] **अथ बंस कहियत अखिल ग्रंथ हेतु जस गेह ॥**
—वंश० १४०६।६१

[इ] **अक्खहिं ग्रंथ निमित्त अब उरथ बंस अधिकाई।**
—वंश० १४०।८१

ग्रंथ का नाम 'वंशभास्कर' भी वंशों के इतिहास को प्रकाशित करने के कारण ही है—

बंस प्रकासक ग्रंथ यह कवि कुल पूरन काम।
जानहु याको सुकविजन बंसभास्कर ही नाम ॥—वंश० १५३।१२

इस 'बंस-प्रकासक' ग्रंथ का अधिकांश अर्थात् इसके १२ अंशों में से आठ अंशों में 'बंस विधिनानानृपन चरित' अर्थात् वंशक्रमानुसार अनेक राजाओं के चरित आलिखित हैं और शेष चार अंशों में पुरुषार्थ की गणना है—

वंश चरित बिच अट्ठ रवि पुरुषार्थन बिच चार। —वंश० १५३।१५

इसी लिये विद्या आदि विषयों को हमने गौण कहा है।

'नाना नृपन चरित' और उनके इतिहास से संबंधित सामग्री कवि को विविध स्रोतों में उपलब्ध हुई है।[15] इस प्राप्त सामग्री को वंशभास्करकार ने अपनी कल्पना के सांचे में ढाल कर अपने भावानुरूप किसी अभिनव काव्यमूर्ति का निर्माण नहीं किया है अपितु यथालक्ष्य क्रमानुसार उनको लेखबद्ध करके एक सच्चे इतिहासकार के धर्म का निर्वाह किया है—

तथ्य नह्व कथितव्य तो अप्पहिं ध्रुव अवनीस।
कबहु सुकवि अनृत न कहत, सहत जदपि दुख सीस ॥
—वंश० २३७७।२०

सूर्यमल्ल इतिहासकार के रूप में

सूर्यमल्ल 'एकमेव तथ्य' का वक्ता है और सत्य-कथन-हेतु शीश-बलि करने को भी प्रस्तुत हैं। उसे किसी से बैर या प्रीति नहीं है—

कितहु राम प्रभु स्वीय कवि, बंधै प्रीति न बैर ॥—वंश० २३७७।१

इसी लिये वह बिना जाने किसी पर ऐब नहीं रखता, यद्यपि भले-बुरे सब वंशों में होते हैं—

बुरे भले सब बंस में होत नरनाह।
पै बिनु जानें काहु पर रक्खन ऐब न राह ॥—वंश० ११४१।४५

१५ द्रष्टव्य, टीकाकार का वक्तव्य, पृ० ३-५।

वह किसी की बुराई नहीं चाहता, सत्य ही उसे इष्ट है और बुरे को भला कहना वह ब्रह्महत्या समझता है—

कानि चहे नहि काहुकी, सुकवि कहे इक सत्य।
मानि देवों दुष्टहिं भलो, व्हेवो सद्विज हत्य॥

—वंश० ११४१।४६

उसे तथ्य ही अभिप्रेत हैं—

तथ्यहि प्रिय लागत तिनहिं अनृत करि न आस।—वंश० २३७७।३

यही कारण है कि छोटी से छोटी बात के लिये वह कल्पना करना नहीं चाहता—

जाको कुल न लिख्यो नगर जनक अरु नाम।
किम हम तहं कल्पित लिखैं आने धर्महिं जाम॥

—वंश० १२२०।४१

यदि कहीं वह ठीक वस्तुस्थिति का निर्णय नहीं कर सका है तो जो बात उसे जैसी मिली वैसी ही लिखकर स्पष्ट कह दिया है—

... ...

जिम मागध बंदी जपत, अक्खैं तिम हम एस॥ ५०॥
कहैं इम न ता किम कहैं, इक्खयो लेख न और।
रीति कछुक मनमय रचैं, जो अचित न हिय जोर॥ ५१॥
भई यों न तो ज्यों भई, होय सत्य तिम होहु।
कहीं चंद सुहि हम कहत, करहुन प्रमान कोहु॥

—वंश० १२६६।५२

और कहीं प्रमाण मिल गया है तो दूसरों के मतों का खंडन करते हुए इस प्रकार भी लिख दिया है—

प्रभु कोन करत चंदहिं प्रमान, इत्यादि लिखी बुध बनि अजान।

—वंश० १३३।१४

इस प्रकार वंशभास्कर में सूर्यमल्ल का दृष्टिकोण प्रधानतः इतिहासकार का दृष्टिकोण रहा है। उसका पूरा चित्रफलक इतिहास का है और कवि क्रमानुसार ऐतिहासिक ब्योरा प्रस्तुत करता चला है। तथ्यप्रतिपादन, घटनालेखन, तत्संबंधी विवरण संपादन वस्तुस्थिति निर्देशन में उसकी लेखनी लगी रही है। यही कारण है कि वंशभास्कर का अधिकांश मात्र इतिवृत्त बनकर रह गया है। कहीं वंशवृक्ष अपनी समस्त शाखासंपत्ति के साथ, राशि-दर-राशि आच्छादित है तो कहीं सम-

कालीन अन्य नरेशों के साथ किसी नरेश की कारगुजारियाँ अलिखित हैं तो कहीं विविध घटनाओं के ब्योरों पर ब्योरे फैले हुए हैं।

इतिहासकार का गुण है सामग्री का पता लगाना और उसे निष्पक्षता के साथ उपस्थित करना। इस गुण का सूर्यमल्ल में अभाव नहीं; उसने अपने जानते कहीं किसी के प्रति पक्षपात नहीं दिखाया। आश्रयदाता के दोष दिखाने में भी वह पीछे नहीं हटा। जो बातें उसे ठीक नहीं जान पड़ीं उनको उसने स्पष्ट शब्दों में गलत कहा, भले ही उनके आधार कितने ही प्रतिष्ठित रहे हों।

वंशभास्कर में कवि सूर्यमल्ल एक इतिहासकार के रूप में हमारे सामने आया है। यह बात अलग है कि उसकी इतिहासलेखन की शैली आज की न होकर वही परंपरागत 'पुराणेइतिहास शैली' है जिसमें कुछ वर्णनों—विशेषतः युद्ध वर्णनों में उसने काव्यत्व के अवसर ढूंढ़ निकाले हैं। कहा जा सकता है कि वह **तथ्यों में इतिहासकार, वर्णनों में कवि है।**

वंशभास्कर में वर्णित इतिहासक्रम

वंशभास्कर में वर्णित इतिहास का पाट बड़ा लंबा चौड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि 'चहुवान वंश' और उसमें भी बूंदी के हाड़ा-वंश का ही इतिहास लिखना वंशभास्करकार का लक्ष्य है फिर भी इसके ऐतिहासिक कलेवर में राजपूताने का ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष का इतिहास आ समाया है।

अग्निवंशीय क्षत्रियों की प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चहुवाण चारों शाखाओं की अग्निकुंड से उत्पत्ति, वंशावलियों सहित उनके विभिन्न राज्यों की स्थापना, युद्ध-विजय आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए चहुवाण वंश की विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं के परिचय के उपरांत कवि बूँदी के राजवंश पर टिक जाता है—और इस प्रकार इस क्रम से एक वृहद् इतिहास की रचना कर डालता है—जिसमें सृष्टि रचना से लेकर भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना तक का ऐतिहासिक ब्यौरा आ जाता है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि बूँदी के राजवंश का क्रमानुसार इतिहास-इतिवृत्त प्रस्तुत करना ग्रंथकार को इष्ट है। बूँदी-राजवंश के इस प्रकार के इतिहास को पूर्णता देने के लिये यह आवश्यक था कि कवि भारतीय प्रदेश के अन्यान्य नरेशों के इतिहासों पर प्रकाश डालता हुआ बूँदी राज्य से उनके पारस्परिक संबंध को भी स्पष्ट करता चले। हम पाते हैं कि कवि ने अपने ग्रंथ में इसी नीति का अनुसरण किया है। फलतः वंशभास्कर में समस्त भारत का इतिहास आ गया है।

धागे से चीनी के रवे बनाने की विधि में जिस प्रकार धागे पर चाशनी की परतें चढ़ती जाती हैं और फिर रवे के रूप में टूट-टूट कर धागे से जुदा होती जाती

हैं—कुछ वैसा ही क्रम वंशभास्कर में है। बूंदी के किसी महाराव राजा का वर्णन चल रहा है उसके साथ ही जो अन्य महत्वपूर्ण समसामयिक राजा-बादशाह हैं उनका इतिहास भी वर्णित होता हुआ चला जारहा है। एक के बाद फिर दूसरे बूंदी-नरेश का वर्णन आता है और फिर यही क्रम आगे भी जारी रहता है।

वंशभास्कर में वर्णित ऐतिहासिक सामग्री का आधार

राजस्थान में सूर्यमल्ल की ख्याति केवल एक कवि के रूप में ही नहीं अपितु एक इतिहासकार के रूप में भी है। इस मान्यता का आधार उपरिलिखित वंशभास्कर की वह व्यापक ऐतिहासिक संपत्ति है जिसकी कड़ियाँ समस्त भारत के इतिहास से जुड़ी हैं। वंशभास्कर की इस व्यापक ऐतिहासिक सामग्री के संकलनार्थ कवि ने अपने समय में उपलब्ध जिन ऐतिहासिक साधनों का उपयोग किया है उनका क्षेत्र वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि आर्य ग्रंथों से लेकर संस्कृतादि भाषाओं के नाटक, भाण, चंपू आदि काव्यों, बडवाभाटों की पोथियों, रास, ख्यात, बात, हाल, विभिन्न राजघरानों की दफ्तर-बहियों तथा फारसी तवारीखों तक परिव्याप्त हैं।

टीकाकार श्रीकृष्णसिंहजी बारहट ने वंशभास्कर की विभिन्न राशियों में वर्णित इतिहास के साधनस्रोत की ओर जो संकेत[१६] किए हैं उनका सारांश इस प्रकार है—

द्वितीय-राशि[१७] में अग्निवंशीय क्षत्रियों का वंशवर्णन बड़वा भाटों की पुस्तकों पर आधारित है—उनके बीच कहीं-कहीं नाटक आदि विषयों के आधार पर भी इतिहास विषयक बातें लिखी गई हैं। प्रथम राशि में वस्तु निर्देश कविपरिचय, ग्रंथपरिचय आदि हैं।

तृतीय राशि का इतिहास पुराणों, रामायण, महाभारतादि से लिया गया है। इस राशि में स्वयं सूर्यमल्ल ने लिखा है कि सातवाहन के चरित्र से लेकर वल्लभाचार्य तक हमने प्राचीन पंडितों के लिखे अनुसार लिखा है, जिसका असंभव वृत्तांत मानने योग्य नहीं है।

चतुर्थ-राशि में विक्रम का इतिहास है, जिसके विषय में आधुनिक विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसी में भोज का चरित्र है जो 'भोजप्रबंध' से लिया गया है।

१६. कृष्णसिंह बारहट, पूर्वपीठिका, वंशभास्कर, प्रथम खंड, पृ० ४–५।

१७. प्रथम राशि में मंगलाचरण, देवादि-स्तुति, कवि-वंश-वर्णन, रामसिंह-वर्णन, ग्रंथ निर्माणाज्ञा, ग्रंथ-निर्माण-नियम, ग्रंथसूची, ग्रंथनाम, खगोल-भूगोल, वृत्तांत, पलादेश आदि वर्णित हैं—इसमें ऐतिहासिक संकेत नाममात्र को है।

आगे पृथ्वीराजरासो से सामग्री ग्रहण की गई है जिसके लिये ग्रंथकार ने स्वयं लिख दिया है यह इतिहास झूठा है।

पंचम एवं षष्ठ राशि का इतिहास कुछ तो बडवाभाटों की पुस्तकों से, कुछ दिल्ली के फारसी में लिखित प्राचीन ऐतिहासिकग्रंथों और कुछ बूंदी की ख्यात से लिया गया है। फारसी इतिहासग्रंथों में से सूर्यमल्ल ने 'तवारीख फरिश्ता' तथा 'अकबरनामा' का विशेष रूप से प्रयोग किया है—

तवारीखफरिस्तादिम्लेच्छितेभ्यो विनिश्चितम्।
तथा अकबरनामादियवनानीभ्य उद्धृतम्॥

—वंश० १६६१।६

सप्तम राशि—में अपेक्षाकृत समीप का इतिहास है जो राजपूताने के विभिन्न ऐतिहासिक **लेखों** और **बडवाभाटों के लेखों** पर आधारित है। इनके विषय में सूर्यमल्ल ने स्वयं लिख दिया है कि हमें जहाँ जहाँ पूर्ण निश्चय हुआ वहाँ वहाँ तो संवत् लिख दिए हैं। शेष वृत्तांत पूर्वापर का अनुसंधान न होने से जहां याद आया वहाँ वैसा लिख दिया है। अतएव जहाँ जैसा संभव होवे वहाँ वैसा जान लेना। **अष्टम राशि** में वर्णित इतिहास ग्रंथकर्ता ने बूंदी के दफ्तर और बडवाभाटों की पुस्तकों से बहुत छान बीन कर लिखा है।

निष्कर्ष—एक इतिहासकार के रूप में सूर्यमल्ल के विषय में दो प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। एक धारणा चारण विद्वानों की है जो उन्हें 'शपथपूर्वक, सत्यवक्ता-इतिहासवेत्ता' घोषित करते हुए कहते हैं कि 'सूर्यमल्ल जैसा इतिहासवेत्ता अद्यावधि नहीं हुआ और अब होना भी कठिन है।[१८] दूसरी धारणा इतिहासकारों की है जिसके अनुसार वह कवि और अच्छा विद्वान था परंतु इतिहास वेत्ता नहीं।[१९] इन दोनों धारणाओं में पुरानी और नई पीढ़ियों के साथ ही नए और पुराने दृष्टिकोणों का अंतर है। पुरानी पीढ़ी का इतिहास विषयक दृष्टिकोण परंपरागत पुराणेतिहास शैली पर ही आधारित है। इसके विपरीत नई पीढ़ी उसे ही 'इतिहास' मानती है जिसमें वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यातथ्यों का विश्लेषण कर शुद्ध सत्य का प्रतिपादन किया गया है।

जहाँ तक तथ्यकथन और सत्यप्रतिपादन का प्रश्न है सूर्यमल्ल पर हम अंगुली नहीं उठा सकते। इसके लिये प्रमाण प्रत्यक्ष है कि उन्होंने निष्पक्षभाव से अपने आश्रयदाता राजवंश का दोष निर्देशन किया है, यहाँ तक कि अपने स्वामी

१८. डा० गौ० ही० ओझा, राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृ० ३७।
१९. कृष्णसिंह बारहट, वंशभास्कर, प्रथम खंड, पूर्व पीठिका।

महाराज राजा रामसिंह के वर्णन का जब अवसर आया तब भी सत्य-संरक्षा से विमुख न हुए। उन्होंने 'वंशभास्कर' जैसे महद्ग्रंथ, जिसकी पूर्ति पर 'कुछ साधारण प्राप्ति की आशा नहीं थी', का लेखन छोड़कर उसे अपूर्ण रखना स्वीकार किया पर तथ्यों की हत्या कर राव राजा रामसिंह का कोरा स्तुतिपरक इतिहास लिखना स्वीकार नहीं किया। कवि की इसी सत्यनिष्ठा और तथ्य-संरक्षा को देखकर ही कृष्णसिंह बारहट जैसे विद्वान उसे 'शपथपूर्वक, सत्यवक्ता इतिहासवेत्ता' घोषित करते हैं। तथ्य प्रतिपादन और सत्य समर्थन से आगे बढ़कर जब हम सूर्यमल्ल में एक इतिहासकार की विश्लेषणवादी प्रतिभा, शोध-समर्थ-बुद्धि एवं इतिहास-रचना-प्रक्रिया-अपेक्षित सूझ-बूझ, सूत्र रूप में 'इतिहासविवेक', की खोज करते हैं तो हमें निराश होना पड़ता है। विभिन्न साधनस्रोतों से उपलब्ध इतिहास की कच्ची सामग्री को जिस प्रकार इतिहासकार अपनी शोधयात्रामें निमित-कारण-कार्य की कसौटी पर कस कर विभिन्न प्रमाणों के आधार पर अपने 'इतिहास' में उसका समाहार-प्रत्याहार करता हुआ शुद्ध ऐतिहासिक सत्य को प्रस्तुत करता है—वैसा सूर्यमल्ल ने नहीं किया है। उसे जहाँ से जो सामग्री मिली है उसने उसकी बिना ऐतिहासिक परख किए हुए उसे प्रायः ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए डा० गौ० ही० ओझा ने कहा है कि—वंशभास्करकार ने 'उस समय तक इतिहास लिखने में विशेष खोज की हो, ऐसा पाया नहीं जाता। कवि का लक्ष्य कविता की ओर ही रहा है प्रचीन इतिहास की शुद्धि की ओर नहीं।[२०]

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वंशभास्करकार का लक्ष्य कविता करना भी रहा है, परंतु यह नहीं माना जा सकता कि इतिहासकार के दायित्व की उसने अवहेलना की है। जहाँ तक 'इतिहास की शुद्धि' का प्रश्न है, उसने जो ऐतिहासिक सामग्री दी है उससे अधिक की आशा हम उससे कर भी नहीं सकते क्योंकि उस युग में इतिहास के साधन आज की तरह प्रचुर नहीं थे और न ही उस दिशा में कोई विशेष खोज ही हो पाई थी। तथापि उसने उपलब्ध सामग्री के अध्ययन के आधार पर ही अपने मत निर्धारित करने का प्रयास किया था। इस बात का समर्थन उसके इस कथन से हो जाता है—

प्रभूतमतभासाद्य दिल्लराड्यावनावली।
उद्देश्येनोदिताप्याहो ह्यपरालंबनं क्वचित्॥

—वंश० १६६८।८

२०. राजपूताने का इतिहास, दूसरी जिल्द, पृ० ५५८।

इतना करने पर भी जो संदेह रह गए हैं, उनका कारण तत्कालीन साधन-सामग्री की तथ्यगत अनेकरूपता ही है। स्वयं सूर्यमल्ल ने इस बात का अनुभव किया था—

दिल्लीशानां प्रतिग्रंथमायाति महदन्तरम्।
अद्भुतं यन्मतैक्ये अपि गीरैक्य अप्युरूधालिपिः॥

—वंश० १६६१।७

इसी लिये स्पष्टतः लिखा है कि 'प्राप्त सामग्री' अर्थात् एक ही तथ्य के बीसों रूपांतर मिलते हैं। अन्य साधन उपलब्ध न होने के कारण ग्रंथ में उन्हींका आकलन कर लिया गया है। अतएव पाठकों को, नीर-क्षीर-विवेक से, जो उसमें सार है, उसे ग्रहण करना चाहिए—

एक एक बात बीस बीसन भेद भजत जानि ग्रंथ के ग्रंथन में।
और कोऊ आलंबन न मानि भिन्न भिन्न आखनन में॥
कोऊ तो सत्य व्हे हैं ऐसी पहिचानि इहाँ तो आगम प्रमाण के।
दुग्धोधि में राजहंसताकरि सार सार टारि तात्विक ही उदंत गहिये॥

—वंश० १५८०।२।

इस प्रकार जहाँ तक 'इतिहासविवेक' की कमी का प्रश्न है वहाँ तो यह कहा जा सकता है कि यह कमी सूर्यमल्ल की कमी न होकर उस युग की 'इतिहास-लेखन-प्रक्रिया' की कमी है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर्यमल्ल में लाख 'इतिहासबुद्धि' का अभाव हो उसने अपने जानते इस बात के प्रति बराबर सतर्कता बरती है कि उसकी रचना में असत्य अतथ्य का मेल न होने पाए और इसी आधार पर यदि हम उसे पुराने खेवे का इतिहासकार कहते हुए वंशभास्कर को 'ऐतिहासिक-वृत्तांत-संपन्न' एक 'संहिता' ग्रंथ कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। वंशभास्कर के इन ऐतिहासिक वृत्तों से आज के सर यदुनाथ सरकार, डा० गौ० ही० ओझा, महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह, डा० दशरथ शर्मा, डा० मथुरालाल शर्मा, श्री जगदीशसिंह गहलोत प्रभृति इतिहासकारों ने अपने इतिहासग्रंथों के निर्माण हेतु बहुत कुछ लिया है और आगे भी मध्यकालीन राजपूत इतिहास का लेखक इनकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

*

'मृगावती' के दो संस्करण

श्याम मनोहर पांडेय

•

'मृगावती' सूफी काव्य परंपरा की द्वितीय महत्वपूर्ण कड़ी है जिसकी रचना ९०९ हिजरी अर्थात् १५०३ ईस्वी में हुई।[1] इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम संस्करण डा० शिवगोपाल मिश्र का है, जो हिंदी साहित्य संमेलन से शक संवत् १८८५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें श्री मिश्र ने एकडला की प्रति का पाठ यथासाध्य उतार देने की चेष्टा की है और साथ में बीकानेर की प्रति का पाठांतर दे दिया है। जिस समय 'मृगावती' पर श्री मिश्र कार्य कर रहे थे, उस समय दिल्ली की प्रति का, जो लगभग पूर्ण है, पता चल गया था, किंतु उसके उपयोग की चेष्टा उन्होंने या तो की नहीं या उन्हें प्रति प्राप्त नहीं हो सकी। अतः उनका संस्करण अपूर्ण है। पुनः जिन नागरी लिपि में प्राप्त प्रतियों का उन्होंने उपयोग किया है उनके पाठों का भी वैज्ञानिक समीक्षण उन्होंने नहीं किया है, अतः पुनरावृत्ति, असंबद्धता, अस्पष्टता, तथा पाठनिर्णय की असंगतियाँ, सहज ही देखी जा सकती हैं। किसी गंभीर अध्ययन के लिये उनका संस्करण उपयोग में नहीं लाया जा सकता, अतः प्रस्तुत लेख में उसपर विचार नहीं किया जा रहा है। अभी हाल में थोड़े समय के अंतर से डा० परमेश्वरीलाल गुप्त और डा० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों विद्वानों ने रचना का एक पूर्ण पाठ देने का प्रयास किया है, अतः इनके संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी हो सकता है।

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने दिल्ली की प्रति का उपयोग करते हुए एकडला और बीकानेर की प्रतियों के पाठांतर दे दिए हैं। उन्होंने चौखबा और मनेर शरीफ की प्रतियों के पाठांतर भी दे दिए हैं। संपादन की वैज्ञानिक प्रणाली का अवलंबन उन्होंने भी नहीं किया। उनका उद्देश्य दिल्ली की प्रति का पाठ देकर अन्य

१. 'इनहि के राज एहि रे हम कहे। नौ सै नौ जो संवत् अहे।'— मृगावती—डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा (१९६८) छंद ११।
'इनहि' यहाँ जौनपुर के हुसेनशाह शर्की (मृ० ९१० हिजरी) के लिये कहा गया है।

प्रतियों का पाठांतर संकलित करना मात्र था। उन्होंने कहा है—'पाठसंपादन करते समय मैंने संशुद्ध पाठ (क्रिटिकल टेक्स्ट) करने जैसा कोई प्रयास नहीं किया है, दिल्ली प्रति को पाठ का मूलाधार मानकर मैंने अन्य प्रतियों के पाठांतर मात्र संकलित कर दिए हैं। ऐसी अवस्था में यह कार्य कदाचित् वैज्ञानिक नहीं कहा जायगा। किंतु मेरी निश्चित धारणा है कि मेरे इस कार्य का वैज्ञानिक कथित ढंग पर किए गए कार्य से कदाचित् ही किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर भिन्नता होगी।'[२]

डा० माताप्रसाद गुप्त ने वैज्ञानिक पद्धति से 'मृगावती' का पाठ संपादन किया है। प्रतियों का पाठसंबंध उन्होंने उनकी पाठविकृतियों के आधार पर स्थापित किया है और पाठालोचन के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए एक वैज्ञानिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अतः दोनों विद्वानों के परिणामों में भारी अंतर आ गया है जिसका विवेचन प्रस्तुत निबंध में प्रस्तुत किया जायगा।

प्रतियाँ और संपादनप्रणाली

'मृगावती' की ५ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। ये प्रतियाँ बीकानेर, दिल्ली, एकडला, काशी, मनेरशरीफ आदि की हैं और अपने अपने ढंग से दोनों विद्वानों ने इनका उपयोग किया है। अतः इनका थोड़ा परिचय दे देना असंगत न होगा।

बीकानेर की प्रति–यह खंडित प्रति कैथी लिपि में है। इसके कुल ७७ पत्र प्राप्त हैं।[३] प्रति ढाई तीन सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है।[४] अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में यह प्रति सुरक्षित है। इसी पुस्तकालय में एक और प्रतिलिपि है जो संभवतः काशी की किसी प्रति पर आधारित है।

दिल्ली की प्रति—दिल्ली की प्रति का सर्वप्रथम विस्तृत परिचय डा० अस्करी ने सन् १९५५ में दिया था। इसकी खोज भारतीय पुरातत्व विभाग के डा० जियाउद्दीन अहमद देसाई ने की थी। फारसी लिपि में लिखित यह प्रति लगभग पूर्ण है केवल प्रारंभ के कुछ छंद एवं छंदांश इसमें नहीं हैं। इसमें प्रतिलिपि संवत् नहीं दिया हुआ है।

२. कुतुबन कृत मिरगावती–डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, बनारस १९६७, पृ० ११।

३. मृगावती—डा० शिवगोपाल मिश्र, इलाहाबाद, शक १८८५ (भूमिका), पृ० २।

४. मृगावती—डा० माताप्रसाद गुप्त, आगरा १९६८ (भूमिका), पृ० ४२।

एकडला की प्रति—यह प्रति एकडला, फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त हुई थी। यह आजकल काशी के भारत कला भवन में है। यह भी कैथी लिपि में है। इस प्रति में कुल २५३ पत्र हैं।[५] यह प्रति संभवतः सं० १७४४ के आस पास की है।[६]

मनेरशरीफ की प्रति—यह प्रति फारसी लिपि में है और खंडित है। प्रतिलिपि-तिथि इसमें भी नहीं दी हुई है। यह 'चंदायन' की मनेरशरीफ की खानकाह से प्राप्त एक प्रति के हाशिए पर अंकित है। रचना के प्रारंभ तथा अंत के अंश इसमें नहीं हैं। इसकी सूचना भी डा० हसन अस्करी साहब ने अपने लेख में दी थी।[७]

संपादनप्रणाली

डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रतियों की पाठ विकृतियों के आधार पर उनकी प्रतिलिपि परंपरा का निर्धारण किया है और यह निश्चय किया है कि दिल्ली, मनेरशरीफ और एकडला की प्रतियों में संकीर्ण संबंध है।[८] 'बीकानेर' प्रति में नायिका का नाम रुकमिनि है जब कि मनेरशरीफ, दिल्ली तथा एकडला की प्रतियों में 'रूपमिनि' प्राप्त होता है। इससे भी प्रतीत होता है कि बीकानेर की प्रति एक स्वतंत्र शाखा की है और मनेरशरीफ, दिल्ली और एकडला एक अन्य परंपरा की हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पाठ संबंध के आधार पर अपने पाठ सपादन के सिद्धांत को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है—[९]

१. जो पाठ बीकानेर में एक ओर तथा मनेरशरीफ, दिल्ली, एकडला और अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रतिलिपि में से किसी में दूसरी ओर समान रूप से मिलता है, वह मूलादर्श का होगा।

२. जहाँ बीकानेर की प्रति में एक पाठ तथा शेष अन्य में अन्य पाठ होगा, वहाँ पर निर्णायक रचना का अन्तःसाक्ष्य होगा। यह पाठ उतना निश्चयपूर्ण न होगा जितना (१)।

५. मृगावती, डा० मिश्र, भूमिका, पृ० ४।
६. मृगावती, डा० गुप्त, भूमिका, पृ० ४५।
७. रेयर फ्रैगमेंट्स आव् चंदायन एंड मृगावती, डा० हसन अस्करी, जर्नल आव् बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ४१, सन् १९५५।
८. मृगावती, डा० गुप्त, भूमिका, पृ० ५४।
९. वही, डा० गुप्त, भूमिका, पृ० ५५।

३. जहाँ पर बीकानेर त्रुटित है, और शेष प्रतियों में समान पाठ मिलता है वह पाठ उक्त शाखा का माना जायगा। यह पाठ उतना निश्चयपूर्ण न माना जा सकेगा जितना उपर्युक्त (१) या (२)।

४. जहाँ पर बीकानेर त्रुटित है, वहाँ पर जो पाठ दिल्ली-मनेरशरीफ, मनेर-शरीफ-एकडला, अथवा दिल्ली, एकडला में से किसी युग्म में समान रूप से मिलता होगा, वह उक्त शाखा का माना जायगा। यह पाठ भी एक ही शाखा का होगा। इसकी स्थिति उतनी भी निश्चयपूर्ण न होगी जितनी (३) की।

५. जहाँ पर दिल्ली-मनेरशरीफ, मनेरशरीफ-एकडला और दिल्ली-एकडला में भिन्न-भिन्न दो या तीन पाठ मिलेंगे, वहाँ पर निर्णायक रचना का अन्तःसाक्ष्य होगा। यह पाठ उतना भी निश्चयपूर्ण न माना जा सकेगा जितना (४) का होगा।

६. किसी एक ही शाखा की एक प्रति में मिलनेवाला छंद या छंदांश तभी स्वीकार्य हो सकेगा जब कि अन्य प्रतियाँ वहाँ त्रुटित होंगी और अंतःसाक्ष्य उसका दृढ़ समर्थन करेगा।

उपर्युक्त सिद्धांतों के आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने रचना का जो पाठ पुनर्निर्मित किया है उससे डा० परमेश्वरीलाल गुप्त द्वारा निर्धारित पाठ काफी भिन्न है। डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा निर्मित पाठ स्पष्ट और काफी प्रामाणिक बन गया है और उसमें ऐसे अनेक शब्दों का उद्धार हो सका है जो डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण में संभव नहीं हो सका। उदाहरण के लिये दोनों विद्वानों द्वारा निर्मित कुछ छंद या उनके चरण नीचे दिए जा रहे हैं।

प्रस्तुत छंद 'मृगावती' में बारहमासे के बाद आता है। इसमें रूपमिणी नायक से अपना विरह-निवेदन कर रही है और उसे राजकुँवर तक पहुँचाना चाहती है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त की 'मिरगावती' में यह छंद इस प्रकार है—

संखा जिह दुभर निसि होई, सेज गवेझ नींद न सोई।
औ चकोर कंह जिउ निकराई, निमिख निमिख जुगजुग बरजाई।
यह दुख बरसि क आइ तुलानां, अब न रहहिं घट जाहिं पराना।
नघ तिय देखहिं आदरस खाई, मरिहौं तिह परहत्यै लगाई।
दई क डर चित करहु बिचारी, हत्या निबहें किये हुत भारी।

हिया न समुझै बाउरेउ, जिहं समुझावउँ चित्त।
देखन चाहों पिय कहँ, लोहु रोवों नित्त॥

—परमेश्वरीलाल गुप्त, छंद ३३६

इसी छंद को डा० माताप्रसाद गुप्त ने निम्नलिखित प्रकार से पुनर्निमित किया है—

सिंघासन जनु दूभर होई। सेज केवंछ नींद नहीं सोई॥
औ चकोर कहुँ जोन्ह कराई। निमिख निमिख जुग जुग बरुजाई॥
एहि दुख बरिसक आइ तुलानां। अब न रहहिं घटजार पराना।
तरुनी देखि अडारसि खाई। मरिहौं तोहि पर हत्या लाई।
दइय क डर चित करहु बिचारी। हत्या बंभन गउहु तें भारी।
हिया न समुझइ बाउर जो सनुझावउं चित्त।
देखन चाहइ पीउ कहँ लोह्रु रोवइ नित्त॥ छंद २३१

छंद के प्रथम चरण में 'सिंघासन' को डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'संखाजिह' किया है। 'सेझ केवंछ' का 'सेज गवेझ' किया है। 'जोन्ह कराई' का उन्होंने 'जिउ निकराई' किया है। 'तरुनी देखि अडारसि खाई' का 'नव तिय देखहिं आदरस खाई' किया है। 'मरिहौं तोहि पर हत्या लाई' का 'मरिहौं तिह पर हत्ये लगाई' किया है। 'हत्या बंभन गउहु तें भारी' का 'हत्या निबहें किये हुत भारी' किया है। स्पष्ट है, जहाँ पर यह अर्थ है—'कि चित्त में दैव का भय विचारो, (नव तरुणी की) हत्या ब्राह्मण और गाय की हत्या से भारी है।' वहाँ पर श्री परमेश्वरीलाल गुप्त का पाठ कोई संगत अर्थ नहीं देता।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का पाठ इतना हास्यास्पद क्यों हो गया है ? इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि उन्हें वैज्ञानिक संपादन प्रणाली से परिचय नहीं है, अन्यथा बीकानेर प्रति की सहायता से वह 'सिंघासन', 'केवंछ', 'जोन्ह', 'अडारसि' आदि शब्दों का पुनर्निर्माण सरलता से कर सकते थे। उनकी दूसरी कमी भाषा और साहित्य से परिचय का न होना है, अन्यथा पाँचवें चरण के किसी समीचीन पाठ की खोज अर्थ को दृष्टि में रखकर वह अवश्य करते और ऐसा पाठ नहीं देते जिसका संभवतः अर्थ होगा 'भारी हत्या करने से हत्या निभ जाती है।'

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण में इसी प्रकार के अनेक छंद है। उनके संस्करण का एक छंद निम्नलिखित है—

चंचल चपल मिरघ सँह सीखे, बहु भोजन देखत अति तीखे।
लेत साँस औ ससथ ते कानाँ, दहा ताड़ जग जित हो रानाँ।
पौन पाइ सों आहि पिरीती, ता जन देखि उड़हि वह रीती।

भाँजत पूँछ चँवर जनु आही, चँवर धार जनु धारहि ताही।
कान ककनिया अहहिं सुहानी, जानु कतरनी कतरि बिनानी।
चाकर खुर अरु मोंट, तज ताजी कुँडवानी।
आनि ठाढ़ि कै घालि, पीठि पाखर सुनवानी। छंद ६४

डा० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण में वही छंद इस प्रकार है :—

चंचल चपल मिरिग सन सीखे। बहु भोजन देखत अति तीखे।
लेत साँस उससहिं ते कानां। ढाटा दुजग जनहुं रा······।
पौन पाइ सों आहि पिरीती। ताजन देखि उड़हिं उन्ह री(ती)।
भांजहि पूंछि चँवर जनु आही। चँवर धारि जनु ढारहिं ताही।
कान गुलेलइं अहहिं सुहाएँ। जानु कतरनी कतरि बनाएँ।
चाकर खुर अरु मोंति तेज ताजी खंडवानी।
आनि ठाढ़ किए पीठ घालि पाखर सोनवानी॥ छंद ६१

उपर्युक्त छंद में डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'उससहिं' का 'औससथ' किया है। 'ढाटा दु जग जनहुं' का उन्होंने 'दहा ताड़ जग जित हो' किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक अशुद्धियाँ हैं जिन्हें सहज ही देखा जा सकता है।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने एक छंद इस प्रकार दिया है—

चला कुँवर मिरगावति जहाँ, सींघ सँदूर अगम बन तहाँ।
डर भौ एको आह न करई, किंगरी पेम बजावइ झुरई।
मग अगम न जाने मोला, बिरह माक पै अउर न बोला।
तब लग मग अमग गुनी जइ, जब लग मोह मया मन कीजइ।
ताम लगन कुल मेल रहे जे, बन क पंखी पर न परिचै।
ताम सेयाँप ताम गुन जप तप संजम ताग।
बंक घटै लोयना पर न पूजै जाम। छंद १११

डा० माताप्रसाद गुप्त ने उपर्युक्त छंद का पाठ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

चला कुँअर मिरगावति जहाँ, सीह सदूर अगम बन तहाँ।
डर भौ एक न लागइ तेही, किंगरी पेम बजावइ नेहा(हो)।
मग्गु अमग्गु न जानइ भोला, बिरह भाख पै अवर न बोला।
तब लगि मग्गु अमग्गु गनिज्जै, जब लगि मोह मया मन किज्जै।
ताम लगें कुछ सील रहिज्जै, बंक कटच्छनि वर न परिज्जै।
ताम सयानप ताम गुन जप तप संजम ताम।
बंक कटच्छन लोइनह वर न परिज्जै जाम। छंद ११८

उपर्युक्त छंद बीकानेर, एकडला तथा दिल्ली तीनों प्रतियों में है। दिल्ली और एकडला की प्रतियाँ एक शाखा की हैं, बीकानेर की प्रति स्वतंत्र शाखा की है। यदि डा० परमेश्वरीलाल गुप्त को इसका ज्ञान होता, तो इस उत्कृष्ट छंद का यह रूप न बनता। छंद का पांचवां चरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। डा० माताप्रसाद गुप्त के पाठ के अनुसार उसका अर्थ होना चाहिए—'तभी तक कुल का शील रहता है, जब तक तक (तरुणी के) बंक कटाक्षों में बल न पड़े।' इसी चरण का अर्थ डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ के अनुसार होगा—'उसी समय तक कुल में मेल रहेगा जब तक वन-पंखी को पर से परिचय नहीं है।'

डा० माताप्रसाद जी ने दोहे का जो पुर्नानिर्माण किया है उसके अनुसार अर्थ होना चाहिए—'तभी तक सयानापन है, तभी तक गुण है, तभी तक जप-तप और संयम हैं जब तक (कामिनी के) बंक कटाक्षों में बल नहीं पड़ता है।' डा० परमेश्वरीलाल ने जो पाठ इस चरण का दिया है, उससे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है।

तुलनात्मक दृष्टि से कुछ अन्य छंदों के चरण मात्र नीचे दिए जा रहे हैं।

प० ला० गुप्त (११५-६७)

कुतुबन सात समुंद दधि, अउर सलिल को जान।
धार सेवाती मन बसे, चातक चीत नदान॥

मा० प्र० गुप्त (१११-६७)

कुतुबन सात समुंदरहि सलिल सधान प्रवान।
धार सेवाती मन बसी चातिग चित्त-निदान॥

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने दोहे में दिल्ली के पाठ का फारसी लिपि से नागरी में लिप्यंतर करके दे दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पाठ को बीकानेर प्रति के आधार पर पुनर्निमित किया है और उसके अनुसार इस दोहे का अर्थ होगा 'सातो समुद्रों में प्रामाणिक रूप से जल का संधान (संग्रह) है, किंतु चातक के चित्त में तो निदान स्वाति की धारा ही मन में बसी हुई होती है।' डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ से दोहे का कोई संगत अर्थ नहीं निकलता है।

प० ला० गुप्त (१५०२)

सहस पढ़ा औ अरथ पचासक, सूर सरन माकर चौरासक।

मा० प्र० गुप्त (१४६-२)

सहंसकी रत, अरथ पंचासिक, सूर सरिनी ? माकरी चौरासिक।

संस्कृत और अर्थपंचाशिका के लिये श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'सहस पढ़ा' और 'अरथ पचासक' कर दिया है।

प० ल० गुप्त (२५४-२)

'भाखा काम कुराल कै लीजै, जाम घर कूचा को कीजै ।

मा० प्र० गुप्त (१५०,२) ।

भाखा काग कराल कलिज्जै, जंमुक खर कूचा जो गनिज्जै ।

डा० माता प्रसाद गुप्त के पाठ के अनुसार अर्थ होगा 'कौए की कराल भाषा को पहचानिए और जंबुक, खर और उल्लू की बोली गिनिए ।' डा० परमेश्वीलाल गुप्त ने फारसी से नागरी में लिप्यंतर करने में भूल की है । वास्तव में दिल्ली की प्रति का पाठ है—'भाखा काल कराल के लीजे' जिसको उन्होंने 'भाखा काम कुराल के लीजे' पढ़ लिया है । जो भी हो दिल्ली के पाठ के सही लिप्यंतर से भी कोई संगत अर्थ नहीं लगता है ।

प० ला० गुप्त (२०३.५) ।

अबलहिं वं र बहुत दुख देखी, गागर मसि न जाहिं लैखी ।

मा० प्र० गुप्त (१९९.५) ।

अब लगि ओइं रे बहुत दुख देखा । कागर मसिहिं जाइ नाहिं लेखा ।

उपर्युक्त चरण में 'कागर' का श्री परमेश्वीलाल गुप्त ने 'गागर' पाठ दिया है और टिप्पणी में उसका अर्थ 'घड़ा' दिया है । उनके अनुसार अर्थ होना चाहिए अब तक उसने (राजकुँवर ने) बहुत दुख देखा । (श्री प० ला० गुप्त ने 'देखी' पाठ दिया है जो क्रिया का स्त्रीलिंग रूप है और 'दुख' कर्म के साथ नहीं लग सकता है) । घड़े की स्याही से उसका दुख नहीं लिखा जा सकता ।' यह अर्थ उचित नहीं है । 'कागर' का अर्थ 'कागज' है और सही अर्थ होगा 'अब तक उस (राजकुमार) ने बहुत दुख देखा है जिसको कागज और स्याही से अंकित नहीं किया जा सकता है ।

प० ला० गुप्त (२०३.६-७)

अबर अलप दिन आहहि दुख कै, सुख देखिह बहु भांत ।
बहुरे बिजि घर चलि गये, अब होइहि मन सांत ॥

मा० प्र० गुप्त (१९९.६-७) ।

अब रे अलप दिन आहीं दुख के सुख देखिहि बहु भांति ।
बहुत बिबक्खर चलि गये अब होइहि मन सांति ॥

'बिबक्खर' का श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'बिबि घर' पाठ दिया है जिसका अर्थ है 'दो घर' । इस प्रसंग में 'दो घर' की कोई संगति नहीं है । 'बिबक्खर' शब्द 'विपक्ष' से बना है और उपर्युक्त दोहे के दूसरे चरण का अर्थ होगा 'विपरीत दिन चले गये अब (राजकुँवर के) मन में शांति होगी ।'

प० लाल गुप्त (२४१.१)

इत दुख सुनि जिउ घबराया, मिरगावतीं गिय भरि कै लावा।

मा० प्र० गुप्त (२३७.१)

एत दुख सुनि जिउ गहबरि आवा, मिरगावतिइं बहुरि गिय लावा।

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने गहबरि आवा (भावातिरेक हुआ) का 'घबराया' पाठ कर दिया है जो असंगत है।

इसी छंद के चौथे चरण में उन्होंने 'नारंग' के स्थान पर 'असक' पाठ दिया है। उसका पाठ है 'दारिउं दाख असक जंभीरी' जब कि अन्य पाठ है 'दारिउ नारंग दाख जंभीरा।

प० ला० गुप्त (३३२.२)

तपै पचास बरहि अंगारा, तिह पर मदन तवै बिकरारा।

मा० प्र० गुप्त (३२७.२)

तपइ बजासनि परइ अंगारा, तेहि पर मदन तवइ बिकरारा।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'बजासनि (वज्राशनि)' को 'पचास' कर दिया है, जिसका कोई अर्थ प्रसंग में नहीं है।

प० ला० गुप्त (२१२.४)

पंडुर पान अदाकर खाहहिं, खानि सुगंध सबै महंकाहंहि।

मा० प्र० गुप्त (२०८.४)

पंडुर पान अडक्कर खाहीं, धानि सुगंध सबहिं महकाहीं।

'अडक्कर' का पाठ डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'अदाकर' दिया है जिसका कोई अर्थ नहीं है। वास्तव में शब्द 'अडक्कर' है जिसका रूप 'अडाकर' या 'अडागर' भी मध्ययुगीन काव्य में मिलता है और जिसका अर्थ 'समूचा' है।[१०]

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त 'बजासनि', 'बिबिक्खर' और 'अडक्कर' जैसे अनेक शब्दों का उद्धार नहीं कर सके क्योंकि उन्होंने फारसी लिपि में उतारी हुई रचना की एक प्रति का लिप्यंतरण मात्र किया है। प्रतियों के प्रतिलिपिकर्ताओं की एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे कठिन शब्दों को न समझ पाने पर वहाँ कोई सरल शब्द रख देते हैं जिससे मूल पाठ दब जाता है। किसी एक प्रति का लिप्यंतरण करने पर मूल पाठ कभी-कभी हस्तगत नहीं हो सकता है। अतः पाठालोचन के सिद्धांतों का अनुगमन करते हुए प्रतियों की पाठ परंपराओं का यदि सम्यक् परीक्षण किया

१०. च बायन, मा० प्र० गुप्त, २७.४, १४७.३।

जाय तो ऐसे शब्दों का पुनरुद्धार सुगमता से हो जाता है। डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वानों की वैज्ञानिक दृष्टि इसलिये ऐसे कठिन शब्दों के उद्धार में सहायक होती है और प्रतिलिपिकर्ता-संपादक ऐसे स्थलों पर प्रायः चूक जाते हैं।

दिल्ली की प्रति में पाठवृद्धि

दिल्ली की प्रति में प्रक्षेप की एक विशेष प्रवृत्त पाई जाती है। इस प्रति में २३-२४ मात्राओं के दोहे की पंक्ति को २८ मात्रा की पंक्ति बनाने का प्रयास अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ता है। इस पाठवृद्धि के लिये जो शब्द जोड़े गए हैं, वे स्पष्ट रूप में चिप्पी की तरह जोड़े हुए मालूम पड़ जाते हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण नीचे दिए जारहे हैं।

प० ला० गुप्त (३०२.६-७)

बहुत चरित के छूटेउ छंद कै तो आयहु मुहि गात।
कहेउं निरत फिर आपुन यह अवगुन यह बात॥

मा० प्र० गुप्त (२९८.६-७)

बहुत चरित के छूटेउ तो आयेउ हम गात।
सुनिहु निरत सब मोरी यह औगुन यह बात॥

उपर्युक्त छंद बीकानेर, दिल्ली, एकडला और मनेरशरीफ की प्रतियों में प्राप्त होता है। दिल्ली प्रति के पाठ में 'छंद कै' पाठ आगंतुक है। बीकानेर और मनेर-शरीफ में यह पाठवृद्धि नहीं है। अंतःसाक्ष्य भी यह प्रकट करता है कि 'छंद कै' पाठवृद्धि की दोहे में कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ ये शब्द निरर्थक हैं। पर डा० परमेश्वरीलाल गुप्त इसको समझ नहीं सके और दिल्ली की प्रति का लिप्यंतरण करके संतुष्ट हो गए।

प० ला० गुप्त (३०३–६.७)

मिरगावति मन ही मन रहसी मिलेउ जो जरम न होइहि भंग।
यह मन गाढ़ उंहरेउ जो चढ़ै न दूसर रंग॥

मा० प्र० गुप्त (२९९–६.७)

मिरगावति मन मनहीं मिलेऊ जरमन होइहि भंग।
यह मन कारहि अनुहरेउ चढ़इ न दोसर रंग॥

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ में 'मन रहसी' अनावश्यक पाठवृद्धि है।

प० ला० गुप्त (१३७. ६-७)

चली न हाइ परेउं खसि तिह ठां आइ उचायो धाइ।
दूसरि बार आइ फुनि सरवर चीर लियों तो जाइ॥

मा० प्र० गुप्त (१३३.६-७)

चली नहाइ परेउ खसि आइ उचाएउ धाइ।
दोसर बार जो आई चीर लिएउं तौ जाइ॥

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ में 'तिह ठां' आगंतुक पाठ है।

प० ला० गुप्त (१३६.६-७)

आवत अहा निरास भा राजा, पायसु जियन्त क चाह।
कुंवरि जियत कहि लोगहि औ दूसर कोउ आह॥

मा० प्र० गुप्त (१३५.६-७)

आवत अहा निरास भा पाइसि जियत क चाहि।
कुंवरि जियत कह लोगन्ह औ दोसर कोउ आहि॥

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ में 'राजा' शब्द आगंतुक पाठ है।

प० ला० गुप्त (१५६.६-७)

तपसप सै रुपमनि रोई, घबर कुंवर गहा जो चीर।
उर फारे कंह चाहै खिनक न बांधे धीर॥

मा० प्र० गुप्त (१५५.६-७)

निससइ रुपमनि रोवइ कुंवर गहा जौ चीर।
उर फाटे कहं चाहइ खिनक न बांधई धीर॥

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने उपर्युक्त दोहे में 'निससइ' का जो 'तपसप सै' पाठ दिया है वह तो भ्रष्ट है ही, उसमें 'घबर' पाठ भी आगंतुक है।

उपर्युक्त प्रकार के प्रक्षेपों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के प्रक्षेप भी दिल्ली की प्रति में हुए हैं और डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ में वे ज्यों के त्यों चले आए हैं।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण का एक छंद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

पसरा काज बियाह कों आवा। नेउता लोग देस सब आवा।
जाचक जन मँगता बहु आये। भाट कपरिया सुनि के धाए॥
होइ लाग जेउनार अपारा। जेवन कहँ सब लोग हँकारा।
छींपर नेत पटोर बिछाई। पातिह पाँति जोरि बैठाई॥
जेवन जीह भई जेवनारा। करु खट पँचाबिरित अहारा।
फीका मीठा लोन कर खट्टा अहा कसैला ईतं।
खीर दहिउँ घिउ माँस और अन्न आए पाँचो अँम्रीत॥

—छंद १५२

डा० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण में यह छंद निम्नलिखित प्रकार से है—

पसरा काजु बियाह गनावा। नेउता लोक देस सब आवा।
होइ लागि ज्यौनार अपारा। बिंजन चारि छतिसौ परकारा॥
बावन पूरी (पुरई) हांडी चौरासी। बहु संधान पकवान गरासी।
छीपर नेत पटोर बिछाए। पांतिहि पाँति लोग बैसाए॥
जेंवन जेवँहिं भइ ज्यौनारा। षट्‌रस पाँच अँम्रित आहारा।
मीठा फीका लोनगर खाटा कसैला तीत।
खीर दहिउ माँस मसउर और सब पाँच अँम्रीत॥

—छंद १४८

विवेच्य छंद के ये पाठ व्याकरण और शब्दगठन की दृष्टि से काफी भिन्न हैं, यह कहने की आवश्यकता है। यहाँ पर हम केवल उस पाठवृद्धि या प्रक्षेप पर विचार करेंगे जो दिल्ली की प्रति में आगया है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण में 'जाचक जन-मंगता बहु आए, भाट कपरिया सुनि के धाए' छंद का द्वितीय चरण है। बीकानेर में यह चरण नहीं है।

यहां डा० माताप्रसाद गुप्त ने बीकानेर का पाठ स्वीकार किया है और दिल्ली का पाठ अस्वीकृत कर दिया है। अन्त:साक्ष्य पर ध्यान दिया जाय तो कारण स्पष्ट हो जायगा। द्वितीय चरण के बाद डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'होइ लाग जेवनार अपारा, जेवन कहं सब लोग हंकारा' पाठ दिया है। जाचक जन, मंगता और कपरिया जो निमंत्रण की बात सुनकर स्वत: आ जाते हैं उनको जेवनार नहीं दी जाती और छीपर, नेत तथा पटोर पर बिठाकर उन्हें आमंत्रितों की पंक्ति में भोजन नहीं कराया जाता है। इसी लिये डा० माताप्रसाद गुप्त को सभवत: बीकानेर का 'बावन पुरी हांडी चौरासी, बहु संधान पकवान गरासी' (चरण ३) वाला पाठ स्वीकार करना पड़ा जो अप्रासंगिक नहीं है।

इसी प्रकार डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण में है—

पेम आइ किह रहै संभारा। गहे नेह आपु नांहि संहारा।

—२००.१

और डा० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण में—

पेम आइ मन परेउ खभारा। यह जिउ मैं अब तुम्हहि उभारा।

—छंद १९६.१

मृगावती राजकुंवर से कह रही है 'प्रेम के आने से मन में खभार (क्षोभ) पड़ गया है, हृदय की बात मैंने तुमसे अब खोली है।' 'खभारा' शब्द फारसी के प्रतिलिपिकर्ता को दुरूह लगा तो उसे उसने 'संभारा' कर दिया। एकडला की प्रति

में इसे 'सहारा' कर दिया गया। पुनः दिल्ली तथा एकडला में दूसरे चरण 'यह जिउ मैं अब तुम्हहिं उभारा' के स्थान पर एक नया चरण ही गढ़ लिया गया, जिसमें प्रथम चरण की पुनरुक्ति मात्र है—'पेम आइ किह रहे संभारा' तथा 'गहे आपु नाहिं संहारा' सर्वथा एक ही अर्थ के चरण हैं। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के संस्करण में भी यही प्रक्षिप्त पाठ स्वीकार कर लिया गया है।

पाठसंबंधी जिस प्रकार की अशुद्धियों की चर्चा ऊपर की गई है उनकी संख्या डा० प० ला० गुप्त के संस्करण में इतनी अधिक है कि उनको विस्तार से देना एक निबंध में संभव नहीं है, इसलिये उन्हें यहीं पर छोड़ा जा रहा है।

अर्थविमर्श

अब हम यहाँ कुछ अर्थों पर विचार करेंगे जिनको श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने अपनी पादटिप्पणियों में संमिलित किया है।

प० ला० गुप्त (१७०. ५)

नल हू अइसी परी न अवस्था। औ न सुनी सो भरथरि कस्था॥

मा० प्र० गुप्त (१६६.५)

नलहु न अैसी परी अवस्था। अउर न सुनी भरथहरि कस्था।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'कस्था' का अर्थ 'कष्ट' दिया है किंतु 'कस्था' का अर्थ 'कथा' है। 'कथा' के अर्थ में 'मृगावती' में कस्था का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है।[11]

प० ला० गुप्त (४२१. १)

कुंवर क जीउ इंदरासन गया, इहा रहै कस्ठा कै कथा।

मा० प्र० गुप्त (४१६.१)

कुंवर क जीय इंद्रासन गया। इहां रही कथ्या कै कया।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने यहाँ 'कस्था' या 'कथ्था' को 'कस्ठा' कर दिया है और इसका अर्थ 'काष्ठ या शरीर' किया है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ के अनुसार अर्थ होना चाहिए 'कुंवर का जीव इंद्रासन में चला गया और यहाँ काष्ठ या शरीर की कथा रह गई।' डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इसका अर्थ होना चाहिए 'कुंवर का प्राण इंद्रासन चला गया और यहाँ कथा की काया शेष रही।' डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के पाठ से इस चरण की साहित्यिक काया ही मूर्च्छित हो गई है।

प० ला० गुप्त (१६६.२)

धाइ एक हम राखसि रांधा, में उहिं सों बातहिं जिउ बांधा।

११. **मृगावती, मा० प्र० गुप्त** ३६.६–३३८.६।

मा० प्र० गुप्त (१६२.२)

धाइ एक हम राखेसि रांधा, मैं ओहि सेउं बातन्ह जिउ बांधा।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'रांधा' का अर्थ 'पहरेदार' कल्पित किया है किंतु 'रांधा' का अर्थ समीप है (राद्ध > रांध > रांधा)। इस अर्थ में यह अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है (देखिए १५०. १, १६८. ४, मृगावती डा० मा० प्र० गुप्त)। 'चांदायन' में भी 'राध' शब्द इस अर्थ में आया है—'इक चित कइ मोहि आपहु दूसर राध न जाइ' (चांदायन २४८. ६—डा० मा० प्र० गुप्त का संस्करण)

प० ला गुप्त (१७२. २)

बहु दिन ऊपर जोगी आयउ। करम मोर आयसु मैं पायउ।

मा० प्र० गुप्त (१६८. २)

बहुत दिना पर पाहुन आवा। करम मोर आइस मैं पावा।

'आयसु' (आइस) का अर्थ श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'आगंतुक' किया है। वस्तुतः इसका अर्थ एक प्रकार का योगी है। इस अर्थ में मृगावती में (१५७. ५ मा० प्र० गुप्त का संस्करण) यह शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त है। मौलाना दाऊद कृत चांदायन में भी यह शब्द इस अर्थ में आया है '५हि मढ मह एक आयसु अहा' (१६७. १ चांदायन, मा० प्र० गुप्त)। ऐसे योगी 'आयसु' क्यों कहे जाते थे इसका कारण तुलसीदास कृत कवितावली से स्पष्ट हो जाता है—

आयसु, आदेश, बाबा भलो भलो भावसिद्ध
तुलसी विचारि जोगी कहत पुकारि है।—उत्तर कांड—१४०

'आयस' शब्द का यह 'योगी' या तपस्वी अर्थ 'राजस्थानी सबद कोस' में भी देखा जा सकता है।[१२]

प० ल० गुप्त (२०२.३)

पंथी जो पंह पंथ चल आई। हम कहं गुदर देइ तो जाई।

मा० प्र० गुप्त (१६८.३)

पंथी जो आइहि पंथ चलाई। हम कहं गुजर देइ तो जाई।

'गुदर' का अर्थ डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'सूचना' किया है किंतु यह शब्द फारसी का 'गुजर' है जिसका अर्थ है 'पेशी', 'उपस्थिति' या 'हाजिरी'।

प० ला० गुप्त (२०४.३)

जनु दालदि लछ बहु पाई, खिन खिन रहसै अंग न समाई।

१२. राजस्थांनी सबदकोस—श्री सीतारामलालस, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, १९६२।

मा० प्र० गुप्त (२००.३)

जनु दालिदी लच्छि बहु पाई, खिन खिन रहसइ अंग न समाई।

'लच्छि' का एक सरलीकृत पाठ 'लछ' लेकर डा० प० ला० गुप्त ने उसका अर्थ 'लाख' कर दिया जब कि शब्द 'लच्छि' (लक्ष्मि) है और पाठ का अर्थ होना चाहिए 'जैसे दरिद्र ने बहुत लक्ष्मी प्राप्त की हो'।

प० ला० गुप्त (२१२.१)

फुनि जो राजदुआरिन्हि जाई। कुंवरहिं के भल पन्थ अथाई।

मा० प्र० गुप्त (२०८.१)

फुनि जौ राज दुवारेहि आई। कुंअरन्ह कै भलि बैठि अथाई।

'अथाई' शब्द का अर्थ गोष्ठी है और यह संस्कृत शब्द 'आस्थानिका' से बना है, किंतु डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने इसका अर्थ 'समाप्त हुआ या अंत हुआ' किया है। 'अथाई' शब्द आस्थानिका (गोष्ठी) के अर्थ में 'चांदायन' और 'मधुमालती' में भी आया है—

राइकुरी कइ बइस अथाई। हम पुनि ठाढ़ भए तहां जाई।

—चांदायन, मा० प्र० गुप्त, छंद २६.१

सुरुज भान तहँ बैसेउ आई। औ जौ अहैं सम राज अथाई।

—मधुमालती, मा० प्र० गुप्त, छंद ६४.५)

एक और उदाहरण नीचे दिया जा रहा है डा० प० ला० गुप्त ने एक सरल पाठ देकर अर्थ का अनर्थ कर दिया है —

प० ला० गुप्त (२०१.१) :

रूप मुरारि भइ पुरि आसा। कीत पयान गये कविलासा।

मा० प्र० गुप्त (१६७.१) :

रूप मुरारिह भइ परिआसा। कीता पयान गए कविलासा।

शब्द 'परियास' है जो संस्कृत के 'पर्यास' से बना है, जिसका अर्थ है समाप्ति, अवसान या पतन। अर्द्धाली का अर्थ होगा 'रूपमुरारि की समाप्ति (मृत्यु) हुई।' डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के अनुसार इसका अर्थ होगा 'रूपमुरारि की आशा पूरी हुई' जो सर्वथा अप्रासंगिक है।

जिन शब्दों को ऊपर अर्थ विमर्श के लिए लिया गया है वे अपवाद स्वरूप नहीं हैं। श्री परमेश्वरीलालजी के आधे से अधिक शब्दों के अर्थ इसी प्रकार के हैं। यदि वे शब्दार्थ न देते तो पाठक गुमराह होने से बच जाता। संतोष है कि उन्होंने अपने छंदों का अर्थ या टीका करने का प्रयास नहीं किया और यह कह कर संतोष

कर लिया कि 'मेरी धारणा है कि इस काव्य में कुछ ऐसा नहीं है जो पाठकों की समझ के बाहर हो और किसी प्रकार की व्याख्या की अपेक्षा रखता हो। व्याख्या करना अनावश्यक श्रम ही नहीं, अकारण ही ग्रंथ की आकार वृद्धि का प्रयास भी होता, जो यहाँ अभीष्ट नहीं।'[१३] उपर्युक्त छंदों में उनके द्वारा जो शब्दार्थ दिए गए हैं उनके संक्षिप्त विवेचन के संदर्भ को दृष्टि में रखकर अनुसंधित्सु श्री गुप्त के कथन के औचित्य का विचार स्वयं कर लेंगे।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का संपूर्ण प्रयास दिल्ली की फारसी प्रति की नागरी लिपि में एक प्रतिलिपि तैयार कर देने का है। उन्हें संपादक के बजाय प्रतिलिपिकर्ता का यश अवश्य मिल जायगा किंतु जब तक वह प्राचीन साहित्य तथा संपादन कला की विद्या का अध्ययन कर पाठ प्रस्तुत नहीं करेंगे तब तक वही हाल होगा जैसा उनकी 'मिरगावती'[१४] में हुआ है। कुतुबन कृत 'मिरगावती'[१५] में काव्य की आत्मा और उसकी काया को काफी आघात पहुँच गया है। डा० माताप्रसाद गुप्त का प्रयास एक वैधानिक संपादक का प्रयास है। सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी उसने रचना की आत्मा और काया की संरक्षा की है।

*

१३. मिरगावती, भूमिका (अनुशीलन), पृ० ११।

१४. मिरगावती, डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, बनारस, १९६७।

१५. मृगावती, डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा, १९६८।

तुलसी हजारा

उदयशंकर दुबे

•

हिंदी जगत् में निर्विवाद रूप से आज तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि गोस्वामी तुलसीदास ने कितने ग्रंथों की रचना की। वैसे विद्वानों ने उन्हें द्वादश ग्रंथों का प्रणेता स्वीकार किया है।[1] पर इधर शोध की ओर लोगों की अभिरुचि तीव्र हो गई है। परिणामतः उनके नाम पर एक न एक नया ग्रंथ सामने आ ही जाता है। 'तुलसी हजारा' एक ऐसा ही ग्रंथ है। अब तक उपलब्ध तुसली हजारा की किसी भी प्रति में रचनाकाल और लिपिकाल का निर्देश नहीं मिलता।[2] मुझे अभी तक 'तुलसी हजारा' की एक ही पूर्ण प्रति की सूचना मिली है जो कालाकांकर निवासी कुंवर सुरेशसिंह के संग्रह में सुरक्षित है। उक्त प्रति का विवरण नागरीप्रचारिणी सभा की खोज में भी है।[3] तुलसी हजारा में दोहों और सोरठों की कुल संख्या एक हजार दो है। प्रस्तुत लेख में हजारा के कुछ चुने हुए छंदों पर विचार किया गया है।

यहाँ विचारणीय यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता गोस्वामीजी हैं या नहीं। सुविधा की दृष्टि से हम हजारा के दोहों और सोरठों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१—गोस्वामीजी के ग्रंथों—रामचरितमानस, दोहावली, रामाज्ञाप्रश्न—से संकलित छंद।

२—गोस्वामीजी की छाप से युक्त छंद जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं है।

३—गोस्वामीजी की छाप से रहित छंद जो उनके अन्य ग्रंथों में नहीं मिलते।

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १४४; तुलसीदास और उनका काव्य, रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १०५।

२. द्रष्टव्य—साप्ताहिक हिंदुस्तान, वर्ष १७, अंक ४६, पृ० ७।

३. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण, ना० प्र० स०, प्रथम खंड, पृ० ३६३१।

१. रामचरितमानस

राम नाम मनि दीप धरि जीहु देहरी दुवार ।
तुलसी भीतर बाहिरै जौ चाहै उजियार ॥ तु० ह० ८ ॥[४]
येक छत्र इक मुकट मनि सब बरनन पर जोइ ।
तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोइ ॥ ,, ४५ ॥
रांम नांम नर केहरी कनक कसिपु कल काल ।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहि दल सुरसाल ॥ ,, ४६ ॥
ब्रह्म रांम ते नांम बड वर दाइक वर दांन ।
राम चरित सतकोट मह लीय महेस जिय जांन ॥ ,, ४९ ॥
सवरी गीध सुसेवकन सुगत दीह रघुनाथ ।
नाम सुधारे अमित पल वेद विदित गुन गान ॥ ,, ५० ॥
अस विचार मतिधीर तज कुतर्क संसय सकल ।
भजहु रांम रघुवीर करुनाकर सुंदर सुपद ॥ ,, १३५ ॥
भाव वस्य भगवान सुष निधान करुना भवन ।
तजि ममता मदमान भजिय सदा सीतरमन ॥ ,, १३६ ॥
लव नमेष परनांम जुग वर्ष कल्प सरचंड ।
भजसि न मन तिहि रांम कह काल जासु को दंड ॥ ,, १६३ ॥
राम सरुप तुम्हार वचन अगोचर बुधबर ।
अवगति अकथ अपार नेत नेत कर निगम कह ॥ ,, १९२ ॥
दंड जतिन कर भेद न नृत्तिक नृत्य समाज ।
जीते मन अस सुनीय जग रांम चंद्र के राज ॥ ,, २०६ ॥
गौतम तिय गति सुरत कर नहि परसत पग पांन ।
हिय हरषत रघुवंस मन प्रीति अलौकिक जान ॥ ,, २०८ ॥
रामचरित राकेस कर सरिस सुषद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित विसेष बड़ लाहु ॥ ,, २०९ ॥[५]

४. तुलसी हजारा : छंद संख्या–८, ४५, ४६, ४६, ५०, १३५, १३, १६३, १६२, २०६, २०८, २०६, २१०, २१२

५. द्रष्टव्य : रामचरितमानस, सं० मानसमराल स्व० शंभुनारायण चौबे, ना० प्र० सभा, काशी । छंद संख्या–प्रथम सोपान–२१, २०, २७, २५, २४, सप्तम सोपान–६०, ६२, ८६, षष्ठ सो० १, द्वितीय सो० १२६, सप्तम सो० २२, प्रथम सोपान १६५, ३२ ।

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चार।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर विहार ॥तु.ह.२१०॥
भरतहि होहि न राजमद बिधि हरिहरपद पाय।
कबहुं क काजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाय ॥ ,, २१२ ॥
संपत चकई भरत चक मुनि आयसु खिलवार।
सो निस आश्रम पींजरा राषत भै भिनुसार ॥ ,, २१३ ॥
मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान षांन अघहांन कर।
जह बस संभु भवानि सो कासी सेइये नि कस ॥ ,, २८७ ॥
जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जिहि पांन किय।
तिहि न भजस मतमंद को कृपाल संकर सरस ॥ ,, २२८ ॥
और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।
अति बिचित्र भगवंत गति कोउ न जानबे जोग ॥ ,, २३० ॥
श्री मद वक्र न कीन किहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगनैनी के नैनसर को अस लाग न जाहि ॥ ,, २७७ ॥
कहा न पावक जार सक कहा न सिंध समाई।
कांन करै अबला प्रबल किहि जग काल न षांई ॥ ,, २८१ ॥
ग्राह ग्रसित पुनि बातलि तिहि पुनि बीछीमार।
ताहि पियाई बारुनी कहौ कवन उपचार ॥ ,, २८३ ॥
कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिवेक।
होइ घुन्याछर न्याय जिमि पुनि प्रत्यूह अनेक ॥ ,, २८५ ॥[६]

रामाज्ञाप्रश्न

बाल बिभूषन सैनघर धूलि धूसरित अंग।
बाल केलि रघुवर करत बाल बंधु सबसंग ॥ ,, १४८ ॥[७]
अनुदित अवध बधावने नित नव मंगल मोद।
मुदित मात पितु लोग लषि रघुबर बाल बिनोद ॥ ,, १४९ ॥[८]

६. रामचरितमानस : सं० स्व० शंभुनारायण चौबे, ना० प्र० सभा, काशी। छंद संख्या प्र० सो० ३१, द्वि० सो० २३०, २१४, चतुर्थ सोपान—प्रारंभिक सोरठे। द्वि० सो० ७७, स० सो० ७०, द्वि० सो० ४७, १८०, स० सो० ११८।

७. रामाज्ञाप्रश्न : छंद संख्या क्रमशः चतुर्थ सर्ग सप्तक ३-१, सप्तक २-४।

८. तुलसी हजारा : छंद संख्या–२१३, २२७, २२८, २३०, २७७, २८१, २८३, २८५, १४८, १४६।

नाम ललित लीला ललित भूप रूप रघुनाथ।
ललित वदन भूषन वसन ललित अनुज सिसु साथ॥ तु.ह. १५१॥
राम भरथ लछिमन ललित संत्र दमन सुभ नांम।
सुमिरत दसरथ तनय सब पूजहिं सब मन कांम॥ ,, १५२॥
बालक कौसल पाल के सेवक पाल क्रपाल।
तुलसी मन मानस वसत मंजुल मंजु मराल॥ ,, १५३॥
भरत स्याम तन रांम सम सब गुन रूप निधांन।
सेवक सुषदायक सुलभ सुमिरत सब कल्यांन॥ ,, २१४॥
ललित लषन मुरत मधुर सुमिरहु सहित सनेह।
सुष संपत कीरत विजय सगुन सुमंगल गेह॥ ,, २१५॥
नांम संत्र सुदन सुभग सुषमासील निकेति।
सेवत सुमिरत सकल सुष सकल सुमंगल देति॥ ,, २१६॥
कौसिल्या कल्यांन मय सुमिरत करत प्रनाम।
सगुन सुमंगल काज सुभ देत सुसीतारांम॥ ,, २१७॥
सुमिर सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहि सुप्रेम।
सुवन लषन रिपुदवन से होई पतिव्रत प्रेम॥ ,, २१८॥[९]

दोहावली

राम वाम दिसि जानुकी लषन दाहिनी वोर।
ध्यान सकल कल्यान मैं सुरतरु तुलसी तोर॥ ,, १॥[१०]
सीता लषन समेत प्रभु सोहत तुलसीदास।
हरषत सुर वरषत सुमन सकल सुमंगल वास॥ ,, २॥
पंचवटी वट विटपतर सीता लखन समेत।
सोहत तुलसीदास प्रभु सकल सुमंगल देत॥ ,, ३॥
चित्रकूट सब दिन वसत प्रभु सिय लषन समेत।
रामनाम जप जाप कहि तुलसी अभिमत देत॥ ,, ४॥
पय नहाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि जग करतल तुलसीदास॥ ,, ५॥[११]

९. रामाज्ञाप्रश्न : चतुर्थ सर्ग-सप्तक ३-३, सप्तक ३-२, सप्तक ४-७, सप्तक ४-२। तृतीय सर्ग-सप्तक ४-६, चतुर्थ सर्ग-सप्तक ४-६, सात सर्ग-सप्तक ३-३, सात सर्ग-सप्तक ३-४।

१०. दोहावली, छंद संख्या : १, २, ३, ४, ५।

११. तुलसी हजारा-छंद संख्या : १५१, १५२, १५३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, १, २, ३, ४, ५।

जथां भूंम सब बीजमय नषत निवास अकास।
रांम नांम सबधर्म मय जानत तुलसीदास ॥तु.ह.१२॥[12]
कासी बसि बुधतन तजहि हठि तनु तजहि प्रयाग।
तुलसी जो फल सो सुलभ रांम नाम अनुराग ॥ ,, २१ ॥
मीठो और कठोति भरि रौताई अउ षेम।
तुलसी परमारथ सुलभ रांम नांम को प्रेम ॥ ,, २३ ॥
करि विचार चल सुपथ पथ भल आदि मध परनांम।
उलटि जपेउ मरां मरां सुधे राजा राम ॥ ,, २५ ॥
हृदय सो कुलसि समान जो द्रवै हरि गुन सुनत।
करै न राम गुन गान, जीह सो दादुर जीह सम ॥ ,, ४२ ॥
ते नैना जनि देहु राम सुजस सुनि रावरौ।
तिन नैनन में धूर भर भर मूठी मेलिये ॥ ,, ४४ ॥
हरत अमंगल अषिल अघ करत समल कल्यान।
रांम नांम हर कहत सिव गावत वेद पुरांन ॥ ,, ५१ ॥
हिया फाटो फूटो नयन जरो सुंतन कहि कांम।
श्रवै द्रवै पुलिकै नही तुलसी सुमिरत राम ॥ ,, ५२ ॥
रातौ नाते रांम के राम सनेह सनेह।
मागत तुलसी जोर कर जन्म जन्म सिव देहु ॥ ,, ५९ ॥
सहस नाम सुनि भनत नित तुलसी वल्लभ नाम।
सकुचत हिय हसि निरषि सिय धर्म धुरंधर रांम ॥ ,, ६१ ॥
जीवन मरन प्रमान, जयसो दसरथ राइके।
जियत षिलाये रांम, रांम विरहु तन पर हरौ ॥ ,, ६४ ॥
तुलसी जानौ दसरथह धर्म न सत्य समान।
तजे राम जेहि लाग कर राउ परहरे प्रान ॥ ,, ९५ ॥[13]

१. पंचनामा में भी यह दोहा है। अंतिम पंक्ति का पाठ ध्यान देने योग्य है—
तुलसी जान्यों दसरथहिं धरमु न सत्य समान।
रामु तजौ जेहि लागि बिन राम परिहरे प्रान ॥ ११ ॥

१२. तुलसी हजारा—छंद संख्या १२, २१, २३, २५, ४२, ४४, ५१, ५२, ५९, ६१, ६४, ६५, ९४।

१३. रामचरित मानस—काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रकाशक इंडियन प्रेस प्रयाग, सन् १९०३ ई०, पृष्ठ सं० २३।

दोहा चार विचार चल परहर वाद विवाद।
सुकृत सब स्वारथ अवधि परमारथ मरजाद ॥तु.ह.९४॥[14]
चतुराई चूलह परौ ग्यानन थम के धांम।
तुलसी जो पै रांम सौ प्रेम नहिं सौ तन कहु कहि कांम ॥ ,, १००॥[15]
तुलसी जो पै रांम सौ नाहिन सहज सनेह।
मूड मूडायौ वादि ही भांड भये तज ग्रह ॥ ,, ११८ ॥
मूठ उधारन किन कहौ वरज रहे प्रिया लोग।
घर ही सती कहावती जाती प्रिय वियोग ॥ ,, ११९ ॥
परौ चारि फल नर्कसि मुक्ति डाकनी षाउ।
तुलसी रांम सनेह कौ जो फल सो निज जाउ ॥ ,, १२१ ॥
चार चहत मनसा अगम चिनक चार कौ लाहु।
चारि परहरे चार कौ चारि चाह चष चाहु ॥ ,, १२२ ॥
कहहि विमल मति संत वेद पुरांन विचार सब।
द्रवहि जांनकीकंत तब छुटै संसार सब ॥ ,, १३४ ॥
अस विचार मतिधीर तज कुतर्क संसय सकल।
भजहु रांम रघुवीर करुनाकर सुंदर सुषद ॥ ,, १३५ ॥
भाव वस्य भगवान सुष धान करुना भवन।
तजि ममता मदमान भजिय सदा सीतारमन ॥ ,, १३६ ॥
श्री रामचंद्र के भजन विनु जो चह पद निर्वान।
ग्यानवंत अपि सोइ नर पशु बिन पूंछ बषांन ॥ ,, १३८ ॥
जरै सुसंपति सदन सुष सुहृदय मात पित भाइ।
सनमुष होत जो रांम पद करै न सहज सहाइ ॥ ,, १३९ ॥
जबहि कहावत रांम को सवहि रांम की आस।
राम कहहि जो आपनो तिहि भज तुलसीदास ॥ ,, १४० ॥
हिरना दक्ष भ्राता सहत मधु कैटभ बलवान।
जिहि मारे सोइ औतरे कृपासिंधु भगवान ॥ ,, १४६ ॥
सोई सच्चिदानंद मय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संश्रत सागर सेतु ॥ ,, १४७ ॥

१४. दोहावली छंद संख्या : २६, १४, १५, ३६७, ४३, ४५, ३५, ४१, ८६, १८८, २२१, २१६, ४७०।

१५. तुलसी हजारा : छंद संख्या १००, ११८, ११६, १२१, १२२, १३४, १३५, १३६, १३८, १३६, १४०, १४६, १४७, १५४।

भक्ति भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धर मनुष तनु सुनत मिटहि जग जाल॥तु.ह.१५४॥[16]

निज इच्छा अवतरहि प्रभु सुर गो द्विज हित लाग।
सगुन उपासक संत तहां रहहि मोच्छ सब त्याग॥ ,, १५५।[17]

तुलसी जानहु सुनि समुझ कृपा सिंधुरघुराज।
महगों मनि कंचन किये सेहगे जग जल नाज॥ ,, १६०॥

श्री रघुवीर प्रताप तै सिंध तरे पाषान।
ते मतमंद जो रांम तजि भजहि जाहि प्रभु आंन॥ ,, १६२॥

जानो जात न जाई जो बिनु जाने को जांन।
तुलसी यह सुति समझघर आन धरे धन जांन॥ ,, १६६॥

जाप कहब करतूत विनु जाप जोग विनु षेम।
तौ तुलसी के जान गति रांम प्रैम विनु नेम॥ ,, १६८॥

लोग मगन सब जोग है जोग जाप विनु षेम।
तुलसी जाप उदाय सब विना रांम पद प्रेम॥ ,, १६९॥

तन विचित्र कायर वचन, अहि अहार मन चोर।
तुलसी हरि भये पच्छधर ताते सब कहे मोर॥ ,, १७०॥

तुलसी परहर हरिचरन पावर पूजे भूत।
काल फजीहत होयगी गनिका कैसे पूत॥ ,, १७१॥

सेये सीतारांम नहि भजे न संकर गौर।
जन्म गवायों बादही परत पराई पौर॥ ,, १७२॥

तुलसी हरि अपमान तै होय अकाज समाजु।
राज करत रजमिलि गये सदन सकुल कुरराजु॥ ,, १७३॥

तुलसी रामहि पर हरे निपट हांन सुन मोद।
सुरसरि गति सोई सलिल सुरा समान गगोद॥ ,, १७४॥

वरषा को गोवर भयो को चहि को करै प्रीति।
तुलसी तू अनभावही अब रांम यिमुख की रीति॥ ,, १७७॥

१६. दोहावली-छंद संख्या : १८, ६३, २५४, ८२, १५१, १३६, १३४, १३५, १३८, १३६, १४१, ११५, ११६, १२३।

१७. तुलसी हजारा—छंद संख्या : १५५, १६०, १६२, १६६, १६८, १६६, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७७, १७८, १८०।

हरै चरै तापै वरै फरै पसारे हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब परमारथ रघुनाथ ॥तु.ह. १७८ ॥

साहब होत सरोष सेवक के अपराध सुनि।
अपने देषै दोष रांम न कबहू उर धरै॥ ,, १९० ॥[18]

देश काल करता करम वचन विचार विहीन।
ते सुरतरु तर दारिदी सरसरि तीर मलीन॥ ,, ९९७ ॥[19]

सहसहि सीषे कोप वस किये कठिन परिपाक।
सठ संकट भाजन भये हठि कुजाति कपि काक॥ ,, ९९८ ॥

राज करै विन काज ही ठाटहि ते कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरराज ज्यौं जैहें वारह बाट॥ ,, ९९९ ॥

राज करै विन काज हो करै कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यौं जैहैं सहित समाज॥ ,, १००० ॥

सभा सुयोधन की सकुल सुमति सराहत जोग।
द्रोन विदुर हरिहि करहिं प्रपंची लोग॥ ,, १००१ ॥

हित पर वैर विरोध जब अनहित पर अनुराग।
राम विमुष विधि राम गति सगुन अघाइ अभाग॥ ,, १००२ ॥[20]

वारक सुमिरत ताहि होत सदा सनमुष तिनहि।
क्यौ न सम्हारे मोहि दयासिंधु दसरथ्थ के॥ ,, १९१ ॥[21]

अवचल राज विभीषनहि दांन रांम रघुराज।
अजहू विराज लंकपति तुलसी सहित समाज॥ ,, १९४ ॥

अपनी वीसो आपुही पुरी लगाये हाथ।
कैसे विनती विश्व की करो विश्व के नाथ॥ ,, २२९ ॥

भुज तरु षोडर रोग अहि बरबस कियौ प्रवेस।
विहगराज वाहन तुरत काटे मिटे कलेस॥ ,, ३२९ ॥

१८. दोहावली छंद संख्या : १२४, १४९, १२९, ९८, १०४, १०३, १०७, ६५, ६६, ६७, ६८, ७३, ५५, ४७।

१९. तुलसी हजारा-छंद संख्या : ९९७, ९९८, ९९९, १०००, १००१, १००२।

२०. दोहावली-छंद संख्या : ४१४, ४१५, ४१७, ४१६, ४१८, ४२०।

२१. तुलसी हजारा छंद संख्या : १९१, १९४, २२९, ३२९, ३३०, ३३१।

घरमा घरी कपुर सम उचित न पिय तिय त्याग।
की घरिया मुहि मेलिये विमल विवेक विराग॥ तु०ह० ३३०॥[22]

मुये मुक्ति जीवन मुकति मुक्ति मुक्ति ही बीच।
तुलसी वाही ते अधिक गीधराज की मीच॥ ,, ३३१॥[23]

२. तुलसीदास के छापयुक्त छंद

कांमधेन पारस सवरि कल्प वंछ्छ कर वार।
तुलसी हर की भक्ति विनु ग्रह तै भलि अजियार॥ ,, ११५॥

राम नाम हिय महि धरी ब्रथा बात कै दूर।
तुलसी लहरूर वाल ज्यों वीज स्वाद कछु और॥ ,, ११७॥

तुलसी षोटै दास कौ रघुपति राषत मान।
ज्यौ मूरष उपरोहितहि दांन देत जिजिमान॥ ,, १८०॥

नहि सेवा नहि बुध्ध बल नहि विद्या नहिं दांम।
तुलसी पतित पतंग की तुम पति राषौ रांम॥ ,, १८४॥

तुलसी छल बल छांड कै करिय रांम सो नेह।
परदा कह भरतार सौ जिहि देषी सव देह॥ ,, १८६॥

ज्यों कामी के चित्त में चढ़ी रहत नित बांम।
अैसे हो कब लागहै तुलसी के मन रांम॥ ,, २८७॥

ज्यौ गरीब की देहि मैं माहु पूस की घाम।
अैसे हो कब लागहौ तुलसी के मन रांम॥ ,, २८८॥

तीन टूक कोपीन के अरु भाजी विन लौन।
तुलसी रघुवर उर वसै इंद्र वापुरौ कौन॥ ,, २९०॥

तुलसी दल कौ दलन है दीना नाथ दयाल।
साधु रूप को साध है काल रूप कौ काल॥ ,, ३१५॥

---

२२. ना० प्र० स० की इंडियन प्रेस से प्रकाशित रामचरित मानस (सन् १९०३) की भूमिका में यह दोहा इस प्रकार है—
खरिया खरी कुपुर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि के अचल करहु अनुराग। पृ० १३।

२३. दोहावली-छंद सं० : ४६, १६४, २४०, २३५, २५५, २२५।

तुलसी रघुवर सेवतहि मिटि गयो कालौ काल ।
नारी पलट सो नर भयोयै कैसे दीन दयाल ॥तु०ह०३१७॥[२४]
रामघाट मंदाकिनी भई विमानन भीर ।
तुलसी चंदन घिसै तिलक देत रघुवीर ॥ ,, ३१८ ॥[२५]
कहा कहौ छवि आजु की भले बनै है नाथ ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुष बांन लिये हाथ ॥ ,, ३१९ ॥
आव घास सब कहत है आक ढाक अउ कैर ।
तुलसी ब्रज के लोग सौ कहा रांम सो वैर ॥ ,, ३२१ ॥[२६]
तुलसी मथुरा रांम है जो कर जानै दोई ।
दोइ बरन के मध्य मैं ताके मुष मैं साई ॥ ,, ३२२ ॥
मुरली मुकट दुराय के नाथ भये रघुनाथ ।
तुलसी रूच लष दास की धनुष बांन लियो हाथ ॥ ,, ३२३ ॥
राग दोष गुन दोष को साषी हृदय सरोज ।
तुलसी बिगसत मित्रलषि सकुचत देषि मनोज ॥ ,, ३२४ ॥
पसुभट ते नर भये भलौ श्रृंग अरू पूंछ ।
तुलसी हर को भक्ति विनु धृग दाढी धृग मूंछ ॥ ,, ३३७॥[२७]

२४. रामचरित मानस, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रकाशक इंडियन प्रेस प्रयाग, १९०३ ई०, पृ० ३८ ।

२५. यह अत्यंत प्रसिद्ध दोहा है किंतु पहली बार हजारा में इस दोहे की प्रथम पंक्ति का पाठ भिन्न है। परंपरा से प्रचलित दोहे का पाठ यह है—

चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर ।
तुलसीदास चंदन घिसे तिलक देत रघुवीर ॥

—मानस गीताप्रेस, गोरखपुर पृ० २५ ।

२६. तुलसी हजारा—छंद संख्या : ११५, ११७, १८०, १८४, १८६, २८७, २८८, २९०, ३१५, ३१७, ३१८, ३१९, ३२१ ।

२७. सत्संगविलास नामक ग्रंथ में जिसमें तुलसीदासजी के ग्रंथों की टीका की गई है प्रस्तुत दोहे का पाठ निम्न प्रकार है—

पशु वृषभह्नि ते नर भयो भूलि सिंग अरु पोछ ।
तुलसी हरि के भक्ति विनु धृग दाढी अरु मोक्ष ।। पृ० ९२ ।।

"यह ग्रंथ भोजपुर देशाधिराज महेश्वर बक्स सिंह साहिब बहादुर की आज्ञानुसार पटना फैज ग्राम यन्त्रालय में मुंशी सूर्य्यमल के प्रबंध से छपी । सन् १८७५ ई० ।"

तुलसी उदरन भरत हौ मकराइके चून।
अबतो रांम प्रताप तै लुवई दौ दौ जून ॥ तु० हु० ३४५ ॥
तुलसी या जग आय कौन बन भयो समरथ्थ।
येक कंचन एक कुचन पर कौ न पसारो हथ्थ ॥ ,, ३६२।

३. गोस्वामीजी की छाप से रहित छंद

सरतरुचिंतामनि सुरभि कहु क्यों भये उदार।
येक बार रघुवीर कौ सुनौ नांम उच्चार ॥ ,, ११६ ॥
विमल विलग सुष संपदा जीवन मरन सुरीत।
रहित राषिये राम की गये तौ उचित अनीत ॥ ,, १६७ ॥[२८]
येक भरोसो रांम को किये पाप भर मोट।
जैसे नारि कुनारि को बड़े षसम की ओट ॥ ,, १८५ ॥[२९]
किन मुरली कित चंद्रका कित गोपिन कौ साथ।
अपने जन कै कारनै नाथ भये रघुनाथ ॥ ,, ३२० ॥
पांच पहर धंधे गये तीन पहर गये सोई।
येक घरी न हर भजे कुसल कहा ते होई ॥ ,, ३५२ ॥

छंदों की संख्या की दृष्टि से 'तुलसी हजारा' मे दोहावली के छंदों की संख्या सर्वाधिक है। दूसरा नंबर रामचरित मानस के छंदों का है। तुलसी हजारा, एक हजार दो छंदों (दोहों और सोरठों) का संकलन मात्र है। एक हजार दो, छंदों का संकलन होने के कारण इस ग्रंथ का नाम हजारा रखा गया है। नागरीप्रचारिणी सभा के खोजविवरण में इस ग्रंथ को तुलसीदास की संदिग्ध रचनाओं की कोटि में रखा गया हैं।[३०] वस्तुतः तुलसीदास ने हजारा नामक किसी काव्य ग्रंथ की रचना स्वयं नही की बल्कि उनके अनुयायियों में से किसी ने तुलसी के एक हजार दो, चुने-चुने दोहों और सोरठों को संकलित कर उसे तुलसीहजारा की संज्ञा से विभूषित किया हैं।

*

२८. तुलसी हजारा—छंद संख्या : ३२२, ३२३, ३२४, ३३६, ३४५, ३६२, ११६, १६७।

२९. तुलसी हजारा—छंद संख्या : १८५, ३२०, ३५२।

३०. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त प्रथम खंड, पृ० ३९३।

'हंस' के 'काशी अंक' का अनुशीलन[1]

रत्नाकर पांडेय

'हंस' के अनेक उपयोगी विशेषांकों की परंपरा में 'काशी अंक', जिसका प्रकाशन अक्टूबर-नवंबर, सन् १९३३ के संयुक्तांक के रूप में हुआ था, साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। इस विशेषांक में अनेक शोधपूर्ण निबंधों में पहली बार बहुत सी नई बातें उद्घाटित हुईं। काशी की विगत और वर्तमान महत्ता, उसकी परंपरा, इतिहास और दर्शन एवं राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियाँ आदि का स्पष्ट रूपदर्शन इस विशेषांक के अध्ययन के उपरांत होने लगता है।

भूतभावन शंकर के त्रिशूल पर अवस्थित यह नगरी विश्व की सांस्कृतिक गरिमा का गुरुत्वकेंद्र अपने क्रोड में टिकाए हुए है। इस भूमि की पवित्र मिट्टी का संस्कार यहाँ के अगाध ज्ञान एवं पांडित्य से संगठित है। यह नगरी विश्व के सर्वाधिक आस्तिक मनुष्यों की निवासस्थली है। इसी नगरी ने हिंदी और हिंदुओं की धार्मिक विचारधारा की चेतना को सारे विश्व में पुण्य का प्रतीक बनाया है। इतिहास साक्षी है कि विभिन्न संक्रमणशील परिस्थितियों में काशी की कला और साहित्य के द्वारा विश्व ने नवीन स्थापत्य दृष्टि प्राप्त की है। समय समय पर काशी की विराट सत्ता और महत्ता को समाप्त करने के लिये अनेक प्रकार के कुचक्र रचे गए, परंतु इस नगरी की 'बनारसी महत्ता' ने अपने कण-कण से आनंद की गंगा का स्रोत अनवरत प्रवाहित कर निर्मलता के सागर में कुचक्रियों को आकंठ निमग्न करके पवित्र बना दिया।

इस काशी विशेषांक द्वारा 'हंस' की विशिष्ट प्रतिष्ठा और प्रेमचंदजी के संपादकीय पुरुषार्थ की प्रशंसा हिंदी जगत् में हुई। साहित्य की सुदृढ़ दीवार बनाकर चित्रपट की भाँति प्रेमचंदजी ने सारे काशी को इस विशेषांक के पन्नों में भर दिया है। यदि इस विशेषांक में सन् ३३ के उपरांत की काशी के इतिहास और सांस्कृतिक परंपरा को किसी प्रकार संयुक्त कर दिया जाय तो काशी पर प्रकाशित

१. 'हंस एक प्रतिनिधि मासिक पत्रिका और उसमें प्रतिबिंबित प्रेमचंद का कृतित्व' नामक (काशी हिंदूविश्वविद्यालय द्वारा एम० ए०, सन् १९६४ की परीक्षा के लिये स्वीकृत) अप्रकाशित शोध प्रबंध से।

अब तक की सभी उपलब्धियों में यह बेजोड़ कृति सिद्ध होगा। जिन दिनों 'हंस' का यह अंक प्रकाशित हुआ था उन दिनों हिंदी के साहित्यिक मासिक पत्रों को विशेषांक निकालने का छूत रोग लग गया था। तत्कालीन अधिकांश विशेषांकों को देखकर मन में स्वभावतः विकृति होने लगती है। पर इस स्वस्थ विशेषांक को देखकर सारी बीमारी का निदान और उपचार हो जाता है। स्व० पं० उदय शंकर भट्ट ने 'काशी विशेषांक' के संबंध में प्रेमचंदजी को एक पत्र लिखा था,—" 'हंस' का काशी अंक बहुत अच्छा निकला है। विश्वप्रेम के अवतार 'हंस' के अंक में काशी है या काशी के अंक में 'हंस' है, यह संदेह बना ही रहा। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक रूप त्रिशूल पर स्थित काशी का गुणमय वर्णन पढ़कर वस्तुतः काशी का साक्षात्कार हो गया।"[2] काशी के अनेक पक्षों के सहयोग से यह अंक इतना ज्ञानपूर्ण बन पड़ा है कि काशी के संबंध में विस्तृत अध्ययन करते समय उसकी महत्ता विश्वकोष से भी अधिक अनवरत बनी रहेगी। इस विशेषांक की अनगिनत उपलब्धियों में से प्रमुख बातों पर ही विचार करना संगत है।

प्रस्तुत विशेषांक में 'काशी और उसके तीन रूप,' 'काशी : हिंदू संस्कृति का केंद्र,' 'काशी का संक्षिप्त इतिहास,' 'काशी और उसके जैन तीर्थ, 'काश्यां मरणान्मुक्तिः,' 'गोस्वामी तुलसीदास के समय की काशी,' 'काशी विश्वनाथ' तथा 'संस्कृत साहित्य और काशी के पंडित' नामक मौलिक निबंध इस नगरी के दार्शनिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक ज्ञान की सामग्रियों से परिपूर्ण है। इनका लेखन अनुभवी पंडितों एवं निष्णात विद्वानों द्वारा हुआ है।

काशी की साहित्यिकता के संबंध में 'काशी और हिंदी साहित्य,' 'काशी से निकलने वाले सामयिक पत्र और पत्रिकाएँ,' 'काशी और वर्तमान हिंदी साहित्य,' 'काशी का प्राचीन कविसमाज' आदि निबंधों में अधिकारी विद्वानों ने काशी की युगव्याप्त साहित्यिक उपलब्धियों का विवेचन किया है। काशी की विभिन्न शैक्षिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और अन्य परंपराओं पर भी इस विशेषांक में प्रभूत सामग्री के संकलन का प्रयत्न किया गया है। 'सारनाथ', 'काशी के स्कूल', 'काशी की कुछ अद्भुत बातें,' 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय,' 'काशी के कुछ प्रसिद्ध मेले', 'काशी की गलियाँ', 'काशी के तीर्थाध्यक्ष', 'हिंदू विश्वविद्यालय काशी की कुछ विशेषताएँ,' 'काशी के अखाड़े,' 'काशी में पर्वतीय-गुजराती-मैथिल-मद्रासी-महाराष्ट्रीय और खत्री समाज' से संबद्ध सात लेख; 'धरहरा', 'काशी का सरस्वती भवन', 'जयनारायण घोषाल, एवं 'काशी की एकमात्र बीमा कंपनी' आदि

२. 'हंस' दिसंबर १९३३, हंस के काशी अंक के विज्ञापन से।

विशद निबंधों में अनेक अज्ञात बातें एकत्रित की गई। 'भारत में ब्रिटिशकालीन काशी का स्थान', 'काशी में सामाजिक सुधार का प्रारंभिक उद्योग' एवं 'काशी-नरेश' नामक तीन निबंधों में काशी के सामाजिक और राजनैतिक इतिहास और तथ्य पर कई प्रकार से विचार किया गया है। काशी की व्यावसायिक परंपरा के संबंध में 'काशी का शिल्प और व्यवसाय' और 'बनारसी वस्त्रों का व्यवसाय' दो निबंध हैं। प्रसाद की 'गुंडा' और शिवरानी देवी की 'नर्स' नाम की कहानियाँ भी इस विशेषांक में है। कविताओं में आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'काशीस्तवन' श्लोक, स्व० नेपाली की 'झलक' एवं प्रोफेसर मनोरंजनप्रसाद रचित भोजपुरी गीत 'काशी वर्णन' इस विशेषांक की अन्य विशेषता है। यह इस विशेषांक की विषयवर्गीकृत तालिका है।

काशी देश का तीर्थस्थाल है। इसी नगरी ने श्रुति स्मृति से भारतवर्ष का मस्तक होने का गौरव प्राप्त किया है। काशी खंड में एक वर्णन आया है—

बुद्धितत्त्वस्य जननी शक्तिर्निर्विकृतोश्चितेः।
ययेदं काश्यते सर्वं सा काशी परिकीर्तये ॥ १ ॥

ढाई हजार वर्ष (बुद्ध के समय) से लेकर आज तक के इतिहास के केवल चार नगर आजतक जीवित रहे हैं। प्राचीन यहूदी जाति के शासन और धर्म की राजधानी वर्तमान ईसाई समाज से संबंधित, जारदान नदी के निकट स्थित जेरुस्लम, ग्रीस देश की राजधानी इलिस्सस नदी के समुद्र तीर के निकट बसी अथेंस नगरी, इटली देश और इटालियन जाति की इतिहासनिधि खैर नदी के समुद्र संगम के किनारे बसी रोम नगरी और विश्व की सांस्कृतिक राजधानी हमारी काशी पुरी। समयक्रम और ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर जेरुस्लम, अथेंस और रोम की स्थापना क्रमशः ई० पू० १५००, ई० पू० १४०० और ई० पू० ७५४ में हुई थी। जापान का नगर टोकियो, चीन का पीकिंग, तिब्बत का लाहसा अरब का मक्का, रूस का मारको, आस्ट्रिया का वियना, जर्मनी का बर्लिन, फ्रांस का पेरिस, इग्लैंड का लंदन, अमेरिका का न्यूयार्क तथा दक्षिणी अमेरिका का रायो-डी-जानीरो आदि विभिन्न देशों की आधुनिक प्रतिष्ठित राजधानियों की स्थापना भी ईसा के जन्म के उपरांत हुई है। संपन्न प्रकृति के लिये क्रमशः सुमिदा, ह्वन-हुवां, की–चू, जमजमकुंड, मक्का, बेला, अन्यूव, स्प्री, सीन, टेम्स, हडसन, रामोओरो आदि नदियों तथा नहरों के किनारे ईसा-जन्मोत्तर विश्व प्रसिद्ध नगरियाँ स्थिर हुई हैं। काशी विश्व की समस्त नगरियों से अधिक प्राचीनकाल से पुण्यसलिला गंगा के तट पर अपने धनुषाकार रूप में प्रतिष्ठित है।

आदि कवि वाल्मीकि ने 'काशिराज' के नियंत्रण का उल्लेख करते हुए बहुत पहले कहा था—

तथा काशीपतिम् स्निग्धं सततं प्रियवादिनम्।
सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वममेवानयस्व हि ॥

बाल्मीकि वर्णित काशीपति का स्वभाव कोमल, मृदुभाषी, सदाचारी और देवतुल्य है। वे कोशल नरेश दशरथ के प्रिय मित्र भी थे। इतना ही नहीं, वैदिक बृहदारण्यक, कौशीतकी आदि उपनिषदों में भी अजातशत्रु काश्यं काश्यां वा वैदेहो वोग ? पुत्रः 'सोऽवसत् काशी विदेहेषु' जैसे अनेक वाक्य काशी की प्राचीनता के प्रमाण हैं। वेदव्यास विरचित महाभारत की विशिष्ट उपलब्धि गीता का रचनाकाल पाँच हजार वर्ष पूर्व माना गया है। उस महान् विचारग्रंथ में भी 'काशिराजश्च वीर्यवान्', 'काश्यश्च परमेश्वासः' की चर्चा आई है। कृष्ण और बलदेव के विद्यागुरु 'काश्यां संदीपनि' काशी से उज्जयिनी जाकर अवंतिका में बसे थे और कृष्ण बलदेव ने कंस का वध करने के बाद उनके गुरुकुल में जाकर विद्याध्ययन किया था। काशी से ही गुरुकुल की आदर्श परंपरा की प्रतिष्ठा हुई है। एक बार कृष्ण ने क्रुद्ध होकर इस नगरी पर आक्रमण भी किया था। दार्शनिकों की नगरी काशी के विचारक स्व० डा० भगवान दास ने काशी के तीन रूप—कारण, सूक्ष्म और स्थूल विषय पर धारावाहिक रूप से काशी विशेषांक में तथा उसके अगले अंक में प्रकाशित देश का उत्तमांग, काशी की अतिपुराणता, काशी का विशेष धर्मधारित्व, काशी भारतवर्ष का हृदय, काशी के तीन रूप—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तीर्थता का अर्थ, आधिभौतिक काशी, इतिहास तथा आधुनिक काशी के संबंध में शोधपूर्ण सामग्री के आधार पर अपने लेख में उपयोगी विवेचना की है। प्रस्तुत लेख का विवेचन संस्कृत ग्रंथों की शोधपूर्ण सामग्री को प्रामाणिक ढंग से नियोजित कर काशी की अलौकिक महत्ता के अनुरूप विवेचित किया गया है। इस लेख की भाषा और शैली का जहाँ तक प्रश्न है, द्विवेदी युग के अनेकानेक लेखकों की भाँति संयुक्त पदावली में बड़े ही बेडौल लंबे-लंबे वाक्य अनेक स्थानों पर प्रयुक्त होकर विषय की सहजता को दुरूह कर देते हैं। कहीं-कहीं बनारसी बोली का पुट भी भाषा में टपक पड़ा है। अनगढ़ शब्दों और व्याकरण के अनेक स्खलनों से बोझिल होते हुए भी इस निबंध को पढ़कर काशी की सांस्कृतिक गरिमा की भूमिका का उपयोगी ज्ञान मिल सकता है।

श्रीराधेश्याम शर्मा ने 'काशी हिंदू-संस्कृति का केंद्र' नामक लेख लिखा है। इस निबंध की विशेषता काशी के प्राचीनकाल, मध्ययुग, भक्ति की लहर, आधुनिक युग तथा इस विद्या केंद्र के विभिन्न स्रोतों का सरल विवेचन है। श्रीशर्मा ने काशी के पंडितों और दार्शनिकों के कई विश्वविश्रुत प्रसिद्ध सिद्धांतों को इस निबंध में प्रत्यक्ष किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर काशी के नरेश से अजातशत्रु की जो-जो बातें हुई थीं उनसे भी काशी की विचारधारा पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। यद्यपि प्राचीनकाल में काशी हिंदू धर्म और संस्कृति के केंद्र के रूप में प्रख्यात

थी, तथापि इस नगरी की अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा बुद्ध की धर्मज्ञानपीठ होने के कारण भी कम लोकप्रिय नहीं हुई। अनेक बौद्ध ग्रंथों में कहा गया है कि छठी-सातवीं शती में काशी की राजनीतिक महत्ता यद्यपि स्वल्प थी फिर भी उस समय ज्ञान और संस्कृति का केंद्र यहीं था। उस समय यहाँ बड़े-बड़े सभाकक्ष थे जिनमें दार्शनिकों और विद्वानों के शास्त्रार्थ कई-कई घंटों तक चला करते थे। यह नगरी मौर्य वंश के कई नरेशों की राजधानी होने का गौरव प्राप्त कर चुकी है। आठवीं शती के अंत में शंकराचार्य के प्रादुर्भाव ने बौद्ध और हिंदू धर्म के अंध विश्वास, संकीर्णता और पाखंड को अपने पुष्ट और प्रामाणिक तर्कों द्वारा छिन्न भिन्न कर दिया था। वे अपनी दार्शनिक प्रतिष्ठा के उद्देश्य से जब काशी आए थे तो प्रसिद्ध कर्मकांडी मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में उन्होंने पराजित किया था, परंतु मिश्रजी की पत्नी से शंकराचार्य के सिद्धांत टकराकर झुक गए थे। इस किंवदंती पर किसी कारण अगर विश्वास न किया जा सके तो इतना तो इतिहाससगत सत्य है कि उपनिषदों के आधार पर शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांत-वेदवेदांत का प्रतिपादन काशी की भूमि पर ही अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था।

मध्ययुग में उत्तरी भारत पर जब भी कुतुबुद्दीन या नियाल्तगीन आदि तुर्कों या मुगलों ने आक्रमण किया तब काशी भी उनकी दृष्टि से नहीं बची और इसके विनाश में उन्होंने कोई कोर कसर बाकी नहीं रखी। काशी में प्रत्येक युग में सांस्कृतिक, धार्मिक और ज्ञानात्मक त्रिधारा ने संगम से अधिक महत्ता प्राप्त की है। भले ही कुछ दिनों के लिये काशी का सांस्कृतिक कलेवर कई बार इन अनेक बाह्य उपद्रवों के कारण ही मुरझा गया हो, परतु उसकी धार्मिक और दार्शनिक उपलब्धियों पर किसी भी प्रकार की आँच आजतक नहीं आपाई है। काशी के मंदिरों में गूँजनेवाले घंटे घड़ियाल की ध्वनि और आरती की ज्योति ने सर्वदा यह सिद्ध किया है कि भूतभावन की बसाई यह नगरी काल के समाप्त हो जाने के बाद भी अपना अस्तित्व पुनः स्थिर करेगी। सुप्रसिद्ध विद्वान् शेरिंग ने इसी लिये काशी की मुक्त हृदय से प्रशसा करते हुए कहा था—**'जब बहुत सी नगरियाँ और राष्ट्र काल के गर्त में समा गए, उस समय भी काशी का सूर्य नहीं अस्त हुआ।'**[३] मुसलमान शासकों के समय कभी काशी का सांस्कृतिक गौरव संघर्षों में पड़कर भी म्लान हुआ हो, ऐसा सिरफिरे लोग ही मानेंगे। कहा जाता है कि पंडितराज जगन्नाथ ने काशी की सीढ़ियों पर बैठकर गंगा की लहरों से प्रेरणा लेकर 'गंगालहरी' का प्रणयन किया था। जब अब्दुल रहीम खानखाना काशी के सूबेदार नियुक्त हुए थे तो काशी की गंगा की स्वच्छ लहरियों को संबोधित कर उन्हें कहना पड़ा था—

३. हंस, काशी अंक, पृ० २० (अंगरेजी उद्धरण का हिंदी अनुवाद)

सुरधुनि मुनि कन्यै तारयैः पुण्यवन्तं
सतरणि निजपुण्ये तत्र किं तव महत्त्वं
यदि जवनजानि पापिनं मां पुनीयं
तदिह तव महत्त्वं तन् महत्त्वं महत्त्वं

इसी नगरी में अप्पय दीक्षित आदि प्रख्यात वैयाकरण आकर बसे। अकबर ने शास्त्रार्थ का आयोजन करके अनेक बार यहाँ के दिग्गज पंडितों को अपनी ज्ञानप्रियता और गुणग्राहकता से संमानित किया था। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने अपने जीवन के अधिकांश अभागे दिन इसी नगरी के आश्रय में बिताकर १५० विद्वानों की सहायता से उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था और यहाँ के प्रकांड पंडितों से उसने संस्कृत भाषा और उसमें रचित अनेक महान् ग्रंथों का ज्ञानलाभ भी किया था।

काशी के घाटों और गलियों में कबीर और संत रैदास की वाणी का गुंजन लोक की तत्कालीन संकीर्णताओं को मिटाने के लिये इसी नगरी में कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। देश के अधिकांश समाज-सुधारकों, साधु संतों, महात्माओं, धर्मप्रवर्तकों, साहित्यकारों और कलाकारों का संबंध किसी न किसी रूप में काशी नगरी से अवश्य था और आज भी है। अपितु शंकराचार्य की परंपरा से भिन्न, गौतम बुद्ध की भाँति रामानंद ने काशी को ही अपनी साधना के लिये उत्तरोन्मुख पाया। गुरुनानक और चैतन्य जैसे समाज-सुधारकों ने काशी में अपने अनेक वर्ष गुजार दिए। रामचरितमानस का निर्माण तुलसी ने इसी धरती पर बैठकर किया था। उनके प्रत्यक्ष स्मारकस्वरूप, तुलसी घाट, संकटमोचन और चेदिराज कर्ण द्वारा स्थापित कर्णघंटा काशी में आज भी विद्यमान हैं।

संस्कृत विद्या का नियमन वारेन हेस्टिंग्स की सहायता से इस नगरी में पुनः प्रतिष्ठित हुआ। सन् १८७२ ई० में यहाँ गवर्नमेंट संस्कृत कालेज की स्थापना हुई। सन् १८१८ ई० में जयनारायण घोषाल ने भी जयनारायण कालेज की स्थापना की। स्वामी दयानंद सरस्वती और राजा राममोहनराय ने आधुनिक सुधारवादी विचारों की प्रतिष्ठा करते समय अपने आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज की काशी में भी स्थापना की, परंतु काशी के किसी भी कण में वे अपनी ज्ञानधारा को प्रवाहित करने में समर्थ न हो सके। सिस्टर निवेदिता ने यहाँ की शिक्षाप्रणाली की प्रशंसा करते हुए कहा था, '**यह नगरी प्राच्य विद्या की खान है**।'[४] इस लेख की भाषा में सहजता है और बात-चीत के लहजे में ही यह निबंध लिखा गया है। निबंध का लघु-

४. हंस, काशी अंक, पृ० २१ (अंगरेजी भाषा का उद्धरण)।

कलेवर देखते हुए जो कुछ भी काशी के संबंध में उसमें आपाया है उसे भी अल्प ही कहा जा सकता है परंतु जो भी नई बातें कही गई हैं, वे लेखक के प्रत्यक्ष और प्रामाणिक ज्ञान पर आधारित हैं।

स्व० श्री व्रजरत्नदास ने हिंदी साहित्य में अपने संकल्पात्मक कार्य के निमित्त चतुर्दिक् प्रशंसा प्राप्त की है। काशी अंक में 'काशी का इतिहास' नामक एक विस्तृत निबंध द्वारा उन्होंने स्कंद पुराण, हरिवंश, श्रीमद्भागवत, शतपथ तथा कौशीतकी ब्राह्मण आदि ग्रंथों के आधार पर इस नगरी की पौराणिकता को मनु के युग से संबंधित किया है।

त्रेता युग के राजा सुहोत्र के पाँच काश्य ने काशी की पुरी बसाई। काश्य के उत्तराधिकारी काश्यमान ने इसी नगरी को अपनी राजधानी बनाया और हर्यश्व तथा उसके पुत्र सुदेव की हत्या काशी में हैहय वंशियों ने की थी। इन्हीं राजा सुदेव के पुत्र दिवोदास ने दुर्ग संरचना कराकर काशी की सुरक्षा की। स्वयं युद्ध में दुर्दम हैहय नरेश द्वारा उनका प्राणांत हो गया। उनके पुत्र प्रतरदन्य ने हैहय-वंशियों का समूल नाश करके अपनी राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ करली। इस वंश की चौबीस पीढ़ियों का स्फुट इतिहास संस्कृत ग्रंथों में बिखरा पड़ा है। कोशल नरेश राम के शासन के आस-पास इस वंश का भी आधिपत्य होना चाहिए। महाभारत युद्ध में प्रतरदन्य के वंश का विनाश हो जाने के कारण हैहय वंशियों ने अट्ठाईस पीढ़ियों तक काशी में शासन किया था। उनकी राज्य परंपरा में पाँच शासक भी हुए थे। जब गौतम बुद्ध ने काशी में अपना प्रथम ज्ञानदान किया तब उनसे प्रभावित होकर काशी नरेश यशरथ सपरिवार बौद्ध धर्म की दीक्षा में प्रशिक्षित हो गए। जब मगध में मौर्य वंश का प्राधान्य हो गया तब से लेकर काशी कई शताब्दियों तक मगधराज के शासन में थी। तदनंतर कण्व, सुंग तथा आंध्र वंशावलियों के शासनांतर्गत गुहा राज्य की गणना हो जाने से सन् ४३० ई० के लगभग काशी पर इन्हीं के वंशजों का अधिकार रहा। थानेश्वर के सम्राट हर्षवर्द्धन के समय तक (सन् ६५०) काशी उन्हीं के अधिकार में रही। उसी समय ह्वेन सांग भारतयात्रा पर आया था। उसने काशी का जो वर्णन किया है वह अत्यंत प्रामाणिक कहा जा सकता है। हर्षवर्द्धन के निधन के उपरांत उसके साम्राज्य का विघटन हो गया और कन्नौज के यशोवर्मा मौखरी के वंश का सन् ७४१ ई० के पूर्व तक इस नगरी पर आधिपत्य रहा। इसी समय काश्मीर नरेश ललितादित्य से पराजित होकर काशी ही नहीं कन्नौज तक का राज्य श्री-विहीन हो गया। श्रीब्रजरत्नदास ने इतिहास और संस्कृत के पुराने ग्रंथों की अनेक इतिहाससंमत तिथियों को आधार मानकर काशी के अनेक तूफानी पतिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए महाश्मशान भूमि की ऐतिहासिक गाथा का विवरण देने के उद्देश्य से इस निबंध को लिखा है। मनु युग

से प्रारंभ करके फरवरी सन् १९३१ ई० तक की क्रमबद्ध बातों को इस निबंध में लिखा गया है।

श्रीरामदास गौड़ ने काशी की तंत्रसाधना की परंपरा में अपने ज्ञान का अगाध पारावार बड़ी ही सफलता पूर्वक व्यक्त किया है। गोस्वामी तुलसीदास की अनेक रचनाओं के आधार पर, और काशी के विविध स्वरूपों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि तुलसीदास के समय की काशी का राजनैतिक वातावरण भले ही ठीक ढंग से निर्णीत न हो पाया हो, परंतु तुलसीदास की समर्थ रचनाएँ यहाँ के तद्युगीन समाज और जीवन के संबंध में सही जानकारी देती हैं। तुलसीदास ने प्रत्यक्ष सत्य के आधार पर उनका काव्यमय वर्णन किया है। वाल्मीकि रामायण की रचना के पहले ही काशी में कोशल नरेश सत्यवादी हरिश्चंद्र को यहाँ का डोमड़ा खरीद सकता था और यहाँ के ब्राह्मण के घर पर हरिश्चंद्र की पत्नी और पुत्र क्रीत कर लिए गए थे। इतिहास की आँधी और अंधड़ों में भी काशी अपने विस्तृत ज्ञान का और भी तूफानी ढंग से व्यापक प्रसार करती गई है। अनेक नगर इतिहास के तूफानो में छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

कहा जाता है कि तुलसीदास ने १२७ वर्ष का दीर्घ जीवन पाया था। उन्होंने पंचगंगा घाट पर शेष सनातनजी से बारह वर्ष की अवस्था से विद्याध्ययन प्रारंभ किया। उन्होंने इसी नगरी को अपने कार्यक्षेत्र का प्रमुख केंद्र बनाकर अपने यौवन-काल में ही गृहत्याग किया और सत्रह वर्षों तक अनेक स्थानों का पग-पर्यटन करते हुए रामचरितमानस की रचना के लिये शक्ति, अनुभव और ज्ञान का अर्जन करते रहे। बाबा बेनीमाधवदासजी के कथनानुसार तुलसीदास जी की अवस्था गृहत्याग के समय ३५ वर्ष की होनी चाहिए। सं० १६३१ की रामनवमी को अयोध्या में राम-चरितमानस का कार्य प्रारंभ हुआ। कुछ लोग मानते हैं कि रामचरितमानस अयोध्या में रह कर लिखा गया। परंतु किष्किंधा कांड के अंत तक की मानस-रचना काशी में हुई। तुलसीदास के दो सौ वर्ष पूर्व स्वामी रामानंद काशी में रहते थे। उसी समय पंचगंगा घाट से आगे दशाश्वमेध घाट तक घाटों के निर्माण का कार्य पुनः चालू हुआ होगा। काशी के संबंध में लिखित इतिहासों और जनश्रुति की परंपरा पर यह स्थापना खरी उतरती है। सं० १६६६ वि० में टोडरमल के निधन के बाद तुलसीदास ने उनके वंशजों का झगड़ा भी निपटाया था। टोडरमल के पट्टे के आधार पर पता चलता है कि छित्तूपुर, भदैनी, शिवपुर, नदेसर आदि अनेक काशी के वर्तमान मुहल्ले तब गाँव थे। उस समय तुलसीदास जब भी काशी पधारते थे प्रह्लादघाट पर अपने मित्र पं० गंगाराम ज्योतिषी के यहाँ डेरा डालते थे। ज्योतिषीजी काशी-राज-दरबार के संमानित पंडितों में थे। तुलसीदास का

अधिकांश समय प्रह्लादघाट, हनुमान फाटक और राजघाट पर बीता है। वे कई मास तक गोपाल मंदिर में भी रहे थे। वहाँ के गोस्वामियों से जब इनकी अनबन हुई तो उनके दूसरे मित्रों ने अस्सी घाट पर नवनिर्मित भवन में उन्हें टिकाया। इस नगरी के बाहर यह स्थान होने के कारण अपनी प्रतिज्ञा पर अटल तुलसीदास काशी के निकट रह पाए। आज भी काशी के कई मुहल्ले—काजी टोला, चौहट्टा लाल खाँ आदि आदमपुर हल्के में है। सबल अनुमान के बल पर लेखक ने सिद्ध किया है कि तुलसीदास के समय में काशी नगरी का प्रारंभ वरुणा संगम के आदिकेशव नामक स्थान से होता था। राजघाट के किले का भी वहीं के आस-पास से प्रारंभ हुआ है। किले से लेकर दशाश्वमेध तक काशी की संघन आबादी थी। दशाश्वमेध और विश्वनाथ मंदिर काशी की दक्षिण सीमा थे। भेलूपुर हल्के का बंगालीटोला, सोनार पुरा, शिवाला, हनुमानघाट, और दर्जनों इधर के मुहल्लों का उस समय तक नामो-निशान भी नहीं था। लोगों को कबीर के पैदा होने के पहले से तुलसी के काशी आगमन के पूर्व ही लहरतारा की जानकारी रही होगी। किंतु आदमपुर हलका उस समय की काशी का सर्वाधिक जनसंकुल भाग था। उस समय का चौक, चौहट्टा लाल खाँ था और काजी आदि अपनराव काजी सराय में रहा करते थे। नगर की भीतरी और बाहरी मंडियाँ क्रमशः त्रिलोचन और विश्वेश्वरगंज आदि उस समय के मुहल्ले किले की चहार दीवारी की भांति बिखरे आवासों में घिरे हुए थे। उनके द्वार पर एक प्रमुख फाटक रहता था जिसका अवशेष और स्मृति कई मुहल्लों के रूप में आज भी प्रत्यक्ष है। उस समय फाटक दरवाजा, मछहट्टा फाटक, हनुमान फाटक आदि मुहल्ले थे। शहर में जमीन के भीतर गंदे पानी का नाला बहता था। तेलिया नाला बीच शहर से बहता हुआ गंगा में मिल गया है। अभी भी तेलिया नाला तथा काशी के इस प्रकार के कई अन्य नालों की भीतरी जांच की जाय तो कई परनालों की शृंखला मिलेगी जिसमें होकर तीन-तीन घुड़सवार आ जा सकते हैं। तेलिया नाला के भीतर जाने के लिये सीढ़ियों की व्यवस्था है। उसके ऊपर एक बंद कमरा है जिसके भीतर ताला लगा हुआ था। तुलसीदास के समय में ज्ञान-वापी मस्जिद, विश्वनाथ मंदिर था। विश्वनाथ तुलसी के नाथ राम के लिये भी पूज्य थे। इसी लिये काशी-विश्वनाथ की अनंत महिमा तुलसी ने गाई है। गोस्वामीजी काशी में विश्वनाथजी की प्रतिमा के समक्ष अपना मस्तक झुकाते थे। धरहरा के पास स्थित बिंदुमाधव की प्रतिमा से उनको कम अनुराग न था। आजकल बिंदु-माधव मंदिर के पास, गोस्वमीजी द्वारा वर्णित 'बिंदुमाधव' के दर्शन से पता चलता है कि उनके दक्षिण ओर लक्ष्मी विराजमान थी। गौड़जी ने अनुमान किया है कि वर्तमान बिंदुमाधव के आस-पास वह प्रतिमा आज भी किसी महाराष्ट्रीय सज्जन के हाते में स्थित है।

दच्छ भाग अनुराग सहित इंदिरा अधिक ललिताई।[5]

× × ×

रूपशील गुनखानि दच्छ दिशि सिंधु-सुता रति पद सेवा ॥[6]

इस पद के अनुसार विंदुमाधव के निकट निश्चय ही लक्ष्मी की प्रतिमा रही होगी। विनयपत्रिका के एक पद में काशी को कामधेनु मानकर इस नगरी का भौगोलिक वर्णन किया गया है। सरिता असी, लोलार्क, माधव-विंदुमाधव, पंचगंगा, आदि-केशव, वरुणा, कालभैरव, त्रिलोचन, करनघंटा, मणिकर्णिका, पंचकोशी आदि ग्यारह तीर्थों के नाम भी इस पद में आए हैं। समस्त श्रुतपरंपरा की जानकारी से परिपूर्ण काशी की केवल अवतारणा ही इस लेख की विशेषता नहीं हैं अपितु तुलसी के समय की काशी की ऐतिहासिक, राजनैतिक, शैक्षिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर भी संकेतात्मक प्रकाश इस लेख में डालने का प्रयास किया गया है। काशी के अनेक पंडितों ने पाली को संस्कृत भाषा की द्रोही मानकर बुद्ध की कद्र नहीं की थी। यह संकेत बौद्ध ग्रंथों में बिखरा पड़ा हुआ है। अवधी बोली को अपनी रचना का माध्यम बनाने के कारण इस प्रकार के पंडितों के केवांच से काड़ुए वचन सुन कर विनम्रतापूर्वक तुलसी ने कहा था—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करैं कवांच ॥

उस समय काशी में हो रहे म्लेच्छों के कुकर्मों पर अत्यंत आक्रोश में भरकर तुलसीदास ने कहा था—'जिनके अस आचरन भवानी, ते जानहु निश्चर सम प्रानी।' निश्चरों की ओर जो संकेत है वे ही उस समय की काशी में मुसलमानों के जासूस बनकर कुचक्र रचना करते और शासन को भेद देते थे।

तुलसीदास के समय की काशी उन्हें पाकर इतिहास और परंपरा में धन्य हुई है। 'हिंदुत्व' के समर्थक श्री रामदास गौड़ ने तुलसी को हिंदुत्व का संरक्षक माना है और अपनी इस वर्णनात्मक विवेचना में व्यापक अध्ययन का परिचय दिया है। तुलसीदास जैसे समस्त भारत के एकमात्र राष्ट्रीय कवि ने स्वाधीनता की प्राचीनकाल में प्रतिष्ठित कामना करते हुए न जाने क्यों क्या सोचकर इसी नगरी में बैठकर लिखा था—

रामायन अनुहरण सिख, जग भइ भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति ॥

५. विनय पत्रिका, पद ६२।

६. वही पद ६३।

'सूर्योदय' के संपादक विंध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री ने 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' नाम के अपने लेख में आर्यों के इस विश्वास की विवेचना में कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है, आश्वालायन श्रौत-सूत्र जैसे स्मृति ग्रंथों के आधार पर कहा है कि 'जो मनुष्य काशीपुरी में शरीर त्याग करते हैं, उनके कान में स्वयं भूतभावन 'तारक' मंत्र का उपदेश देते हैं। **जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने पाप-पुण्य-कर्म के बंधन से छुटकारा पाकर मुक्त होते हैं।'**[७] वेदों की दार्शनिक स्थापना, कर्म, उपासना और ज्ञान की त्रिभाषात्मक धारा के निष्कर्ष स्वरूप अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म भाव पर भी उन्होंने शास्त्र प्रचलित बातें लिखी हैं। देखा जाय तो यही त्रिभाषात्मक निष्कर्ष दार्शनिकों के तीन प्रस्थान हैं। स्मृतिकारों के तीन अनुशासन हैं, मूलतः तांत्रिक पौराणिकों के त्रिविध भाव भी यही है।

श्रीकृष्ण हसरत ने 'काशी विश्वनाथ' नामक निबंध में ईश्वर के प्रति स्वाभाविक सामर्थ्य प्रकट करते हुए ज्योतिर्मय स्वयंभू लिंग के संबंध में भविष्य पुराण के आधार पर सिद्ध किया है कि आकाश लिंग है, पृथ्वी उसकी पीठिका या गौरीपीठ है और उसी में सभी प्राणियों का वास है। प्रलय के समय समस्त शक्तियाँ इसी के साथ समाप्त होकर नई सृष्टि में परिवर्तित हो जाती हैं। परब्रह्म परमात्मा शिव हैं। वेद और पुराणों की भी ऐसी ही मान्यता है। इस निबंध में वर्तमान काशी विश्वनाथ मंदिर की स्थापत्य कला और व्यवस्था पर विशेष प्रकाश डाला गया है। विश्वनाथ मंदिर की पुनः प्रतिष्ठा महारानी अहिल्याबाई ने पंचमंडपयुक्त इस विशाल मंदिर के प्रांगण में किया था। लाल पत्थरों के बने विश्वनाथ मंदिर की ऊँचाई इक्यावन फीट है। सन् १८३९ ई० में राजा रणजीत सिंह ने मंदिर के ऊपरी हिस्सों को स्वर्णमंडित करा कर इसकी शोभा में अभिवृद्धि की। आज भी विजातीय लोग विश्वनाथ मंदिर का दर्शन उस स्थान से करते हैं जहाँ से सुजाउद्दौला ने मंदिर के पत्थरों को तोड़कर नौबतखाना बैठवा दिया था। विश्वनाथ मंदिर के व्यवस्थापकों, प्रबंधकों और पुजारियों की वंशावलियों तथा व्यवस्था संबंधी संकेतों का भी परिचय इस लेख में संजोया गया है। प्राचीनकाल से जैनों का भी यह नगर प्रतिष्ठित तीर्थस्थल रहा है। उसके संबंध मे 'काशी और उसके जैन तीर्थ' नामक निबंध श्री कैलाशचंद्र शास्त्री ने लिखा है।

आज भी काशी की ज्ञानगरिमा और संस्कृति के संवर्द्धन में यहाँ के संस्कृत साहित्य के पंडितों की पूजा विश्व करता है। देखा जाय तो काशी संस्कृत और संस्कृति दोनों का केंद्र है। 'सुप्रभातम्' और 'वनौषधि' के संपादक पं० केदारनाथ शर्मा ने इस विशेषांक में 'संस्कृत साहित्य और काशी के पंडित' नामक विवेचनात्मक निबंध लिखा था। 'गवर्नमेंट संस्कृत कालेज' तथा 'प्रिंस आफ वेल्स लाइब्रेरी' की

७. हंस, काशी अंक, पृ० ६७।

स्थापना के समय से लेकर सन् १९३३ ई० तक की काशी के संस्कृत साहित्य के निर्माताओं और पंडितों की रचनाओं और जीवन पर इस लेख में तटस्थ होकर कई बातें लिखी गई हैं। पं० सुधाकर द्विवेदी और बापूदेव शास्त्री दो जगत्-प्रसिद्ध गणितज्ञ गवर्नमेंट संस्कृत कालेज की शोभा बढ़ाते थे। उन विद्वानों की सहायता से ही डा० लाजरस ने मेडिकल हाल प्रेस से 'पंडित-पत्र' का प्रकाशन किया था और इस पत्र के द्वारा प्राचीन संस्कृत साहित्य का वैज्ञानिक पद्धति पर उन्होंने उद्धार भी किया। उस समय बालदत्त शास्त्री ने संस्कृत व्याकरण महाभाष्य का संपादन भी किया। प्रसिद्ध कवि और विद्वान पं० बेचनजी संस्कृत कालेज के साहित्याचार्य थे। वे उतने ही बड़े नामी पहलवान भी थे जितने अगाध पंडित और सरस कवि। उनका जीवनचरित स्व० पं० चंद्रभूषण शास्त्री ने विस्तार से लिखा था 'पंडित पत्र' के बंद हो जाने के बाद 'विजयानगरम् संस्कृत सिरीज' और 'चौखंभा संस्कृत सिरीज' से भी अनेक संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के तिलक और व्याख्याओं का प्रकाशन होता रहा। गवर्नमेंट कालेज के अध्यापक पं० राममिश्र शास्त्री की यह विशेषता थी कि आजीवन उन्होंने शब्दों की पुनरुक्ति न करने के व्रत का पालन किया। अनेक प्रसिद्ध निबंध यथा 'श्राद्ध संस्कार मीमांसा', 'मंत्र मीमांसा', 'अब्धिनवयान मीमांसा' शास्त्री जी विरचित और प्रकाशित हैं। लार्ड मिंटो ने आपसे 'गीता-प्रवचन' सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था। पं० दुखभंजन मिश्र कविचक्रवर्ती पं० देवीप्रसाद शुक्ल के पिता थे। वे इसी नाम से कविताएँ लिखा करते थे। वे संस्कृत साहित्य के आधुनिक निर्माताओं के भी जनक थे। चौसठ कंदर्पो में पचास कलाओं के वे पूर्णतः ज्ञाता थे। उन्होंने अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, रत्न-परीक्षा-शास्त्र, सामुद्रिक-ज्योतिष आदि कई ग्रंथ लिखे थे जो आज भी उतने ही प्रामाणिक माने जाते है जितने प्रकाशित होने के समय थे। दुखभंजन जी की विशेषता थी दस-दस बोतल तक कड़ी से कड़ी शराब पीकर वे कविता लिखना प्रारंभ करते थे पर एक भी असंतुलित शब्द उनके छंदों में व्यतिक्रम नहीं उत्पन्न करता था। उनके दो काव्य ग्रंथ 'चंद्रशेखर महाकाव्य' और 'वाग्वल्लभा' प्रकाशित हो चुके हैं। सर्वश्री पं० गंगाधर शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री, तत्याशास्त्री और दामोदर शास्त्री आदि अनेक वर्तमान शताब्दि के प्रकांड संस्कृत पंडितों के गुरु बालशास्त्री सरस्वती थे। उपर्युक्त चारो विद्वान् संस्कृत कालेज में अध्यापन करते थे। पं० गंगाधर शास्त्री की शिष्य परंपरा में सर्व श्रीरामावतार शर्मा, दामोदरलाल गोस्वामी, नित्यानंद पर्वतीय, गिरधर शर्मा 'नवरत्न', नागेश्वर पंत धर्माधिकारी और नारायण शास्त्री के अतिरिक्त उनके अनुजद्वय राम शास्त्री और लक्ष्मण शास्त्री आदि ने उनके आदर्श और ज्ञान के पथ पर चलकर संस्कृत भाषा और साहित्य की महती सेवाएँ की हैं। पं० सुधाकर द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास और रामावतार शर्मा

आदि की देन हिंदी साहित्य के क्षेत्र में जिस रूप में परिगणित होनी चाहिए वह अभी तक संभव नहीं हो पाई है। इस शुद्ध हिंदी भाषा में लिखे गए निबंध में संस्कृत के काशीस्थ पंडितों और संस्कृतज्ञों का परिचय देने का विस्तार से आयास किया गया है। सुविधा के लिये उन्हें शास्त्रार्थी विद्वान्, अध्यापक विद्वान् और साहित्यिक विद्वान्, इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने 'काशी और हिंदी साहित्य' पर विस्तृत भूमिका के साथ हिंदी के विकास का विवेचन किया है। काशी के साहित्यिकों की उपलब्धियों का उन्होंने खास ख्याल रखा है। काशी में राम और कृष्ण काव्य परंपरा के भी अनेक कवि हो चुके हैं। रीतिकालीन साहित्य में भी काशी के साहित्यकारों की देन रीतिकालीन अलंकारों के चमत्कार दिखानेवाली रचनाएँ इतिहास के मान्य कवियों से किसी भी माने में पीछे नहीं है। विक्रम की उन्नीसवीं शती में काशिराज उदितनारायण सिंह के दरबार में गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, हनुमान आदि प्रतिष्ठित कवि थे। वे दरबारी साहित्य की शोभा बढ़ाते थे। प्रथम तीन साहित्यकारों ने काशिराज के आज्ञानुसार दो हजार पृष्ठ में महाभारत का प्रामाणिक अनुवाद किया था। उस ग्रंथ के आयोजन में काशिराज के लाखों रुपये पानी की तरह बहे थे। पचास-साठ वर्ष के समन्वित श्रम के उपरांत अनुष्ठान की पूर्णाहुति संभव हो सकी थी। परिमार्जित व्रजभाषा की इस कृति के विशिष्ट अनुवाद का स्थायी महत्त्व माना जाता है। इस अनुवाद का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से हुआ था। दूसरे काशिराज ईश्वरीप्रतापनारायण सिंह के दरबार में भी सरदार, नारायण आदि कई प्रत्युत्पन्नमति एवं प्रतिभा के धनी कवि थे। नारायण कवि सरदार कवि के प्रमुख शिष्य थे। इन दोनों पंडित कवियों ने केशव, सूर, बिहारी पर भाषा और अलंकार के निर्णय में एकमत न होकर भी सामयिक साहित्य की कठिनाई को देखते हुए विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं। अनुभव और सत्य की दृष्टि से इन टीकाओं का अध्ययन करने पर हिंदी साहित्य में कई नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हो सकता है। सरदार कवि ने तुलसीभूषण, शृंगारसंग्रह, रामरत्नाकर, साहित्यसुधाकर आदि अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की थी। 'वाक्-विलास' के कवि सेवक ठाकुर के पौत्र कहे जाते हैं। अनेक पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों ने इस कृति को सरदार कवि का लिखा हुआ सिद्ध किया है। कवि सेवक काशी के एक रईस देवकीनंदन के पौत्र हरिशंकर के संरक्षण में रहते थे। चेतसिंह के समय में देव के प्रबल समर्थक कवि मनियार सिंह राजवंश से संबंधित थे। उन्होंने महिम्न भाषा, सौंदर्यलहरी, हनुमत छतीसी आदि ग्रंथों की रचना की थी। हिंदी के प्रसिद्ध कवि दीनदयाल गिरि का जन्म काशी के गायघाट मुहल्ले में सन् १८५९ ई० में हुआ था। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में दीनदयाल गिरि की

अन्योक्तियों को परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित हिंदी भाषा की बेजोड़ रचना माना है। शुक्लजी ने उनकी रचनाओं में संस्कृत भावों का पुनरुक्ति दोष भी दिखाया है। भारतेंदु के पिता गिरधरदास भारतेंदु के शब्दों में चालीस ग्रंथों के लेखक थे। वे कवि दीनदयाल गिरि के अनन्य मित्रों में थे। गिरिजी की प्रमुख रचनाएँ 'अनुरागबाग', 'दृष्टांततरंगिणि' और 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' हैं। गिरधरदास रचित भारतीय भूषण, जरासंध वध, रसरत्नाकर, तथा वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद हिंदी में अबतक उपलब्ध हो चुकी हैं। विलायती शासन की प्रतिष्ठा के साथ ही दिनोदिन पिछले खेवे के कवियों की पूछ कम होने लगी और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे लोगों ने फारसीबहुल और ऊबड़खाबड़ हिंदी का प्रयोग शासन को प्रसन्न करने के प्रयास में आरंभ किया था। कई अर्थों में भारतेंदु उनके शिष्य थे। उन्होंने ब्रजभाषा का परिष्कार और मार्जन किया, उर्दू और फारसी की दर्दभरी भावप्रवृत्तियों को सुपाच्य ढंग से अपनी ब्रज रचनाओं में व्यक्त करने में भारतेंदु ने अपनी व्यक्तिगत शैली का निर्माण किया था। पाश्चात्य लाक्षणिक पद्धति का सफल प्रयोग भारतेंदु के बाद 'रत्नाकर' और 'प्रसाद' ने अपनी रचनाओं में प्रारंभ किया। गद्य की शैली की दृष्टि से संस्कृतनिष्ठ हिंदी का सफल स्वरूप भारतेंदु की भाषा में प्रयुक्त हुआ है। उनकी भावावेश की शैली का स्वल्प विकास वियोगी हरि, राजा रघुवीरसिंह आदि ने अपनी कई रचनाओं में करने का प्रयत्न भी किया है। भारतेंदु और उनके सहयोगियों की देन हिंदी के वर्तमान साहित्य और युग की जड़ मानी जाती है। ब्रजभाषा की परंपरा के अधिकांश अर्थों में अंतिम कवि रत्नाकर कहे जा सकते हैं। वे केवल घनानंद और पद्माकर की परंपरा को पुनर्जीवित करके ही नहीं रह गए अपितु ब्रजभाषा के उद्धारक रूप में उन्होंने ब्रजभाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की प्रौढ़ और वैज्ञानिक परंपरा का भी सूत्रपात किया। उन्हीं के समय में हरिऔध, शुक्लजी, प्रसाद, दीनजी, उग्र आदि हिंदी की संपन्नता के निमित्त अपनी रचनात्मक प्रतिभा का प्रयोग हिंदी साहित्य में कर रहे थे। उपन्यासों के क्षेत्र में प्रथम मौलिक रचनाकार देवकीनंद खत्री माने जाते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा काशी के साहित्यकार थे। मानव मन के सफल कलाकारों में प्रेमचंद का नाम लिया जा सकता है। डा० श्यामसुंदरदास ने हिंदी की एकेडेमिक स्थापना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संभव कराई। अपने निबंध में श्रीकृष्णशंकर शुक्ल ने प्रचलित साहित्यिक जानकारियों से हिंदी जगत को परिचित कराया है। उनकी शैली निर्णयात्मक कम विवेचनात्मक अधिक है।

ठाकुर बैजनाथ सिंह का निबंध 'काशी के प्राचीन कविसमाज' से संबद्ध है। मीरघाट के निर्माता लखनऊ के नवाबों के चकलेदार मीर रुस्तम अली खाँ (जिनका

समय उद्धृत नहीं किया गया है) की एक कविता लेखक ने अपनी स्मृति से उद्धृत की है—

> पढ़ैं पंडितौ वैद विद्या सदा ही,
> परमहंस दंडी अखंडी संन्यासी।
> कहै 'मीररुस्तम' जहाँ भीति ना यम,
> सुचलुचितु चलुचित्त चलुचित्त काशी ॥[८]

मीर के उपरांत काशिराजदरबार में गुणी कविगण अपनी कवितासुधा के प्रवाह का उन्मुक्त अवसर पाते रहे। उस समय काशिराजदरबार में रघुनाथ, गोकुलनाथ, गौरीनाथ आदि खानदानी कवि रहते थे। गोपीनाथ, गोकुलनाथ और मणिदेव आदि के अनूदित ग्रंथों की चर्चा की जा चुकी है। महाभारत के संयुक्त अनुवाद के अतिरिक्त गोकुलनाथ ने चेतसिंह की प्रसन्नता के लिये 'चेत-चंद्रिका' नामक चारण काव्य की रचना की थी। उस समय की काशी में लाल, देवकीनंदन सिंह, गोविंद, किंकर आदि प्रमुख कवि थे। 'विहारी सतसई पर लिखी गई देवकीनंदन जी की टीका उनकी कृति-कीर्ति है। राजा ईश्वरीनारायण सिंह के दरबार में टीकमगढ़ से सरदार कवि पधारे और यहीं पर अपना कविकर्म प्रारंभ किया। उन्होंने भी विहारी सतसई की टीका लिखी। सेवक कवि हरिशंकर जी के दरबारी थे। अपने जीवन में उनका आश्रय छोड़कर बड़े से बड़े राजाश्रय को भी उन्होंने ठोकर मार दी। कवि सेवक गंगा किनारे दशाश्वमेध पर रहते थे, उनके आवास के बाहर साइनबोर्ड टँगा था—'कवि सेवक दोष परे तो कहा, है भरोस यही कि परोस तिहारे।' सेवक कवि एकबार काशिराज के दरबार में वृद्धावस्था में सीढ़ियों पर चढ़ते समय थकावट के कारण हाँफते हुए दरबार में पहुँचे। सेवक को संकेत कर महाराज ने कहा—'कवि जी, आपकऽ भी बुढ़ौती आय गयल'। सेवक जी ने उसपर उत्तर दिया था—**'कवि सेवक बूढ़ भयो तो कहा, पै हनोजहै भोज मनोजहिं की'।'**[९]

ईश्वरीनारायण सिंह के दरबार में गणेश, हनुमान, नारायण, दत्त द्विज, मन्ना, चन्द्रभान, बेनी आदि कवि रहते थे जिनकी रचनाएँ आज के मशीनी वातावरण में प्रायः विलुप्त होती जारही हैं। जब प्रिंस आफ वेल्स काशी आए थे उस समय गणेश कवि ने काशीनरेश की प्रशस्ति में एकाग्रचित्त से कहा था—

८. हंस, काशी अंक, पृ० १७८।
९. वही, पृ० १७९।

राजन महाराजन की गिनती गिनावै कौन।
जहाँ शाहजादे पाँव प्यादे चले आवते॥[10]

उसी समय बुंदेलखंड के कवि और भारतेंदु के मित्र रघुनंदन कवि काशी के औरंगाबाद मुहल्ले में आकर रहने लगे। यहाँ के कवियों के संबंध में शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है: 'एक बड़ा ही उन्नतिशील कविसमाज काशी में उस समय संगठित था। सरदार, सेवक, नारायण, गणेश, दत्त, द्विजराज, सुधाकर द्विवेदी, शीतलप्रसाद द्विवेदी, द्विज, बेनी, रामशंकर व्यास, बचाऊ चौबे, रसीले कवि, माधव सिंह 'माधव', रामकृष्ण वर्मा 'बीर', छोटूलाल (हनुमान जी के पंडा), प्रीतम, सिद्ध हनुमान, तेग अली, रघुनाथ, हरिशंकर आदि इस कविसमाज के सदस्य थे। उस समय के नए कवियों में रत्नाकर और अम्बिकादत्त व्यास भी इस कवि समाज में थे। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (मिर्जापुर) और काशीनाथ खत्री (सिरसा) भी समय-समय पर इस कविसमाज में आते थे। इस कवि समाज के सभापति सरदार कवि थे, संयोजक और मंत्री स्वयं भारतेन्दु।'[11]

ठाकुर कवि के वंशज बख्शी हंसराज भारतेंदु के पिता गिरिधरदास के मित्र और उनके शुभेच्छु थे। उस समय काशी में लोकनाथ कवि विद्यमान थे। वे गवर्नमेंट कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। कविसमाज की गोष्ठियाँ उनके यहाँ प्रायः आयोजित हुआ करती थीं। एक कविगोष्ठी में तेगअली का जूता गयब हो गया, तब उन्होंने कहा था—

मजबून चोरी गया बला से साहब
महफिल में जूते का चुराना नहीं अच्छा।[12]

एकबार उस कवि समाज में बाहर से शेखर कवि का आगमन हुआ। भारतेंदु जी की प्रतिभा के वे बहुत पहले से ही कायल थे। उन्होंने नवयुवक के रूप में भारतेंदु को प्रत्यक्ष देखकर पवित्र हृदय से मंगलकामना की। शिवसिंह सेंगर के कथनानुसार उस समय ब्रजभाषा के साहित्य की अवस्था दयनीय थी। भारतेंदु ने गोष्ठियों से ब्रजभाषा का लिखित और पठित परिष्कार करवाने का बृहत् प्रयत्न किया। चौखंभा स्थित उनके वासस्थान पर सदैव दो लेखक रहा करते थे। उनके जिम्मे पुराने ग्रंथों की खोज और कापी करने का काम था। अनुपलब्ध पुरानी कविताओं को लिखाने के लिये पच्चीस रुपया सैकड़े के हिसाब से भारतेंदु जी पुरस्कार दिया करते थे। एकबार उन्हें पठान सुल्तान की कुंडलियों की

१०. हंस, काशी अंक, पृ० १७६।
११. शिवसिंह सेंगर लिखित–शिव सिंह सरोज।
१२. हंस, काशी अंक, पृ० १७६।

बड़ी खोज थी। प्रत्येक कुंडलिया पर पंद्रह रुपए तक पुरस्कार देने की घोषणा की। कवि सेवक ने स्वयं रचकर पच्चीस कुंडलियाँ सुल्तान कवि के नाम से उसी छंद, शैली और काव्यशक्ति सहित उन्हें सुनाई थीं। पुरस्कार का प्रश्न आने पर सेवक कवि ने कहा था—'इ सब तऽ हमार बनावल कवित्त ही।' भारतेंदु के अवसान के उपरांत काशी का कविसमाज प्रकाशहीन हो गया। उनके न रहने पर प्राचीन कविसमाज में लालबाबा 'रससिंधु' का कई वर्षों तक बोलबाला था। लालबाबा ने प्राचीन कविसमाज को गोपाल मंदिर में पुनः संगठित किया। 'समस्यापूर्ति' नामक कई खंडों में संकलित अधिकांश कविताओं से इस कविसमाज की कवित्वशक्ति का अंदाज लगाया जा सकता है। 'समस्यापूर्ति' में रामकृष्ण वर्मा आदि के उद्योग से बाहर के कई कवियों ने भी अपनी रचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजी थीं। कविवर गुलाबराय, बूँदी तथा उनकी दासी पुत्री, लछिराम, राजकुमार सिंह गिद्धौर, नवनीत कवि मथुरा आदि उस समय बाहर से आकर काशी के इस कविसमाज की शोभा बढ़ाया करते थे। उस समय के अनेक कवियों की रचनाएँ इस संग्रह में हैं। प्रमुख रूप से कविवर द्विज, सुधाकर द्विवेदी, कविवर 'वीर', रामकृष्ण वर्मा, बलवीर, रसीले, बचऊ चौबे, माधव, बेनी, हरिशंकरप्रसाद सिंह, छबीले, चिरंजीव किंकर आदि कवियों के अतिरिक्त, नकछेदी तिवारी, 'अनजान कवि', अंबिकादत्त व्यास आदि भी बाहर से आने पर उक्त कविसमाज में लालबाबा की प्रेरणा से ब्रजकाव्य के पुनरुद्धार करने में तल्लीन हो जाते थे। अयोध्या के कवि लछिराम के काव्य ओज ने सभी लोगों को प्रभावित किया था। लालबाबा के स्वर्गवासी हो जाने के पहले तक इस कविसमाज की गोष्ठी प्रत्येक पूर्णिमा और बाद में महीने में दो बार तक चलती रही। पुनः उसका नामधाम लेनेवाला भी कोई न रह गया।

काशी के प्राचीन कविसमाज के शेष रह गए लोग विच्छिन्न होकर रामकृष्ण वर्मा के भारतजीवन कार्यालय, रत्नाकरजी के आवास, और ठाकुर माधो सिंह के यहाँ गोवर्द्धन सराय में कभी कभी जुटकर अपनी काव्य प्रतिभा का चमत्कार दिखा दिया करते थे। परंतु वह काव्यधारा जो प्राचीन कविसमाज की पुरानी पीढ़ी के साथ तिरोहित हो गई, उसका दर्शन पुनः लाला भगवानदीन, और रत्नाकर के स्नेहियों और शिष्यों ने 'दीन सुकवि मंडल' और 'रत्नाकर रसिक मंडल' नाम से पुनः संगठित किया, परंतु आश्चर्य है कि इन दोनों गोष्ठियों के अनेक कार्य कर्ताओं का निधन हो जाने पर उसके शेष बचे हुए सदस्य आज भी न जाने क्यों चुप्पी साधकर बैठ गए हैं? बैजनाथ सिंह के इस निबंध में काशी के प्राचीन कविसमाज का सुस्पष्ट परिचय कई प्राचीन ग्रंथों और श्रुतपरंपरा के आधार पर संकलित किया गया है।

'काशी और वर्तमान हिंदी समाज' नामक लेख श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ ने लिखा है। प्रस्तुत निबंध में वर्तमान काशी और हिंदी साहित्यकारों का परिचयात्मक स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है। तुलसी और कबीर के समय से लेकर रामचंद्र वर्मा, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, स्व० पं० सूर्यनाथ तकरू तक की नामावली और कृतित्व का परिचयात्मक विवेचन इसमें उपलब्ध है।

'काशी के साहित्यिक हास्यरसिक' नामक निबंध में आचार्य शांतिप्रिय द्विवेदी ने वर्णनात्मक और काल्पनिक मनोभावनाओं के आधार पर रामचरितमानस से प्रारंभ करते हुए भारतेंदु, मुंशी ज्वालाप्रसाद, श्री तोताराम, श्री कमला प्रसाद, रामशंकर व्यास, अंबिकादत्त व्यास, लाला भगवानदीन, बदरीनारायण चौधरी और अन्य अनेक लोगों की रचनाओं से हास्य की शैली का परिचयात्मक स्वरूप खोजकर हिंदी जगत को हास्य साहित्य की विभिन्न उपलब्धियों से परिचित कराया है। भारतेंदु के परवर्ती प्रमुख हास्य साहित्य में अग्रसर रचनाकारों की कृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। सर्व श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रत्नाकर, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, प्रसाद, अन्नपूर्णानंद 'निखट्टू', उग्र आदि की रचनाओं को आधार मानकर द्विवेदीजी ने सरस समीक्षक का अपना रचनात्मक स्वरूप इस निबंध की आत्मप्रधान शैली में निखारने का यत्न किया है। उसी समय काशी में नवयुवक और विखरी प्रतिभाओं के रूप में सर्वश्री चोंच, रुद्र, बलदेवप्रसाद मिश्र, बेधड़क, मोहन एल. गुप्त आदि हास्य सादित्य लिखना सीख रहे थे। शायद इसी लिये श्री शांतिप्रिय ने उनकी रचनाओं की अनुपलब्ध प्रवृत्तियों की ओर संकेत नहीं किया है। व्यंग करते समय अपने को भी लेखक ने नहीं छोड़ा है, 'लगे हाथ अपनी ही बात कह दूं, अपने हँसने हँसाने की कला में दक्ष नहीं, किंतु छिड़ जाने पर बेतुक भी नहीं रहते। उस समय मनहूसियत को कालेपानी या साइबेरिया भेज देते हैं।'[१३]

'काशी से निकलने वाले पत्र और पत्रिकाएँ' नामक महत्त्वपूर्ण लेख श्री केदारनाथ पाठकने लिखा है। जनवरी सन् १८४५ ई० में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की सहायता से 'बनारस अखबार' का जन्म हुआ था।[१४] इस अखबार की भाषा न हिंदी थी न उर्दू बल्कि दोनों की खिचड़ी थी। इसीलिये काशिराज के फारसी विद्वान मुंशी शीतलप्रसाद ने एक रुबाई लिखभारी है—

बनारस में इक जो बनारस गजट है।
इबारत सब उसकी अजब अटपट है॥

१३. **हंस, काशी अंक,** पृ० १७१।
१४. **वही,** पृ० ११२।

मुहर्रिर विचारा तो है बासलीका।
वले क्या करे वह कि तहरीर भट है ॥[१५]

सन् १८५० में 'सुधाकर' नाम से हिंदी भाषा का एक महत्त्वपूर्ण पत्र तारा-मोहन मित्र आदि के सहयोग से छपा। इस लेख में भारतेंदु के 'कविवचन सुधा,' 'बाला-बोधिनी,' 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' आदि की भी चर्चा बाबू राधाकृष्णदास की मान्यताओं को लेकर की गई है। चाहे भारतेंदु की संपादित पत्र-पत्रिकाओं का जीवन स्वल्प रहा हो, परंतु हिंदी पत्रकारिता के ऐतिहासिक विकास का 'बीज-वपन' भारतेंदु ने ही किया था। काशी में भारतेंदु पत्रकारिता के मिशन की परंपरा को विकसित करने में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्रीनाथ जी, दामोदर शास्त्री, राधाकृष्णदास, बालेश्वरप्रसाद आदि का नाम और काम महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। पाठकजी के इस लेख में शायद ही काशी की सन् ३३ के पूर्व प्रकाशित किसी भी हिंदी पत्र-पत्रिका का नाम छूटने पाया हो। आजीवन स्मृति के धनी पाठकजी ने इस निबंध में महत्वपूर्ण बातें कम लिखी हैं।

श्रीकमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक' लिखित 'काशी के नवयुवक कवि' नामक परिचयात्मक लेख में काशी के कई काव्यरसिक नवीन कवियों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। उन दिनों वे विश्वविद्यालय के नवयुवक छात्र थे। उस समय ब्रजभाषा काव्य, खड़ी बोली और छायावादी युग की रचनाओं का नियमन क्रमशः रत्नाकर, हरिऔध और प्रसाद के नेतृत्व में काशी से संचालित हो चुका था। इन तीनों विभाजनों के अंतर्गत काशी के नवयुवक कवियों की रचनात्मक संभावनाओं का भावुकतावश जो अतिशयोक्तिपूर्ण परिचय दिया गया है वह सत्य की सीमा का अतिक्रमण करनेवाला है। सर्व श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, रामनाथ सुमन, भगवती प्रसाद सिंह, वीरेन्द्र, उग्र, अटल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, श्यामसुंदर खत्री 'सुंदर', चोंच, रुद्र, बलदेवप्रसाद मिश्र, बलभद्र द्विवेदी, राजेंद्रनारायण शर्मा, रसराज नागर, सर्वदानंद वर्मा, नरेंद्र वर्मा, कमलाकुमारी आदि की रचनाओं का परिचय देकर ही लेखक ने संतोष नहीं किया अपितु सर्वश्री सूर्यनारायण तकरू, जनार्दनप्रसाद द्विज, सरयूप्रसाद शास्त्री द्विजेंद्र, श्याम नारायण पांडेय, ईश्वरदत्त पांडे आदि को भी नवयुवक कवियों की नामावली में रखने का यत्न किया है। उस समय प्रारंभिक नवीन अवस्था के कवियों में सर्व-श्री देवकीनंदन मिश्र, वेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली', कालीप्रसाद शुक्ल, सुरेंद्र,

१५. हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, पृ० १०; हंस, काशी अंक, पृ० ६१।

देवधर शर्मा, श्रीनारायण मिश्र, रामानंन मिश्र, मुरारीलाल केडिया, रामजी वाजपेयी, गंगाशंकर दीक्षित, नंदकेश्वर आदि के नाम भी दिए गए हैं।

हंस के काशी अंक में यहाँ के साहित्य पर परिचयात्मक सामग्री का संकलन और स्वल्प विवेचन उपर्युक्त निबंधों की विशेषता है। इन निबंधों के पढ़ने से काशी और हिंदी साहित्य के विविध सबंधों का परिचय भी मिलता है। इस विशेषांक में काशी के साहित्यकारों की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर एक भी आलोचनात्मक और स्वस्थ लेख का न होना इस विशेषांक की खटकनेवाली कमी है। निश्चित रूप से उस समय तक काशी में हिंदी आलोचना लिखने की प्रवृत्ति जागृत हो चुकी थी। ग्रियर्सन, शिवसिंह सेंगर, मिश्रबंधु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, श्यामसुंदर दास, हरिऔध आदि काशी में रह कर ही हिंदी की समीक्षात्मक उपलब्धियों का युग के लिये नियमन कर रहे थे। इस विशेषांक में श्रीकृष्णशंकर शुक्ल, शांतिप्रिय द्विवेदी और कृष्णदेवप्रसाद गौड़ के अतिरिक्त काशी की साहित्यिक प्रवृत्तियों का सैद्धांतिक निरूपण कम से कम शुक्ल जी, श्यामसुंदरदास, भगवानदीन, हरिऔध जी आदि की प्रौढ़ स्थापनाओं से क्यों नहीं हुआ ? साहित्यिक आलोचना का अभाव इस विशेषांक की अतीव चित्य समस्या कही जा सकती है।

काशी की जीवित परंपरा की मौलिक प्रवृत्तियों पर इस विशेषांक में अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं। श्रीसांवलजी नागर द्वारा लिखित 'काशी की कुछ अद्भुत बातें' सबल श्रुत परंपरा से प्राप्त अभिनव और रोचक विविध सामग्रियों से परिपूर्ण हैं। नगरी की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमि का विवेचन करते हुए लेखक ने बन्नार की अद्भुत बात, पीपा विस्फोट, आनंदगुहा, श्मशान की अद्भुत खोज, पन्ने की फरसी, विश्वनाथसिंह की चौरी, भंगड भिक्षुक, गौरैयाशाही की असली बात, चूना गारा ढोने वाला दीवान, मीर का पुस्ता, तैलंग स्वामी, किनाराम, संतराम, नित्यानंद आत्मगौरव आदि की अद्भुत बातों को खोज निकालने का आयास किया है जो उनकी अनुभवी बुद्धिमत्ता का प्रमाण है।

इस नगरी के नामकरण का इतिहास देते हुए नागर जी ने सिद्ध किया है कि ग्यारहवीं सदी में यवनारि नाम का चंद्रवंशी नरेश यहीं शासन करता था। यवनों की बलितक वह चढ़ा दिया करता था। 'यवनारी' का अपभ्रंश 'यवनार' हुआ, परंतु सामान्य जनता इस शब्द का उच्चारण 'बन्नार' करती थी। वास्तव में बन्नार 'यवनार' था। 'तवारीख बन्नार' में लिखा है, 'राजा बन्नार शाहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का सामना करके मैदानेजंग में मारा गया"।[१६] मुहम्मद गोरी के फौजी अफसर शालाद मसऊरगाजी ने बन्नार का मुकाबला किया था। बन्नार

१६. हंस, काशी अंक, पृ० ३९।

ने ही 'गिरिजापुर' बसाया था जिसका नाम मिर्जापुर पड़ गया है। राजघाट स्टेशन के पास बन्नार नरेश का किला था, जिसकी शोभा का बिशद वर्णन फाहियान ने अपने यात्राविवरण में किया है। उस किले से लेकर सारनाथ तक अत्यंत सुशोभित नगरी बसी हुई थी। बन्नार तथा उसके किले के नाश के संबंध में 'चेतसिंह–विलास' का उद्धरण देते हुए एक कहानी कही गई है, 'वर्तमान काशी-नरेश के तत्कालीन पूर्वज श्रीकृष्ण मिश्र अपरिग्रह वृत्ति के ब्राह्मण थे। इनके रचे गए संस्कृत के अनेक ग्रंथों में 'प्रबोध-चंद्रोदय' प्रसिद्ध है। बन्नार नरेश ने संपूर्ण धन ब्राह्मणों को देने की लालसा से एक महायज्ञ काशी में किया था। राजा बन्नार ने उस यज्ञ में स्वर्णपात्र के धोखे में 'दारिद्रपुर' का दानपत्र प्रदान कर दिया। मिश्र जी ने क्रुद्ध होकर शाप दिया और कहा था कि मेरी वंशावली काशी पर अवश्य राज्य करेगी। मिश्रजी की वाणी बन्नार के युद्ध में मारे जाने पर सत्य सिद्ध हुई। बन्नार की दो कन्याएँ मुहम्मद गोरी के सामने तोहफे के रूप में पेश की गईं। उन कन्याओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये गोरी से निवेदन किया कि उनका सतीत्व शालार मसूदगजनी ने पहले ही नष्ट कर दिया है। इससे क्रुद्ध होकर गोरी ने धोखे से षड्यंत्र रच कर गजनी को बहराइच पहुँचने के पहले ही मरवा डाला। आज भी काशी में गाजीमियाँ के ब्याह का मेला लगता है और उनके लिये यह मिसरा बहुत प्रसिद्ध है—

गाजी मियाँ गाजी मियाँ बड़े लहरी,
बड़े बड़े घर क मंगावैं मेहरी।[१७]

वैशाख कृष्ण पाँच बुधवार संवत् १९०७ को एकाएक डेढ़ बजे रात में अचानक राजघाट के पीपा के पुल के पास बारूद फट जाने से, जहाँ बन्नार के किले के अवशेष पर बैन कंपनी के अंग्रेजी अफसरों, विजयानगरम् तथा अनेक साहूकारों के गृह उपवनों का समूल नाश हो गया वहीं इस विस्फोट से बनारस के हजारों मकानों की नींव हिल गई। काशीनरेश के चकिया स्टेट की खिड़कियाँ भी उस समय चकनाचूर हो गई थीं। उस समय के कवि लोकनाथ ने बावन पदों में पीपा बावनी की रचना इस घटना के आधार पर की थी।[१८]

१७. वही, पृ०, ४०।

१८. पीपा बावनी का प्रथम छंद—

संवत उन्नीस सत सात मे की बात यह, अधिक वैशाख पाख अति अंधियारे में।
बुध पंचमी को जब बीती डेढ़ जाम रात, महा उतपात भयो काशी पुर सारे में।
नावन में कंपनी को मैगजीन पीन भरी, लागी है बिचार राजघाट के किनारे में।
कहूँ नाव एक साथ दैव जोग लागी आगि, पीपा उड़यो तहाँ एक ही भभकारे में।

श्मशान की अद्भुत खोज में नागर जी ने सिद्ध किया है कि हरिश्चंद्र घाट काशी का सबसे पुराना घाट नहीं है, अपितु काशी खंड के जयधर्मेश्वर का मंदिर हरिश्चंद्रेश्वर के मंदिर से भी प्राचीन है और आज भी यहाँ द्वितीया का स्नान संकठा घाट के निकट श्मशानघाट पर होता है। काशी खंड के अंतर्गत वर्णित चौक भद्दोमल की कोठी के नीचे श्मशान विनायक के मंदिर का दर्शन आज भी किया जाता है। जमघाट से लेकर श्मशान विनायक तक कभी काशी में श्मशान की भूमि थी। अग्नि संस्कार के उपरांत अस्थि सिंचनार्थ श्मशान की भूमि का लंबा चौड़ा होना आवश्यक था। आजकल जहाँ ज्ञानवापी की सीढ़ी के संमुख मस्जिद है वहीं पहले काशी विश्वनाथ का मंदिर भी था। यह सत्य सिद्ध है कि हरिश्चंद्रेश्वर के मंदिर में ही हरिश्चंद्र के सत्य की परीक्षा की घटना घटी थी। दिनोंदिन नगर की घनी आबादी बढ़ती जाने के कारण श्मशानघाट गंगा तट के अत्यंत समीप होता गया।

अवध के नवाब के तोसकखाने के दारोगा कश्मीरीमल ने सिद्धेश्वरी महाल में अपनी माता की स्मृति में एक हवेली बनवाई थी। उनके पुत्र एक दिन उस हवेली के पूरब की मंजिल की दालान में बैठकर फरसी से हुक्का पी रहे थे। एकाएक उधर से ही उनके पिता का आगमन हुआ। शीघ्रतावश पिता को सामने आता देख उन्होंने हुक्के को नीचे गली में फेंक दिया। दो खत्री युवकों ने फरसी के टुकड़ों को गली से बीनकर उठा लिया। आज भी फरसी के टुकड़े से निर्मित हुई हैसियत के कारण यह खत्री परिवार काशी के पुराने रईसों में अपनी गणना करता है।

ब्रह्मनाल की सट्टी में शिवनाथ सिंह की चौरी की पूजा की जाती है। चेतसिंह के समय में काशी की आन रखने के लिये जो जन आंदोलन हुआ करते थे उनके बीच कंपनी की ओर से नियुक्त सूबेदारों को काशीवासियों से मालगुजारी वसूल करने में जानलेवा आतंक का सामना करना पड़ता था। चेतसिंह के बलवे को शांत करने के लिये काशी में नायब भी आए थे। उस समय शिवनाथ सिंह और बहादुर सिंह का अखाड़ा सरनाम था। चेतसिंह के प्रति किए गए अन्याय से वे विशेष क्रोधित थे। इसलिये उनके क्रोध को शांत करने के लिये बनारस के कोतवाल मिर्जा पाँचू को समझाने-बुझाने के लिये भेजा गया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। शिवनाथ सिंह और बहादुर सिंह एक दिल और दो शरीर थे। उनकी गिरफ्तारी के लिये पलटन भेजी गई परंतु तलवारबाजी के आगे उनको गिरफ्तार करना कंपनी के लिये टेढ़ी खीर हो गया। अंत में पलटन ने इन दोनों ठाकुरों का घर घेर लिया। वे अभूतपूर्व तलवार का हाथ दिखाते हुए अनगिनों का कत्लेआम करने के बाद स्वयं काट डाले गए। नागरिकों ने दोनों मित्रों के शवों को ब्रह्मनाल की चौरी

पर एक साथ चंदन की चिता सजाकर जलाया था। आज से लगभग अड़सठ वर्ष पूर्व तक उनकी चौरी पर उनको श्रद्धांजलि देने के लिये साल में एक दिन लावनी कामजमा जुटता था।[१९] उन्हीं दोनों ठाकुरों के सच्चे हमजोली भंगड़ भिक्षुक थे। ऐतरनी-बैतरनी तालाब के ऊपर एक बाग है, उसमें भंगड़ भिक्षुक का एक कुँआ था। उनका दल बड़ा जबरदस्त था। इसी लिये उन्हें नियंत्रण में करने के सभी प्रयत्न व्यर्थ जाते थे। सूबेदार उनसे तंग आ गया था, दहलता था। त्रिलोचन घाट की लंबी मढ़ी में मस्ताने भंगड़ भिक्षुक गर्मी की दोपहरी में सोया करते थे। उनके एक बदनीयत चेले से भेद पाकर कंपनी ने उसी मढ़ी में जिंदाजी उन्हें फुँकवा दिया था। उसी अखाड़े की शिष्यपरंपरा में प्रसिद्ध गुंडा तलवारिया दाताराम नागर भी सरनाम थे। कालभैरव के निकट हाटकेश्वर महादेव के बगल में उनका घर था। मिर्जापुर के जैराम गिरि के यहाँ बराबर उनकी आवाजाही लगी रहती थी। कई कठिनाइयों में नागर ने उनकी बड़ी मदद की थी। नागर के समय में ही विंध्याचल के रास्ते में पड़नेवाला ओझला का प्रसिद्ध पुल बनवाया गया था और जब विश्वेश्वरगंज की सड़क बन गई तो दुलदुल घोड़े की सवारी भुतही इमली, बुलानाला, ठठेरी बाजार आदि गलियों से होकर निकालने का नागर ने विरोध किया था। इस पर तलवारें निकलीं दाताराम ने खून पी जाने वाली तलवार के करतब दिखाए इसी लिये उन पर वारंट भी निकला। उन्हें कालेपानी की सजा भी हुई। रामनगर के मार्ग में वे बड़ी कठिनाई से पकड़े गए। एक कजरी प्रसिद्ध है जिसका कुछ अंश निम्नलिखित है—

१९. शिवनाथ व बहादुर सिंह की चौरी

दो कंपनी पाँच सौ चढ़कर चपरासी आया।
गली गली औ कूँचे कूँचे नाका बँधवाया॥
मिर्जा पांचू कसम खाय के कुरान उठाया।
पैगंबर को किया बीच औ उनको समझाया॥
चलो अदालत मिलो छोड़ दो सूबे का झगड़ा।
संमुख होकर लड़े निकलकर मुख नाहीं मोड़ा॥
शिवनाथ बहादुर सिंह का बना खूब जोड़ा।
शूरवीर जब संमुख आए सबसे प्रबल पड़े॥
तन में गोलियाँ लगीं तीस जब घायल हो पड़े।
हंस बोला तब सूबेदार के काट ले गरदन दोनों के॥
उठ बैठे शिवनाथ बहादुर मारा सिपाही के।

सबके बनइया जाले अगरे नाहीं डगरे रामा,
नागर नैया जाला काले पनियाँ रे हरी।
बेरियाँ को बेरियाँ तोहैं बरजां नागर गुंडउ रामा,
रामा मत बाँधू छूरी और कटरिया रे हरी॥

उपर्युक्त घटनाओं के आधार पर प्रायः सत्यातीत कल्पना करके रुद्र काशिकेय ने क्रमशः 'सूली ऊपर सेज पिया की' और 'नागर नैया जाला कालेपनिया रे हरी' नामक दो कहानियाँ 'बहती गंगा' में उमंग भरे मन से लिखी हैं।

काशी का प्रसिद्ध बुढ़वामंगल का मेला चेतसिंह ने प्रारंभ किया था। स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'चरित्राष्टक' की भूमिका में इस मेले की उत्पत्ति मीर रुस्तम अली द्वारा प्रचलित मानी है। परंतु महाराज ईश्वरीनारायणसिंह ने इस मेले का श्रेय बाबू हरषचंदजी को दिया था। सत्य तो यह है कि भारतेंदु के पूर्वज हरषचंद ने बुढ़वामंगल का पहली बार आयोजन काशी में किया था। मीर रुस्तम अली के कैद हो जाने पर काशी की वेश्याओं ने होली के अवसर पर शोकाकुल होकर बड़े ही लय से यह मिसरा गाया था—

कहाँ गयो हो मेरो होली को खेलैया,
सिपाही रुस्तम अली रुस्तम बाँके सिपहिया ·····कहाँ गये।[२०]

तेलंग स्वामी काशी के प्रसिद्ध महात्मा थे। सोलहवीं शती में पंचगंगा घाट पर रहकर वे साधना और तपस्या किया करते थे। बढ़ी हुई गंगा में हाथ पांव बांधकर वे बैठ जाते थे और सीधे सामने घाट पर जाकर लगते थे। स्वामीजी के संबंध में प्रचलित अनेक किंवदंतियों में केवल एक की ही चर्चा इस लेख में की गई है। एक बार एक वेदपाठी के जवान बेटे का निधन हो गया। बेटे की लाश के साथ उसकी माँ घाट पर रोती कलपती आई। तेलंग स्वामी मंदिर के नीचे 'किरना नदी' के कुंड पर समाधिस्थ बैठे थे। उस अभागे शव की माँ रोते-रोते कुंड पर बेहोश हो गई। क्रुद्ध स्वामीजी ने कुंड की गीली मिट्टी शव की आँखों पर वहीं से बैठे-बैठे छिड़क दी। थोड़ी देर में शव जीवित हो गया। पंचगंगा घाट पर धरहरे की उत्तर के ओर तेलंग स्वामी की प्रतिमा आज भी प्रतिष्ठित है। काशी के कीनाराम बाबा भी पहुँचे हुए सिद्ध थे। बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित भीखा साहब की बानी के आधार पर कहा गया है कि भीखा साहब भी अपने समय के एक साधक सिद्ध हुए थे। एक बार कीनाराम ने उनके यहाँ जाकर शराब की माँग की। भीखा साहब इसकी पूर्ति करने में असमर्थ थे।

२०. हंस, काशी अंक, पृ० ४३।

कीनाराम ने ऐसा चमत्कार दिखलाया कि जहाँ भी पानी की एक बूंद थी सब मदिरा में परिवर्तित हो गई। भीखा साहब ने अपने नौकर से पीने के लिए जल माँगा तो इस आश्चर्यजनक परिवर्तन की सूचना पाकर नौकर को पुनः उन्होंने आदेश दिया कि लाग्रो वह सब जल है। एकाएक मदिरा जल में बदल गई। शिवाला महाल में कीनाराम का स्मारक बना हुआ है। औघड़नाथ के विषय में भी विचित्र कहानियाँ प्रचलित हैं।

काशी की अनेक अद्भुत परंपराओं और अनोखी घटनाओं के आधार पर इस निबंध से 'काशी विशेषांक' का महत्व और बढ़ गया है। नागरजी की शैली सरस है, अभिव्यक्ति में कहानी सी रोचकता है। अधिकांश घटनाओं की प्रामाणिकता श्रुतपरंपरा से प्राप्त होने के कारण प्राचीन समाज के सत्य की प्रामाणिकता सिद्ध करती है। कई दृष्टियों से इस लेख का सब कुछ स्वीकारना कठिन है।

श्री गोकुलचंद खत्री (वाद्यरत्न, रबर स्टांप वाले) ने काशी में संगीत की सैर' नामक लेख में यहाँ की संगीत परंपरा को अपनी अनेक जानकारियों से जनसुलभ कराने का प्रयत्न किया है। पुराने बनारस के सर्वश्री हरिदास कविराज, बेणीमाधव, भोलानाथ पाठक आदि के ध्रुपद गायन की रागों को सर्वगुणी लोग आज भी ग्रहण करने का अभ्यास करते हैं। इस निबंध में स्वर नहीं, शब्दों में मालकोष की स्वर लहरी का प्रवाह बिखेरा गया है। कबीरचौरा के गुणी कत्थकों के ख्याल के अभ्यास की जहाँ चर्चा की गई है, वहीं उस मुहल्ले के रामदास गायनाचार्य और छोटे रामदासजी के पक्के गानों और ख्याल गाने की मुक्त प्रशंसा सारे देश ने की। मिठाई लाल की वीणा, कंठे महराज का तबला, सरयूप्रसाद की सारंगी, आशी अली खाँ का सितार आदि के संगीत स्वर से, मिट रही दरबारी परंपरा से अलग, बनारसी ताल और लय का नवीन संगम जनसमाज द्वारा बार-बार स्वीकार किया जा चुका है। काशी के कलाकारों की तान से संगीत की गुनगुनाहट से वायुमंडल नहा उठता था। दालमंडी का वर्णन करते हुए लेखक ने कहा है—'सायंकाल में यहाँ का प्रसिद्ध बाजार दालमंडी देखिए। अजब बहार है, जहाँ गुल है, वहाँ खार है। पुष्प और कंटक का विचित्र जमघट है। रूप पिपासुओं का पनघट है। इस घाट की मिट्टी चिकनी है। पैर फिसला फिर पता नहीं। मरीजे इश्क की कोई दवा नहीं। कोई कहेगा दिमाग बदल गया है, यारों का जादू चल गया है। यह कबीरचौरा के उस्तादों की करामात है, इंद्र का अखाड़ा है। वेश्याओं के कोठे हैं, हर एक के ठाट अनूठे हैं। कबीरचौरा पर इस मनोहर वृक्ष का मूल है, जहाँ इसकी डालियों के रंगीन फूल हैं।'[२१] इसी बाजार की गायिकाएँ सिद्धेश्वरी और विद्याधरी,

२१. हंस, काशी अंक, पृ० १०३।

आदि अपने समय की अखिल भारत प्रसिद्ध गणिकाएँ रही हैं। जयदेव, विद्यापति सूर, तुलसी तथा अन्य अनेक रसमय कवियों के पदों को संगीत की तान में बाँधने के कारण विद्याधरी संगीत संसार में काशी का नाम उजागर कर चुकी हैं। ठुमरी खयाल भी यहाँ गाया जाता है—

मोहिका डगर चलत दीन्हि गारी, ऐसो ढीठो बनवारी।
मोरी गुइयाँ बिनती करत मैं हारी, ऐसो ढीठो बनवारी॥[२२]

काशी के देव मंदिरों में संगीत का सात्विक आनंद अपना आनंदमय महत्व रखता है। गोपालमंदिर, कामेश्वरप्रसाद का मंदिर, सत्यनारायण मंदिर, ग्वालियर दीवान का मंदिर, लक्ष्मण बालाजी का मंदिर, सभी जगह शांत रस के प्रमुख पदों का भक्तिपूर्ण लय में गायन और वादन संगीतसाधकों का स्वर संगम उपस्थित करता था। अनेक मंदिरों में आज भी यह परंपरा जीवित है। उस समय काशी हिंदूविश्वविद्यालय में सर्वश्री भोला पाठक, शिवप्रसाद, द्वारिकाप्रसाद, मन्नूजी आदि संगीत विद्यालय में अध्यापक थे। प्रति वर्ष फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को झगाजी महाराज के नेतृत्व में रामलीला की संगीतमयी पंचक्रोशी यात्रा निकलती थी। उसमें होली, पीलू आदि का गायन होता था। स्वर को खींच खींचकर काशी के कसेरे आज भी होली अपने ढंग की अकेली गाते हैं। खम्मास नामक शायरीनुमा गायन यहाँ के संगीत की अपनी रसमयी परंपरा है। होली की रात को अनेक खमसेबाजों का अखाड़ा दस-बारह गायकों के साथ उठता था। हिंदू और मुसलमान तान में तान मिलाकर मस्ती से गाते चलते थे। तेगअली भी खम्साबाजों के उस्ताद थे। उनकी 'बदम शदर्पण' नामक स्फुट रचनाओं का पहली बार संपादन श्री रामकृष्ण वर्मा ने भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित कराया था। तेगअली की प्रमाणिक रचनाओं का संपादन अप्रैल १९६४ में काशी के रुद्र काशिकेय ने किया है। खम्सा सुननेवाले वेश्याओं के कोठे में रात को ही छिपकर पर्दे की ओट में बैठ जाते थे। खम्साबाजों के हर बोल में जवानी का जोश रहता था। अपनी बात को स्वाभाविक और अतिशय अभिनय की मुद्रा में वे मस्ती में गाते थे। गौनिहारिनें भी काशी की सामान्य जनता द्वारा मान्य गायिकाएँ हैं। उनका एक विचित्र और अलग समुदाय हैं। संगीत की सूक्ष्मता से अनभिज्ञ लोगों के समाज में उनकी बड़ी पूछ होती है। उनके अनेक बड़े-बड़े आशिक तक देखे गए हैं। गाते समय शहनाई का मेल इनके साथ होता है—

२२. वही, पृ० १०३।

तोरे लाल भवन पर लाल तँबुआ[२३]

दो चार बार शहनाई वादक इस चरण को दुहराते हैं तब गौनिहारिनें आगे का चरण दुहराती हैं—

माया के द्वारे हरियर, पीयर, लाल धुजा फहरानी। माया के द्वारे।[२४]

गौनिहारिनें गृह गोष्ठियों में भी जाती हैं। सावन भर उनकी कजली की धूम रहती है। उनके पीछे-पीछे दो एक जनखे भी लगे रहते हैं। शहनाई बजाकर बंद कर दी जाती है और दुक्कड़ और झाँझ पर ही वे घंटों तक गाती रहती हैं। सभ्य गौनिहारिनों का दल केवल गृहस्थों के अंतःपुर में गाता है। उनके गायन की विशेषता सोहर, सिठनी, गजल, कजली, होली आदि गाते समय देखी जा सकती हैं। बनारस

२३. चलो गोइयाँ खेलि आई होई कन्हैया घर,
अपने-अपने घर से निकसी कोई साँवर कोई गोरी।
एक से एक जोबनमद-माती सबै बयस की थोरी। कन्हैया घर०
हंस, काशी अंक, पृ० १०४।

२४. लमास जयाज
सर्द झोका मेरी आहों का जो चल जाता है,
बाग में दम तने-बुलबुल से निकल जाता है।
उनके पिस्ता का कभी जिक्र जो चल जाता है,
दोनों हाथों से मेरा दिल कोई मल जाता है।
होली काफी
ऐसे ब्रज क्या तुम्ही हो इजार बार।
काहे रंग छिरकत मोपै बार बार॥
कर मोरा पकर, कलाई मोरी झटकी।
देखो अंगिया को करदीनो तारतार—ऐसो०
ध्रुपद मालकोस
बावरी भई, नेकु ना सम्हारो जात चित्त,
ना रहत चैन जबतक, मुरली सुन बावरी भई।
ऊबि ऊबि उठत, घूम-घूम, झूम-झूम, झुकि-झुकि,
झुकत है री बार-बार आप जात तावरी कहीं।
याही से आन मिले मदन मोहन प्यारे,
तन मन ते प्यारे न्यौछावरी भई।
बानी विलास आस पूज पूछत पिय को,
यह दास आज कहो रावरी नई।

के लावनीबाजों में बनारसीजी उस्ताद माने जाते थे। लावनी की बड़ी-बड़ी बंदिशों में वे अपनी बातें कहते थे। लावनी की परंपरा के लोप होने के लक्षण ज्ञात होते ही कजली पर रीझनेवालों की भीड़ लगी। कजली के नामी उस्ताद सहलवा, खुदाबख्श, भैंरो हेला आदि काशी में थे। उनके अखाड़े की शिष्य-परंपरा आजतक जीवित है। उनकी रची कजलियों के हर शब्द में उनके दिल की बहार कूक उठी थी। बिरहा भी काशी की खास चीज है। बिरहा के उस्ताद बिहारी हो गए हैं। समस्त काशी की संगीत उपलब्धियों का शास्त्रीय और सामाजिक विवेचन इस लेख में करने का प्रयत्न किया गया है। उस समय काशी में प्रसिद्ध संगीतज्ञ और नृत्याचार्य पं० सुखरे महराज और कई लोग नवयुवक के रूप में अभ्यास कर रहे थे। संगीत के उठते हुए नौजवान अभ्यासियों का नामांकन इस लेख की पूर्णता के लिये आवश्यक है।

काशी के निवासियों की अपनी मौलिक विशेषताएँ जगत प्रसिद्ध है। श्रीकृष्णलाल मेहता ने 'काशी के निवासियों की विशेषताएँ' नामक निबंध में काशी निवासियों के आवास, पक्के महाल, आरामतलबी, आनंदोत्सव, गुड्डीबाजी, नावबाजी, इक्केबाजी, साफा पानी, गहरेबाजी, पान पत्ती तथा अन्य अनेक बनारसी विशेषताओं पर सांकेतिक प्रकाश डाला है।

'काशी के तीर्थाध्यक्ष' नामक लेख श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने लिखा है। उन्होंने काशी में तीर्थपुरोहिती परंपरा के अभ्युदय, विकास, उपयोगी और दुरु-

सावन में गौनिहारिनों की कजली

आठ सखी मिल करती हैं बयान रे साँवलिया,
सगरे पर सब करन गई असनान रे साँवलिया।
पहली सखी बोली बालम मोरे डंड पेलने जाते हैं,
गदा व मुग्दर लेजिम तीनो, तीनो वक्त हिलाते हैं।
कसरत करके चूर रहें रुख हमसे नहीं मिलाते हैं, ॥ आठ सखी मिल० ॥
सखी पाँचवीं कहे सखी सुन मोरे पिया की बारे,
करे रात दिन रंडीबाजी रखले बा परजात रे।
मोरे संग में कबहूँ न बोले गैर लगावे घात रे,
मना करूँ तो होके गुस्सा मारे मुक्का लात रे।
मस्त हुई मैं गिरती हूँ बौरान रे साँवलिया ॥ आठ सखी मिल० ॥

कजली वंश

ताता थेई ताता थेई नाचत कन्हाई, अब रचत रास बिन्द्राबन में,
छि छि छुम छि छि छुम-छुम छन नन घुंघुरू की झनक बजे पैरन में।

पयोगी चित्यस्थिति और उसके समाधान पर प्रकाश डाला है। तीर्थ यात्रियों की संख्या में दिनोंदिन अबाध वृद्धि होने के कारण काशी में तीर्थ पुरोहितों को, एक सुविधाजनक माध्यम के उद्देश्य को पूरा करने के लिये, प्रारंभ किया गया। अनेक अर्थलोलुपों के हाथ में आकर उस पवित्र व्यवसाय ने अत्यंत विकृत रूप धारण कर लिया था। पुनः काशी में सर्वश्री महावीरप्रसाद मिश्र, छन्नूलाल पाठक से सेवा-भावना की प्रतिष्ठा हो पाई है। स्वर्गीय बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'काशी के अखाड़े, और 'काशी के कुछ प्रसिद्ध मेले' नामक दो निबंध इस विशेषांक में लिखे थे। बनारस के संतराम, भंगड़ भिक्षुक, रामकुंड, कोणभट्ट, रज्जू आदि के अखाड़ों के उभरते हुए पहलवानों को इस लेख में विशेष महत्व दिया गया है। वर्तमान अखाड़ों में जग्गू सेठ, पंडा जी, स्वामीनाथ, बबुआ पांड़े, सकूर, रामसिंह, मन्ना साव और नंदा सिंह आदि के अखाड़ों की चर्चा होती है।

'काशी के कुछ प्रसिद्ध मेले' नामक दूसरे निबंध में स्व० बलदेव जी ने मास-बद्ध क्रम से शिवरात्रि, होली, बुढ़वामंगल, रामनवमी, मणिकर्णिकोत्सव, गंगा-सप्तमी, नृसिंह चतुर्दशी, बटसावित्री, गंगा दशहरा, रथयात्रा, गुरुपूर्णिमा, नागपंचमी, रक्षाबंधन, कजरी, झूला, कजरी तीज, जन्माष्टमी, ढेला चौथ, लोलार्क छठ, महालक्ष्मी दर्शन, अनंत चतुर्दशी, पितृपक्ष, विजयादशमी, रामलीला, नककटैया भरतमिलाप, शरदपूर्णिमा, करवा चौथ, धन्वंतरि जयंती, नरक चतुर्दशी, अन्नकूट, भ्रातृद्वितीया, भैरवाष्टमी, खिचड़वार, गणेश चतुर्थी, वसंतपंचमी, रंगभरी एकादशी निर्जला एकादशी, हरिशयनी और प्रबोधिनी एकादशी, नवरात्र, वैशाख स्नान, कार्तिक स्नान, माघ स्नान, तीर्थ स्नान, यात्रा, विशेष दर्शन आदि उपशीर्षकों के अंतर्गत विभिन्न मेलों और त्यौहारों की ऐतिहासिक परंपरा पर बोलचाल की भाषा में प्रकाश डाला है। इन लेखों से काशी की धार्मिक परंपरा पर वर्णनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संबंध में दो निबंध क्रमशः त्रिलोचन पंत एवं मनोरंजनप्रसाद ने लिखे हैं। इन दोनों निबंधों में विश्वविद्यालय के निर्माण और इतिहास पर प्रकाश डाला गया है और विभिन्न विभागों के अध्ययन और अध्यापन प्रणाली के भेदोपभेद का परिचय देने का यत्न किया गया है। मालवीयजी के अकथनीय साहस एवं अडिग आस्था से निर्मित भारतीय शिक्षा की परंपरा को सारे संसार में उजागर करनेवाली यह संस्था अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की शिक्षाभूमि है। चार फरवरी सन् १९१६ ई० को अनेक भौतिक और दैविक व्यवधानों एवं राजनैतिक कुचक्रों से बचते हुए मालवीयजी के सत्प्रयत्न से लार्ड हार्डिंग ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यह विश्वविद्यालय विश्व के तीन सर्वश्रेष्ठ अधुनातन विश्वविद्यालयों में एक है। जितने ढंग की शिक्षा व्यवस्था यहाँ है उतने विषय

किसी भी वर्तमान विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाए जाते। सन् ३३ तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय के निम्नलिखित कालेजों में छात्रों को जीवन और ज्ञान की उद्देश्य-पूर्ण शिक्षा दी जाती थी—सेंट्रल हिंदू कालेज, प्राच्य विद्या कालेज, आयुर्वेदिक कालेज, ट्रेनिंग कालेज, ला कालेज, महिलाकालेज, इंजीनियरिंग कालेज, संगीत कालेज, फौजी शिक्षा विद्यालय, विज्ञान और न जाने कितने विषय। आज काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अधुनातम शिक्षाप्रणाली की नवीनतम प्रवृत्तियों का जन्म होता जा रहा है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अनेक स्नातक विश्वविख्यात राज-नीतिज्ञ, दार्शनिक, साहित्यकार और वैज्ञानिक के रूप में इस विद्यालय की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर श्री पन्नालाल आई० सी० एस० ने सारनाथ नामक निबंध में सारनाथ का परिचय दिया है। काशी को ही बुद्ध ने अपने धर्मप्रचार का केंद्र बनाया और यहाँ प्रथम बार अपने धर्म का ज्ञानदान किया। कुशीनगर में उनका शरीरांत हुआ। विश्व के समस्त बौद्ध तीर्थयात्रियों के लिये सारनाथ धार्मिक अनुष्ठान केंद्र है। यहाँ अनेक देशों द्वारा बनवाए गए बुद्ध मंदिरों की अपनी अलग छटा है। यहाँ का पुरातात्विक संग्रहालय बुद्ध युग के कई महत्त्वपूर्ण अवशेषों से भरा पड़ा है। श्रीचंद्रमौलि शुक्ल लिखित काशी के स्कूल, श्री इंद्रसहाय सक्सेना लिखित धरहरा, श्री गणेशदत्त शास्त्री लिखित 'काशी में पर्वतीय' श्री श्यामलाल भैरवलाल मेढ़ लिखित 'काशी में गुजराती', श्री दिवाकर झा लिखित 'काशी के मैथिल', श्री कुमारस्वामी मुदालियार लिखित 'काशी में मद्रासी,' श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे लिखित 'काशी में महाराष्ट्री,' श्री व्रजजीवनदास लिखित 'जयनारायण घोषाल,' श्री दौलतराम शर्मा लिखित 'काशी का सरस्वती भवन' आदि लेख काशी की देशव्यापी सत्ता और महत्ता को जाग्रत करने वाले परिचयात्मक निबंध हैं। निश्चय ही इस विशेषांक का अलंकरण और विस्तार जहाँ इन निबंधों की विशेषता से स्पष्ट हो उठा है वहीं कई संस्थाओं, काशी में बसने वाली विभिन्न प्रांतों की जातियों का क्रम विश्लेषण और संस्कृत विश्व-विद्यालय के प्रसिद्ध पुस्तकालय, सरस्वती भवन, गगन से बात करनेवाले माधव-राव के धरहरे आदि का परिचय इन निबंधों में अच्छी तरह सहज ही बिना देखे मिल जाता है। यदि इस नगरी से संबंधित विभिन्न प्रांत के लोगों का परिचयात्मक प्रारूप सीमित कर दिया गया होता और विश्व की हिंदी की सबसे प्राचीन जीवित संस्था नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के सामाजिक जीवन की विभिन्न व्यवस्था, वाटरवर्क्स, पावरहाउस, तथा इतिहास आदि की परिचयात्मक और प्रामाणिक चर्चा कुछ और निबंधों में प्रकट कर दी गई होती तो इस विशेषांक की अन्य अनेक उपलब्धियों के बीच खटकनेवाली और संपादन क्षमता की

असमर्थता को घोषित करनेवाली सर्वप्रमुख सामग्रियाँ भी संकलित की जा सकती थीं।

यहाँ के राजनैतिक जीवन के संबंध में श्रीसंपूर्णानंद द्वारा लिखित 'भारत में ब्रिटिशकालीन राजनीतिक जीवन में काशी का स्थान' नामक निबंध इस विशेषांक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निबंध है। ब्रिटिशकाल के इतिहास में सबसे पहले बनारस का नाम संवत् १८३८ में आया है। यह नगर उस समय अवध की अमलदारी में था। बलवंतसिह और उनके पुत्र चेतसिंह ने काशी को एक स्वतंत्र राज्य बनाया। वे नाममात्र के लिये स्वतंत्र थे। अंगरेजों ने चेतसिंह से बराबर रुपयों की माँग की। श्रीसंपूर्णानंद के पूर्वज बख्शी सदानंद काशीराज्य में प्रतिष्ठित पद पर राजकर्मचारी थे। उन्हीं के माध्यम से चेतसिंह ने कुछ ले देकर वारेन हेस्टिंग्स को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया था। परंतु काशी आकर रुपयों के लालच में हेस्टिंग्स ने शिवालावाले भवन में चेतसिंह के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार किया और उन्हें कैद करवा लिया। उस समय काशी की जनता ने काशीनरेश और नगरी के गौरव की सुरक्षा के लिये यहाँ की गलियों में गवर्नमेंट की न जाने कितनी कंपनियों को काटकर फेंक दिया। कबीरचौरा पर राधास्वामी के नाम से प्रसिद्ध माधोशामियाँ के बाग में हेस्टिंग्स उस समय रुका था। उसको पकड़ लेना बहुत आसान था। पर दुर्भाग्य के कारण रातों-रात हेस्टिंग्स भाग निकला। उस समय काशी में एक कहावत प्रसिद्ध हो गई जिसका उल्लेख 'इकोज आव ओल्ड कलकत्ता' नामक पुस्तक में भी है—

घोड़े पर हौदा और हाथी पर जीन
जल्दी से भाग गया वारेन हेस्टींग।

हेस्टिंग्स ने यहाँ से भाग कर अपनी शक्ति को संभाला और चेतसिंह को भी बनारस छोड़ने के लिये उसने विवश कर दिया। काशीराज की षडयंत्रपूर्ण स्थिति के कारण बलवंतसिंह के नाती महीपनारायण सिंह को गद्दी मिली। राजमाता पन्ना अंगरेजों के साथ वीरता से लड़ती हुई अंत में आत्मसमर्पण के लिये विवश हो गईं। हेस्टिंग्स ने क्रुद्ध होकर उनके साथ असभ्यतापूर्ण व्यवहार भी किया। श्रीसंपूर्णानंद ने ब्रिटिश शासन के द्वारा आयोजित बनारस का पहला स्वातंत्र्य संग्राम इसी घटना पर आधृत माना है। उसका महत्व निर्धारित करते हुए कहा गया है—'जिस प्रकार सिराजुद्दौला और मीर कासिम के नेतृत्व में बंगाल में, हैदर अली के झंडे के नीचे मैसूर में और जिस प्रकार ग्वालियर, इंदौर, भरतपुर, पूना और लाहौर ने विदेशी आधिपत्य की बढ़ती लहरों को रोकने का प्रयत्न किया उसी प्रकार चेतसिंह के समय में बनारसवालों ने भी देश में छिड़े स्वाधीनता के यज्ञ में आहुति डाली।

भारत को अपनी भरनी भुगतनी थी। उसको पलटने की क्षमता उनमें नहीं थी। यह दुख की बात भले ही हो पर ऐसे युद्ध में लड़कर हार जाना गौरवास्पद है।'[२५]

इस घटना के उपरांत सन् १९१४ ई० में स्वाधीनता के संघर्ष में काशी की चेतना पुनः प्रज्वलित हुई थी। सन् १८५७ का प्रसिद्ध गदर आया। उस विद्रोह का एक केंद्र काशी भी था। उस समय हिंदुस्तानी पल्टन ने भी सरकार के खिलाफ आग उगलने में कोई कोर कसर बाकी नहीं रखी। काशीनरेश ईश्वरीनारायण सिंह ने अपनी दोरंगी नीति से अंग्रेजों का खुले आम समर्थन किया और काशी में कोई मारकाट की घटना उस समय होने से बच गई। संवत् १९४३-४४ में कांग्रेस के जन्म के साथ समस्त देश में स्वाधीनता प्राप्ति की बुझी हुई राख आग बनकर भभक उठी। सं० '६२ वि० में बनारस में ही कांग्रेस का अधिवेशन था। इसी अधिवेशन में पहली बार काशी से स्वदेशी प्रदर्शनी का प्रारंभ हुआ। उस समय इस नगरी के कांग्रेस के अखिल भारतीय प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं में स्व० सर्वश्री रामकाली चौधरी, छन्नूलाल, वृंदावनबिहारी आदि थे। कांग्रेस में हिंदी की प्रतिष्ठा करने में स्वर्गीय श्रीशिवप्रसाद गुप्त ने धन और हृदय दोनों दान किया था। राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व कांग्रेस की दृष्टि से सबसे पहले स्व० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने देखा था। उन्हीं की नीति के परिणाम से फरवरी १९१६ ई० में पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती एनी-बेसेंट के प्रयत्न से हिंदू विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। सन् १९१९ में महात्मा गांधी ने स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्त के राष्ट्रीय शिक्षा अनुष्ठान को पूर्ण करने के लिए काशी विद्यापीठ का उद्घाटन किया। काशी विद्यापीठ राजनीतिज्ञों के निर्माण और असहयोग आंदोलन के क्षेत्र में अपना राष्ट्रव्यापी महत्व स्थिर कर चुकी है। अब वह एक स्वतंत्र विद्यालय है। १९७६ वि० में जालियांवाले बाग के दुष्कांड के पश्चात् कांग्रस उपसमिति की पहिली रिपोर्ट पर बीस फरवरी को काशी में हस्ताक्षर हुए थे। उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नेतृत्व में यहाँ पहली बैठक भी आहूत हुई थी जिसमें कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन का प्रस्ताव लाला लाजपतराय के सभापतित्व में पास किया गया था। कलकत्ते के बाद असहयोग आंदोलन में काशी में ही सबसे अधिक गिरफ्तारियाँ की गई थीं। 'स्वराज्य' शब्द का ध्येय देश-बंधु चितरंजनदास और डाक्टर भगवानदास ने काशी में ही विचार विनियोजन के बाद तय कर लिया था और गया कांग्रेस में संवत् १९७८ में वह प्रस्ताव पारित भी हुआ। स्वराज्य दल की स्थापना हो जाने पर व्यवस्थापक सभा के लिये काशी के दो सदस्य भेजे गए और कांग्रेस के कमेटी की आज्ञा से म्युनिसिपल बोर्ड पर भी

२५. हंस, काशी अंक, पृ० २४।

कांग्रेस की प्रधानता हो गई। संवत् १९८३ वि० में साइमन कमीशन की नियुक्ति से देश में दुष्चक्र और षडयंत्र रचा गया। इसी लिये जनवरी १९२८ ई० में 'पार्टीज कांफरेंस कांग्रेस' का आयोजन इस नगर में डा० अंसारी के सतापतित्व में किया गया। सर्व-श्री तेजबहादुर सप्रू, चिंतामणि घोष, सच्चिदानंदसिंह, विपिनचंद्र पाल आदि तपे हुए नेताओं की उपस्थिति में साइमन कमीशन के बहिष्कार का साहसपूर्ण निश्चय काशी में बैठकर किया गया। सर्वश्री तेजबहादुर सप्रू, चिंतामणि घोष, सच्चिदानंदसिंह, विपिनचंद्र पाल आदि तपे हुए नेताओं की उपस्थिति में साइमन कमीशन चुपचाप बनारस चला आया था। परंतु कांग्रेस के स्वयंसेवक स्टेशन से लेकर विश्वनाथ मंदिर तक कमीशन का बहिष्कार ही नहीं करते रहे प्रत्युत 'उनकी प्रत्येक गतिविधि' पर तीक्ष्ण दृष्टि भी रखने में सफल रहे। काशी अंक के प्रकाशन के तीन वर्ष पूर्व सत्याग्रह आंदोलन के सिलसिले में काशी की दो इमारतें जब्त हो गई थीं। काशी के नागरिकों पर लाखों रुपए जुर्माना हुआ था। राष्ट्रीयता संग्राम में काशी के तीन नेताओं ने अपनी आहुति दे दी। ढाई हजार नागरिक जेलों में भर दिए गये। जिस समय डाक्टर संपूर्णानंद ने यह लेख लिखा था उस समय देश जन आंदोलनों की अंगड़ाई में सब कुछ भूलकर केवल स्वतंत्रता को राष्ट्रधर्म मानकर सब कुछ कुर्बान करने को तुला हुआ था। वह युग आंदोलनों का युग था। साहित्य, संस्कृति, राजनीति, जीवन और समाज में जो आंदोलन इस समय किए गए, वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के मूल आयोजनों में उनका सर्वप्रमुख महत्व है। उस समय किए जारहे आंदोलनों के प्रयत्न से सामान्य नागरिकों को ऐसा विश्वास हो गया था कि स्वराज्य और स्वतंत्रता मिल कर रहेगी। स्वतंत्रता की तिथि भले ही अनिश्चित रही हो लेकिन जो कार्य उस समय किए गए उनकी एक झलक भी स्वतंत्र भारत में आगे दिखाई न पड़ी। उस संघर्षयुग में अपनी अभूतपूर्व स्वतंत्र चेतना तथा देश की अंतरात्मा ने गुलामी से मुक्त होने के लिये ऐतिहासिक योगदान दिया था। उस समय काशी ने भी सच्चे हृदय और चैतन्य बुद्धि से सारे देश का स्वातंत्र्य-नेतृत्व किया था। अपनी राजनीतिक प्रवृत्तियों के अध्ययन और चिंतन के आधार पर डा० संपूर्णानंद ने काशी की सैकड़ों वर्षों की राजनैतिक परिस्थियों पर प्रकाश डाला है। इस विशेषांक की तीन-चार महत्वपूर्ण उपलब्धियों में इस लेख की गणना सदा की जायगी।

श्री देवीदत्त मिश्र ने 'काशी नरेश' नामक निबंध में भारत के प्राचीन राज्यों में काशी राज्य का स्थान निरूपित करते हुए यहाँ के समय-समय पर किए गए ऐतिहासिक परिवर्तनों की राजनैतिक विचारधारा का सप्रमाण अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। काशी राज्य पर कई बार भयंकर आक्रमण हुए लेकिन उसके अस्तित्व पर कभी भी ठेस नहीं लग पाई। आज भी काशी की राजनीति और

राष्ट्रीयता अपने स्थान पर चट्टान की तरह दृढ़ रहकर स्थायी परंपरा को विकसित कर रही है। प्राचीन काल में अयोध्या, मौर्य, कन्नौज, आदि के शासनांतर्गत काशी का सांस्कृतिक विकास दिनोदिन समृद्ध होता गया। मुसलमान और तुर्क आततायियों यथा गोरी, गजनी, औरंगजेब आदि ने अपने धार्मिक जोश और प्रभुत्वस्थापन के उन्माद में इस नगरी को लूट लिया, धर्मस्थानों को नष्ट कर दिया और औरंगजेब ने काशी का विनाश भी किया। अंगरेजों, मराठों, और सिक्खों के उत्कर्ष और घोर अव्यवस्था के युग में भी काशी का महत्व बना रहा। भूमिहार जाति के राजा मंशाराम वर्तमान काशीनरेशों के इतिहास में आप्त पुरुष है। उनके पूर्वज श्रीकृष्ण मिश्र थे जिनके संबंध में पहले ही प्रकाश डाला गया है। सन् १७३८ ई० के पूर्व मंशाराम के पुत्र बलवंत सिंह काशी के राजा हुए और उन्होंने राज्य की दृढ़ता को सन् १७४० ई० में सुदृढ़ और संपन्न करना प्रारंभ किया। उनके ही समय में काशी राज में कई राजनीतिक महत्व की बातें घटीं। राजा बलवंत सिंह के उपरांत उनकी अविवाहिता छत्राणी प्रेमिका से उत्पन्न चेतसिंह, बलवंत सिंह के भतीजे मनियार सिंह और उनके नाती महीपनारायण सिंह में गद्दी के लिये अनेक प्रकार के षडयंत्र और प्रतिस्पर्द्धाओं का कुचक्र चलने लगा। उस समय काशी के राजा मनियारसिंह थे। पं० देवीदत्त मिश्र ने इस निबंध में राजा चेतसिंह को सुंदर हृदय का कोमल और शांतिप्रिय शासक माना है; परंतु सत्यत: चेतसिंह निडर नहीं थे। अपनी सरलता के कारण शिवाला घाट पर वे गिरफ्तार होते-होते बचे थे और आगे गिरफ्तार भी कर लिए गए। ईस्ट इंडिया कंपनी की क्षुधातुर अर्थपिपासा को पूर्ण करने का श्रेय भी उनको छोड़कर किसके मत्थे मढ़ा जा सकता है। महत्व राजा चेतसिंह का नहीं है। अपनी शानबान पर कुर्बान हो जानेवाली काशी नगरी के वीर नागरिकों ने उनके नेतृत्व से विहीन रहकर उस समय वारेन हेस्टिंग्स और ईस्ट इंडिया कंपनी को नाकों चने चबवा दिए थे, दाँत खट्टे कर दिए थे। बनारस के गुंडों के खाड़े की धार में तिनके की तरह संगीनें बह गई थीं। तोपों की आग बुझ गई थी। सारा बनारस खून की होली खेल रहा था और चेतसिंह के पास नेतृत्व करने की क्षमता और बुद्धि का यदि अभाव नहीं था तो उन्होंने क्यों नही काशी के नागरिकों की इस कुर्बानी का नेतृत्व किया? राजनीतिज्ञ न दया की भिक्षा माँगता है और न अवसर पड़ने पर किसी को दया की भीख देता है परंतु चेतसिंह ने क्या किया? जब बड़ी ही आसानी से हेस्टिंग्स को कैद करके बनारस में जीवनभर के लिये रखा जा सकता था उस समय चेतसिंह ने उसके ऊपर दया कर दी और उसके द्वारा स्वयं गिरफ्तार कर लिए गए। चेतसिंह जैसे शासक संघर्षकालीन स्थिति का सामना करने में कभी सफल नहीं होते। ऐसे शासकों की आवश्यकता तब होती है जब अमन और चैन की मधुर वंशी बज रही हो। चेत-

सिंह के उपरांत अंगरेजों की सहायता से बलवंत सिंह के नाती महीपनारायण सिंह को काशी राज्य के ९६ परगनों की गद्दी मिली, परंतु उनकी नाबालगी से लाभ उठाकर अंगरेजों ने चकिया, ज्ञानपुर और भदोही के तीन परगनों को छोड़कर शेष तिरानबे को अंगरेजी राज्य में मिला लिया। जब वे बालिग हो गए तब भी कंपनी उन्हें नाबालिग सिद्ध करती रही और तिरानबे परगनों को लौटाने से एकदम इनकार कर गई। इतना ही नहीं उनपर नए-नए प्रतिबंध लगाए गए और अनेक नए कर भी काशीराज की जनता पर थोप दिए गए। उनके सुयोग्य पुत्र उदितनारायण सिंह संवत् १८९५ से १९३५ वि० तक काशी राज की गद्दी पर रहे। उनका संपूर्ण जीवन पिता द्वारा खोए हुए राज्य को प्राप्त करने के प्रयत्नों में बीत गया। वे काशी राज्य की परंपरा में सर्वाधिक तेजस्वी नरेश थे क्योंकि गवर्नर जनरल तक की अपमानपूर्ण बातों को कभी उन्होंने बरदाश्त नहीं किया। उनके उपरांत उनके भतीजे ईश्वरीप्रतापनारायण सिंह गद्दी के मालिक हुए। सन् १८७५ ई० के गदर में उन्होंने अंगरेजों की वैसे ही मदद की जैसे बक्सर के मैदानेजंग में फिरंगियों की सहायता काशी नरेश बलवंत सिंह ने पहले की थी। उनके उत्तराधिकारी महाराज प्रभुनारायण सिंह सन् १८८९ से १९३१ ई० तक अपनी नीति, कुशलता, और प्रजापालक व्यक्तित्व के कारण अपने पूर्वजों की खोई हुई लोकप्रियता को पुनः प्राप्त कर सके। सन् १९३१ ई० के उपरांत उनके पुत्र आदित्यनारायण सिंह के सबल हाथों में काशीराज का शासन आया था। उन्होंने सन् १९३९ ई० तक अपने जीवन के अंतिम क्षणों में भी काशी राज का सफल शासन किया। उनके उपरांत आजकल श्री विभूतिनारायण सिंह काशी-नरेश हैं। अब तो बनारस की आस्थावादी परंपरा के कारण ही काशी राज्य का अस्तित्व रह गया हैं। काशी राज का राष्ट्रीकरण सरकार ने कर दिया है। कई असहमतियों के बावजूद भी प्रस्तुत निबंध राजनैतिक महत्व का है। काशी राज्य की साहित्यिक, सांस्कृतिक और विद्वत्परंपरा पर एक भी स्वतंत्र निबंध इस विशेषांक में नहीं छपा है।

पं० रामनारायण मिश्र ने अपनी गतिशील और आर्यसमाजी कलम से अधिकांश आर्यसमाजी और कुछ प्रगतिशील कार्यों की ओर संकेत करते हुए 'काशी के समाजसुधार के प्रारंभिक उद्योग' शीर्षक के अंतर्गत समाज की पहली पहली शुद्धि, काशी में पहली कन्यापाठशाला, भर जाति में जागृति, विलायतयात्रा पर आंदोलन, पहला प्रीतिभोज, अछूतों को अपनाने का पहला उद्योग उपशीर्षकों के अंतर्गत विभिन्न नवीन परिवर्तनों पर काशी के समाज को ध्यान में रखकर प्रकाश डाला है।

काशी का व्यावसायिक महत्व उतना नहीं है जितना इस नगरी की सांस्कृतिक और शैक्षिक महत्ता का। परंतु काशी अपनी शिल्प प्रधान वस्तुओं के आयात-

निर्यात के लिये आज भी विश्वविख्यात है। पूर्वी भागों के औद्योगिक नगरों में सन् ३३ के पूर्व काशी के शिल्पी प्रख्यात थे और आज कई क्षेत्रों में काशी की व्यावसायिक विशेषता विश्व के बाजर में अपनी साख रखती है। श्री नरसिंहदास ने 'काशी का शिल्प और व्यापार' नामक परिचयात्मक निबंध में बनारसी माल, कलाबत्तू, काशी सिल्क, पीतल के बर्तन, सल्मा सितारे, जर्दोजी, जर्मन सिलवर, गोटा पट्ठा, बांकड़ी, कामदानी, टिकुली, काठ के खिलौने, चांदी के काम, जवाहिरात, अल्यूमिनियम फैक्ट्री, सुरती जर्दा, काटन मिल, पत्थर का काम, लेंस का कारखाना, पाटरी, सिल्वर और गिलट के गहने, मनिहारी चीजें, फल, बैंक, बीमा कंपनी और हुंडीवालों की मौलिक शिल्प से निर्मित गृह उपयोगी वस्तुओं की विशेषताओं से पाठकों को परिचित कराया है। बनारसी वस्त्रों का व्यवसाय काशी का अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय है। 'काशी का बनारसी वस्त्रों का व्यवसाय' नामक व्यावसायिक निबंध साड़ी व्यवसायी श्री मंगलीप्रसाद अवस्थी ने लिखा है। बनारसी वस्त्रों के विभिन्न प्रकार के माल ईजाद करनेवाले तथा कारीगरों की व्यावसायिक प्रक्रिया में इस लेख का महत्व आज भी अपनी जगह पर स्थिर है।

काशी नगरी तीनों भुवन में अनादिकाल से श्रेष्ठतम मानी जाती है। शंकर माता पार्वती के समेत कण-कण में विराजमान हैं। यह नगरी विविध प्रकार के ज्ञान, भक्ति की खान रही है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का काशी की महिमा पर चार पंक्तियों का श्लोक स्वतंत्र पृष्ठ पर काशी विशेषांक पर पवित्र चंदन बनकर सुशोभित है—

> यस्यां सदैव भुवनत्रय संस्तुतायां,
> विश्वेश्वरो वसति शैलसुता समेतः।
> काशी च सैव विबुधाधिप भक्तिभूमि-
> 'हंस-श्रियं' बहुविधां वितनोतु नित्यम्।[२६]

आचार्य द्विवेदीजी के इस आशीर्वाद से काशी अंक का मुख अलंकृत और गौरवान्वित हुआ है।

सर्वश्री गोपाल सिंह नेपाली एवं मनोरंजनप्रसाद ने काशी के संबंध में क्रमशः 'झलक' (काशी के घरहरे पर से), 'काशी का वर्णन' (भोजपुरी बोली में) नाम से दो कविताएँ इस विशेषांक में लिखी हैं। नेपाली बचपन से ही हिंदी के उन प्रख्यात गीतकारों में गिने जाते थे जिनके मौलिक गीतों के आकर्षण से प्रेमचंद, प्रसाद, निराला जैसे मान्य साहित्यकार प्रभावित थे और नेपाली की काव्यशक्ति

२६. हंस, काशी अंक, पृ० १ (मुखपृष्ठ के उपरांत)।

का संमान भी किया करते थे। माधवराव के धरहरे पर से सारे बनारस का जो स्वरूप गीतकार नेपाली के हृदयपटल पर अंकित हुआ है उसको अपने गीत की बत्तीस पंक्तियों में उन्होंने इस प्रकार आबद्ध किया है—

सामने महल हैं बड़े-बड़े जिनके भीतर और ही लोक।
है जहाँ बंद गृह के सुख-दुख करुणा, आनंद, उमंग शोक॥
इस ओर छतों से खिड़की के हैं ताक रहे कितने लोचन।
मैं एक अपरिचित होकर भी सुख पाता हूँ तुमको विलोक॥
इस शांत अचंचल गंगा में है खेल रही रे कोई नाव।
ऐसे ही मेरे मन में क्रीड़ा करते हैं कुछ मधुर भाव॥
ऐसे ही इस भव सागर में खेला करता यह लघु जीवन।
सागर की चंचल लहरों में बह जाते हैं सारे अभाव॥[२७]

नेपाली के इस संगीत में गंगा प्रयाग से आकर अपनी लहरों को काशी के तटों पर बिखेर देती है। कवि चंचल बयारों से खिंचा-खिंचा सा सुख-दुख के समन्वय से निर्मित संसार के मदिर आलापों को अपने गीतों की धारा में काशी के पवित्र दृश्य की चेतना को जागृत करने में समर्थ हुआ है। मनोरंजनप्रसादसिंह की भोजपुरी कविता में कोई विशेष गुण नहीं दिखाई पड़ता। कवित्व की सतह पर भी मनोरंजनजी इस कविता में काशी को लेकर नहीं खड़े हो सके। लोककवि का उनका स्वरूप भी ऐसा नहीं है जिसके लिये इस गीत की विवेचना की जाय।

गंगा और काशी को काव्य का विषय बनाकर पंडितराज जगन्नाथ, पद्माकर, भारतेंदु, रत्नाकर, गालिब, और कई दर्जन प्रख्यात व्यक्तियों और साहित्यकारों ने इस विशेषांक के पूर्व कुछ ऐसी रचनाएँ काशी के संबंध में लिखी हैं जिनसे निश्चय ही काशी को गौरवमहिमा विश्वव्यापी बन सकी। परंतु उन अपर निर्माताओं की एक भी पंक्ति का दर्शन इस विशेषांक में क्यों नहीं कराया गया? क्या वे कवि उपेक्षणीय थे? अथवा 'हंस' प्रगतिशीलता के झोंक में अपनी पूर्व परंपरा को स्वप्न समझ बैठा। तेगअली आदि और न जाने कितने प्रख्यात कवियों और साहित्यकारों का संबंध उस जनजीवन से रहा है जिसे हर बनारसी जानता है। ऐसी रचनाएँ भी संपादन की सीमा से क्यों अलग रह गई हैं?

इस विशेषांक में दो कहानियाँ छपी हैं। प्रसाद की 'गुंडा' और शिवरानी देवी की 'नर्स'। दोनो कहानियों के नाम की व्यंजना से ही उनका अंतर स्पष्ट हो जाता है। हिंदी कहानियों में 'गुंडा' की एक अलग इज्जत और कद्र छपने के दिन से आजतक स्थिर है। काशी की ऐतिहाकता और परंपराको पुनर्जीवन देने की

२७. हंस, काशी अंक, पृ० २।

कामना से इस कहानी की सृष्टि हुई है। चेतसिंह के समय जन आंदोलनों के नेता चेतसिंह नहीं अपितु इस कहानी के नायक ननकूसिंह जैसे अपनी शान के लिये जान को पानी का बुल्ला समझनेवाले नागरिक थे। इन्हीं को 'गुंडा' कहा जाता था। इस कहानी में उन्नीसवीं शती की काशी की विडंबना और यथार्थ जीवन पुनः प्रत्यक्ष हुआ है। उस समय की राजनीति, परिस्थितियों और बुजदिली के कारण बनारस के लोगों का पानी थहाने का हौसला भी फिरंगियों को हो गया था। उसी समय के जीवन—इस कहानी की ठोस भावभूमि—पर प्रकाश डालते हुए प्रसादजी ने कहा है—'ईसा की अट्ठारहवीं शती में वह काशी नहीं रह गई थी जिसमें उपनिषद् की ब्रह्मविद्या सीखने के लिये अजातशत्रु की परिषद् में विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। गौतमबुद्ध और शंकराचार्य के दर्शन में कई शताब्दियों में वाद-विवाद, मंदिरों, मठों के ध्वंस और तपस्वियों के बध के कारण, प्रायः बंद सा हो गया था। यहाँ तक कि पवित्रता और छुआछूत में कट्टर वैष्णव धर्म भी उस विश्रृंखलता तथा नवागंतुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में आक्रोश का रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र बल के सामने झुकते देखकर काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिकों ने जीवन में एक नवीन संप्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था, अपनी बात पर मर मिटना, सिंहवृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण भिक्षा माँगने वाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्दी पर शस्त्र न उठाना, सताए निर्बलों को सहायता देना तथा प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए हुए घूमना उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुंडा कहते थे।'[२८]

'गुंडा' कहानी केवल ननकू सिंह के चरित्र का बाना बनकर नहीं रह गई है, अपितु मानव सुलभ देशप्रेम के संमान की अग्नि भी इस कहानी में मशाल की तरह भभकती दिखाई पड़ती है।

काशी में चेतसिंह मात्र नाम से उस समय राजा बने हुए थे। पन्ना विधवा राजमाता थी। पन्ना से बलवंत सिंह ने प्यार किया था और बहुत दिनों पहले उनकी छोटी सी जमींदारी से ब्याह कर अपना लिया था। कभी ननकू सिंह ने अपने प्यार को पन्ना पर रीझकर लुटा दिया था। बलवंत सिंह के बीच में आ जाने से ही पन्ना ननकू सिंह की नहीं हो पाई थी। पति के मरने पर बनारस में ही वह काशीवास करती थी। उस समय शहर के मुँहलगे मिट्ठू, कुबड़ा मौलवी के थूक से चिराग जलता था। वह नगरद्रोही था। ननकू सिंह ने आजीवन विवाह ही नहीं किया था। उनकी सारी जमींदारी शानशौकत और परोपकार में चुक

२८. हंस, काशी अंक, पृ० २०७।

गई थी। ननकू सिंह प्रतिष्ठित जमीदार के बेटे होकर भी प्रतिष्ठित गुंडे थे। बहुत सा रुपया खर्च करके ननकू सिंह ने एक स्वांग रचा था और उन्होंने एक पैर में नुपूर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती, दूसरे कान में फटे हुए जूते का तल्ला लटका कर एक हाथ में जड़ाऊ मूँठ वाली तलवार, दूसरे हाथ को आभूषण से लदी हुई अभिनय करने वाली प्रेमिका के कंधे पर रख कर गाया था—

कहीं बैगन वाली मिले तो बुला देना।

ननकू सिंह की सहृदयता और वीरता की कई कहानियाँ उनको प्रख्यात कर चुकी थीं। एक बार कुबड़ा मौलवी और रेजिमेंट का आतंक जब सारे बनारस में छाया हुआ था ननकू सिंह ने कुबड़े मौलवी को एक झापड़ मारकर उसको अपना जानी दुश्मन बना लिया था। वह समाचार काशी के घर-घर में गूँज गया था। उसी समय काशी में हेस्टिंग्स भी आया था और उसने अंगरेज रेजीमेंट से शिवाला भवन को अपने अधिकार में कर लिया। राजमाता और चेतसिंह को गिरफ्तार करके कलकत्ता भेजने के षडयंत्र को भी वह पूरा करना चाहता था। पन्ना को कभी ननकू सिंह ने दिल से कुर्बान होकर प्यार किया था। इन षडयंत्रों से वे बावले और पागल हो गए। उनके जीते जी बनारस और उनकी प्रेमिका का यह प्रत्यक्ष अपमान कैसे संभव था।

कोतवाली जाकर ननकू सिंह ने रेजीमेंट के सिपाहियों को चुनौती दी और उनको देखते ही पन्ना चीख उठी। इतने वर्षों के बाद वह ननकू सिंह को पहचान भी गई। आज पन्ना राजमाता थी। एक दिन जब छोटी अवस्था की थी, अपने बाप की बारी में झूला-झूलते समय नवाब के हाथी के बिगड़ जाने पर ननकू सिंह ने ही पन्ना की जान बचा ली थी। दोनों की आँख मिलते ही पवित्रता और आत्मीयता की नई गंगा की लहरें टकरा गईं। उन दोनों ने अपने प्रेम को धरती की ममता के नाम गिरवी रख दिया था, उधार दे दिया था। ननकू सिंह ने उसी क्षण पन्ना और चेतसिंह को घाट पर लगी डोंगी में बैठाकर उन्हें सुरक्षित विदा कर दिया। बनारस की राजमाता और राजा को जीते जी गंगा के रास्ते मुक्त होने के लिये छोड़ दिया। उसने अपने राष्ट्रीय जोश में काशी के ऐतिहासिक कांड को अब प्रारंभ किया। ननकू सिंह की तलवार की धार में कुबड़ा मौलवी और उनकी कंपनी के अधिकारियों के सिर तिनके की तरह बह गए। बीसों संगीनों के बीच ननकू सिंह की तलवार बादलों के बीच बिजली की तरह नाच रही थी। ननकू सिंह का एक एक अंग जब तक कट कर स्वयं जमीन पर धराशायी नहीं हो गया तबतक उसकी तलवार फिरंगियों से मोर्चा लेती रही। ननकूसिंह द्वारा, बनारसी जीवन की

मान के लिये किया गया यह बलिदान प्रेम की कर्त्तव्यभावना से अलग नहीं है। यह घटना काशी के इतिहास की एक वीरप्रसू घटना है। इस कहानी की रचना शायद काशी अंक के लिये ही प्रसादजी ने की थी। यदि हंस का काशी अंक न निकलता तो इस कहानी की रचना शायद न होती। और 'हंस' के काशी अंक में अगर यह कहानी न होती तो काशी अंक में सब कुछ लिख पढ़कर भी बनारस का पानी दबा रह जाता। अनेक अर्थों में यह कहानी गुलेरी जी की 'उसने कहा था' से सबल और भिन्न स्तर पर इतिहाससंमत कही जा सकती है। इस कहानी में प्रसाद की कल्पना ने इतिहास की धरती पर अपने पाँव टिका दिए हैं।

शिवरानीजी की 'नर्स' कहानी इस विशेषांक में छपी है। काशी से उसका कोई संबंध ही नहीं है। इसलिये केवल कलेवर वर्द्धन करने के लिये उस कहानी को इस अंक में स्थान नहीं मिलना चाहिए था। 'गुंडा' कहानी का पं० सीताराम चतुर्वेदी ने खड़ी बोली में और रुद्र काशिकेय ने बनारसी बोली में नाट्य रूपांतर किया है। दोनों रूपांतरों का कई अवसरों पर काशी के रंगमंच पर सफल प्रयोग भी सुबुद्ध दर्शकों की प्रसंशा पा चुका है। इन दिनों गुंडा कहानी पर फिल्म भी बनने की चर्चा है। यह कहानी हिंदी ही नहीं भारतीय भाषाओं में कथा साहित्य के आस्था-वादी परिवर्तन की परंपरा की दृढ़ आधार शिला मानी जायगी।

काशी विशेषांक की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, व्यावसायिक और अन्य परंपराओं का स्वरूप देख लेने के उपरांत यह जिज्ञासा पाठकों के मन में बनी रह जाती है कि इतने विस्तृत विशेषांक में उस समय के प्रसिद्ध इतिहासविद् काशी-प्रसाद जायसवाल, मोतीचंद, राधाकमल मुखर्जी, अल्तेकर आदि के लेख क्यों नहीं उपलब्ध किए जा सके। 'काशी का इतिहास' नामक अपनी कृति में डा० मोतीचंद ने हंस के काशी विशेषांक का कई स्थान पर उद्धरण दिया है और उपयोग किया है। जहाँ तक काशी विशेषांक की साहित्यिक उपलब्धियों का प्रश्न है, वह परिचयात्मक और ऐतिहासिक होते हुए भी उनसे आलोचना की प्रवृत्तियों का स्व-स्थ नियमन नहीं हो सका है। इस विशेषांक में काशी और उर्दू साहित्य, पारसी रंगमंच और काशी, काशी और हिंदी रंगमंच, काशिराज के पंडित और विद्वान्, काशी का जनजीवन और साहित्य तथा काशी का साहित्य और उसकी मान्यताएँ आदि ऐसे विषय थे जिन पर इस विशेषांक में कुछ न कुछ अवश्य लिखा होना चाहिए था। आगा हश्र काशमीरी काशी में पारसी रंगमंच के स्तंभ में थे। गालिब ने अपनी यात्रा के सिलसिले में बनारस के दर्शन का लोभ नहीं संवरण किया था। भारतेंदुजी 'रसा' नाम से उर्दू में रचनाएँ किया करते थे और इस प्रकार की अनेक भूलें विशेषांक रह गई हैं।

फिर भी इन दोषों से युक्त होते भी इस विशेषांक को पहली बार पढ़कर काशी के संबंध में यथेष्ट ठोस जानकारी जाती है। संपूर्ण बनारस के विभिन्न जीवन और समाज का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। 'काशी विशेषांक' उन महान ग्रंथों में है जिनकी महत्वपूर्ण ऐतिहासिकता सदैव अंकित रहेगी।

काशी अंक जिस समय प्रकाशित हुआ था उस समय ही वह संग्रहणीय था। आज बहुत खोजने पर भी कुछ विद्वानों और दो चार हिंदी के प्राचीन संग्रहालयों में वह अपने पुन: अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहा है।

*

हिंदी-शब्दार्थों को उपसर्गों का अवदान

राजेंद्रप्रसाद पांडेय

•

शब्दों के पूर्व लगनेवाले विशिष्ट प्रकार के शब्दखंडों को उपसर्ग कहते हैं। इनका मुख्य कार्य है, शब्दों के अर्थ को कुछ मोड़ दे देना। किंतु कभी-कभी ये शब्दों का अर्थ नहीं भी बदलते। संभवतः उपसर्गों की कोई चुस्त और दुरुस्त परिभाषा न पा सकने के कारण ही क्रिया के योग में प्रादिक को उपसर्ग संज्ञा पाणिनि ने प्रदान कर दी है—**प्रादयः** (सू० १।४।५८), **उपसर्गाः क्रियायोगे** (सू० १।४।५९)। इन प्रादिक थे अतिरिक्त अन्य शब्दखंड क्रिया के पूर्व आकर भी उपसर्ग नहीं कहे जा सकते। इसी लिये कुपुरुष, कापुरुष, सदाचार आदि के प्रारंभिक शब्दखंड उपसर्ग नहीं कहे जा सकते। पाणिनि के सूत्र के **क्रियायोगे** पर आपत्ति भी की जा सकती है क्योंकि संज्ञा, सर्वनाम आदि वाचक शब्दों के पूर्व भी उपसर्ग लगते हैं और उनकी उपसर्गता में कोई बाधा नहीं पड़ती, भले ही वे शब्द धातु निर्मित हों, किंतु वे क्रिया तो कदापि नहीं हैं। उज्वल, परिमल आदि सहस्रों शब्द इसके उदाहरण हैं। इसी लिये उपसर्गों की कोई संक्षिप्त और सर्वथा उचित परिभाषा देना कठिन है। इस कठिनाई को समझ कर ही भट्टोजि दीक्षित ने इन उपसर्गों को गिनाया है—

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आ, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि और उप। ये कुल मिलाकर २२ उपसर्ग संस्कृत में हैं। हिंदी में निस् और निर् तथा दुर् में परस्पर कोई भेद नहीं दीखता है, अतः हिंदी में कुल मिलाकर बीस उपसर्ग ही संस्कृत से मिली संपत्ति के रूप में हैं। इन्हें तत्सम उपसर्ग की संज्ञा प्रदान की जाती है। इनसे भिन्न उपसर्ग भी हिंदी में मिलते हैं। इनमें से कुछ तो संस्कृत उपसर्गों से विकसित हैं और कुछ विदेशी भाषाओं से गृहीत हैं। यहाँ हम इन उपसर्गों द्वारा शब्दार्थ को जो कुछ प्राप्त है, उसे देखेंगे।

जैसा कि कहा जा चुका है, उपसर्गों का शब्दार्थों को सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान यही है कि वे उनका अर्थ बहुत कुछ बदल देते हैं। शब्दों का अर्थ बदलने की यह क्रिया जिस उपसर्ग द्वारा जिस दिशा में मुख्यतः प्राप्त होती है उसे निम्न रूप में आंका जाता है—

उपसर्ग	अर्थ				उदाहरण			
प्र	१ अधिकता,	२ उत्कृष्टता,	३ वैशिष्ट्य	४ गाप्ति	१ प्रखर,	२ प्रमाण,	३ प्रधान,	४ प्रचलन
परा	१ निकृष्टता,	२ अन्यत्व,	३ अभाव	४ विलोमता	१ पराभव,	२ परामर्श	३ परावृत्ति,	४ परावर्तन
अप	१ निकृष्टता,	२ निंदनीयता,	३ निम्नता,	४ व्यर्थता	१ अपमान,	२ अपकार,	३ अपभ्रंश,	४ अपलाप,
				५ विरोध				५ अपवाद
सम्	१ अच्छाई.	२ औचित्य,	३ शक्यता	४ सहभाव	१ सम्मान,	२ संधान,	३ संभव	४ संगति,
				५ अधिकता		४ समागम,	५ संवाद,	५ संहार
अनु	१ पश्चात्,	२ नम्रता,			१ अनुताप,	१ अनुभव,	१ अनुकरण,	२ अनुरोध
अव	१ सज्ञानता,	२ विरोध,	३ नीचे	४ निन्दनीयता	१ अवधान,	१ अवगत,	२ अवमर्ष,	३ अवनति
							३ अवतरण,	४ अवहेलना

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
निस् और निर्	सर्वत्व,[१] बाह्यता,[२] सर्वथा अभाव[३] अनुमान,[४] वैशिष्ट्य[५]	निःशेष,[१] निर्गत,[२] निष्कासन,[२] निर्मूल,[३] निर्विवाद,[३] निर्धारण,[४] निर्देश[५]
दुस् और दुर्	बुराई या निंदनीयता,[१] सायासता[२]	दुष्प्रवृत्ति,[१] दुर्भावना,[१] दुर्जन,[१] दुर्लभ,[२] दुःसाध्य,[२] दुष्कर[२]
वि	वैशिष्ट्य,[१] अभाव,[२] परायापन,[३] आधिक्य[४]	विलास,[१] विशेष,[१] विचार,[१] विगत,[२] विमल,[२] विदेश,[३] विजातीय,[३] विशुद्ध[४]
आ	थोड़ा,[१] विशिष्ट,[२] अपनी ओर[३] चारों ओर,[४] तक,[५] से लेकर,[६] विस्तार[७]	आभास,[१] आभार,[२] आराम,[२] आगमन,[३] आदान,[३] आकाश,[४] आधार,[४] आजानु,[५] आमरण,[५] आबाल्य,[६] आसेतु-हिमाचल,[६] आकार[७]

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
नि	१ तीव्रता, २ गूढ़ता, ३ दृढ़ता, ४ निश्चय, ५ विलोम	१ निरोध, २ न्यास, ३ निवारण, ४ निलंबन, ५ निवृत्ति
अधि	१ नीचे, २ विषयक, ३ स्वामित्व, मनन	१ अधीन, २ अधिदैव, २ अध्यात्म, ३ अधिकारी, ४ अध्ययन
पि (अपि)	अंगसंबंध	१ पिधान (हिंदी का पहनावा, पहनना)
अति	१ बाहर, २ बुराई, अधिक	१ अतिक्रमण, २ अत्याचार, ३ अत्यंत
सु	१ अच्छाई, २ शुभ, ३ उचित, ४ ठीक से, ५ अनायास, ६ सुंदरता	१ सुजन, २ सुदिन, ३ सुवृष्टि, ४ सुजान सुबोध सुवर्ण
उद्	१ ऊपर, २ शुभ्रता, ३ प्रकटता, ४ तत्परता, ५ वैशिष्ट्य	१ उन्नति, २ उज्वल, ३ उद्भव, ३ उत्पत्ति, ४ उद्यम, ५ उद्यान

अभि	१ आगे,	२ उत्कृष्टता,	३ ऊपर,	४ पुनः,	१ अभिसार,	२ अभिजात,	३ अभियोग,	३ अभिमान,
	५ व्यापकता,	६ दबाव			४ अभिज्ञान	५ अभियान,	६ अभिभूत	
प्रति	१ उत्तर में,	२ स्थानापन्नता,	३ रुकावट,	४ पुनः	१ प्रतिशोध,	१ प्रतीकार,	२ प्रतिनिधि,	३ प्रतिबंध,
	५ विरुद्धता,	६ एकैकता,	७ निश्चय,	८ चमत्कृति,	४ प्रत्यावर्तन,	५ प्रतिपक्ष,	५ प्रतिद्वंद्वी,	६ प्रतिव्यक्ति,
	९ विलंबन				७ प्रतिज्ञा	८ प्रतिमा, प्रतीक्षा		
परि	१ ठीक से,	२ चारों ओर,	३ शुद्धता,	४ व्यापकता	१ परिचर्या,	२ परिकीर्ण,	२ परिवेश,	३ परिनिष्ठित
	५ आधिक्य,	६ व्याप्ति			४ परिचर्या,	४ परिचलन,	५ पर्याप्त, पर्यंत	
उप	१ सादृश्य,	२ शिक्षात्मकता,	३ औषधियोग		१ उपमान,	२ उपदेश,	३ उपचार	४ उपाख्यान,
	४ लघुता,	५ स्वीकरण,	६ कार्योचितता		उपार्जन,	५ उपयुक्त,	६ उपयोगी	६

(ऊपर दी गई तालिका में अर्थ की क्रम-संख्या-वाले शब्द उसी अर्थ के उदाहरण हैं।)

ये सभी उपसर्ग संस्कृत के हैं और इन सबके जो अर्थ दिए गए हैं, वे वाचक न होकर द्योतक हैं अर्थात् यह उपसर्ग निदिष्ट शब्दों के साथ लगकर उनके अर्थ को उपर्युक्त दिशा में मोड़ दे देते हैं। किंतु इन उपसर्गों के यह अर्थ स्वतंत्र रूप में नहीं हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उपर्युक्त अर्थ ही इन उपसर्गों के नहीं होते, अन्य भी हो सकते हैं। किंतु सभी अर्थों का ठीक-ठीक निर्देश अत्यधिक श्रम एवं बुद्धि व्यय की अपेक्षा रखता है। कहीं-कहीं तो इन उपसर्गों के अर्थ व्याख्या की दृष्टि से बड़े टेढ़े पड़ेंगे। 'प्र' उपसर्ग के उदाहरण लीजिए—

प्रहार (मारना), प्रहरी (पहरेदार) और प्रहर (समय)। इन उदाहरणों में एक ही धातु है 'हृ' और एक ही उपसर्ग है 'प्र', किंतु प्रत्येक शब्द के अर्थ की दिशा सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार निम्न उदाहरणों में एक ही धातु में भिन्न-भिन्न उपसर्ग लगने पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में अर्थ मुड़ गया है —प्रलाप (निरर्थक वचन), आलाप (बोलना), विलाप (रोना), विप्रलाप (विरोधोक्ति), संलाप (परस्पर बातचीत), अपलाप (अचेतावस्था में बड़बड़ाना या बर्राना) आदि। इस प्रकार एक ही उपसर्ग एक ही धातु के साथ लग कर उसका अर्थ विभिन्न दिशाओं में तो मोड़ता ही है, विभिन्न उपसर्ग भी एक ही धातु में लग कर पूर्वोक्त क्रिया करते हैं।

उपसर्गों की एक यह भी विशेषता है कि यह एक-पर-एक जुड़ते चले जाते हैं और अर्थ की दिशा बदलती जाती है। कुछ उदाहरण—

चार—आ + चार = आचार, सम् + आचार = समाचार।

चार—वि + अभि + चार = व्यभिचार।

ईक्षण—अव + ईक्षण = अवेक्षण, परि + अवेक्षण = पर्यवेक्षण।

ज्ञान—अभि + ज्ञान = अभिज्ञान, प्रति + अभिज्ञान = प्रत्यभिज्ञान।

उपर्युक्त उदाहरणों में मूल शब्द का अर्थ कुछ और है, एक उपसर्ग से युक्त का कुछ और तथा एक से अधिक उपसर्गयुक्त का कुछ और ही अर्थ है।

अनेक स्थानों पर यह शब्द विशेषण शब्दों का भी कार्य करते हैं, जैसे— 'जन' से 'सुजन' और 'दुर्जन' शब्द बनते हैं और इनके अर्थ क्रमशः 'अच्छा व्यक्ति' और 'बुरा व्यक्ति' होते हैं। किंतु इन उपसर्गों की विशेषण शब्दों से यह भिन्नता है कि यह अपनी सत्ता स्वतंत्र शब्द के रूप में नहीं रखते और न इनका स्वतंत्र अर्थ ही होता है।

उपसर्गों का प्रयोग कहीं-कहीं शोभामात्र के लिये होता है, इनसे अर्थ नहीं बदलता। जैसे—प्रशासन (शासन), समालोचना (आलोचना), संतुष्ट (तुष्ट), प्रदीप (दीप) आदि शब्दों में क्रमशः प्र, सम्, सम् उपसर्ग न लगाने पर भी कोई अर्थ भेद नहीं होता और लगाने पर भी कोई वैशिष्ट्य नहीं आजाता। यों कोरे वैयाकरण इन शब्दों का भी सूक्ष्म अर्थ क्रमशः निम्न रूप में निकाल सकते हैं—प्रशासन (अच्छा शासन), समालोचना (ठीक-ठीक आलोचना), प्रदीप (अच्छा दीपक), संतुष्ट (अच्छी तरह तुष्ट) आदि। किंतु इन अर्थों का कोई वास्तविक महत्व नहीं है, क्योंकि इन उपसर्गों से युक्त अथवा इनसे रहित शब्द के स्थान पर परस्पर एक दूसरे का निर्बाध प्रयोग किया जा सकता है, फिर भी अर्थ में कोई अंतर नहीं आ सकता।

अबतक जिन उपसर्गों की चर्चा की गई वे सब संस्कृत के अथवा तत्सम हैं। तद्भव उपसर्ग हिंदी में नहीं के बराबर हैं। उछलना, उठना, उकसना आदि का 'उ' 'उद्' उपसर्ग का विकसित रूप है, किंतु इसने अपने को क्रिया के साथ इतना मिला दिया है कि इसकी स्वतंत्र सत्ता रह ही नहीं गई है। उद्+छलन, उद्+स्थान, उद्+कासन से क्रमशः उच्छलन, उत्थान और उत्कासन बने और इन्हीं से क्रमशः उछलना, उठना और उकसना बने। इसी प्रकार पहर (=प्रहर), पहनावा (=परिधान), उजला (=उज्वल) आदि में उपसर्ग अपना भक्तित्व खो चुके हैं। फिर भी इन उपसर्गों ने इन शब्दों के अर्थों को जो मोड़ दिया था वह अबतक बना हुआ है। कुछ उपसर्ग तद्भव रूप में विकसित होकर हिंदी की अपनी संपत्ति के रूप में मिलते हैं, जैसे—निस् या निर् से नि। निगोड़ा, निपूता, निठल्ला आदि में यह उपसर्ग रूप में प्रयुक्त है और अभाव का द्योतक है। 'दुसाध' का 'दु' भी 'दुस्' या दुर् का विकसित उपसर्ग रूप है।

हिंदी में विदेशी भाषाओं (अरबी, फारसी) के भी उपसर्ग हैं, जो तत्सम उपसर्गों से अर्थ के विषय में कुछ वैशिष्ट्य रखते हैं। तत्सम उपसर्गों का अर्थ निश्चित या सीमित करना कठिन है, किंतु इनके अर्थ निश्चित और सीमित हैं—

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
बे	से रहित, बिना	बेमेल, बेढंगा, बेमुरौवत, बेदर्द
ना	रहित	नापसंद, नालायक, नासमझ
बा	सहित	बाकायदा
ब	अनुसार, सहित	बइज्जत, बदस्तूर, बदौलत
ला	बिना	लाजवाब, लापरवाह

कुछ लोग अंगरेजी के 'सब' 'हेड' आदि को हिंदी के विदेशी उपसर्ग के रूप में उल्लिखित करते हैं। किंतु या तो वे उपसर्ग हैं ही नहीं, या फिर हिंदी में उन्हें उपसर्ग रूप में अभी स्वीकृति मिली ही नहीं। अतः उनके अर्थ की चर्चा यहाँ नहीं की गई।

वर्तमान युग में इन उपसर्गों के सहारे अभियंता (इंजीनियर), अधिशासी (एक्जीक्यूटिव), प्रशासक (ऐडमिनिस्ट्रेटर), अधिनियम (स्टैच्यूट), अनुघात (कांकशन), बेतार का तार आदि सहस्रों शब्द प्रतिदिन बनते जा रहे हैं और इनसे हिंदी का भंडार बढ़ता जा रहा है। इन उपसर्गों से आज हिंदी को अर्थक्षेत्र में जितना अवदान मिल रहा है, संभवतः इतना किसी युग में किसी भाषा को उपसर्गों से न मिला होगा। निश्चय ही इन उपसर्गों के रहते हमें शब्दार्थ के लिये किसी भी विदेशी भाषा का मुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं।

*

हिंदी के एक तीसरे 'भूषण' कवि

प्रभात

•

'शिवराजभूषण' और 'छत्रसालदशक' (अगर इसे एक स्वतंत्र कृति मानें, तो) के रचयिता महाकवि भूषण से हिंदी साहित्य का इतिहास अच्छी तरह परिचित है। विवाद उनके जीवनवृत्त की अल्पज्ञात रेखाओं के संबंध में ही है, उनके साहित्यिक महत्व को कभी अस्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि औरंगजेबी उत्पीड़न के विरुद्ध उठनेवाली विद्रोह की उस आग का अभिनंदन उनकी कविता ने किया, जिसकी जीवंत ऊष्मा काव्यशिल्प की रूढ़ियों के बावजूद मन को छूती है। कुछ वर्ष पूर्व एक 'भूषण' और प्रकाश में आए, जिनके छंदोहृदयप्रकाश नामक पिंगल ग्रंथ का संपादन स्वर्गीय डा० विश्वनाथप्रसाद द्वारा किया गया। शिवराजभूषण के रचयिता (महाकवि भूषण) के मूल नाम के संबंध में विवाद रहा है। आचार्य लोग 'पतिराम' तथा 'मनिराम' के भ्रम और 'घनश्याम' की कल्पना में बह रहे हैं।[1] पर, दूसरे 'भूषण' का नाम उनकी कृति छंदोहृदयप्रकाश में स्पष्ट दिया हुआ है—मुरलीधर। कैप्टेन शूरवीर सिंह पंवार ने संवत १७०५ वि० की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर मुरलीधर भूषण कृत 'अलंकारप्रकाश' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया है और उसकी प्रस्तावना में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महाकवि भूषण और मुरलीधर भूषण एक ही व्यक्ति थे।[2] यह ऊहापोह और विवाद अनिर्णय के साथ चल रहा है कि मुरलीधर भूषण और महाकवि भूषण अलग अलग दो व्यक्ति थे या एक ही व्यक्ति के नाम और उपनाम थे।[3] इन प्रश्नों में मैं इस समय उलझना नहीं चाहता। इस लेख का तात्कालिक लक्ष्य इन दोनों 'भूषणों' (या इन दोनों नामों से अभिहित एक 'भूषण') से अलग एक अन्य (तीसरे) 'भूषण' कवि की ओर अनुशीलनकर्ताओं और साहित्यशोधकों का

१. भूषण, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १०२–१०३।
२. महाकवि भूषण कृत अलंकारप्रकाश, पृ० १–२०।
३. देखिए : महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण, कृ० पा० दिवाकर; छंदोहृदयप्रकाश–भूमिका : डा० विश्वनाथप्रसाद; हरिऔध पत्रिका (अक्तूबर १९५९) 'मुरलीधरभूषण कृत छंदोहृदयप्रकाश' शीर्षक लेख–डा० किशोरीलाल गुप्त।

ध्यान आकर्षित करना है, जो संयोग से भूषण नामक इन दोनों से भिन्न पर उनके समकालीन थे। उनका पूरा नाम था ब्रजभूषण और उनकी रचनाएँ 'ब्रजभूषण' और 'भूषण' दोनों छापों के साथ मिलती हैं। स्पष्टता की दृष्टि से प्रस्तुत लेख में इन तीनों 'भूषणों' का निम्नांकित अभिधानों से उल्लेख किया जायगा—

१. महाकवि भूषण — शिवराजभूषण के रचयिता।
२. मुरलीधर भूषण — छंदोहृदयप्रकाश के रचयिता।
३. ब्रजभूषण या भूषण कवि — वृत्तांतमुक्तावली के रचयिता और लेख के आलोच्य कवि।

ब्रजभूषण के जीवनवृत्त के संबंध में कोई सीधा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसकी एक मात्र उपलब्ध कृति 'वृत्तांतमुक्तावली' के आधार पर कहा जा सकता है कि ये 'निजानंद' (प्रणामी) संप्रदाय में दीक्षित संमान्य साधक और प्रबुद्ध प्रवक्ता थे। इन्होंने महेराजजी (प्राणनाथजी) के दार्शनिक अभिमत को अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शनों के स्पष्ट विश्लेषण के साथ ही, मध्व, रामानुज आदि की साधनापद्धतियों के अंतरंग तथ्यों का विवेचन इनके अध्ययन मनन की व्यापकता और गहराई की ओर संकेत करता है। वस्तुतः वृत्तांतमुक्तावली निजानंद संप्रदाय के प्रवर्तक की आध्यात्मिक जीवनयात्रा का श्रद्धापूर्ण विवरण ही नहीं है, उनकी साधनापद्धति और दार्शनिक स्थापनाओं की पांडित्यपूर्ण मीमांसा है।

विद्वत्ता के अतिरिक्त वृत्तांतमुक्तावली यह भी संकेत कर देती है कि इसका लेखक मूलतः बुंदेलखंड या ब्रज प्रदेश का वासी था और ब्रजी को इसने ग्रंथों से नहीं, लोकजीवन से सीखा था। पांडित्यपूर्ण होते हुए भी इनकी भाषा कहीं लोक-व्यवहार की दृष्टि से पथभ्रष्ट नहीं हुई। पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर हिंदी के कुछ प्रतिष्ठित आचार्य 'घोड़ा' को 'घोड़ो' और 'छोरा' को 'छोरो' ही नहीं बना गए, ब्रजवासी सूर की भाषा को भी सुधार गए हैं। ब्रजभूषण के लिए ऐसे असाधु प्रयोगों को बचा पाना अकारण नहीं था। निरनै, भखै, छाजै, ल्याये, मीठो, चौं, ढिग, दसमे (दसवें) काइली आदि प्रयोग ब्रज के आंचलिक संपर्क के द्योतक हैं। इतना ही नहीं, ब्रज की स्थानीय परंपराओं और ब्रजभाषी भक्तों के अंतरंग विवरण भी इस बात के साक्षी है कि बुंदेलखंड के अतिरिक्त ब्रज से इनका निकट का संबंध था।

(ब्रज) भूषणजी के संबंध में एक और बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती हैं कि जहाँ वे एक ओर प्राणनाथजी के प्रति पूर्णतः समर्पित थे, वहीं छत्रसाल के भी विशेष कृपापात्र थे। अंतःसाक्ष्य है कि उन्होंने छत्रसाल की प्रेरणा से ही वृत्तांतमुक्तावली की रचना की थी।

क. महामति प्रसाद छत्ता कहेयो, सुखसार 'भूषन' दियो।[४]

× × ×

ख. महामति पति देवचंद्र की, कीरत चरित विशाल।
जगपालक कलिमत हरन, गाई नृप छत्रशाल॥[५]

× × ×

ग. अद्भुय रस बरषा अमित, होत रहत नित्यान।
सो लीनी छत्रशाल नृप, 'भूषन' छटा प्रमान॥[६]

कहीं कहीं तो उल्लेख यह है कि भूषनकवि छत्रशाल द्वारा ही प्रणामी संप्रदाय में दीक्षित किए गए थे और पहले पहल उन्हें अपने इस स्नेही राजा के घर पर इस धर्म का रस मिला। उन्होंने स्वीकार भी किया है छत्रशाल ने जो तत्व इन्हें दिया, उसीको छंदों में रूपायित करने की काव्यात्मक साधना उन्होंने की—

यह चरित सिंधु अति विशाल, सुनि ग्रह्यो प्रगट निज छत्रशाल।
तिन सदन पधारे आई आदि, चाख्य सुरंच 'भूषन' स्वाद॥[७]

× × ×

छत्रसाल सो प्रानपति, कही सबै यह उक्ति।
मतिमाफिक 'भूषण' लही, दई धनी जो जुक्ति॥

× × ×

नाद पुत्र तेहि छत्रसाल नृप।
तेहि शिष्य ब्रजभूषण कछु पायो॥[८]

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथ में वक्ता प्राणनाथ जी हैं, श्रोता छत्रसाल जी और उसे काव्यात्मक रूप देने वाले हैं भूषण कवि।[९] जिस प्रकार

४. महापति=प्राणनाथजी; छत्ता=छत्रसालजी; वृत्तांतमुक्तावली, पृ० २८।

५. वही, पृ० ४१।

६. वही, पृ० ४७३-७४।

७ वही, पृ० ११८।

८. वृत्तांतमुक्तावली, परिशिष्ट, पृ० २९।

९. श्री प्राणनाथ बोले तबै, नृप पूछत हीं जोई,

× × ×

कहीं मेरता तें सकल, सुनी नृपति छत्रसाल।
भूषन अब बरचा कहत, हरद्वार को हाल॥ पृ० २४३।

× × ×

चरित सतगुरु सिंधु को, पार कोउ पावै नहीं।
ग्रह्यो छत्ता नृपति ने, लव एक भूषन सही॥

तुलसी को शिव, याज्ञवल्क्य आदि के सहारे रामकथा प्राप्त हुई, उसी प्रकार भूषणजी को धर्म का तत्व छत्रसालजी से मिला था। यह भी हो सकता है कि आश्रयदाता छत्रसाल की महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही कवि ने इस प्रकार का उल्लेख कर दिया हो।

वृत्तांतमुक्तावली के अतिरिक्त (व्रज) भूषणजी की अन्य किसी कृति का पता नहीं चलता, पर वृत्तांतमुक्तावली जैसे विशाल ग्रंथ का रचयिता (जिसका दर्शन, छंद, अलंकार, भाषा और काव्य पर गहरा अधिकार हो) सहसा इसी ग्रंथ को लिखने बैठ गया होगा और इसके बाद पूर्णतः मौन रहा हो, यह नितांत असंभव लगता है। फिर, महाराज छत्रसाल ने अपने आध्यात्मिक गुरु के जीवनवृत्त और दर्शन को प्रस्तुत कराने के लिये जिस व्यक्ति को छाँटा होगा, कवि और विद्वान् के रूप में उसकी योग्यता अज्ञात और अपरीक्षित नहीं रही होगी। अपने युग में उनकी प्रसिद्धि और महत्ता के कुछ और प्रमाण भी उपलब्ध हैं। एक तो यही है कि उस काल के निम्नांकित प्रसिद्ध अभिनंदन ग्रंथों में उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं—

(क) **कवींद्रचंद्रोदय**—यह शाहजहाँयुग के एक महान् विचारक और पंडित कवींद्राचार्य सरस्वती का अभिनंदनग्रंथ है। जिसमें मराठी और संस्कृत भाषाओं में अभिनंदन के पद्य संकलित हैं। इसे उनके समकालीन श्रीकृष्ण उपाध्याय नामक किसी विद्वान् ने संपादित किया था और इसकी एक हस्तलिखित अनुलिपि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई के संग्रहालय में सुरक्षित है।[१०] अभिनंदन के पद्य लिखनेवाले जिन ६५ व्यक्तियों के नाम दिए गए हैं, उनमें व्रजभूषण का नाम भी है। वृत्तांतमुक्तावली के प्रारंभ में संस्कृत मंगलाचरण है।[११] इससे ज्ञात होता है कि व्रजभूषण संस्कृत में सुललित कविताएँ लिखते थे और अपने युग के पंडितों में प्रख्यात थे।

(ख) **कवींद्रचंद्रिका**—उक्त कवींद्राचार्य सरस्वती का एक अभिनंदन ग्रंथ हिंदी में भी है, जो 'कवींद्रचंद्रिका' के नाम से प्रख्यात है।[१२] इसमें व्रजभूषन का निम्नलिखित एक हिंदी कवित्त भी संकलित है—

१०. यह ग्रंथ प्रकाशित भी हो गया है। संपादक—पं० हरदत्त शर्मा तथा एम० ए० पाटंकर; प्रकाशक—ओरीएंटल बुक एजेंसी, पूना (१९३९)।

११. आनन्दकन्द प्रभुदेवचन्द्र व्रजेशरूपेण पुरापि जातम्।
प्रविश्यप्राप्तं प्रिय प्राणनाथं, परेशपूर्णं सततं नमामि।।... आदि, पृ० १।

१२. इसमें संस्कृत के प्रख्यात साहित्यमनीषी पंडितराज जगन्नाथ की एक हिंदी रचना भी संकलित है।

अगत अधार सार पुण्यभार भुज धरैं,
साहि दरबार में सराह्यो बार-बार है।
कर को छुड़ाइ कलिकालिमा मिटाइ,
डारी बिपति बिडार जस जाको द्वार है।
कवि ब्रजभूषन है दूषन हरन हार,
भूषन प्रतापी पृथ्वी रच्यो करतार है।
औरनि की ... ...
कीरति कविंद्रजी की जग में अपार है।[13]

यह इस बात का संकेत देता है कि हिंदी-संस्कृत के कवि के रूप में प्रसिद्ध यह विद्वान अपने युग की सांस्कृतिक गतिविधि के प्रति विशेष रूप से सजग था।

रचनाकाल—ब्रजभूषण के जन्म-मरण की तिथियाँ उपलब्ध नहीं हैं। कवींद्रचंद्रोदय का संपादन कवींद्राचार्य के जीवनकाल में ही उनके अभिनंदन के लिये किया गया था। इसलिये इसमें संकलित कविताओं की रचना उनके जीवनकाल में अर्थात संवत् १७४७ वि० (सन् १६९० ई०) के पूर्व अवश्य हो गई होगी। ब्रजभूषण का जो कवित्त इसमें संकलित है, उसमें कवींद्राचार्य द्वारा 'कर छुड़ाने' की बात की चर्चा है।[14] यह घटना सन् १६५० ई० के लगभग घटित हुई थी।[15] वस्तुतः मुगल सम्राट द्वारा लगाया गया विशेष तीर्थ कर छुड़वाने के कारण ही उस युग के हिंदू कवींद्र के प्रति विशेष कृतज्ञ थे। 'कवींद्रचंद्रिका' का संपादन भी इस घटना के कुछ बाद ही हुआ होगा। इसलिये ब्रजभूषण का सन् १६५०-५८ के आसपास वर्तमान होना निश्चित हो जाता है। इस काल में ही ये प्रसिद्ध कवि हो गए थे और युग की सांस्कृतिक चेतना से संपन्न प्रबुद्ध साहित्यकारों के संपर्क में थे। छत्रसाल द्वारा महाराजकुमार जगतसिंह को लिखे गए एक पत्र के अनुसार प्राणनाथ जी से उनकी भेंट मऊ के पास एक जंगल में हुई थी। प्रणामी संप्रदाय के अनुसार यह घटना संवत् १७४० (१६८३ ई०) की है।[16] इसी भेंट के पश्चात् श्री प्राणनाथजी बुंदेलखंड में निवास करने लगे थे और भूषण (ब्रज) के अनुसार

१३. कवींद्रचंद्रिका, पृ० ७२। संपादक—डा० कृष्ण दिवाकर (महाराष्ट्र भाषा पुणे)।

१४. कर को छुड़ाय कलि कालिमा मिटाई।

१५. कवींद्रचंद्रिका, पृ० ४३।

१६. '...हम लड़ाई करके महोबा मऊ से आवत जात रहत हते ...'—महाराज छत्रसाल बुंदेला, पृ० १५०। (इस पत्र की प्रामाणिकता के संबंध में मुझे संदेह है)।

वे श्रावण बदी ३, शुक्रवार संवत् १७५१ को (२६ जून, १६६४ ई०) को निकुंजवासी हुए थे।[१७] इस काल में (सन् १६८३ और सन् १६६४ के बीच) व्रजभूषण प्राणनाथजी और छत्रसालजी के संपर्क में अवश्य थे। छत्रसालजी का जीवनकाल १६४६ ई० से १७३१ ई० तक माना जाता है।[१८] व्रजभूषण निश्चित रूप से प्राणनाथजी के बाद तक जीवित थे, क्योंकि उन्होंने उनके निकुजगमन (स्वर्गवास) का उल्लेख ही नहीं किया, उसके पश्चात् एक विशालकाय ग्रंथ भी रचा। इस प्रकार उनके १७०० के आस पास तक जीवित रहने के प्रमाण मिल जाते हैं। अगर कवींद्रचंद्रिका के संपादन के समय उन्हें २५ वर्ष का भी मानें, तो उनका सन् १६२५ से सन् १७०० तक वर्तमान रहना लगभग निश्चित ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि सन् १७०० के बाद भी वे कितने वर्षों तक जीवित रहे।

व्रजभूषण का अन्य 'भूषण' उपाधिधारी कवियों से संपर्क

(१) **व्रजभूषण तथा मुरलीधर भूषण**—ऐसा प्रतीत होता है कि व्रजभूषण[१९] का छंदोहृदयप्रकाश के रचयिता मुरलीधर भूषण से परिचय था। इसके दो क्षीण संकेत मिलते हैं। कवींद्रचंद्रोदय ग्रंथ में व्रजभूषण के साथ मुरलीधर की भी एक रचना संगृहीत है। यह निर्धारित करना सरल नहीं है कि ये सज्जन छंदोहृदयप्रकाश के रचयिता, मुरलीधर भूषण ही हैं या अन्य कोई मुरलीधर। वृत्तांतमुक्तावली के परिशिष्ट में भी धनीराम महाराज ने मुरलीधर नामक किसी कवि का उल्लेख किया है, जो प्राणनाथजी के संपर्क में या छत्रसाल से भी संबद्ध था—

इत भयो समय चरचा विसाल, इक जाय दिवस बरत्यो खुसाल।
मुरलीधर सनमुख हुकुम पाइ, आसन श्रवना को करत आई॥
यह छत्रशाल लीला विलास, धरि लइअ प्रेम अतिहिय हुलास।[२०]

(२) **महाकवि भूषण और व्रज भूषण**—छत्रसालजी और महाकवि भूषण का परिचय था और भूषणजी उनके निमंत्रण पर पन्ना गए थे, इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं। बुंदेलखंडी लोकश्रुतियों के अनुसार छत्रसालजी ने भूषण के पौत्र को अपने हाथी पर बैठा दिया और स्वयं उतर कर भूषण की पालकी में कंधा लगा

१७. मेहराजचरित्र, पृ० २११; लालदास बीतक, पृ० ४८६।
१८. महाराज छत्रसाल बुंदेला, पृ० ३२।
१९. अगर मुरली भूषण और महाकवि भूषण को एक ही मानें तो समस्या नहीं उठती। यहाँ उन दोनों को दो भिन्न व्यक्ति ही माना गया है।
२०. वृत्तांतमुक्तावली, परि०, पृ० ४६८।

कर खड़े हो गए।[21] इसका अर्थ यह है कि भूषणजी अपने वृद्धापन में (नाती के साथ) पन्ना गए थे। यह घटना भूषण के शिवाजी से मिलने (अनुमानतः सन् १६७३ ई०) के काफी बाद की है।[22] इस समय व्रजभूषण छत्रसालजी के संपर्क में आ चुके थे। इसलिये यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि देशप्रसिद्ध भूषण कवि छत्रसालजी के विशेष कृपापात्र, श्रीसद्विद्याभूषण (व्रजभूषण कवि) से मिले होंगे। व्रजभूषण ने वृत्तांतमुक्तावली में उन्हीं लोगों का उल्लेख किया है, जो निजानंद संप्रदाय में दीक्षित थे। कदाचित् इसी लिये एक प्रसिद्ध कवि का उल्लेख उसमें नहीं हुआ।

एक प्रश्न उठ सकता है कि कहीं महाकवि भूषण और व्रजभूषण एक ही व्यक्ति के नाम और उपनाम तो नहीं थे। व्रजभूषण के लिये संप्रदाय के ग्रंथों में 'सद्विद्याभूषण स्वामी श्री व्रजभूषण' कहा गया है। कल्पना की जा सकती है कि महाकवि भूषण जीवन की साँझ में छत्रसाल को पाकर धर्म-दर्शन की ओर झुक गए हों और राजा के आग्रह पर उनके गुरु के चरित्र को वृत्तांतमुक्तावली में छंदबद्ध कर गए हों। व्रजभूषणजी के कुछ कवित्त भूषण की सफाई और लय का भ्रम भी उत्पन्न करते हैं। एक उदाहरण—

पृथिवी लीन होत गंध गुन में सो जल मधि,
आप रस माहि रस तेज में बखानिये।
तेज रूप माहिं रूप बायु मधि वायु पुनि,
परस में सोऊ व्योम माहि पहिचानिये॥
नमहू तो शब्द माहि शब्द तम अहं मिलि,
दशतत्व लय इहि विध उर आनिये।
कर्मज्ञान इन्द्री मिलि राजस अहंकृत में,
सात्विक अहं में देव चौदह ये जानिये॥

पर इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता कि भूषण और व्रजभूषण दो भिन्न व्यक्ति थे। भूषण की प्रतिभा वीर और ओज को रूपायित करने की ओर उन्मुख थी, व्रजभूषण भक्ति और दर्शन में डूबे थे। महाकवि भूषण अलंकारों के खिलाड़ी और कल्पनाविलासी थे। उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास और श्लेष उनके अंतरंग साथी थे। व्रजभूषण अंतःसाधना के आलोक में लीन थे।

२१. भूषण ने भी अपने एक कवित्त में कहा है–'नाती को हाथी दियो, जापै ढुरकत ढाल।'

२२. भूषणग्रंथावली, ना० प्र० सभा, पृ० ११।

भाषा, छंद और अलंकारों का अधिकार उन्हें कभी मोह नहीं पाया। दोनों अपने युग के विद्रोह के समर्थक थे, पर एक राजनीति के मंच पर था और दूसरा अध्यात्म के। इतिहास भी यही बताता है कि दोनों कालक्रम की दृष्टि से एक साथ नहीं थे। शिवसिंह सरोज में उल्लेख है—'भूषण त्रिपाठी टिकमापुर जिले कानपुर सं० १७३८ में उ०।'[२३] प्रस्तुत लेख में स्पष्ट किया जा चुका है कि व्रजभूषण संवत् १६८२ तक इस धरती पर आ गए थे। लगभग ६० वर्ष के इस अंतर को कितना मिटाया जा सकता है ?

अन्य कवियों का संपर्क—छत्रसालजी के दरबार से अनेक कवि समृद्ध थे, जिनमें गोरेलाल (क्षत्रप्रकाश के रचयिता), निवाज (अभिज्ञानशाकुंतल के प्रथम अनुवादक), हृषिकेश और बख्शी हंसराज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हंसराजजी स्वयं प्रणामी संप्रदाय में दीक्षित थे और उन्होंने 'मेहराजचरित्र' नामक ग्रंथ में प्राणनाथजी का चरित्र पद्यबद्ध किया था, पर ये काफी परवर्ती थे। इनकी रचनाओं की एक हस्तलिखित प्रति साहित्य-संमेलन, प्रयाग में सुरक्षित है। गोरेलाल (लाल कवि) ने क्षत्रप्रकाश में क्षत्रसाल और प्राणनाथजी के मिलन का वर्णन इसी रूप में किया है, जिस रूप में व्रजभूषणजी ने। लाल कवि ने भी छत्रसाल से प्रेरित होकर अपना ग्रंथ लिखा था।[२४] इसलिये दोनों का संपर्क संभव ही नहीं, स्वाभाविक भी था। गौरीशंकर द्विवेदी कृत बुंदेलवैभव नामक ग्रंथ में विजयाभिनंदन, हरीचंद, गुलाल सिंह, बख्शी, केशवराज, हिम्मतसिंह कायस्थ और प्रताप सिंह वंदीजन के नाम भी छत्रसाल के दरबारी कवियों में उल्लिखित है।[२५] इससे कुछ व्रजभूषणजी के निकट संपर्क में अवश्य रहे होंगे।

वृत्तांतमुक्तावली—व्रजभूषणजी की एक ही रचना उपलब्ध है—वृत्तांतमुक्तावली। इस महत्वपूर्ण कृति का रचनाकाल उसमें नहीं दिया हुआ। ग्रंथ में संवत् १७४५ वि० तक के उल्लेख मिलते हैं—

> **चित्रकूट तें परना आये। पुरी आपनी में छवि छाये।**
> **सत्रह सत पैतालीस लगते। काढ्यो साप सकल सब जगते॥**[२६]

इससे अनुमान किया जा सकता है कि वृत्तांतमुक्तावली संवत् १७४५ (१६८८ ई०) के बाद की रचना है। संप्रदाय में इसे संवत् १७५५ के आस पास

२३. शिवसिंह सरोज, पृ० ४६७।

२४. आश्विन सुदी १३, संवत् १७६६ की सनद, जो लाल कवि के वंशज श्री राजाराम ब्रह्मभट्ट (मड़ी) के पास है।

२५ पृ० ४०६, ४१०, ४१६, ४६७, ४६६, ५०१।

२६. वृत्तांतमुक्तावली, पृ० १०५.

का माना जाता है। यह वह समय था, जब व्रजभूषणजी की आयु काफी हो गई थी।

व्रजभूषणजी निस्संदेह प्रतिभाशाली कवि थे। उनके पास एक स्पष्ट जीवन-दर्शन तो था ही, बड़ी सशक्त भाषा भी थी। पर वे एक धार्मिक दृष्टिकोण से ऐसे बँधे थे कि सांप्रदायिक दर्शन और आचार्य के जीवनवृत्त के बाहर के जीवन-यथार्थ को वाणी नहीं दे सके। वैसे जहाँ कहीं वे जीवन के अनुभूत सत्यों की ओर मुड़ते हैं, उनकी वाणी रसात्मक हो जाती है। इस संबंध में एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

विधु-किरनन ज्यों कूप नहिं, बढ़े सिंधु अति सोय।
त्यों मूरख के हृदय में, हर्ष वृद्धि नहिं होय॥

कुएँ में चंद्र किरणें जाती है और सागर में भी। कुएँ का जल बढ़ता नहीं है, सागर उमड़ता है। विशाल हृदय ही उल्लास और आनंद से प्रभावित हो पाते हैं, कूप-से ओछे लोग नहीं। अलंकारों के प्रेमी भी इस उक्ति के चमत्कार पर वाह वाह करना चाहेंगे और जीवन की सहज मार्मिक अभिव्यक्ति को कविता कहनेवाले भी। धर्मात्माओं के लिये नीति तो इसमें है ही।

भाषा पर कवि भूषण का विशेष अधिकार है। भाषा व्रजी होने पर भी संस्कृत की शब्दावली का प्राधान्य है। इसके कदाचित दो कारण थे—एक तो व्रज भूषण स्वयं संस्कृत के कवि थे, दूसरे उन्हें हिंदी में दर्शन और अध्यात्म के तत्वों की व्याख्या करनी पड़ रही थी। 'बेहद' भूमि के अंतर्गत कुछ द्वीपों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

नगं चक्र एकं चतुः श्रृंग दूजो, कपिल तीसरो चित्रकूटं सो पूजा।
सुरानिकायं ऊर्धरोमा विशालं, द्रविण सप्तमं भूधरं है रसालं॥
द्विगुनमान द्वीपं प्रमानं, घृतं अब्धि आवृतं है तत समानं।
चतुर्थं कुश द्वीपं सिंधू विधानं, नृप छत्रशाल सुभूषन बखानं॥[२७]

इस भुजंगी छंद को पढ़ते हुए छंद की भाषा ही नहीं, शब्दों की लय और वर्णों का नाद सौंदर्य भी आकर्षित करता है। छंदों के संबंध में भी यह कवि विशेष सावधान है। इसने संस्कृत के गीतिका, हरिगीतिका, मालिनी, इंद्रवज्रा, शार्दूल-विक्रीड़ित आदि छंदों का ही नहीं, हिंदी के कवित्त, छप्पय, सवैया, दोहा आदि का बड़ा सौष्ठवपूर्ण प्रयोग किया है। इस लेख का लक्ष्य व्रजभूषण की कला के विभिन्न पक्षों का विवेचन नहीं है, 'भूषण' उपाधिधारी एक कवि को साहित्यकारों के सामने

२७. वही, पृ० ३८८.

प्रस्तुत करना है। इसलिये व्रज 'भूषण' के दो पद्य प्रस्तुत करके लेख समाप्त किया जा रहा है—

मानस उत्तर भूधर उन्नत योजन पंचसहस्त्र सुहायो।
तापर चारि पुरी अहुँ ओर वृषा जमजीव धनेश्वर गायो॥
मीठो समुद्र भरयो तहाँ गेरि पयोनिधि की यह औधि गनायो।
सातहु द्वीप निरूपन 'भूषन' वेद विचारि निहारि बनायो॥[२८]

× × ×

मेघ प्रभंजन पै शत योजन, भूमि तें ऊर्ध सु भूतन बात हैं।
तापर राक्षस यक्ष औ किन्नर, विद्याधरो पितृ आदिक तात हैं॥
योजन नब्बे हजार है ऊर्ध्व सु, राहु बसै रवि इंदु डरात हैं।
योजन खं भू सहस दिवाकर, या बिघ लक्ष प्रमाण दिखात हैं॥[२९]

व्रजभूषन (उपनाम भूषण) के जीवनवृत्त और उनकी कृतियों का अनुसंधान होना आवश्यक है। जो व्यक्ति स्वयं विचारक कवि था और अपने युग को प्रबुद्धतम सांस्कृतिक चेतना से संबद्ध रहा था, उसका कृतित्व किसी संप्रदाय की कालकोठरी में अज्ञातवास करे, यह बहुत न्याप्य नहीं है।

*

२८. वही, पृ० ३८६.
२.९ वही, पृ० ३९२.

अनुकरण की प्रतीति पर पूर्व और पश्चिम का नाट्यभेद

सुरेंद्रनाथ मिश्र

•

नाटक के इस प्रसंग में हम पूर्व और पश्चिम के नाट्य-सिद्धांतों की विवेचना करेगें। पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककार बर्तोल ब्रेख्ट, जिसे दशाब्दिपूर्व विश्व का क्रांतिकारी नाटककार कहा गया है, साथ ही जिसके नाट्यसिद्धांत को 'एक नव्य सिद्धांत' की परिभाषा दी गई है, उन्हीं सिद्धांतों के आधारभूत कारणों का ज्ञान इस चर्चा का मुख्य प्रसंग है। इस नाटककार का सिद्धांत पिछले सौ वर्षों से भी अधिक लीक पर आती परंपरा से हट कर हुआ है। यहाँ उस नव्य सिद्धांत की मौलिकता का प्रामाणिक तथ्य भारतीय नाट्य साहित्य के परिपार्श्व से ढूंढ़ने का प्रयास है। तुलनात्मक प्रसंग के इस संदर्भ में हम भारतीय नाट्यसिद्धांत की चर्चा पहले कर रहे हैं।

नाटक के प्रति भारतीय दृष्टिकोण एक अलग स्थान रखता है। इस संबंध में यहाँ के आदि और अब तक के चिंतकों का एक मत रहा है कि नाट्यकला में श्रव्य और दृश्य दोनों कलाओं के अलावा शेष अन्य कोई कला, विद्या या शिल्प-विधान ऐसा नहीं हैं, जो इसमें नहीं हो। नाटक सारी कलाओं को लेकर चलता है, ऐसा माना जाता है। इसके प्रमाण के लिये भरत का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

न तद्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥[1]

इस तरह भारतीय साहित्य के चिंतकों ने इन सारी चीजों को मिला हुआ पाया है। इसके परे पाश्चात्य नाटक में नाटक का पर्याय थियेटर शब्द की अर्थ अन्विति में भारतीयता का यह अर्थगौरव नहीं है। इसका कारण इन दो देशों के नाटकों के लक्ष्य का अंतर है। भारतीय निष्ठा में नाटक का लक्ष्य मांगलिक है। पाश्चत्य दृष्टिकोण से नाटक वही सफल समझा जाता है जिसका अंत दुखांत हो। इस तरह यहाँ लक्ष्य कुछ दूसरा है। हमारे यहाँ नाटकों की आदि उत्पत्ति वेदों से कही गई है और वेद तो स्वतः ब्रह्मवाक्य हैं।

१. ना० शा०, १।११६।

माङ्गल्यं ललितञ्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम् ।
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

इस प्रकार हमारे नाट्य साहित्य को पाप विनाशक स्वरूप तक प्राप्त हुआ है। इसमें इस साहित्य के नाट्यधर्मी और लोकधर्मी गुणों के इन दोनों भेदों की समन्वित धर्मिताओं के कारण साधारण जन से लेकर राजा और देवताओं तक के उन चरित्रों का उद्घाटन किया गया है, जिसमें लोकमहात्म्य की प्रतिष्ठा का निर्वाह हुआ है। फलतः जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व में अपृथकत्व के भावदर्शन से आनंद के विधान की सृष्टि की गई है। इस तरह की ब्राह्मी कल्पना में सृष्टि के सभी जीवों के सुख की अभिलाषा प्रकट की गई है—

देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोक महात्मनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवत् ॥
सर्वे सुखिनः भवतु सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत ॥

इन सारी बातों के अलावा भारतीय नाट्यसिद्धांत में पश्चिम की भांति केवल मनोरंजन का ही चरम लक्ष्य नहीं, अपितु उसके सर्जनात्मक परिवेश में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का गूढ़ तत्व संनिहित रहता है और इस अंतिम लक्ष्य की सार्थकता का संदेश देकर शेष अन्य सोपानों को उस अंगी का अंगरूप बतलाया गया है, जहाँ पहुँचकर सृष्टि का तादात्म्य ब्रह्म से अलग नहीं है। इसे ही जीव का अंतिम लक्ष्य भी कहा गया है। इस प्रकार इन सारी बातों का संकेत हमें यहाँ की नाट्यकला की समन्वित पद्धति से ज्ञात होता है। इन्हीं आधारों पर भारतीय नाट्यशास्त्र का विदेशों की नाट्यकला के विपरीत अपना अलग विशिष्ट स्थान है।

पाश्चात्य आलोचकों में जर्मनी के आलोचकों का स्थान महत्वपूर्ण कहा जाता है और यहीं के गेटे आदि आलोचकों ने हमारे नाट्यसाहित्य को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। गेटे ने तो अभिज्ञान शांकुतिलम् की सौंदर्यकला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। अतः इस क्षेत्र में जर्मन लोग आगे बढ़े माने गए हैं।

यहीं के नाटककार तथा निर्देशक बर्तोल ब्रेख्ट (१८९८-१९५६) ने नाटक में एक युगांतर प्रस्तुत किया है। इस दिशा में ब्रेख्ट को एक नए सिद्धांत का निरूपक कहा गया है। उसके इन सिद्धांतों को विश्व की अनेक नाट्य संस्थाओं ने सराहा है, जिसमें भारतीय पक्ष भी इस मत का समर्थक है। उसके इस क्रांतिकारी योग को पिछली दशाब्दि तक समान मिला है। अब हमें उसके उन नव्य सिद्धांतों की प्रकृति

और प्रक्रिया को परखना है, जिससे विश्वस्तर पर उसे अपूर्व सफलता मिली है। यहाँ तुलनात्मक प्रश्न पर हम देखेगें कि उसके नाट्यसिद्धांत का मूल आधार क्या है ? सर्वप्रथम उसके नाट्यसिद्धांत की प्रकृति पर विचार करने पर हम पाते हैं कि उसका यह सिद्धांत विश्व-नाट्यसिद्धांत के समन्वयात्मक स्तर पर एकत्रित है। संसार के सभी नाट्य आदर्शों से चुना गया गुण ही उसका नवीन सिद्धांत है जो परंपरा-प्रचलित रूढ़ियों से हटा हुआ एक अलग सिद्धांत प्रतीत होता है। वह नाटक की शताब्दि से चलती लीक से अलग तो है पर जहाँ उसकी मौलिकता का सवाल उठता है वहाँ केवल भारतीय नाट्य आदर्श ही उसमें संस्थित झलकते हैं। नाटक की आत्मा का ऋण केवल भारतीय है, शेष अन्य वाह्य उपकरण यथा प्रसाधन आदि चाहे विश्व से उधार लिए गए हैं।

भारतीय नाटक की आत्मा

भारतीय नाट्यसाहित्य में जीवन की साधारण स्थितियों से लेकर विशिष्ट स्थितियों का उद्‌घाटन हुआ है, जिसमें लोकस्तर पर सार्वभौमिक सत्य की प्रतीति सदा रही है। इस तरह लोकधर्मी गुणों का प्रकाशन उत्तरोत्तर विकास पाता गया है। अभिज्ञान शाकुंतलम् में इस पक्ष को समर्थन प्राप्त हुआ है। इसमें नाटककार ने जहाँ कन्या को पराया धन बतलाया है, वहीं उसे उसके स्वामी के पास भेज कर गार्हस्थिक ऋण से उऋण होनेवाली परम आनंद की अनुभूति का वर्णन भी किया है। इसमें समाजिक नियमों के प्रति सजगता और आनंद की अनुभूति का सार्वजनीन तथ्य स्वीकार किया गया है, यथा—

अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥[२]

इसके अतिरिक्त भासकृत वासवदत्तम् में भी जब कहा जाता है कि भाग्य का परिवर्तन रथ के पहिए की तरह होता है तो वह सभी के अनुभव की चीज है। **चक्रार पंक्तिमिव गच्छति भाग्य पंक्तिः**, इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसी तरह विक्रमोर्वशीय, किरातार्जुनीय आदि नाटकों में भी इस तरह का लौकिक पक्ष मिलता है।

दूसरी ओर लोकधर्म से परे आध्यात्मिक पक्ष पर इस बात की ओर संकेत मिलता है कि जीव वास्तव में ब्रह्म से अभिन्न है और इस मायामय संसार की भौतिक भिन्नता में भी जीव कभी-कभी अपने पूर्णांश ब्रह्म से बिलगाव के दुःख की अनुभूति से किंकर्तव्यविमूढ़ सा जड़वत् हो जाता है। इस स्थिति का संदर्भ जीवन

२. अभिज्ञान०, अंक ४, श्लो० २२।

के किसी क्षण में उत्पन्न होनेवाले स्वर, संगीत या घटनाओं की अलौकिकता है जिससे प्रेरित होकर मन अपने बिलगाव को संज्ञा से भिन्न होकर पूर्वासक्ति के स्मरण से गंभीर चिंतन में डूब जाता है। उस समय उसे यह संसार एक पराई वस्तु की तरह लगता है। वह इस स्थिति में उदास हो जाता है, यहाँ तक कि उसको अपनी देह से भी विरक्ति हो जाती है। गौतम बुद्ध का आत्मज्ञान ऐसी स्थितियों से ही जगा था। यहाँ इस स्थिति में आत्मज्ञान का स्वरूप जीव को उसकी वास्तविक उपयोगिता का ज्ञान कराता है। इस तरह इस ज्ञान से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर वर्तमान स्थिति से छुटकारे के हेतु प्रयास भी करता है। तो यह वही ज्ञान है जिसे **ज्ञानंरीतेऽनमुक्तिः** कहा गया है। ऐसा ही ज्ञान हमारे नाट्य-साहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है—

> **रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्**
> **पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जंतुः।**
> **तच्चेतसा स्मरति नूनं अबोध पूर्वं,**
> **भावस्थिराणि जननांतर सौहृदानि॥**[१]

नाटककार ने यहाँ लौकिकता का संकेत किया है, लेकिन उस लौकिकता के 'माध्यम' से प्रिय से बढ़कर परम प्रिय ब्रह्म का ही पारलौकिक दर्शन है जो इस भौतिक जगत के क्षणभंगुर प्रियतम से चिरंतन प्रिय का स्वरूप है, जहाँ के सांनिध्य से कभी बिलगाव की संभावना का आभास भी नहीं हो सकता। वैज्ञानिक स्तर पर भी यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य सुख या दुःख में अपने परम प्रिय की स्मृति से विह्वल हो उठता है और उसका अभाव उस क्षण उसे पाषाणी प्रतिमा की भांति निश्चल निर्वाक् स्तब्धता के बीच चिंतन में समाधिस्थ कर देता है। इस समाधि का रूप उसके आत्मज्ञान का प्रथम सोपान हैं जहाँ से ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है। यदि इस तरह का जैविक प्रयास होता चले तो जीव के ब्रह्म में विलय का साधन सरल हो जाता है। हमारे यहाँ का दर्शन भी इसे स्वीकार करता है और जीव का परम लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार बतलाता है। यही लक्ष्य और उसका संकेताभास हमारे नाटकों की मौलिक विशेषता है। यह ऐसी विशेषता है जिसकी समता अब तक कोई नहीं कर सका है। अतः नाटक के माध्यम से लौकिक और पारलौकिक तत्व का ज्ञान और जीवनदर्शन के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। रस की यही धारा मध्ययुगीन साहित्य में भी संचरित हुई है।

३. वही, अंक ५, श्लो० २।

नाटक के तत्व : परिवर्तित आयाम और आत्मा का संदेश

सनातन परंपरा को परखने पर हमें भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन प्रमुख तत्वों का परिचय मिलता है। उनमें पहला कथावस्तु है, दूसरा उस कथा-वस्तु को अभिनीत करनेवाला अभिनेतावर्ग और तीसरा जो सबसे प्रमुख तत्व कहा गया है वह है रस। रस ही नाटक की आत्मा है, बाकी तो उसके बाह्य अवयव हैं। रंगमंच पर अभिनीत नाटक से जो दर्शकसमूह पर प्रभाव पड़ता है उसकी स्थायी अनुभूति ही रस है। भरत के शब्दों में कहें तो—**विभावानुभाव संचारी संयोगात्रसनिष्पत्तिः,** कह सकते हैं। रस ही वास्तव में वह भारतीय दर्शन है जिसे नाटककार अपने इन बाह्य अवयवों, अर्थात् कथानक, अभिनेता और हावभाव तथा साजसज्जा से दर्शकों में उत्पन्न कराकर 'तत्त्वमसि' का अंतिम भाव निरूपण कराना चाहता है। यही वह आनंद है जो एकत्रित होकर ब्रह्मानंद में अप्रयास ढुलक जाता है, जिसे भारतीय नाटककार दर्शकों में पूर्व से ही भर देना चाहता है। दर्शकों में इस मौलिक तत्व की कल्पना यहाँ पहले से ही की गई है, लेकिन इन सूक्ष्म बातों पर माया के प्रभाववश सुषुप्तावस्था में पड़े होने की भी कल्पना की जाती है। अतः उसमें एक उद्दीपन की आवश्यकता पड़ती है जिसमें इस मौलिक ज्ञान का जागरण हो सके। इस तरह अभिनय द्वारा इस ज्ञान का जागरण करना नाटककार का मूल उद्देश्य रहता है क्योंकि—'बार-बार के ज्ञान से जड़मति होत सुजान'। दर्शन की इन बातों की ओर से पाश्चात्य नाटककारों की सर्वदा उपेक्षा रही है इसका कारण यह था कि वे भौतिक सुखोपयोग में ही मुख्यतः जीवन की सार्थकता बतलाते हैं। वहाँ जो कुछ परिवर्तन हुआ है, वह आत्मा में नहीं, अवयव के वाह्य उपकरण में हुआ है। अथवा नाना प्रकार के प्रसाधन उनके लिये बहुत महत्वपूर्ण थे जिनकी हमारे यहाँ कोई आवश्यकता नहीं समझी गई, अर्थात्—**किमिवहि मधुराणां मंडनं नाकृतिनाम्।**

ब्रेख्ट का नया सिद्धांत इन्हीं वाह्य उपकरणों की नवीनता तक सीमित रहा। इतने सारे प्रभावों के होते भी यदि प्रभाव नहीं पड़ा तो केवल इस बात पर कि नाटक मानवजीवन का एक महोत्सव है और उसे कहीं, किसी भी स्थान पर किसी रूप में भी उपस्थित कर आनंद उठाया जा सकता है। आज इसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें उन गावों और उन स्थानविशेष में प्राप्त होता है जहाँ आधुनिक साजसज्जा के विपरीत केवल ढोल की लय पर लोग घरों से निकल कर विविध मुखौटों में उछल कूद कर जीवन का ऐसा आनंद उठाते हैं, जो शायद आधुनिक रंगमंच पर भी बहुधा कम मिलता है। यह लोकपरंपरा आज भी लीक पर चल रही है।

ब्रेख्ट का मुखौट सिद्धांत

ब्रेख्ट ने विभिन्न देशों की अभिनयप्रणाली का अध्ययन कर एक बात की

और लोगों का ध्यान आकर्षित किया। वह था—तत्कालीन नाटकीय अभिनय की पुरानी लीक का परिचालन और उसपर होनेवाले नाटकों की यथार्थवादी प्रवृत्ति। उसका क्रांतिकारी मन पुरानी लीक की जगह एक नूतन प्रणाली के प्रदर्शन के पक्ष में निर्णय करने लगा। अतः उसने प्रथमतः अभिनय की रूढ़ियों में परिवर्तन के लिये उद्योग किया। इस अभिनय प्रणाली में उसने रंगमंचीय व्यवस्था और प्रसाधनों से लेकर अभिनय की शैली और संगत की सभी परिपाटियों में एक नया ढंग अपनाया। उसने रंगमंच पर दृश्यसज्जा को बहुत सूक्ष्म कर दिया और उन्हें इस ढंग से सजाने का निर्णय किया कि उस पृष्ठभूमि से दर्शकों के मन को, होनेवाले अभिनय के प्रति स्थूल बातों का पूर्वपरिचय उपलब्ध हो सके। अर्थात् अभिनय से पूर्व नाकीटय घटनाओं का कुछ अंदाज लग सके। प्रचलित शैली की रूढ़ियों से हटकर उसने ऐसी शैली का संयोग चाहा जिसमें कहा कम और समझा अधिक जाय, जिसके कारण दर्शकों में जिज्ञासा और औत्सुक्य का भाव बराबर बना रहे। वह रंगमंच के नाटकीय व्यापारों के प्रति दर्शकों को एक सजग आलोचक बनाने के पक्ष में था। इसलिये वह बराबर नाटक की प्रत्येक स्थितियों से दर्शक को अवगत रहने की बात पर जोर देता है। यह चेतना कभी तो स्वतः दर्शकों में बनी रहनी चाहिए और कभी इसके प्रति अभिनेता को दर्शकों के प्रति उन्मुख होकर अपने नाटकीय भाव में इस चेतना का ज्ञान उत्पन्न कराने का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए। वह चाहता था कि दर्शक यह जान ले कि जो कुछ अभिनय उसके समक्ष हो रहा है उसमें अतीत और वर्तमान की सारी घटनाएँ एकत्र होकर चल रहीं हैं। यह इसलिये कि दर्शक कहीं सामयिक घटनाओं के चिंतन में अतीत से उदास न हो जाय। वह सत्याभासी रंगमंचीय घटनाओं से अधिक अतीत घटनाओं का पक्षपाती था। इस तरह वह यथार्थवादी प्रवृत्ति से हट कर आदर्शोन्मुख प्रणाली पर दर्शकों को आमंत्रित करता था। इसमें उसका यही मंतव्य था कि बहुत सी यथार्थवादी घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनसे दर्शक अपना लगाव हटाना चाहता है और ऐसी स्थिति में वह कभी भी एक सजग प्रेक्षक की भाँति नाटक के दृश्यबंध से आबद्ध नहीं रह सकता। इस प्रकार जब उसकी अभिरुचि नहीं रहेगी तो वह आत्मचिंतन जैसे प्रमुख गुण से वंचित रह जायगा। इस तरह इसके अभाव में अंतर्दर्शन द्वारा कला के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यद्यपि वह रंगमचीय कला का विकास बहिर्मुखी वृत्ति पर ही विकसित चाहता था, परंतु कला में अंतर्दर्शन के समन्वय पर भी बल देता था। यथार्थवादी प्रवृत्ति की जगह वह मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर कथानक की महत्ता को प्रतिपादित करना चाहता था। इसका कारण यह था कि प्रेक्षकों का समूह यह जानता रहे कि ये सारी घटनाएँ पारस्परिक व्यवहारों में दिन प्रति दिन देखी जाती हैं, जिनका अंतर से संबंध नहीं, अपितु बाह्य परिस्थितियों और व्यवहारों से संबंध होता है।

कथानक के प्रति, उसकी धारणा थी कि इसको महाकाव्योचित आधार पर सर्गबद्ध नहीं होना चाहिए, बल्कि अलग अलग खंडों का शीर्षक अपनी स्वतंत्र सत्ता रखा करे। छोटी सी घटना की अन्विति अपने में पूर्ण प्रदर्शित की जाय। इससे उसका अभिप्राय दर्शकों को तत्काल प्रभावित करने का था। वह जीवन में छोटी छोटी घटनाओं को अधिक महत्वपूर्ण मानता था। इसलिये उसने खंडप्रणाली पर अभिनय को अभिनीत करने की बात चलाई थी। चरित्र चित्रण और उद्देश्य के लिये वह दर्शकों को स्वतः उत्तरदायी समझता था, जो उनकी चिंतनशक्ति का परिचायक है। यही ब्रेख्ट के नाटयसिद्धांत का मूलस्वर है। अब हम इन्हें भारतीय सिद्धांत के आश्रय से देखकर इनकी नवीनता पर विचार करें।

सिद्धांतों का आश्रय : भारतीयता

ब्रेख्ट के इन नाटकीय सिद्धांतों को देखने से लगता है कि नाटक के बाह्य आवरण में ही उसने परिवर्तन किया है। नाटक की आत्मा का जब सवाल उठता है तो उसके सिद्धांत छूछे रह जाते हैं। उसके इन परिवर्तनों में जो एक नएपन की बात बतलाई जाती है, उसकी आधारिक बातें हमारे नाट्यसाहित्य की सनातन प्रवृत्ति हैं। कारण, अभिनय की पुरानी लीक की जगह उसने रंगमंचीय प्रसाधनों में जो सूक्ष्मता का सिद्धांत अपनाया है वह सदियों लेकर वह आज भी यहाँ अक्षुण्ण रूप में चल रहा दिखलाई पड़ता है। गांव के उत्सवों में अभिनीत नाटकों में यही परंपरा अब भी चल रही है। असम, बिहार और मध्यप्रांतीय अनेक आदिवासी लोकनाट्य परंपराओं में ये सारी बातें देखने को मिल जाती हैं। उसका दर्शकों के प्रति जिज्ञासा भाव और उन्हें चेतन बने रहने की सूचना देना, यहाँ के संस्कृत नाटकों का मुख्य भाव रहा है। संस्कृत नाटकों में जहाँ अभिनेता दर्शकों की ओर उन्मुख होकर कहता है कि **'श्रूयताम् भवन्तः'**, वहाँ इसी चेतना का आभास मिलता है। इसके लिये अभिज्ञान शाकुंतलम् एवं अन्य नाटक साक्षी हैं। जहाँ उसने अपने सिद्धांत में दर्शकों को आलोचक बनने की बात कही है, वहाँ हमारे नाटककार नाटक के माध्यम से दर्शकों में अंतर्द्वंद्व की स्थिति लाने का समर्थन करते हैं। बहुत कुछ बातें हमारे यहाँ के नाटकों में सूच्य रूप में संकेतों द्वारा कह दी जाती हैं। ब्रेख्ट ने इससे ही कम कहना और अधिक समझने का भाव ग्रहण किया है। संस्कृत नाटकों के आधार पर ही उसने अपने नाटकों में प्रस्तावना का आरोप किया है और नाटकों में चित्रमयता का पक्षपाती बना है। हमारे अनेक नाटकों में नायक और नायिकाओं को प्रसाधन-रहित दिखलाया गया है। उनके प्रसाधन और शृंगार सामग्री केवल बन के पुष्प और लताएँ रही हैं। ब्रेख्ट ने भी इन्हीं आधारों पर अभिनेतावर्ग को सूक्ष्म प्रसाधन युक्त बतलाया है। पात्रों की मनोदशा का निरूपण भारतीय नाटकों की विशेषता रही है जिसके आधार पर ब्रेख्ट ने अभिनेता के व्यावहारिक पक्ष पर बल देकर उनके

आंतरिक मन की घटनाओं के उद्घाटन की चर्चा की है। अरस्तू के नाट्यसंबंधी भीत्रि सूत्री प्रस्ताव (काल, स्थान और कार्य की इकाई) को हमारे यहाँ महत्व नहीं दिया गया था। इस आधार पर ब्रेख्ट भी इसे उतना महत्व नहीं देता। महाकाव्यो-चित प्रणाली के विरुद्ध ब्रेख्ट ने नाटक को खंड में विभाजित कर उनकी स्वतंत्र सत्ता के प्रति जो संकेत किया है वह हमारे यहां की रासलीला और रामलीला पद्धति का ही अनुसरण है, जहाँ प्रत्येक लीला का एक अलग शीर्षक होता है।

तात्पर्य यह कि ब्रेख्ट के नाट्यसिद्धांत, भारतीय नाट्यविधानों के सभी रूपों को ग्रहण कर चलते हैं। उसके बदले हुए नाट्यसिद्धांत का आश्रय हमारे नाटक के मौलिक गुण ही हैं अन्यथा कुछ और नहीं। फिर भी वह हमारे नाटक की आत्मा का अनुकरण नहीं कर सका है। नाटक की आत्मा रस है और रस की प्रतीति से हमारा अभिप्राय उस आनंनद से है जिसकी अंतिम परणिति ब्रह्मानंद में होती है। यहीं पर हमारा नाट्यदर्शन एक विशिष्ट स्थान ले लेता है जिसकी महत्ता को विश्व के लोग आज भी आँकने के प्रयास में लगे हैं।

*

मीरां के 'जोगी' या 'जोगिया' का मर्म

शंभुसिंह मनोहर

•

मीरां के कुछ पदों में 'जोगी' या 'जोगिया' का उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ—

१. **जोगी** मत जा, मत जा, पांइ परुँ मैं तेरी चेरी हो।
प्रेम भगति के पैंडो म्हारो, हमको गैल बताजा ।।

२. **जोगिया** जी आज्यो जी इण वेस।
नैणज देखूं नाथ नै, धाइ करुँ आदेस ।।

३. **जोगिया** से प्रीत कियां दुख होय।
प्रीत कियां सुख नाहिं मोरि सजनी, जोगी मित न होय ।।

इन संबोधनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने मीरां का संबंध नाथ संप्रदाय से तथा कुछ ने किसी जोगीविशेष से जोड़ने का प्रयास किया है।

इस संबंध में, उनमें से कुछ विद्वानों एवं विदुषियों के विचार अवलोकनीय हैं।

डा० हीरालाल माहेश्वरी लिखते हैं—'उपर्युक्त (उनके द्वारा 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द के प्रयोग के दिए गए २२ उद्धरणों) पदों से स्पष्ट है कि मीरां की प्रेमसाधना में किसी न किसी जोगी का सहयोग अवश्य रहा था और संभवत: यह जोगी तथा वह 'गुरु ज्ञानी' एक ही है, जिसकी सूरत को देखकर मीरां लुब्ध हो गई थी (मिलता जाज्यो रे गुरु ज्ञानी)।'[1]

डा० सावित्री सिन्हा का मत है—'मीरां के आराध्य का दूसरा निर्गुण पंथी रूप पूर्णतया लौकिक है। जिस योगी के प्रेम में वह व्याकुल है, वह एक साधारण योगी है, जो उसके मन में प्रेम की अग्नि लगाकर चला गया है।'[2]

डा० श्रीकृष्णलाल के मतानुसार—'मीरां के गिरधर नागर का जो योगी स्वरूप है उस पर स्पष्टत: नाथ संप्रदाय के योगियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।'[3]

सुश्री पद्मावती शबनम लिखती हैं—'मीरां ने अपने आराध्य को बारबार जोगी नाम से संबोधित किया है। मीरां के जोगी की वेशभूषा भी नाथपरंपरा-

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० ३२६।
२. मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, पृ० १२६।
३. मीरांबाई, डा० श्री कृष्णलाल, पृ० १२६।

नुसार ही है। पादाभिव्यक्तियों के आधार पर यह सुस्पष्ट हो उठता है कि मीरां के ये आराध्य नाथ-परंपरानुसार वेशभूषा से विभूषित, नाथ-परंपरानुकूल जोगी-कर्म में रत हैं।'[४]

'जोगी, मत जा, मत जा' पद के आधार पर प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव कहते हैं कि इस प्रसिद्ध गीत में भी स्पष्ट ही जोगी के प्रति प्रेम निवेदित किया है। वह गुरु से अनुरोध कभी नहीं हो सकता। यह तो प्रेमिका का प्रेमी से अनुरोध है।'[५]

और भी अनेक विद्वान् हैं, जिन्होंने प्रायः इसी स्वर में अपना स्वर मिलाया है, जिसके फलस्वरूप 'जोगी' से संवद्ध ये धारणाएँ हिंदी जगत् में अतर्क्य सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गई हैं। परंतु तथ्य यह है कि ये सभी भ्रांत, असंगत और निर्मूल हैं। खेद की बात यह है कि विद्वानों ने इस शब्द पर उतनी गंभीरता से विचार एवं मनन नहीं किया जितना अपेक्षित था जिसके फलस्वरूप मीरांविषयक अनेक गंभीर भ्रांतियों को अनायास पोषण मिल गया।

जहाँ तक नाथ संप्रदाय के प्रभाव की बात है, यह अपने आप में एक अलग प्रश्न है, जो इस लेख का प्रतिपाद्य नहीं है। मीरां पर नाथ संप्रदाय का प्रभाव था या नहीं एवं यदि था तो किस रूप में एवं किस सीमा तक इसका प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने मीरां पर अपनी प्रकाशनाधीन पुस्तक में सविस्तर विवेचन किया है। यहाँ केवल इतना ही निवेदन करना है कि मीरां द्वारा प्रयुक्त 'जोगी' या 'जोगिया' का नाथ संप्रदाय से कोई संबंध नहीं है।

तथापि, प्रासंगिक रूप से अपने मत की पुष्टि में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि केवल एक संबोधन के आधार पर ही मीरां पर नाथ संप्रदाय का प्रभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। भक्तों तथा प्रेमियों में अपने आराध्य या प्रियतम के अनेक नामों से गुणस्तवन एवं अनेक संबोधनों से प्रणयनिवेदन की एक परंपरा रही है। उदाहरणार्थ राजस्थान के प्रसिद्ध भक्त कवि पीरदान लालस ने ईश्वर को अन्य नामों के साथ 'अला' (अल्लाह) कह कर भी बारंबार स्मरण किया है। यथा—

निमो रामचंद्र राघव रुघनाथुं,
भाई लखमण अनै सत्रघण भरथुं।[६]

४. मीरां एक अध्ययन, पद्मावती शबनम, पृ० ११५-११६।

५. मीरां-दर्शन, प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, पृ० १०८।

६. पीरदान लालस-ग्रंथावली, पृ० २६।

तथा

निमो ब्रिजरा बाल् स्नग लोक वासी,
आया नंद रे आंगणे अविनासी।
अला नंद रे आंगणे मांहि नाचै,
अला राम रा सहज ए साचि राचै॥
अला बाप घरिताल् हाथे बँधावै,
अला हेत सां जसोदा हुलरावै।
अला वन मां जाइ मुरली बजावै,
राजा नाम नां एथि राधा रमावै॥
अला मथुरा मां जाइ कंस मारे,
अला आपरा भगत ओथीं उधारे।[७]

उपर्युक्त उद्धरण में प्रयुक्त 'अला' (अल्लाह) संबोधन के आधार पर क्या भक्तवर पीरदान जी को इस्लाम का अनुयायी मान लें? या फिर यह मान लें कि 'अल्लाह' ने ही वृंदावन में मुरली बजाई थी और मथुरा में कंस को मारा था? यदि यहाँ 'अल्लाह' के आवरण में कृष्ण का सगुण स्वरूप देखा जा सकता है तो प्रेमयोगिनी मीरां के 'जोगिया' में उसके अनन्य प्रियतम सांवरिया का स्वरूप क्यों नहीं?

सर्वाधिक चिंत्य तो उन विद्वानों और विदुषियों की वह धारणा है जिसके अनुसार वे इस भक्त कवयित्री के पावन प्रेम में लौकिक वासना की गंध देखते हैं। इससे उनकी विकृत रुचि एवं असंस्कृत वृत्ति का ही ज्ञापन हुआ है, अन्यथा इस शब्द में गर्भित हमारी महान् सांस्कृतिक परंपरा एवं इसके प्रयोग से उद्दिष्ट निगूढ़ प्रेम की व्यंजना के मर्म को समझे बिना वे मेवाड़ की उस महीयसी राजवधू के चरित्र पर ऐसा कुत्सित एवं अशोभनीय लांछन लगाने का दुस्साहस न करते।

इस संबंध में गुजराती विद्वानों ने, जिन्हें गुजरात एवं राजस्थान की प्राचीन भाषागत एकता के कारण राजस्थान की सांस्कृतिक परंपराओं एवं आदर्शों का अंतरंग ज्ञान है, कहीं अधिक सूझ से एवं अधिकार पूर्वक लिखा है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् डा० मंजुलाल मजमुदार लिखते हैं—

'जोगिया' तूं कद रे मिलोगे आई?
तेरे ही कारण जोग लिया है, घर घर अलख जगाई

आ पद मां 'जोगिया' अवश्य मीरांना प्रेमी छे, बीजा एक पद मां 'जोगी' ने पोता नो प्रेमपात्र कह्यो छे—

७. वही, पृ० ३०।

जोगिया से प्रीत-कियां दुख होय :
प्रीति किया सुख नांहि, मोरी सजनी, जोगी मित न होय ।[८]

वे आगे लिखते हैं—

मीरांना 'जोगिया' (योगी) कृष्ण ज छे, कृष्ण ने योगी रूपमां साभरवामां औचित्य छे, के एवो प्रेमी, थोडा एवा कालना संयोग पछी, ते प्रेमिका नो त्याग करीने जतो रह्यो होय—तेने 'योगी' कही ने तेना मिलन ('योग') नु स्मरण करवुं ए साभिप्राय कथन छे—

'जोगी' मत जा, मत जा, मत जा—
पांई परुं मैं तेरी हौं—
प्रेम भगति को पेंडों ही न्यारो, हमकूं गेल बताजा ।

आ प्रसिद्ध गीतमां 'जोती' प्रत्ये प्रेमनुं प्रत्यक्ष कथन थयेलुं छे, 'जोगी' ना रूप मां मीरा ए कृष्णनुं ज स्मरण कर्युं छे ।[९]

वस्तुतः इन पदों में प्रयुक्त 'जोगी' या 'जोगिया' शब्दों के द्वारा मीरां ने अपने आराध्य कृष्ण का ही स्मरण किया है। यदि हम इन संबोधनों के साथ व्यवहृत 'प्रेम भगति', 'प्रीत कियां' आदि शब्दावली पर भी ध्यान दें तो उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि नाथ संप्रदाय के संदर्भ में इनकी कोई संगति नहीं है। दूसरे, मीरां ने अपने एक अन्य पद में केवल 'भगवा' वेश धारण कर 'सन्यासी' बनने या 'जोगी' होने की स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना की है—

कहा भयो है भगवा पहर्यां, घर तज भये सन्यासी ।
जोगी होय जुगति नहिं जाणी, उलटि जनम फिर आसी ।।

अतः नाथ संप्रदाय से 'जोगी' या 'जोगिया' का संबंध जोड़ते हुए मीरां को उससे प्रभावित मानना सर्वथा निर्मूल है ।

अब रही किसी लौकिक जोगी से मीरां की अनुरक्ति की बात, तो वह मीरां की केवल एक पंक्ति के आगे ही खंडित हो जाती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई

कृष्ण योगेश्वर भी हैं। यदि 'योग' शब्द की डा० मंजुलाल मजमुदार की व्याख्या हम न भी मानें (योग=संयोग, मिलन) तो राजस्थानी साहित्य में कृष्ण के लिये बहुशः प्रयुक्त 'जोगेस', 'जोगाणंद' आदि संबोधनों को अमान्य समझने का कोई कारण नहीं है। राजस्थानी भक्तिकाव्यों में कृष्ण के लिये 'जोगेस' 'जोगा-

८. मीरांबाई—एक मनन, डा० मंजुलाल मजमुदार, पृ० १२५ ।
९. वही, पृ० १२६ ।

णंद' आदि संबोधन इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि कृष्ण के अनेक नामों या उपाधियों के साथ इनके प्रयोग की भी एक सामान्य परिपाटी रही है। उदाहरणार्थ महात्मा ईसरदास (संवत् १५६५-१६७५) भगवान् को विविध रूपों में स्मरण करते हुए उनके इस योगी रूप का भी स्तवन करते हैं—

(१) नमो नर – मारण जोग निवास
नमो दुख हूँत उगारण दास
नमो गज तारण मारण ग्राह।
नमो व्रज काज सुधारण वाह ॥६०॥[10]

(२) जरा जमजीत अजीत जोगेस।
आदेश आदेस आदेस आदेस ॥१४४॥[11]

(३) गोविंद! भगत निवारण ग्रंभ,
परंभ अमीय भयं पद प्रंभ,
सदा उनमद्द जोगाणंद सिद्ध,
वयं तन बाल न जोवन व्रद्ध ॥ १८२ ॥[12]

गीता में तो स्पष्ट उल्लेख है ही—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥[13]

अतः मीरा ने यदि अपने स्वामी गिरधरलाल के लिये 'जोगी' या 'जोगियां' शब्द का प्रयोग कर लिया तो इसमें क्या अनर्थ हो गया? वस्तुतः सगुण, सलोने कृष्ण ही मीरां के एकमात्र आराध्य एवं अनन्य प्रियतम थे, जिन्हें वह प्रीतिवश नामभेद से ही 'जोगी' या 'जोगिया' कह कर पुकारती है।

परंतु, प्रश्न है कि इस 'जोगिया' संबोधन में क्या कोई और भी गहरा रहस्य है? हां, बात कुछ ऐसी ही है। मेरे विनम्र मत से 'जोगियां' शब्द के मूल में दांपत्यप्रेम की एक महान् परंपरा छिपी पड़ी है। हमारे प्राचीन साहित्य में अपने प्रेमी के लिये 'जोगन बन जाने' या प्रेमिका के लिये 'जोगी होकर निकल पड़ने' संबंधी अनेकशः उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

१०. हरिरस, महात्मा ईसरदास रचित, पृ० २६।
११. वही, पृ० ६०।
१२. वही, पृ० ७३।
१३. श्रीमद्भगवद्गीता, १८। ७८।

१. मैं धणी ! थारी मेल्ही आस ।
जोगणी होइ सेवुं बन वास ।।[१४]

२. जमला मैं जोगण भई प्रेरे म्रग की खाल ।
बन बन सारो ढूंढियो, करत जमाल जमाल ।।[१५]

३. सांवरे की खात जोगन हूँगी, घर घर दूंगी फेरी ।[१६]

४. जेठा घड़ी न जाय, जमारो किम जावसी ।
बिलखतड़ी बीहाय, जोगण करगो जेठवा ।।[१७]

विरहवर्णन के प्रसंग में ये उल्लेख प्रायः काव्यरूढ़ि की संज्ञा पा गए हैं। क्या ये सब अकारण हैं ? उक्त रूढ़ि के मूल स्रोत एवं प्राचीन साहित्य में 'जोगियां' शब्द के विशिष्टार्थ में प्रयोग को देखते हुए मेरी यह विनम्र स्थापना है कि यह शब्द काव्यरूढ़ि में प्रेमी या प्रियतम का ही वाचक होकर आया है। दूसरे शब्दों में जोगियां, योगी का ही प्रेममूलक संस्करण है, रागात्मक रूपांतर है जो भावार्थ में प्रेमी या प्रियतम का वाचक है।

राजस्थानी की प्रियतमवाची विशाल शब्दपरंपरा

राजस्थानी में प्रेमी या प्रियतमवाची शब्दों की एक इतनी समृद्ध परंपरा रही है कि शायद ही किसी अन्य प्रांतीय भाषा में देखने को मिले। 'जोगिया' शब्द के इस विशिष्टार्थ को समझने के लिये तथा उसके मर्म को पूर्णतः हृदयंगम करने के लिये हमें राजस्थानी की इस महान् शब्दपरंपरा से परिचित होना आवश्यक है।

राजस्थानी की यह प्रियतमवाची शब्दावली उसके शताधिक प्रेमाख्यानों एवं सहस्राधिक लोकगीतों में बिखरी पड़ी है। इन्हें देखने से पता चलता है कि कुछ शब्द तो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से प्रेमी या प्रियतम के अर्थ में प्रयोगरूढ़ होगए हैं तथा कुछ पद, उपाधि या किसी गुणविशेष के आधार पर कालांतर में सामान्य प्रेमी या प्रियतम का वाचकत्व करने लगे हैं। जहां तक व्यक्तिवाचक नामों या संज्ञाओं का प्रश्न है, उनके साथ कोई न कोई प्रेमकथा जुड़ी हुई है। दूसरे शब्दों में, वे किसी न किसी प्रेमाख्यान के नायक-नायिका रहे हैं। आगे चल कर ये व्यक्तिवाचक अभिधान अपनी निजी व्यंजनाएं छोड़ बैठे तथा अर्थविस्तार की प्रक्रिया के फलस्वरूप सामान्य प्रेमी या प्रियतम का ही वाचकत्व करने लगे। राजस्थानी लोक-

१४. बीसलदेवरासो, सं० सत्यजीवन वर्मा, पृ० ४३।
१५. रसराज, परंपरा, सं० नारायणसिंह भाटी, पृ० ६५।
१६. चंद्रमुखी के भजन और लोकगीत, सं० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ४५।
१७. प्रेम रा दूहा, सं० अचलसिंह, पृ० १२।

गीतों में बहुशः प्रचलित ढोला, मारु (पुंलिग में प्रयुक्त होने पर प्रियतम के अर्थ में रूढ़) 'जल्ला' या जलाल, पना, पना-मारु आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनके साथ कोई न कोई प्रेमाख्यान जुड़ा हुआ है एवं उन प्रेमाख्यानों के नायक होने के कारण अब ये शब्द, मात्र व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ न रह कर, प्रेमी या प्रियतम के ही पर्याय हो गए हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

ढोला—

१. थांने तो प्यारी, पिया, परदेसां री चाकरी जी,
ढोला, ह्मांनै तो प्यारा लागो, प्यारा लागो आप।[१८]

२. एक थंभियो ढोला महल चिणाव।
च्यारूं दिसा में राखो गोखड़ा जी ह्मांरा राज।[१९]

मारूजी या पना-मारू—

१. थे तो चाल्या जी, पना-मारू चाकरी।
धण रो के रै हवाल, गोरी नै खिनाय ज्यावो बाप कै।[२०]

२. एक वर करला थारा मारूजी, पाछा जी मांड़।

'जला' या जलाल—

जला मारू, ह्मे तो थारा डेरा निरखण आई हो।
ह्मारी जोड़ी रा जलाल, ह्मे तो थारा डेरा निरखण आई हो जलाल॥[२१]

इसी प्रकार कार्य, पद, उपाधि, स्थिति या गुणविशेष के आधार पर जो शब्द प्रेमी या प्रियतम का वाचकत्व करते हैं उनमें ओलगियो, उलिगाणो, लसकरियो, उमराव, भंवर जी, कंवर जी, सायबो, आलीजो, केसिरियो, मनभरियो, रसियो, मदछकियो, रंगरसियो, रांजिद, साजनिया, बालम, राजीड़ा, गुमानी, माणीगर आदि उल्लेखनीय हैं। स्थानाभाव से यहां प्रत्येक का उदाहरण देना संभव नहीं होगा अतः केवल कुछ के ही दिए जारहे हैं जिससे विद्वान् पाठक यह अनुमान कर लेंगे कि किस प्रकार ये शब्द अपने सामान्य वाच्यार्थ को छोड़ कर प्रेमी या प्रियतम के अर्थ में रूढ़ हो गए हैं—

१. ह्मारा **ओलगिया** घर आज्यो जी (मीरां)।
२. चालइ **उलिगाणा**, धन जाण न देहि (बीसलदेव रासो)।

१८. राजस्थानी लोकगीत, सं० रावत सारस्वत, पृ० १५३।
१९. राजस्थानी लोकगीत, सं० स्व० सूर्यकरण पारीक, पृ० ७३।
२०. राजस्थानी लोकगीत, सं० रावत सारस्वत, पृ० ९९।
२१. वही: पृ० ८२।

३. थे कित रैन गुमाई **ललकरिया**। (किरती—लोकगीत)।
४. जी **उमराव** थारी सूरत प्यारी लागै ह्मारा राज। (उमराव-लोक०)
५. सुणो श्रो **भंवर,** ह्मांने सपनो सो श्रायो जी राज (सुपनो)
६. ह्मारै माथै नैं मैंमद ल्यावो **रंगरसिया**। (लोकगीत)
७. तालो तो ढक कर **मन भरियो** कूंची ले गयो।
८. **भंवर** थांनै गोरी सैं मिल्यां द्या जी।
९. ह्मे करांगा **साजनिया** सैं गोठडी।
१०. सुख-सेज सायब पूत जारो, करो न **राजीड़ा** मनरली।
११. चुड़लै री मोज थारो **आलीजो** लगावै। (जच्चा),
१२. थारी तो घाली गोरी रा **सायबा** (कांकरडी),

उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें प्रयुक्त प्रेमी या प्रियतमवाचक शब्दों को अपने प्रचलित अभिधार्थ में ग्रहण न कर अपने विशिष्टार्थ में ही ग्रहण किया जाता है अन्यथा किसी भी हिंदू प्रेमी को 'जलाल' या किसी भी सामान्य प्रेमी को 'कंवरजी' या 'भंवरजी' कहने का क्या अभिप्राय है ? जब हम इन शब्दों के अर्थनिर्णय में इनके वाच्यार्थ पर आग्रह नहीं करते तो फिर 'जोगिया' शब्द को लेकर ही यह अनपेक्षित वितंडावाद क्यों ?

वस्तुतः राजस्थानी की इस नाना शब्दमयी प्रेममूलक संबोधन परंपरा के परिचय के अभाव में हमारे विद्वज्जनों ने राजस्थानी कवियों द्वारा प्रीतिसंदर्भ में प्रयुक्त इन 'जोगी' या 'जोगिया' शब्दों का केवल वाच्यार्थ ग्रहण कर अनर्थ कर डाला है। वे इनके प्रयोग से भ्रमित हो गए हैं। इस विशिष्ट संदर्भ से परिचित हो लेने के अनंतर अब हम 'जोगिया' शब्द के मूल उत्स, एवं इसके पीछे निहित सांस्कृतिक आदर्श तथा इसके इसी अर्थ (प्रियतम या प्रेमी वाचक) में प्रयोग की सुदीर्घ काव्यपरंपरा पर सोदाहरण विचार करेंगे ताकि इस विषय में तनिक भी भ्रांति या संशय का अवकाश न रहे।

'जोगिया' शब्द का मूल उत्स

इस काव्यरूढ़ि एवं विशिष्टार्थवाची शब्दप्रयोग का उत्स मेरे विचार से शिव-पार्वती-संबंध में है जिसने दांपत्य प्रेम के उत्कृष्टतम आदर्श के रूप में अखिल भारतीय वाङ्मय, विशेषतः राजस्थानी काव्यपरंपरा को अतिशय प्रभावित किया है। काव्य ही क्यों, राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में भी शिव-पार्वती के अखंड, अगाध एवं जन्म-जन्मान्तर-व्यापी अटूट संबंध, दाम्पत्य प्रेम का स्पृहणीय आदर्श बन कर प्रतिष्ठित हो गया है। राजस्थान का महान् सांस्कृतिक पर्व 'गणगौर' इसका

ज्वलंत प्रतीक है। इस संबंध में राजस्थान के वयोवृद्ध तथा यशस्वी विद्वान् पं० झाबरमलजी शर्मा का यह कथन द्रष्टव्य है—

'वस्तुतः सनातन सभ्यता में जो कल्याणमय दांपत्य प्रेम है, उसकी मंदाकिनी का स्रोत शंकर-पार्वती से ही प्रारंभ होता है। दांपत्य प्रेम के उच्चादर्श की शिक्षा देने के लिये ही सांबशिव की पूजा का विधान विशेष रूप से किया गया है। भारत-वर्ष के अन्य प्रांतों के संबंध में तो मैं नहीं कह सकता किंतु राजस्थान में सोलहों आने उक्त विधान की कार्य में परिणति ईश्वर-गौरी (गण-गौर) के महोत्सव के रूप में देखी जाती है।'[२२]

जब पूर्व भव में दक्षकन्या सती अपने गर्वोन्मत्त पिता द्वारा अपने पति (सदाशिव) का अपमान सहन न कर सकी तो उसने 'तज्जन्म धिग् यन्महता-मवद्यकृतं'—उस जन्म को धिक्कार है जिससे अपने आराध्य का अपमान होता है, कहते हुए अपने इस शरीर को ही इस भाव से त्याग दिया कि यह दक्ष से उत्पन्न हुआ है। उसी सती ने अगले जन्म में हिमाचलकन्या पार्वती के रूप में जन्म लिया एवं अपने पूर्व जन्म के आराध्य शिव को प्राप्त करने के हेतु उसने कठोर तपश्चर्या की। महाकवि कालिदास की अमरकृति 'कुमारसंभव' में इस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इधर योगेश्वर शिव समाधि में लीन हो गए। अनेक दिवस, पक्ष, मास और वर्ष बीतते चले गए परंतु भगवान् चंद्रशेखर की समाधि नहीं खुली। इंद्रादि देवों से प्रेरित हो जब मदन ने शिव की समाधि भंग करने का दुस्साहस किया तो वह क्षणांतर में उनके कोपानल में भस्म हो गया। इधर जब पार्वती ने देखा कि पूर्व तपोसाधना से इष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो रही है तो वह कोमलांगी अपने सुकुमार अंगमार्दव की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान न दे और भी कठोर तपश्चर्या में निरत हो गई—

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्तकांक्षितम्।
तदानपेक्ष्य स्वशरीर मार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥[२३]

पुत्री को इतनी कठोर तपस्या करते देख माता के बारंबार निषेध किए जाने के कारण ही उसका नाम 'उमा' हुआ। कालिदास कहते हैं—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम।[२४]

२२. देखिए, 'राजपूताने (राजस्थान) का गणगौर पूजन' शीर्षक लेख, कल्याण, शिवांक, भा० २, गीता प्रेस, गोरखपुर।

२३. कुमारसंभवम्, १८।

२४. वही, २६।

तपस्या से ही तपस्वी के हृदय को जीता जा सकता है। हिंदू शास्त्रों में सदाशिव की जो सनातन मूर्ति बताई गई है, उसमें शिव ध्यानमग्न समाधि लगाए हुए आत्म-चिंतन कर रहे हैं।[२५]

इस संदर्भ में यदि हम अपने प्राचीन प्रेमाख्यानों में वर्णित अपने प्रियतम की प्राप्ति हेतु 'जोगन बन जाने' संबंधी उल्लेखों पर विचार करें तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इस महत् भावना का मूल शिवपार्वती के पवित्र प्रेमसंबंध में ही है, जिसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है एवं जो दांपत्य प्रेम का सर्वोपरि आदर्श है। अर्द्धनारीश्वर के रूप में शिवपार्वती के जिस अभिन्न और अनन्य स्वरूप की उद्भावना की गई है, वह निश्चय ही भारतीय दांपत्य प्रेम की उत्कृष्टतम परिकल्पना है जिसके माध्यम से नारी पुरुष के उदात्ततम प्रणयसंबंध की अभिव्यक्ति हुई है। अतः हमारे प्राचीन काव्यों में प्रेम अथवा विरह वर्णन के प्रसंग में जो 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द का उल्लेख मिलता है वह वस्तुतः अपने मूल में भगवती पार्वती द्वारा ध्यात शिव के उस योगी अथवा समाधिस्थ रूप का ही स्तवन है जिसके साथ जन्म-जन्मांतर-व्यापी गंभीर दांपत्य प्रेम का भाव जुड़ा हुआ है तथा जो भावार्थ में अपने प्रेमी अथवा प्रियतम का ही वाचक है क्योंकि योगेश्वर शिव पार्वती के अनन्य आराध्य एवं प्रियतम भी हैं। अतः सांबशिव के उस योगी रूप के साथ अभिन्नतः संश्लिष्ट उनका प्रेमी या प्रियतम रूप ही 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द का मूल है, जिसके इस विशिष्टार्थ में प्रयोग की एक स्पष्ट एवं सुदीर्घ परंपरा हमारे काव्यों में निरवच्छिन्न रूप से चली आई है। उदाहरणतः महाकवि विद्यापति रचित 'महेशबानीय' में, जो मिथिला भर में शुभ अवसरों पर गाई जाती है, शिव को 'जोगिया' कह कर ही पुकारा गया है तथा उसमें शिव के योगी रूप के साथ उनका पार्वतीवल्लभ रूप भी अभिन्नतः अंतर्भावित है। एक उदाहरण देखिए—

जोगिआ एक हम देखलगे माई,
अद्भुत रूप मोहि कहलोने जाई।
सिर बहु गंग तिलक सोभे चंदा,
देखि सरूप मेटल दुख दंदा।
× × ×
जाहि **जोगिआ** लए रहलि भवानी,
सएह **जोगिआ** माई आबि तुलानी॥[२६]

२५. राजस्थान का वासंतिक पर्व गणगौर, पृ० ३, पं० झाबरमल जी शर्मा का लेख।

२६. महेशबानी, विद्यापति रचित, हिंदुस्तानी, अप्रैल १९३६ में प्रकाशित डा० उमेश मिश्र के लेख से उद्धृत, पृ० २१२।

तथा इसी महेशबानी का यह अंश और देखिए—

हम सों रूसल महेसे,
गौरि विकल मन करथि उदेसे ।
पुछिअ पंथुक जन तोही,
ए पथ देखल कहु बूढ़ बटोही ।
अंग में विभूति अनूपे,
कते कहब हुनि जोगिक सरूपे ।
विद्यापति भन ताहि,
गौरी हर लए मेलि बनाही ।।[२७]

जयदेव और विद्यापति की गेय-काव्य-परंपराओं ने मध्ययुगीन गुजराती और राजस्थानी काव्यों को अतिशय प्रभावित किया है । प्राचीन राजस्थानी और गुजराती, दोनों भाषाएँ १५ वीं शताब्दी तक एक थीं ।[२८] उसके बाद ही इन दोनों ने अपने विकास की अलग अलग राहें पकड़ी ।[२९]

अतः राजस्थानी तथा गुजराती में भी, समान भाषा एवं सांस्कृतिक परंपराओं के कारण, हमें 'जोगी' या 'जोगिया' शब्द के उक्त अर्थ में प्रयोग के, अनेक उदाहरण मिल जाते हैं । जिनसे हमारे प्रस्तावित अर्थ की र्निविवाद रूप से पुष्टि होती है ।

उदाहरणतः जोधपुर के महाराज मानसिंहजी डिंगल और पिंगल के उत्कृष्ट कवि हो गए हैं । उन्होंने अतीव भावपूर्ण स्फुट शृंगारिक पद भी लिखे हैं जो 'रसीले राज (महाराजा का उपनाम) रा गीत' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं । उक्त संग्रह के कुछ उद्धरण देखिए—

१. रसीले राज जोगिया की मिहर सों सुख की लहर ले
जोग की कला में आए राधा नंद कुंवार ।[३०]

२. रसीलेराज रीझत जोगिया जान जानी । [३१]

२७. वही, पृ० २१३ ।
२८. डा० टैसीटरी, 'नोट्स'—इंडियन एंटीक्वेरी, १९१४-१६ ।
२९. ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् बंगाली लेंगुएज, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, वाल्यूम १, पृ० ९ ।
३०. रसीलेराज रा गीत, महाराजा मानसिंह, सं० नारायणसिंह भाटी, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, पृ०, २३८ ।
३१. वही, पृ० २५२ ।

३. मोर मुगट कट काछनी काछें
पीत पिछौरा उवैसो छिब को निधान।
रसीलेराज जोगिया की मिहर तें
गोकुल त्रियन के वस किए हैं प्रान ॥[३२]

यदि विद्वज्जनों को इतने पर भी संतोष न हो तो वे आधुनिक गुजराती के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार नान्हालाल दलपतराम लिखित 'जया-जयंत' नाटक के निम्नोक्त उद्धरणों का अवलोकन करें जिनसे यह स्पष्ट पता चल जायगा कि 'जोग' या 'जोगी' शब्द केवल अपने सामान्य पारिभाषिक अर्थ में ही गृहीत न होकर प्रेम अथवा श्रृंगार के प्रसंग में भी उतनी ही मार्मिकता से प्रयुक्त हुआ है। 'जया-जयंत' नाटक के ये उद्धरण अत्यंत महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान हैं क्योंकि इनमें 'जोग' और 'जोगी' शब्दों में अंतर्भुक्त प्रेम और श्रृंगार की वे ही परंपरागत किंतु विलुप्तप्राय व्यंजनाएं अपनी असंदिग्ध चारुता से विराजमान हैं। अपने मत की पूर्ण रूपेण पुष्टि के लिये इस नाटक से प्रचुर उद्धरण अनुचित न होंगे।

नाटक के एक पात्र काशीराज के शेवती नामक एक स्त्री पात्र से यह पूछे जाने पर—

'बाले! किसके सद्भाग्य की
तू है कल्याणकारिणी?'

शेवती उत्तर देती है—

१. 'दूरी-दूरी है छपरी जोगी की मेरे,
पास है फूलों की बाड़ी रे,
साधेंगे जोग स्नेहगंगा के तट पै,
बीनेंगे फूल भर डाली।'[३३]

इसी भाँति अन्य उद्धरण देखिए—

२. 'परंतु कहाँ? और है कौन
इस कुमारी का रसजोगी?'[३४]

३२. वही, पृ० १३२।
३३. 'जया जयंत', नान्हालाल दलपत राम कवि, रूपांतरकार पं० गिरिधर शर्मा, राजपूताना हिंदी साहित्य सभा, झालरापाटन, पृ० ३५।
३४. वही, पृ० ३६।

३. 'इस मुकुट को पहनोगी ?
रस योगींद्र दुष्यंतराज ने
पहनाया था सौंदर्य देवी शकुंतला को ।'[३५]

४. मैं तो **जोगन** बनी हूँ मेरे बालम की
प्रम आलम की,
मैं तो **जोगन** बनी हूँ मेरे बालम की,
वन वन के महल, पीतम ! तेरे बिन सूने हैं,
तीरथ के घाट, पीतम ! **जोगी** से जूने हैं
रसिका इस **रस के उपासक** की ।'[३६]

उपर्युक्त उद्धरणों में आए 'रसजोगी', 'रसयोगींद्र' आदि शब्दों के उपरांत भी क्या इनके प्रियतमवाची होने में कोई संदेह रह जाता है ? यह योग की साधना जो 'स्नेह गंगा के तट पर' हो रही है, क्या अपना मर्म स्वयं नहीं कह देती ? दुष्यंत और शकुंतला के प्रसंग में प्रयुक्त यह 'रस-योगींद्र' शब्द क्या प्रीति के अति-रिक्त किसी अन्य भाव की व्यंजना कर सकता है ? अधिक क्या कहें, इस 'जोगिया' शब्द में गर्भित प्रेम का यह मर्म न समझ कर हमने उस प्रेमयोगिनी के प्रति कितना भारी अन्याय किया है ?

हमारे साहित्यिक या अलंकृत काव्यों में ही नहीं, वरन् राजस्थानी लोकगीतों में भी ईसर-गौरी (शिव-पार्वती) के रूप में सामान्य प्रेमी-प्रेमिका का रूप किस प्रकार अंतर्भावित हो गया है, यह देखने योग्य है । उदाहरणतः गणगौर के एक लोकगीत की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

महमद ल्याजो जी, ओजी म्हारा ईसर जी ओ उमराव,
जटाधारी, झुटणा ल्याजो जी ।
रखड़ी मँहगी ए, ओ ए म्हारी नखराळी गणगोर
गुमानण राणी, झुटणा मँहगा ए ।।[३७]

इस गीत में 'ईसर-गौरी' के रूप में स्पष्ट ही किसी प्रेमी-प्रेमिका का रूप झलक रहा है । 'नखरालो गणगौर' यहाँ नामभेद से प्रीतिलुब्धा नायिका का ही पर्याय है । इसी भाँति 'जटाधारी', जो योगेश्वर शिव के लिये आया है, ध्वन्यार्थ में स्पष्टतः प्रियतम के भाव की ही व्यंजना करता है ।

३५. वही, पृ० ३८ ।
३६. वही, पृ० १११ ।
३७. राजस्थान के लोकगीत, सं० रावत सारस्वत, पृ० ५४ ।

ऐसी स्थिति में 'जोगी' या 'जोगिया' का अर्थ प्रियतम, प्रेमी या प्रेमाराध्य मानना क्या संगत नहीं है ? इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि शिव-पार्वती ने केवल स्वयं ही आदर्श दांपत्य प्रेम के प्रतीक हैं, वरन् प्रेमाख्यानों में वर्णित नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका के अनन्य उपकारक भी। यही कारण है कि किसी प्रेमी के मूर्छित हो जाने पर, अथवा उनके मिलनमार्ग में कोई बाधा आ पड़ने पर स्वयं शिवपार्वती वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। क्या यह अकारण है ? क्या और कोई देवता नहीं है जो इन प्रेमियों का हितसाधन कर सके ? हर बार संकट आ पड़ने पर, और वह भी प्रेमियों पर ही, केवल शिवपार्वती ही क्यों आते हैं ? बीसलदेवरासो में विरहिणी राजमती को प्रियतम बीसलदेव के आगमन का संदेश देने के लिये सहसा यह योगी बीच में कहाँ से आ टपकता है—

सांभरि गमन करे छइ राई,
गढ अजमेरां राजीयो।
जोगी एक भेट्यो तिणि ठाई ॥[३८]

वही जोगी विरहदग्धा राजमती को यह संदेश देकर उसके मन की तपन क्यों बुझाता है—

जोगी कहइ 'सुणि मोरी माई।
दिन तिसरइ आवइ धरि राय' ॥[३९]

'पद्मावत' में मूर्च्छा के अनंतर पद्मावती को न पा नायक रत्नसेन के मरणोद्यत होने पर योगी-योगिन (शिवपार्वती) ही आविर्भूत होकर उसे मरने से क्यों रोकते हैं ?

ये प्रश्न मात्र काव्यरूढ़ि कह कर टालने के नहीं है। इसी भाँति राजस्थानी के अनूठे प्रेमकाव्य 'ढोला मारू' में नायिका मारवणी के पी ने साँप द्वारा डस लिए जाने पर जब ढोला अपनी मृत प्रिया के साथ जल मरने को उद्यत हो जाता है तो वहाँ भी वे ही जोगी-जोगिन फिर प्रकट होकर उन दोनों प्रेमियों को प्राणदान देते हैं—

इक जोगी आणंद मइ आव्यउ तिण हिज बाट।[४०]

तथा—

साथइ सुंदरि जोगिणी, मारवणी सूँ प्यार।[४१]

३८. बीसलदेवरासो, सं० सत्यजीवन वर्मा, पृ० ८९।
३९. वही, पृ० ९३।
४०. ढोला मारू रा दूहा, ६१६।
४१. वही, ६१७।

यही नहीं वह जोगन अपने जोगिया से मारवणी को जिलाने की पैरवी भी करती है।

जोगिण जोगी सूं कहइ, सांभलि नाथ समथ्थ।
का जीवाड़उ मारूवी, हूं पिणइणहिज सथ्य ॥[४२]

उपर्युक्त विवेचन से मेरे निवेदन करने का अभिप्राय यह है कि 'जोगी' या 'जोगिया' शब्दों के मूल में वस्तुत: शिव-पार्वती के तपोसंभूत दांपत्यप्रेम की भावना ही अंतर्हित है एवं इन शब्दों को नाथसंप्रदाय या किसी व्यक्तिविशेष से जोड़ना हमारी उन प्राचीन सांस्कृतिक एवं काव्यपरंपराओं को उपेक्षित करना है, जो इस शब्द द्वारा प्रतीकात्मक रूप से व्यंजित हैं। अत: निष्कर्षत:, विशिष्ट अर्थ में 'जोगी' या 'जोगिया' प्रियतम का ही वाचक है, एवं मीरां के संदर्भ में वह और कोई नहीं, उसका अनन्य प्रियतम गिरधरलाल ही है।

भारतीय चिंतना ने एकांतिक वासनाजन्य प्रेम को कोई महत्व नहीं दिया है। तपस्या की अग्नि में जलकर जो प्रणय तप्त कांचन सा निखर उठता है, वही तपोपूत दांपत्य प्रेम भारतीय जीवन का आदर्श रहा है। 'जया जयंत' नाटक के नायक जयंत के शब्दों में उस उदात्त प्रेम का स्वरूप देखिए—

जया! पशु से भी पामर है मनुष्य ?
मयूर ने जीता, और मयूरी ने जीता,
उस काम को नहीं जीते मानव ?
प्रेम के स्थान में नहीं होती काम वासना
प्रेम में नहीं होती देह की वांछना।[४३]

तथा—

जया—'परंतु काम भी जगज्जेता है'
जयंत—'तथापि एक दुर्ग है अजित
इस जगज्जेता से भी जया!
काम ने नहीं जीता प्रेम का गढ़'[४४]

एवं—

'स्नेह के साथ वैराग्य को बसाना
तो तू अक्षय व्रतिनी रहेगी निर्भय।'[४५]

४२. वही, ६२०।
४३. 'जया जयंत', कवि नान्हालाल रचित, पृ० १४३।
४४. वही, पृ० १४४।
४५. वही, पृ० १४५।

शिव-पार्वती इसी उत्कृष्ट दांपत्यप्रेम के प्रतीक हैं, तपोपूत प्रेम की पावन समष्टि हैं ! कितनी महनीय है यह दांपत्यप्रेम की परिकल्पना।

इस संबंध में डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' का यह कथन भी द्रष्टव्य है—

'दांपत्य जीवन सामाजिक जीवन की रीढ़ है। शिव-पार्वती उसके सबसे पवित्र और आदर्श के रूप में स्वीकृत हैं। शिव के जीवन में योग और भोग का जो समन्वय है वह पुरुषों के लिये सदैव अनुकरणीय रहा है। योग और संयम विहीन भोग भारतीय सामाजिक जीवन में कभी संमानित नहीं हुआ। शिव के समान ही पार्वती का तप एवं सतीत्व भारतीय नारी का आदि काल से चरम आदर्श रहा है। जिसे अपने जीवन में प्राप्त कर लेने के लिये वह सदैव आकुल और आतुर रही है।'[४६]

मीरां के पदों में प्रयुक्त 'जोगिया' उस प्रेमोन्मादिनी का अपने आराध्य को संबोधित तथा उसके युग-युगीन विरह की वेदना से निःसृत एक ऐसा ही स्नेहगर्भित शब्द है; प्रियतम कृष्ण के वियोग में व्याकुल जन्म-जन्मांतरों की विरहिणी आत्मा की ही करुण पुकार है !

*

४६. 'शोध पत्रिका' उदयपुर, वर्ष १७, अंक ४ में 'शिव का सांस्कृतिक महत्व शीर्षक डा० 'दिनेश' का लेख।

प्राचीन भारतीय रंगशालाओं में 'यवनिका'

सुरेंद्रनाथ दीक्षित

•

प्राचीन भारतीय नाट्यपरंपरा रचना, शास्त्र एवं रंगप्रयोग की दृष्टि से विलक्षण और समृद्धिशाली रही है। भास, शूद्रक कालिदास, हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त और राजशेखर जैसे कीर्तिमान् नाट्यकारों ने उसे अपनी बहुरंगी लेखनी से जीवन की शाश्वत ऊष्मा और गरिमा प्रदान की। भरत मुनि, नंदिकेश्वर, सागरनंदी, अभिनवगुप्त, धनंजय और रामचंद्र-गुणचंद्र आदि महान् नाट्यशास्त्रियों ने कला को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। विस्मृति के गर्त में दबे न जाने कितने अनगिनत भरतों, रंगशिल्पियों और नाट्याचार्यों ने उन यशस्वी कवियों की अमृत वाणी को रंगशालाओं, राजप्रासादों, मंदिरों, चैत्यों और शिलावेश्मों में अपनी सजीव अभिनय-कला द्वारा सदियों तक वह मनमोहक रूप और रंग दिया कि वह सारी परंपरा ही 'रूपक' के रूप में विख्यात हो गई।

प्राचीन भारतीय नाट्यकारों की वह रसस्निग्ध वाणी सदियों तक केवल मनोविनोद ही नहीं अपितु नाट्यशिल्पियों द्वारा प्रयोगसिद्ध हो रंगशालाओं के माध्यम से परंपरागत भारतीय जीवन, चिंतन और संस्कार का बड़ा ही सबल एवं कलात्मक वाहन भी बनी रही है। बारहवीं सदी के बाद भारतीय इतिहास में राजनीतिक पराजय, सांस्कृतिक ह्रास और कठोर संघर्ष का घना अंधकार फैलता गया है। मुस्लिम शासनकाल मूल रूप से भारतीय नाट्यपरंपरा के प्रति भी सदय दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ रहा। राजप्रासाद, मंदिर और रंगशालाएँ विध्वंस की आग में सदियों तक जलती रहीं। लंबी जातीय यातना की इस गहन तमिस्रा को भेदनेवाली नाट्यप्रतिभा की कोई किरण सदियों तक हमें दिखाई नहीं देती जो जातीय जीवन में नई आशा और नूतन विद्रोह का आह्वान कर सके।

कलापूर्ण नाटकों की यह सुकुमार परंपरा तो युद्ध और संघर्ष की आग में झुलस गई पर लोक-नाट्य-परंपरा का कठोर प्राचीर इन तमाम क्रूर प्रहारों को सहकर भी अपना शिर शान से उठाए रहा। यही कारण है कि पराजय और अपमान की इस भयावह छाया में भी राजपूताने से आसाम तक और कन्याकुमारी से कश्मीर तक रासक, अंकिया और मैथिली नाटक तथा अन्य भाषा नाटकों का क्षीण स्पंदन कभी यहाँ और कभी वहाँ सुनाई पड़ता रहा।

लोकनाटकों की यह परंपरा प्रतिकूल ऋतु में टूटे फूटे राजप्रासादों, जीर्ण-शीर्ण मंदिरों और ग्राम-चैत्यों की छाँह में अपनी बेल बढ़ाती रही। यह अवस्था तबतक बनी रही जब तक अंगरेज शासकों के व्यवस्थित होते ही भारतीय पुनर्जागरण की मधुवेला में आत्मबोध का मंगल-शंख भारतीय क्षितिज पर प्रतिध्वनित न हो उठा।

भारतीय नाट्यकला : नूतन आयाम

भारतीय नाट्यकला नवजागरण का सुखद स्पर्श पाकर नए क्षितिज के अनुसंधान में प्रवृत्त हुई। प्राचीन इतिहास, साहित्य और कला के अनुसंधान के संदर्भ में उन पुराने स्रोतों की ओर भी दृष्टि गई, जो प्राचीन तालपत्रों, शिलालेखों, मंदिरों, प्रस्तर मूर्तियों, भित्तिचित्रों, पांडुलिपियों और भग्न रंगशालाओं के रूप में यहाँ-वहाँ सारे देश में बिखरे पड़े थे। स्वभावतः कई विस्मृत नाटककार और नाटक प्रकाश में आए। नए पुराने नाटकों का अभिनय पाश्चात्य नाट्यप्रभाव की छाया में जब आरंभ हुआ तो प्राचीन भारतीय रंगशालाओं की भी खोज आरंभ हुई—शास्त्रीय ग्रंथों और प्राचीन भग्नावशेषों, मंदिरों और पार्वत्य गुहाओं में भी। निःसंदेह इस संबंध में इतिहासलेखकों और खोजियों को प्रचुर सामग्री भी प्राप्त हुई।

प्राचीन भारतीय रंगशालाएँ और यवनिका

प्राचीन भारतीय रंगशालाओं के संबंध में पाश्चत्य एवं भारतीय विद्वानों ने अभी तक अपनी खोज जारी रखी है। नाट्यशास्त्र, उपलब्ध नाट्यग्रंथों, अन्य काव्य-ग्रंथों तथा सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं में प्राप्त रंगशालाओं के रूप से एकबारगी ही प्राचीन भारतीय रंगशालाओं का रूप बहुत भव्य रूप में प्रस्तुत हुआ। रंगशालाओं में प्रयुक्त विविध सामग्रियों और प्रसाधनों पर दृष्टि गई। रंगशालाओं में प्रयुक्त यवनिका उनमें से अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण विषय बनी रही है। यहाँ हम यवनिका के संबंध में उन विचारों और प्राप्त सामग्रियों की समीक्षा करके किसी निष्कर्ष का संकेत करना चाहते हैं।

'यवनिका' भी प्राचीन नाट्यविधान का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग थी। रंग-प्रसाधन प्राचीन भारयीय नाट्यपरंपरा का कितना महत्वपूर्ण अंग रहा है, यह तो इसी से सिद्ध हो जाता है कि पांच प्रकार के प्रमुख अभिनयों (आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य और चित्र) में आहार्य अभिनय एक प्रमुख अंग ही नहीं, अपितु आचार्य भरत के शब्दों में नाट्यप्रयोग का वह अत्यंत महत्वपूर्ण आधार माना गया है।[1] उसके द्वारा न केवल पात्र की बाहरी वेशभूषा और रूपसज्जा ही सर्वथा रसा-

१. यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः।—नाट्यशास्त्र, २१।१।

नुगामी हो जाती है, अपितु रंगमंच का समस्त वातावरण नाटकीय घटना, चरित्र के शारीरिक संगठन तथा मानसिक अवस्था के अनुरूप हो जाता है। यह अनुरूपता या तादात्म्य ही तो नाट्यप्रयोग का प्राण है।

भरतकल्पित नाट्यमंडप : पूर्णता और भव्यता

भरत नाट्यशास्त्र में नाट्यमंडप पर विचार विमर्श करते हुए उसके विभिन्न अंगों तथा प्रसाधनों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। नाट्यमंडप की भूमि का माप, परिशोधन, शिलान्यास, भित्तिरचना, स्तंभस्थापन, भित्तिलेप, रंगशीर्ष, रंगपीठ और नेपथ्यगृहों का संतुलित विभाजन, मत्तवारणी तथा प्रेक्षकोपवेशन विधि, दारुकर्म तथा द्वाररचना आदि का स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है। नाट्य-शास्त्र के द्वितीय अध्याय में रंगमंडप की परिकल्पना नितांत भव्य और स्पष्ट है।[२] हाँ, काल के लंबे व्यवधान के कारण हमारे लिये वह आज उतना सुगम भले ही न रह गया हो। वस्तुतः भरतकल्पित नाट्यमंडप का रूप जैसा भव्य और समृद्ध मालूम पड़ता है, उसे देखकर तो ऐसा लगता है कि भारतीय रंगमंडप की वह विराट् परिकल्पना भारत के अभ्युत्थान काल का शेष स्मृतिचिह्न है जब मौर्यकाल से गुप्तकाल तक भव्य प्रासादों, विशाल मंदिरों और कलापूर्ण रंगशालाओं और विहारों की रचना सदियों तक निरंतर होती रही थी।[३]

यवनिका और नाट्यशास्त्र का साक्ष्य

रंगमंडप और नाट्यप्रयोग के विभिन्न अंगों एवं प्रसाधनों का इतना विस्तृत विवरण देकर भी उसके इतने महत्वपूर्ण प्रसाधन 'यवनिका' का कोई भी विवरण भरतमुनि ने न तो द्वितीय अध्याय और न आहार्याभिनय के प्रसंग में २१वें ही अध्याय में दिया है। पर अन्यत्र दो प्रसंगों—पूर्वरंग तथा पात्रप्रवेशकाल के संदर्भ में यवनिका तथा पटी का स्पष्ट उल्लेख किया है।

इसलिये बहुत से विद्वान् आलोचकों ने कल्पना की है कि स्यात् द्वितीय अध्याय की रचना पाँचवें और बारहवें अध्यायों के पूर्व हो चुकी हो। नाट्यमंडप संबंधी द्वितीय अध्याय की रचना होते तक भारतीय नाट्यमंडपों पर यवनिका का प्रयोग न होता हो। हम यहाँ पर नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त अध्यायों के कालगत पौर्वापर्य की समस्या पर विचार नहीं करना चाहते। हाँ, इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि नाट्यशास्त्र के इन आरंभिक अंशों के संग्रंथनकाल तक भारतीय नाट्य-मंडपों पर 'यवनिका' का प्रयोग होने लगा था।

२. वही, द्वितीय अध्याय।

३. गुप्त आर्ट, वी० एस० अग्रवाल, पृ० १।

नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त दोनों अध्यायों में निम्नलिखित संदर्भों में 'यवनिका' तथा 'पटी' शब्दों का प्रयोग हुआ है—

१. नाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग विधान के संदर्भ में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि रंगमंडप पर प्रयोज्य नाट्य में कविनिबद्ध गीतों के अतिरिक्त अन्य गीतों तथा प्रत्याहार, आश्रावणा, वक्त्रपाणि परिघट्टना तथा आसारित आदि 'अंतर्यवनिका' के नव अंगों का प्रयोग मुख्य रंगभूमि पर न कर रंगपीठ के पृष्ठ भाग में टँगी यवनिका की ओट से करना चाहिए। इसी लिये यवनिकांतर्गत वहिर्गीतक के रूप में इनका उल्लेख किया गया है।[४] परंतु पूर्वरंग के ही नांदी से प्ररोचना तक के दस अंगों का प्रयोग यवनिका को हटाकर मुख्य रंगभूमि— रंगपीठ पर करना चाहिए। यह स्पष्ट उल्लेख है। निर्दिष्ट दोनों श्लोकों में यवनिका शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। इससे रंगमंडप पर यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। इन श्लोकों पर टिप्पणी करते हुए अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत किया है कि यह यवनिका रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच में होती थी।[५]

२. नाट्यशास्त्र के बारहवें अध्याय में यवनिका शब्द के स्थान पर 'पटी' शब्द का प्रयोग मिलता है। नाट्यप्रयोग के शुभारंभ काल में ध्रुवागान के संप्रवृत्त होने तथा पट के आकर्षित होने पर नाना नाट्यार्थ और रस के आधारभूत पात्रों के प्रवेश का विधान किया गया है। यवनिका या पटी की आकर्षण विधि से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि इन श्लोकों में भरत ने यवनिका के प्रयोग का बहुत स्पष्ट और निश्चित विधान किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि यवनिका के अपसारण से पूर्व तंत्री एवं मृदंगवाद्यों से संयुक्त आलाप का प्रयोग तो होना ही चाहिए, परंतु वह मार्ग तथा रसोपेत भी हो। मार्ग से उनका अभिप्राय रंगभूमि पर अभिप्रेत गृह उद्यान आदि के शोभाधायक दृश्यविधान की योजना तथा नाट्यकथा के संदर्भ में पात्र की मनोदशा के अनुकूल वातावरण का सृजन है। यवनिका के अपसारण (ना० शा० १२)

४. एतानि तु वहिर्गीतानि अन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तंत्रीभांडकृतानि च॥
ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्य कृतानि च॥ ना० शा०, ५।११-१२।

५. लक्षिष्यमाणानि प्रत्याहारादीन्यासारितान्यानि अन्तर्यवनिकाङ्गानि नव प्रयोज्यानि। यानि वहिर्गीतक प्रयोगादीनि प्ररोचनान्यानि दश तानि सर्वाण्यपि। तत्र यवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये।—अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० २१०।

या उद्‌घटन (ना० शा० ५) तथा नानार्थ रससंभव पात्र के प्रवेशविधान से इस बात की स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है कि आधुनिक रंगमंच पर प्रयुक्त ड्राप कर्टेन की तरह प्राचीन रंगमंडप पर भी यवनिका का प्रयोग रंगपीठ अर्थात् मुख्य रंगभूमि के संमुख भी होता होगा।[६]

रंगमंडप पर अन्यत्र भी यवनिकाओं का प्रयोग होता था, इसकी संभावना की जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग के प्रसंग में कहा है कि यवनिका रंगपीठ और रंगशीर्ष (रंगपीठ का पृष्ठ भाग तथा नेपथ्यगृह का अग्रभाग) के मध्य में रहती है। संभव है कीथ महोदय ने इसी आधार पर प्रतिपादित किया है[७] कि यवनिका रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य में रहती है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त उपर्युक्त विवरणों से रंगमंडप पर यवनिका का प्रयोग निःसंदेह प्रमाणित हो जाता है।

यवनिकाओं की संख्या

यवनिका का प्रयोग रंमंडप के किन भागों में होता है और उनकी संख्या कितनी मानी जाय। संपूर्ण रंगमंडप मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित रहता है। प्रेक्षकोपवेशन के ठीक सामने 'रंगपीठ' होती है, रंगपीठ और प्रेक्षकों के बीच नाट्य प्रयोग आरंभ होने से पूर्व यवनिका ही 'तिरस्करिणी' या व्यवधान पटी का काम करती है। रंगपीठ के ठीक पीछे रंगशीर्ष होता हैं जहाँ पात्र अगले दृश्य में अभिनय के लिये अपनी साजसज्जा में प्रस्तुत रहते हैं, वहाँ भी एक यवनिका रहती है। ठीक इसके पीछे नेपथ्यगृह होता है जहाँ पात्रों का 'आहरण' (नेपथ्यकर्म) होता है और तरह तरह की रासायनिक विधियों द्वारा उन्हें अभिनेय पात्रों की साजसज्जा प्रदान की जाती है। नेपथ्यगृह और रंगशीर्ष के बीच भी एक यवनिका का होना संभव है। अभिनवगुप्त के उपर्युक्त उद्धरणों से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि कम से कम दो अथवा तीन यवनिकाओं का प्रयोग शास्त्रसंमत ही नहीं व्यवहारसंमत भी है। ये दोनों रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य

६ ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थसंभवः ॥—ना० शा०, २२।३
यो यः कश्चिद् गृह उद्यानादिनिवेशः रत्यादि चित्तवृत्ति विशेषः तेनोपेतं कृत्वा एतदुक्तं भवति हंसाद्युपमानमुखे प्रकृतिविशेषः, चित्तवृत्तिविशेषः उद्यानादि विशेषः ध्रुवासूपनिबंधनीयः। एवं ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटेऽपकर्षित यवनिकायामपसारितायां तदा सामाजिकानां नेपथ्यगृहादयमागत इति नटी निवर्त्यते।—नाट्यशास्त्र १२।१३० पर अभिनवभारती।

७. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० ३५९।

तथा रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के मध्य होती थी। अंक की परिसमाप्ति के लिये तथा विभिन्न भूमिकाओं में अवतरण के लिये प्रस्तुत पात्रों को प्रेक्षकों की दृष्टि से नाट्यारंभ से पूर्वकाल तक ओझल करने के लिये एक यवनिका का प्रयोग रंगपीठ के अग्रभाग तथा एक का प्रयोग रंगशीर्ष के अग्रभाग में होता था। नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती से इतना अवश्य प्रमाणित हो जाता है।

यवनिका और संस्कृत नाटकों का साक्ष्य

ड्राप कर्टेन की तरह मुख्य रंगभूमि—रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका के प्रयोग के समर्थन के लिये संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटकों की प्रस्तावना की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। भास के अविमारक, शूद्रक के मृच्छकटिक और कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतल तथा मालविकाग्निमित्र बड़े महत्वपूर्ण तथ्यों का इस संबंध में उद्घाटन करते हैं।[८]

क—बैठा हुआ अविमारक प्रवेश करता है।

ख—आसनस्थ उत्कंठित वसंतसेना और मदनिका प्रवेश करती हैं।

ग—अविमारक तथा मृच्छकटिक की वसंतसेना और मदनिका प्रेक्षकों के दृष्टि पथ में प्रवेश करती हैं।

इन उपर्युक्त निर्देशों से ऐसे दृश्यों की परिकल्पना की गई है कि यदि यवनिका का यहाँ प्रयोग न हो तो इस निर्देश का कोई अर्थ नहीं होता।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक के द्वितीय अंक में बड़ी कुशलता से नाटकांतर्गत एक अन्य छलिक गीतिनाट्य की योजना की गई है।[९] उसके माध्यम से कालिदास ने तो मानों छोटा मोटा प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र ही प्रस्तुत कर दिया है। इन गीतिनाट्यों के प्रयोक्ता हैं, नाट्याचार्य हरदत्त। अभिनय की भूमिका में है मालविका, प्रेक्षक हैं स्वयं सम्राट् अग्निमित्र, रानी धारिणी तथा विदूषक। अभिनय की उत्तमता की निर्णायिका है तपस्विनी। मालविका अभिनय की मोहक साजसज्जा और भावप्रवणमुद्रा तथा भाव भंगिमा में उतरने के लिये अभी नेपथ्य में ही है। यवनिका रंगपीठ पर टँगी है। सम्राट् अग्निमित्र की प्रेमाकुल अलस

८. ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च।—अभिज्ञानशाकुंतल, अंक ५।
ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारा आसनस्था शकुंतला।—वही, अंक ४।
ततः प्रविशति उपविष्टोऽविमारकः। अविमारक, पृ० १३२।
ततः प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा वसंतसेना मदनिका च। मृच्छ०, अंक २।
ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायां आसनस्थो राजा वयस्यश्च।—मालविकाग्निमित्र, अंक २।

९. मालविकाग्निमित्र, अंक २।

आँखें मालविका के मधुर रूप के पान के लिये ऐसी लालायित और अधीर हैं कि सामने की यवनिका को जैसे बरबस हटा देंगी—

नेपथ्यपरिगताया दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिवमेतिरस्करिणीम् ॥

—मालविकाग्निमित्र, अंक २।१।

यहाँ यवनिका के स्थान पर 'तिरस्करिणी' शब्द का प्रयोग कवि ने किया है। क्योंकि नाट्यप्रयोग के आरंभ होने से पूर्व तक वह समस्त दृश्यविधान और पात्रों को प्रेक्षकों की दृष्टि से ओझल किए रहती है। इस नाट्य-प्रसंग से भी रंगपीठ (मुख्य रंगभूमि) के अग्रभाग में एक यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। यहाँ भी आसनस्थ राजा और विदूषक के प्रवेश का निर्देश है। वह तभी संभव है जब हम रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका की स्थिति स्वीकार करें।

संस्कृत के प्रायः सभी नाटकों की प्रस्तावना तथा विभिन्न स्थलों पर दिए गए निर्देशों के अध्ययन और विश्लेषण से यवनिका के प्रयोग का समर्थन होता ही है। परंतु हर्षरचित 'रत्नावली' नाटक के प्रयोग का बड़ा ही महत्वपूर्ण विवरण यशस्वी कवि दामोदरगुप्त रचित 'कुट्टनीमत' में उपलब्ध है। इस नाटक के प्रथम अंक में रत्नावली की भूमिका करती है परमरूपवती वेश्या मंजरी। यहाँ पर भी यवनिका का प्रयोग हुआ है। उसे हटाकर वासवदत्ता रंगभूमि पर प्रवेश करती है। पर ऐसी अदा से कि उसका रंगभूमि पर आना रत्नावाली जान भी नहीं पाती।

अपनीत तिरस्करिणी ततोऽभवन्नृप सुतासमं चेट्या।
अविदित रत्नावल्या पूजोचित वस्तुहस्ततयाऽनुगता ॥

—कुट्टनीमत, ६२०।

कुट्टनीमत पर्याप्त प्राचीन ललित काव्य है। इसके विवरण की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त यवनिका संबंधी प्राप्त विवरणों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कहने की स्थिति में हो जाते हैं कि प्राचीन भारतीय नाट्यपरंपरा न केवल यवनिका से परिचित ही थी, अपितु नाट्य-प्रयोग-काल में रंगमंडप के विभिन्न स्थानों में उपयोगिता तथा दृश्यविधान को सौंदर्य प्रदान के लिये उनका प्रयोग भी होता था।

सीताबेंगा-जोगीमारा गुफाओं में प्राप्त नाट्यमंडपों की यवनिका

नाट्यमंडपों पर यवनिका के प्रयोग की पुष्टि न केवल नाट्यशास्त्र, नाट्यग्रंथों एवं प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त विवरणों से ही होती है, अपितु यत्र तत्र भग्नावशेष में प्राप्त मंदिरों, राजप्रासादों और पार्वत्य गुफाओं में भी नाट्यगृह तथा यवनिका के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिली है। इस संदर्भ में सरगुजा रियासत की पार्वत्य

गुफाओं में प्राप्त 'नाट्यवेश्म' की ओर हमारी दृष्टि जाती है। ब्लाश महोदय ने बड़े प्रयत्न के बाद उन गुफाओं की खोज की तथा उसमें प्राप्त नाट्यमंडपों का अत्यंत महत्वपूर्ण विवरण प्रकाशित किया। उस विवरण के अनुसार उस गुफा के नाट्यमंडप में प्रेक्षकोपवेशनविधि नाट्यशास्त्र के नितांत अनुरूप तो है ही, द्वार पर ही भित्तियों के दोनों ओर दो मोटे छिद्र अभी भी हैं, जिनमें संभवतः डंडा लगाकर यवनिका का प्रयोग होता था। ऐसी कल्पना ब्लाश प्रभृति विद्वानों ने की है।[१०]

शोभनिक और पातंजल महाभाष्य का साक्ष्य

इस संदर्भ में हमारा ध्यान पातंजल महाभाष्य में प्रयुक्त शोभनिक शब्द की ओर भी जाता है। ये शोभनिक नाट्यप्रयोग के क्रम में नाट्यकथा के अनुरूप दृश्यविधान की योजना रंगमंडप पर किया करते थे। शोभाधायक कार्य करने के कारण ही उनका शोभनिक नाम भी अन्वर्थ ही प्रतीत होता है। नाट्यार्थ से संबंधित पाठ्यांशों का वाचन ग्रंथिक या वाचिक किया करते थे और शोभाविधान ये शोभनिक। शोभनिक शब्द तथा नाट्यवेश्म का प्रयोग वहाँ प्राप्त शिलालेख में भी हुआ है। नाट्यप्रयोग के क्रम में रंगमंडप पर चित्ररचना के उल्लेख तथा यवनिका की परिकल्पना दोनों ही एक दूसरे से संबद्ध मालूम पड़ते हैं।[११]

संपूर्ण रंगमंडप की प्राचीन विभाजनपद्धति पर भी ध्यान देने से यवनिका के प्रयोग की बात का समर्थन होता है। प्रायः आधे भाग में प्रेक्षकों का आसन रहता है। शेष तीन भागों में विभाजित रहता है—रंगपीठ, रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह। रंगपीठ पर पात्र अभिनय प्रस्तुत करते है, उसके ठीक पीछे रंगशीर्ष में नेपथ्यगृह से आकर रंगपीठ पर जाने की प्रतीक्षा में रहते हैं, यहीं पर पूर्वरंग की कुछ विधियाँ भी संपन्न की जाती हैं और यदि ड्राप कर्टेन की तरह रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका होती हो तो रंगपीठ पर पूर्वरंग की अंतर्यवनिका विधियों का प्रयोग होता है। स्थायी रंगमंडपों पर इनका विभाजन भित्तियों के द्वारा भले ही होता हो परंतु अस्थायी नाट्यमंडपों पर यह सारा विभाजन यवनिका द्वारा ही होता है और इस प्रकार यवनिका रंगमंडप की आवश्यकता और शोभाधायक सामग्री भी हो जाती है।

१०. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव् इंडिया रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १२३ तथा जे० एस० बर्गेस इंडियन ऐंटीक्वेरी, भा० ३४, पृ० १९५-९७।

११. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयंति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयंतीति चित्रेषु कथम्, चित्रेष्वपि उद्गूर्णनिपातिताश्च प्रहाराः दृश्यन्ते।
—पातंजल महाभाष्य, ३।१।२७।

यवनिका : पाश्चात्य प्रभाव की देन

भारतीय रंगमंडप पर यवनिका का प्रयोग ग्रीक रंगमंच के प्रभाव की छाया में संपन्न हुआ, ऐसा विंडिश्च प्रभृति पाश्चात्त्य विद्वानों ने प्रतिपादित किया था। उसका कारण था 'यवनिका' शब्द का स्वरूप, विकास तथा यवन शब्द के साथ उसका सादृश्य। यूनानियों तथा अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के लिये आर्यों ने अपने साहित्य में 'यवन' शब्द का प्रयोग किया था। निःसंदेह जब दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के बीच युद्ध और संघर्ष हुआ होगा तो कालांतर में शांत एवं व्यवस्थित होने पर उनमें परस्पर संस्कृतियों का अंतरावलंबन तथा विचारों का परस्पर आदान प्रदान होना तो स्वाभाविक है। परंतु यह भी हमें न भूलना चाहिए कि भारतीय और यूनानी कलाओं की भूल दार्शनिक विचारधाराओं का अंतर सतही नहीं बहुत गहरा है। दोनों की कला संबंधी विचार दृष्टि और उसकी सृष्टि सर्वथा भिन्न धरातलों पर हुई है। यूनानी कला संघर्षमूलकता और त्रासदी तत्व में आस्था रखती है तो भारतीय कला आदर्श एव आनंदमूलकता का सृजन करती है। अतः 'यवन' और 'यवनिका' दोनों शब्दों के नामसाम्य से ग्रीक प्रभाव की कल्पना सगत नहीं मालूम पड़ती। यूनानी रंगमंडप मुक्ताकाशी होते थे। उनपर यवनिका के प्रयोग का कोई अवसर ही नहीं था। इसी लिये कीथ प्रभृति पाश्चात्य संस्कृत विद्वानों ने ग्रीक प्रभाव का खंडन किया है। यह संभव मालूम पड़ता है कि इन यवनिका पटियों की रचना विदेशी यूनानी शिल्पियों द्वारा होती हो, जैसा कि लेवी महोदय ने स्वीकार किया है।[१३] ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि 'पटी' शब्द विशेष्य हो और यवनों द्वारा निर्मित होने के कारण 'यवनिका' का प्रयोग विशेषण के रूप में होता हो। यह अनुमान मात्र है।[१४]

यवनिका के लिये प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द

रंगमंडप पर प्रयुक्त पर्दे के लिये भारतीय नाट्य साहित्य तथा कोशों में अन्य अनेक पर्यायवाची पदों का प्रयोग पाया जाता है, पटी, प्रतिशिरा, तिरस्करिणी, यवनिका, जवनिका और यमनिका आदि। प्रतिशिरा, तिरस्करिणी और पटी शब्दों के कारण यह भ्रामक परिकल्पना प्रचलित भी नहीं हुई। सारे वादविवाद के मूल में यवनी या यवनिका शब्द हैं। संस्कृत नाटकों में यवनिका शब्द के अतिरिक्त 'यवनी' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह शब्द विदेशी युवतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यंत इन यवनियों से घिरा हुआ रंगमंच पर प्रवेश

१३. संस्कृत ड्रामा, ए० बी० कीथ, पृ० ६१।
१४. प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा। अमरकोश, पं० १३१४।

करता दिखाया गया है।[१५] यवनी युवतियों के प्रयोग की परंपरा कालिदास से प्रसाद तक दिखलाई देती है।[१६] जिस समय पूर्व और पश्चिम की दो महान् सभ्यताओं का महामिलन हो रहा था, आश्चर्य नहीं कि भारतीय साम्राट् अपने राजमहलों में न केवल यूनानी शिल्पियों द्वारा नाट्यमंडपों की पटी आदि की रचना ही करवाते थे अपितु राजमहलों की शोभा, शान-शौकत और विलासप्रियता के पोषण के लिये विदेशी युवतियों को भी अपनी सेवा में रखा करते थे। गुप्त काल के सम्राटों की रुचि और प्रवृत्ति इस ओर विशेष रूप से उभरती हुई दिखाई देती है। क्या यह संभव नहीं है कि इस महामिलन का प्रभाव उस युग के भारतीय नाट्यकारों पर भी पड़ा हो और उन्होंने इसी लिये यत्रतत्र यवनिका अथवा यवनी युवतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

यवन, यवनिका, जवनिका और यमनिका

यवनिका शब्द के संबंध में प्रचलित भ्रम का संभवतः यह भी कारण है कि यवनिका शब्द को मूल यवन शब्द से ही विकसित मानते हैं। परंतु भारतीय साहित्य में यवनिका का पर्यायवाची यमनिका और जवनिका शब्द भी प्रचलित हैं। हम इन पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार कर लें। नाट्यशास्त्र के बंबई संस्करण में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है जब कि काशी तथा अभिनव भारती संस्करणों में यवनिका का प्रयोग है। पर यमनिका का प्रयोग नहीं मिलता[१७]। कुछ नाटकों में यमनिका शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० एस० के० दे महोदय ने यमनिका शब्द को भी समान महत्व दिया है[१८]। यमनिका शब्द निरोध वाचक 'यम' धातु से व्युत्पन्न होता हैं। यमनिका (पटी) पात्रों को अभिनय के पूर्व तक दर्शकों की दृष्टि से निरोध कर रखती है। इसी लिये यह शब्द कभी कभी तो पटी शब्द के विशेषण या संज्ञा के रूप में भी व्यवहृत होता है। यमनिका शब्द का विकास यवनिका के रूप में उसी अर्थ में प्रस्तुत हुआ होगा। इसी मूल 'यम' धातु से संयम और संयत आदि शब्द व्युत्पन्न होते हैं। निरोध का मूल भाव इन व्युत्पन्न शब्दों में वर्तमान है। यमनिका शब्द का आधार संभव है, वैदिक साहित्य में प्रयुक्त

१५. एष बाणासनहस्ताभिः यवनीभिः वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति।

१६. स्कंदगुप्त, प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य।

१७. नाट्यशास्त्र, काव्यमालासंस्करण तथा गायकवाड ओरियंटल सीरीज तथा काशी संस्करण, ५।११-१२।

१८. द कर्टेनइन एनशिएंट इंडिया, भारतीय विद्या (?) पृ० ९,१४,४३ तथा इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, पृ० ४९५. (१९३२)।

मूल 'यमनी' शब्द भी हो, जिसका प्रयोग इसी मूल अर्थ में शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है।[19]

मंकड महोदय तो 'यवनिका' की अपेक्षा 'यमनिका' को ही मौलिक तथा सर्वथा उपयुक्त मानते हैं। वैसा स्वीकार कर लेने पर तो ग्रीक प्रभाव का नितांत खंडन भी हो जाता है और अर्थ की संगतता भी बनी रहती है।[20] यवनिका शब्द का प्राकृत रूपांतर 'जवनिका' शब्द भी माना जा सकता है। यह शब्द बहुधा नाट्यशास्त्र तथा अन्य नाट्यग्रंथों में पाया जाता है। सिद्धांतकौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित ने इस जवनिका शब्द की व्युत्पत्ति वेगवाचक 'जु' धातु से की है,[21] जो रंगमंच पर प्रयुक्त पटी के लिये उपयुक्त भी मालूम पड़ती है। जवनिका दृश्य-परिवर्तन के क्रम में वेग से खींची जाती है। जवनिका शब्द की वेगवाचकता और जवनिका का वेग से खींचा जाना दोनों में अर्थ और व्यवहार की अनुरूपता है।

पटी के लिये प्रयुक्त जवनिका शब्द की वेगवाचकता को ध्यान में न रखने पर भी यमनिका, यवनिका और जवनिका (प्राकृत रूपांतर) में परस्पर अर्थगत साम्य तो है ही, परंतु वेगवाचक 'जु' धातु से व्युत्पन्न जवनिका तो सर्वथा नया अर्थसंकेत करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के संदर्भ में यह बात स्पष्टरूप से प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन भारतीय रंगमंडप पर आधुनिक पर्दे के रूप में यवनिका का प्रयोग होता था। रंगमंडप के मुख्य भागों तथा कक्ष्याविभाग के लिये अन्य स्थानों पर भी उनका प्रयोग होता था। सामान्य रूप से ये यवनिकाएँ मुख्य रंगभूमि (रंगपीठ) के संमुख, रंगपीठ के आगे तथा रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में होती ही थीं। परंतु कक्ष्या-विभाग के लिये अन्य स्थानों पर भी इनका प्रयोग संभावित है। यवनिकाएँ विदेशी प्रभाववश प्रयुक्त नहीं हुईं अपितु प्राचीन भारतीय नाट्यमंडपों की नितांत आवश्यकता, रंगप्रसाधन तथा दृश्यविधान का महत्वपूर्ण उपादान तथा प्राचीन भारतीय रंगमंच की अपनी सृष्टि थीं।

*

१६. शुक्ल यजुर्वेद, १४।२२।

२०. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली (१६३२), पृ० ४६४।

२१. पाणिनि, ३-२-५०. तथा जु इति सौत्रो धातु गति वेगे च। जवनः।
—धातुपाठ १४८०।

वीरवर दुर्गादास राठौड़ के जीवन के अंतिम बारह वर्ष

(१७०७-१७१८ ई०)

रघुबीरसिंह

•

वीरवर दुर्गादास राठौड़ राजस्थान का ही नहीं समूचे भारत का भी एक महत्वपूर्ण इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति था। राजस्थान के सुविख्यात इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। राजस्थान तथा भारत के इतिहासकारों ने यथास्थान उसका सादर उल्लेख किया है। उसकी प्रशंसा में अनेकों ख्यातनामा कवियों ने समय समय पर काव्यरचना की है। दो-एक इतिहासकारों ने उसकी क्रमबद्ध जीवनियाँ लिखने का प्रयत्न भी किया है, परंतु उनमें अबतक सुलभ सुज्ञात घटनावलि को ही एकत्र कर दिया गया है। यत्र तत्र प्रकाशित प्राथमिक महत्व की सामग्री का उपयोग करते समय उसका गहराई तक अध्ययन कर उसमें निर्दिष्ट बातों को ठीक तरह संबद्ध करने का भी उनमें समुचित प्रयत्न नहीं किया गया है। औरंगजेब अथवा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल के समकालीन अखबार–इ–दर बार–इ–मुअल्ला में यत्र-तत्र बिखरी जानकारी तथा अन्य ससकालीन आधारसामग्री की ओर किसी ने अब तक ध्यान नहीं दिया है। यही नहीं, स्वयं दुर्गादास राठौड़, उसके तत्कालीन संगी साथियों या उसके आधीन कार्यकर्ताओं के उत्तराधिकारी वंशजों आदि के कौटुंबिक संग्रहों में से तत्कालीन महत्वपूर्ण उपयोगी आधारसामग्री को खोज कर उसका अध्ययन भी किया जाना है।

२१ फरवरी, १७०७ ई० को औरंगजेब की मृत्यु हुई; उसके कोई बीस दिन बाद ही महाराज अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर अपने पूर्वजों के राज्य की पुन:स्थापना की। यों वीरवर दुर्गादास के जीवन का एकमात्र ध्येय पूरा हुआ। कुछ समय बाद उसने मारवाड़ भी छोड़ दिया। यों उसके ऐतिहासिक जीवन में एक ऐसा मोड़ आया कि तदनंतर वह इतिहास के घटनापूर्ण प्रकाशमय प्रवाह से दूर हो गया। यही कारण है कि दुर्गादास के जीवन के इस अंतिम युग का विवरण बहुत कुछ अज्ञात ही रहा है और उसे जानकर क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का कोई आवश्यक प्रयत्न अब तक नहीं हुआ है। उसी कमी को यत्किंचित् दूर करने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है। तत्कालीन प्राथमिक महत्व की समसामयिक आधारसामग्री में प्राप्य सारी उपयोगी जानकारी को एकत्र कर उसे सुव्यव-

स्थित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह विवरण किसी भी प्रकार परिपूर्ण अथवा अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है इसमें रही कमियों या भूलों को दूर करने के लिये पर्याप्त क्षेत्रीय खोज की अनिवार्य आवश्यकता है। परंतु यहाँ प्रस्तुत किया जारहा विवरण उक्त क्षेत्रीय खोज और कौटुंबिक शोध में भी अवश्य ही सहायक होगा ऐसा विश्वास है।

यह तो सुज्ञात है कि इन पिछले वर्षों में दुर्गादास तथा महाराज अजीतसिंह के बीच बहुत मनमुटाव हो गया था, जिसके ही कारण दुर्गादास मारवाड़ छोड़कर चला गया और मृत्यु पर्यंत वह बाहर ही रहा। यह मनोमालिन्य क्यों हुआ इस प्रश्न पर कुछ भी प्रकाश डाल सकने वाली कोई विश्वसनीय प्रामाणिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नहीं है, अतः इस संबंध में कोई सही अनुमान लगाना न तो संभव है और न समीचीन होगा। प्राप्य जानकारी के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा की १८वीं सदी के प्रारंभ से ही दुर्गादास और महाराज अजीतसिंह के बीच मतभेद बढ़ने लगा था और सन् १७०२ ई० के लगभग इसका पता उनके कट्टर शत्रु मुगल सम्राट् औरंगजेब को भी लग गया था, जिसने इससे पूरा पूरा लाभ उठाया।[1] महाराज अजीतसिंह के साथ इस प्रकार बढ़ रहे मनमुटाव के संभावित भावी परिणामों को ध्यान में रख कर ही बहुत करके सन् १७०५ ई० के लगभग दुर्गादास ने मेवाड़ में सादड़ी गाँव इजारे पर लिया था।[2] उससे पहिले मेवाड़ के महाराणा के साथ दुर्गादास का राजनैतिक संबंध ही रहा था, परंतु यों अब आर्थिक संबंध भी स्थापित हो गया जो आगे चल कर दुर्गादास के लिये बहुत ही सहायक और लाभप्रद हुआ।

तब तक के निरंतर विरोध और शत्रुता को भुलाकर मुगल सम्राट् औरंगजेब ने २० मई, १६९८ ई० के दिन दुर्गादास को ३ हजारी जात २५०० सवार का मनसब और पाटण (गुजरात) की फौजदारी प्रदान की थी। उसके बेटों, पोतों को भी मनसब दिए गए।[3] परंतु जोधपुर तब भी मुगल फौजदारों के ही अधिकार में था और महाराजा अजीतसिंह के बारे में तब भी कोई संतोषजनक निर्णय औरंगजेब

१. सरकार, औरंगजेब, ५, पृ० २३४।

२ रेऊ, राठौड़ दुर्गादास, पृ० ४३, फु० नो० २।
सादड़ी—गोड़वाड़ में देसूरी का महत्वपूर्ण कस्बा (२५°११′ उत्तर; ७३°२७′ पूर्व)। सन् १७६१ ई० से पहिले गोड़वाड़ क्षेत्र मेवाड़ राज्य के ही आधीन था।

३. मासीर-इ-आलमगीरी (अंगरेजी), पृ० २४०; मारवाड़ की ख्यात, २, पृ० ६४-६६।

ने नहीं किया था, अतः राठोड़ों का आंतरिक विरोध तब भी यथावत् बना रहा। पुनः शाहजादे आजम के निर्देशनानुसार जब मुगल अधिकारियों ने धोखे से दुर्गादास को पकड़ने का प्रयत्न किया तब तो दुर्गादास पुनः विद्रोही हो गया, और पहिले का सा ही मनसब, जागीर, आदि देकर उसे शांत करने के औरंगजेब के प्रयत्न सर्वथा विफल हुए, तथा औरंगजेब के देहांत तक राठोड़ों का उत्पात चलता ही रहा।[४]

औरंगजेब की मृत्यु होने पर बुधवार, १२ मार्च, १७०७ ई० को जब महाराजा अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार किया, तब दुर्गादास उसके साथ नहीं था। कुछ दिनों के बाद जब दुर्गादास जोधपुर पहुँचा तब महाराजा अजीतसिंह ने ने उसका बड़ा आदर संमान किया। १२ अप्रैल, १७०७ ई० को अजीतसिंह जोधपुर में दुर्गादास के निवासस्थान पर गया और उससे आग्रह किया कि वह मारवाड़ राज्य के प्रधान (मुख्य मंत्री) का पद स्वीकार कर ले, परंतु दुर्गादास उसके लिये तैयार नहीं हुआ और यही कह कर बात टाल दी कि जहाँ के लिये भी आदेश होगा सेवा करने को उपस्थित हो जावेगा। तदनंतर यत्र-तत्र विचरण करने के लिये अजीतसिंह की स्वीकृति लेकर रविवार, २७ अप्रैल, १७०७ ई० को दुर्गादास जोधपुर से चल पड़ा और तब वह वहाँ से उदयपुर गया।[५]

राज्य सिंहासन पर बैठने के बाद जब बहादुरशाह ने जनवरी, १७०८ ई० में जोधपुर पर चढ़ाई की तब दुर्गादास तत्परता के साथ सहायतार्थ महाराजा अजीतसिंह की सेवा में पहुँचा था। अतः जब पीपाड़ के युद्ध में राठोड़ों की सेना के पराजित हो जाने के बाद भी बहादुरशाह ने समझौते की नीति अपनाई तब दुर्गादास राठौड़ ने एक प्रार्थनापत्र बहादुरशाह को भेजा जिसके जबाब में बहादुरशाह ने ३० जनवरी, १७०८ ई० को एक फरमान दुर्गादास के नाम भी भेजा कि वह जल्दी ही शाही दरबार में समुपस्थित होवे।[६] ७ फरवरी, १७०८ ई० को महाराजा अजीतसिंह और दुर्गादास के पत्र बहादुरशाह की सेवा में पहुँचे, जिनके उत्तर में उसी दिन

४. 'मिरात-इ-अहमदी' का विवरण भ्रांतिजनक है। अतः सन् १७०० ई० के बाद के राठौड़-मुगल-संबंधों का जो विवरण डा० यदुनाथ सरकार ने (औरंग०, ५, पृ० २३२-२३६ में) दिया है, उसमें कई एक महत्वपूर्ण संशोधन आवश्यक हो गए हैं।

५. मारवाड़०, २, पृ० १०६, ११०।

६. अखबार, बहादुर शाह, सन् १, पृ० ४२८; बहादुर शाह नामा, पृ० ६७-६७; राठौड़०, पृ० ५६। इर्विन, लेटर मुगल्स (१, पृ० ४७-४८) में दी गई ईस्वी तारीख संशोधित केलेंडर (न्यू स्टाइल) के अनुसार होने के कारण ही यह विभिन्नता पाई जाती है।

एक विशेष फरमान दुर्गादास के नाम लिखकर गुर्जबरदार रशीदवेग के हाथ भेजा गया जिसमें दुर्गादास को आदेश दिया गया कि वह जल्दी ही शाही दरबार में पहुँचे जिससे उसे कृपान्वित किया जा सके ।[७] ८ फरवरी को वजीर के पुत्र खान जमान, राव राजा बुधसिंह हाड़ा और अन्य कई सेनानायकों को ससैन्य भेजा कि वे जाकर महाराजा अजीतसिंह को साथ ले आवें । तब अजीतसिंह तो खान जमान के साथ १३ फरवरी, १७०८ ई० को शाही पड़ाव पर पहुँच गया ।[८] परंतु तब दुर्गादास अजीतसिंह के साथ नहीं था । २६ फरवरी, १७०८ ई० को बहादुरशाह को ज्ञात हुआ कि आदेशानुसार शीघ्र ही दुर्गादास शाही दरबार में पहुँचने वाला है । तब खान जमान को ही आदेश हुआ कि जब दुर्गादास ५ कोस की दूरी पर पहुँचे वह स्वयं जाकर उसे ले आवे । तदनुसार २९ फरवरी, १७०८ ई० को दुर्गादास शाही दरबार में उपस्थित हुआ और उसने दस मोहर नजर की । दुर्गादास के पुत्र और उसके अन्य चार साथियों ने क्रमशः सात और पाँच मोहरें भेंट की । सब ने ही समुचित निछरावल भी की । सब ने ही समुचित निछरावल भी की । तब बहादुरशाह ने दुर्गादास को एक खंजर और खिलअत प्रदान किए ।[९] अजमेर पहुँचने के बाद ९ मार्च, १७०८ ई० को उत्सव के अवसर पर दुर्गादास को खिलअत और जड़ाऊ खंजर प्रदान किए गए । १३ मार्च, १७०८ ई० को बहादुर शाह ने उसके खर्चे के लिये सहायतार्थ दस हजार रुपए दुर्गादास राठौड़ को प्रदान किए ।[१०] इतने दिन शाही दरबार में निरंतर रह करके भी अब तक दुर्गादास ने स्वयं के मनसब आदि के लिये कोई प्रार्थना बहादुरशाह से नहीं की थी, अतः २० मार्च, १७०८ ई० को इस संबंध में जब बहादुरशाह की ओर से उससे पूछताछ की गई तब उसने यही निवेदन किया कि महाराजा अजीतसिंह को मनसब, जागीर, आदि के बारे में समुचित निर्णय हो जाने के बाद ही तदर्थ प्रार्थना की जावेगी ।[११] अंत में १३ अप्रैल, १७०८ ई० को महाराजा अजीतसिंह को मनसब प्रदान किया गया; उसके चार पुत्रों को भी मनसब मिला । परंतु जोधपुर का परगना तब भी अजीतसिंह को नहीं प्रदान किया गया, प्रत्युत् मेहराब खाँ को वहाँ की

७. अख०, बहादुर०, सन् १, पृ० ४४३; बहादुर०, पृ० ६८; इर्विन०, १, पृ० ४८; राठौड़०, पृ० ५७ ।

८. अख०, बहादुर०, सन् १, पृ० ४४३,४४५; बहादुर०, पृ० ८२; इर्विन०, पृ० ४८; मारवाड़०, २, पृ० १२०-१२१ ।

९. अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० २५,३१; बहादुर०, पृ० ९० ।

१०. कामवर, तजकीरात्-उस्-सलातीन-इ-चगताई, २, पृ० ३१०; अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० ५५ ।

११. मारवाड़०, २, पृ० १२४-१२५; वीरविनोद, २, पृ० ८३४ ।

फौजदारी दी गई, जिससे राठोड़ों में घोर असंतोष तब भी यथावत् बना रहा। इसी कारण दुर्गादास राठौड़ के मनसब आदि के बारे में न प्रार्थना की गई और न कुछ तय ही हुआ।[१२]

तब दक्षिण में शाहजादा कामबख्श के विद्रोह को दबाना अत्यावश्यक जान कर बहादुर अजमेर से ही सीधा दक्षिण की ओर बढ़ा। २५ फरवरी, १७०८ ई० को ही बहादुरशाह ने महाराज अजीतसिंह और सवाई जयसिंह को आदेश दे दिए थे कि वे शाही सेना में खान जमान के साथ ही रहें। यद्यपि तब दुर्गादास के लिये ऐसा कोई आदेश नहीं हुआ था, परंतु वह भी तब से शाही सेना के साथ ही बना रहा। मालवा में मंदसौर परगने में पहुँचने के बाद इस प्रश्न पर विचारविमर्ष होने लगा कि अजीतसिंह को क्या करना चाहिए। तब दुर्गादास से भी सलाह की जाने लगीं। उसने अजीतसिंह के पूर्ण समर्थन और सहयोग का वादा किया। सवाई जयसिंह को भी संमिलित किया गया। अंत में यही निश्चय किया गया कि शीघ्र ही शाही सेना को छोड़ कर राजस्थान को लौटा जाय। अतः २० अप्रैल, १७०८ ई० को मंदसौर या उसके दो-एक बाद के किसी पड़ाव से ही अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और दुर्गादास शाही सेना का साथ छोड़ कर राजस्थान को लौट पड़े।[१३]. यों बहादुरशाह के शासनकाल में राजपूत राजाओं के दूसरे विद्रोह का आरंभ हुआ।

१२. बहादुर०, पृ० ९५; कामराज, इबरत नामा, पृ० ३७; इर्विन०, १, पृ० ४६; मारवाड़०, २, पृ० १२५-१२७। कामवर० (२, पृ० ३१०) के अनुसार अजीतसिंह को मनसब १७ अप्रैल १७०८ ई० को ही प्रदान किया गया था।

१३. अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० २३; बहादुर०, पृ० ९६-९७; भीमसेन, नुस्खा-इ-दिलकशा, २, प० १७२ ब; इर्विन०, १, पृ०४९-५०,६७; मारवाड़०, २, पृ० १२७-१२८।

इस काल के अखबार प्राप्य नहीं हैं। बहादुर० (पृ० ९६-९७) में मंदसौर परगने के पास पहुँचने का ही उल्लेख है, वहाँ के विभिन्न पड़ाव-स्थानों के नाम नहीं दिए हैं। परंतु यह स्पष्ट है कि मंदसौर परगने के किसी पड़ाव से अजीतसिंह आदि चले गए थे। इर्विन० (१, पृ० ४९,६७) में मंदसौर को ही 'मंडेश्वर' लिखा है। कामवर० (२, पृ० ३१०) और मारवाड़ (२, पृ० १२७) के अनुसार वे मंदसौर से ही गए थे। कहीं कहीं मंदसौर से दक्षिण में बाद के बड़ावदा (३८ मील) और खाचरोद (४७ मील) के पड़ावों का उल्लेख मिलता है। यों यह सुनिश्चित है कि अजीतसिंह और उसके साथी

शाही सेना को छोड़कर अजीतसिंह और सवाई जयसिंह के साथ दुर्गादास भी देवलिया-प्रतापगढ़ होता हुआ उदयपुर पहुँचा। वहाँ वह कोई डेढ़ माह के लगभग रहा। उन दिनों दुर्गादास को महाराणा की ओर से दो सौ रुपए प्रतिदिन मिलते रहे।[14] उधर बहादुरशाह उत्सुक था कि इन राजपूत राजाओं का विद्रोह बढ़ने नहीं पाए। अतएव उनके शाही सेना से निकल भागने के चौथे दिन ही २४ अप्रैल, १७०८ ई० को ज्येष्ठ शाहजादे जहाँदार शाह ने एक पत्र (निशान) महाराणा अमरसिंह के नाम लिख भेजा जिसमें महाराणा से आग्रह किया कि वह अजीतसिंह, जयसिंह और दुर्गादास को सांत्वना देकर उनसे क्षमायाचना के प्रार्थनापत्र लिखवा कर भिजवा दें। तदनुसार तीनों के इच्छित प्रार्थनापत्र शाहजादे जहाँदारशाह को भिजवा दिए गए, तथा उनके उत्तर में अपने ५ जुलाई, १७०८ ई० के पत्र में शाहजादे ने पूरा आश्वासन दिया कि वह उन्हें क्षमा प्रदान करवा देगा, किंतु इस बात के लिये स्पष्ट निर्देश दिया गया कि वे या उनके अधीन सेनानायक कहीं कोई उपद्रव नहीं करें। दिल्ली से असद खाँ ने भी महाराणा को सूचित किया था कि अजीतसिंह और सवाई जयसिंह के साथ दुर्गादास राठौड़ को भी मनसब दिए जाने के आदेश हो गए थे। यों तब दुर्गादास को जागीर में सिवाना परगना देने की बात थी।[15]

परंतु अब इन राजपूत राजाओं को ऐसे शाही आश्वासनों में कोई विश्वास नहीं रह गया था, अतः कोई डेढ़ माह तक उदयपुर ठहरने के बाद वे मारवाड़ को लौट चले। उदयपुर से विदा होते समय महाराणा ने दुर्गादास को विशेष रूपेण निर्देश दिया था कि वह सवाई जयसिंह की पूरीपूरी सहायता करे।[16] यों मेवाड़ से लौटकर जब अजीतसिंह मारवाड़ पहुँचा तब सवाई जयसिंह और दुर्गादास भी साथ थे। जोधपुर पर आक्रमण की आवश्यक सैनिक तैयारी कर २९ जून, १७०८ ई० को अजीतसिंह ने जोधपुर को जा घेरा। जोधपुर के शाही फौजदार मेहराब खाँ के पास बहुत ही कम सेना थी, और उसके संदेश भेजने पर भी उसे अजमेर के शाही सूबेदार शुजाअत खाँ ने कोई सैनिक सहायता नहीं भेजी थी। अतः दुर्गादास

खाचरोद से आगे कदापि नहीं गए थे। नर्मदा नदी के उत्तरी तीर से ही उनके लौटने के उल्लेख के साथ ही नामों में बहुत साम्य होने के के कारण ही डा० ओझा ने मंडेश्वर को नर्मदा के उत्तरी तीर पर स्थित 'मंडलेश्वर' समझा था (उदयपुर का इतिहास, २, पृ० ६०३) जिसे बाद के इतिहासकार भी यथावत् दुहराते रहे हैं।

१४. वीर०, २, पृ० ७६९-७०, ७७४।

१५. वीर०, २, पृ० ७७३-७७८; मारवाड़०, २, पृ० १३१।

१६. वीर०, २, पृ० ७७४-७७५, ८३५; मारवाड़०, २, पृ० १३१।

के बीच में पड़ने से वह ३ जुलाई, १७०८ ई० को जोधपुर का किला खाली कर चला गया। यों जोधपुर पर पुनः अधिकार करने में दुर्गादास ने अजीतसिंह का पूरा साथ दिया था।[१७] तब तक आंबेर पर सवाई जयसिंह के दीवान मुहता रामचंद्र ने अधिकार कर लिया था।[१८] अतः तब कुछ अवकाश पाकर दुर्गादास अपने पैतृक गाँव समदड़ी को चला गया। अगस्त ७ के लगभग जब सवाई जयसिंह जोधपुर से रवाना हुआ तब सूचना मिलने पर दुर्गादास भी समदड़ी से रवाना होकर २२ अगस्त, १७०८ ई० के लगभग सीधा ही पीपाड़ में सवाई जयसिंह के साथ जा मिला। कुछ समय बाद जब अजीतसिंह भी ससैन्य उनके साथ संमिलित हो गया, तब वे सब पुष्कर पहुँचे। पूरे विचारविमर्ष के बाद यह तय हुआ कि आगे की अत्यावश्यक कार्यवाही के बारे में कोई अंतिम निर्णय करने और उसे कार्यान्वित करने में महाराणा अमरसिंह को भी संमिलित किया जाना चाहिए। अतः दुर्गादास को आदेश दिया गया कि महाराणा को साथ ले आने को वह १३ सितंबर, १७०८ ई० को वहाँ से उदयपुर के लिये रवाना हो।[१९] परंतु किसी कारणवश तब दुर्गादास का उदयपुर जाना टल गया और वह भी दोनों राजपूत राजाओं की सेनाओं के साथ ससैन्य सांभर की ओर चला। ३० सितंबर को उन्होंने सांभर को जा घेरा। उधर आंबेर का फौजदार सैयद हुसैन खाँ बारहा आंबेर पर पुनः अधिकार करने के लिये पर्याप्त शाही सेना के साथ नारनोल से आ रहा था, सो राजाओं के इस आक्रमण के समाचार सुनकर अब वह सीधा सांभर की ओर बढ़ा। ३ अक्तूबर, १७०८ ई० को युद्ध हुआ जिसमें दुर्गादास ने महत्वपूर्ण भाग लिया। इस युद्ध में सैयद हुसैन खाँ तथा उसके कई प्रमुख साथी सेनायक काम आए जिससे अंततः विजय अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और उनकी राजपूत सेना की ही हुई।[२०]

१७. मारवाड़, २, पृ० १३१-१३३; वीरभाण, राजरूपक, पृ० ४२७-४३२; भीमसेन०, प० १७३ अ; इर्विन०, १, पृ० ६७।

१८. इर्विन०, १, पृ० ६८-९; मारवाड़०, २,१३५।
मासिर-उल्-उमरा (हिंदी, ५, पृ० ५०४-५०५) के अनुसार आंबेर पर सफल आक्रमण करनेवाली इस सेना में दुर्गादास राठौड़ था। परंतु यह ठीक नहीं है; तब दुर्गादास जोधपुर में ही था।

१९. वीर०, २, पृ० ८३४-८३६; मारवाड़, २, पृ० १३८-१३९।

२०. अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० १४६; वीर०, २, पृ० ८३६-८३७; जयपुर रेकार्ड्स, सीतामऊ संग्रह, विविध, १, पृ० १६५-१६६; राजरूपक, पृ० ४३५-४४१; मारवाड़०, २, पृ० १३८-९; मा० उ०, हिंदी, ५, पृ० ५०४-५०५; इर्विन०, १, पृ० ६९-७०।

सांभर के युद्ध में इस विजय के बाद राजपूत सेना ने सांभर में ही पड़ाव किया और अजीतसिंह, सवाई जयसिंह तथा दुर्गादास कुछ सप्ताह तक वहीं ठहरे रहे। ख्यातों में लिखा है कि 'सांभर में दुर्गादास राठौड़ ने अपनी सेना के साथ अलग ही पड़ाव किया था। अजीतसिंह ने जब उससे कहा कि वह मारवाड़ के अन्य सरदारों के साथ ही उन्हीं की पंक्ति (मिसल) में अपना पड़ाव करे तो दुर्गादास ने निवेदन किया कि—मेरी उम्र तो अब थोड़ी ही रही है; मेरे वंशज तो अवश्य ही सरदारों की पंक्ति में डेरा करेंगे।' अजीतसिंह के इस व्यवहार से दुर्गादास का मन बहुत ही खिन्न हो गया। तदनंतर जब वह मेवाड़ गया तब लौट कर फिर वह मारवाड़ नहीं आया।[२१] सांभर से अजीतसिंह और सवाई जयसिंह जब आंबेर के लिये रवाना हुए तब उन्होंने दुर्गादास राठौड़ को महाराणा अमरसिंह के पास उदयपुर भेजा और कहलाया कि वे भी ससैन्य उन दोनों के साथ आ मिलें जिससे तब मुगल साम्राज्य का अंत कर दिया जाय।[२२]

उधर दक्षिण में जब अगस्त के प्रारंभ में बहादुरशाह को सुनिश्चित सूचना मिली कि जोधपुर और आंबेर पर अजीतसिंह तथा सवाई जयसिंह का अधिकार हो गया है, तब वह बहुत ही चिंतित हो उठा और असद खाँ को दिल्ली में आदेश भेजा कि इन विद्रोहियों को दबाने की समुचित व्यवस्था करे और साथ ही, ३ अक्तूबर, १७०८ ई० को अजीतसिंह, सवाई जयसिंह तथा दुर्गादास राठौड़ को मनसब, खिलअत आदि दिए जाने के आदेश भी दिए। दुर्गादास राठौड़ को पुनः मनसबदार नियुक्त कर दो हजारी—दो हजार सवार का मनसब दिया गया, 'राव' का खिताब दिया और खिलअत, घोड़ा, तलवार आदि भी प्रदान किए गए। १८ अक्तूबर, १७०८ ई० को दुर्गादास राठौड़ को भी दी जाने के लिये एक तलवार निकालने का आदेश दिया गया।[२३] यों मनसब संबंधी फरमान तो जारी हो गए, परंतु मनसब से संबद्ध जागीर का तब कुछ भी तय नहीं हुआ था। तदनंतर बहादुरशाह को सांभर के युद्ध के समाचार मिले, जिससे दुर्गादास राठौड़ की जागीर का मामला तब अनिश्चित काल के लिये टल गया।[२४]

२१. मारवाड़०, २, पृ० १४१-१४२, १८५; राजरूपक, पृ० ४४०; ओझा, जोधपुर का इतिहास, २, पृ० ५४१-५४३।
२२. राजरूपक, पृ० ४४०-४४१; मारवाड़०, २, पृ० १४१।
२३. अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० ११०, १२१; बहादुर०, पृ० १४४; ईर्विन०, १, पृ० ७१; मारवाड़०, २, पृ० १४२-१४३।
२४. जयपुर रेकार्ड्स, हिंदी, खंड २, पृ० १५७-१५८।

अक्तूबर, १७०८ ई० के अंतिम सप्ताह में सांभर के पड़ाव से चलकर दुर्गादास राठौड़ अपने निजी सेवकों आदि के साथ महाराणा अमरसिंह की सेवा में पहुँचा। यह ज्ञात होने पर कि दुर्गादास तदनंतर मारवाड़ को नहीं लौटने वाला था महाराणा ने सादर उसे अपने यहाँ आश्रय दिया, विजयपुर का परगना जागीर में दिया और साथ ही पंद्रह हजार रुपए प्रति माह भी उसे दिए जाने लगे। अतः तब कोइ दस-ग्यारह माह तक दुर्गादास उदयपुर में ही पीछोला तालाब की पाल पर ठहरा रहा।[२५] उधर ३ जनवरी, १७०९ ई० को हैदराबाद के युद्ध में कामबख्श काम आया और यों बहादुरशाह की विशेष चिंता का यह कारण दूर हो गया। इधर राजस्थान में राजपूत राजाओं के उपद्रव निरंतर बढ़ते जा रहे थे, अतः बहादुरशाह ने कुछ कड़ाई की नीति काम में लेने का कुछ प्रयत्न किया। उसी सिलसिले में सन् १७०९ ई० के मध्य में उदयपुर के महाराणा अमरसिंह पर इस बात के लिये दबाव डाला गया कि वह राठौड़ दुर्गादास को शाही अधिकारियों को सौंपा दें, परंतु महाराणा ने बहादुरशाह की यह बात नहीं मानी। तब महाराणा ने यह अनुभव किया कि दुर्गादास का उदयपुर में बना रहना ठीक नहीं होगा, अतः सादड़ी का गाँव भी, जो दुर्गादास ने इजारे पर ले रखा था, दुर्गादास को जागीर में दे दिया, जिससे दुर्गादास तब उदयपुर छोड़ कर सादड़ी चला गया और तदनंतर उसे ही अपना मुख्य निवासस्थान बना लिया। दुर्गादास के दो पुत्र तेजकरण और मेहकरण, उसके साथ मेवाड़ चले आए थे, सो वे भी वहीं रहने लगे। अपनी नौ बेटियों-पोतियों का विवाह तब दुर्गादास ने सादड़ी से ही किया था।[२६]

कामबख्शर मामले से निपट कर बहादुर शाह पुनः उत्तरी भारत को लौटा और मालवा होता हुआ मई, १७१० ई० के प्रारभ में वह पुनः राजस्थान

२५. मारवाड़०, २, पृ० १४२, १८५; वीर०, २, पृ० ९६२; टाड, एनल्स ऐंड ऐंटीक्विटीज आव् राजस्थान, (आक्सफर्ड संस्करण), २, पृ० १०३४।

२६. इर्विन०, १, पृ० ६२-६५, ७०; ओझा, जोधपुर०, २, पृ० ५४५-५४७; टाड, राजस्थान०, २, पृ० १०३४; बाँकीदास री ख्यात, क्रमांक ६२४, ६२९, ६१५-६१९, पृ० ५६-५७।

दुर्गादास के तब यों उदयपुर से चले जाने की सूचना जासूसों के द्वारा बहादुर शाह को १४ अक्तूबर, १७०९ ई० को मिली थी। अख०, बहादुर०, सन् २, पृ० १९७।

में पहुँचा तब शाहजादे अजीमुश्शान के द्वारा अन्य राजपूत राजाओं के साथ ही दुर्गादास राठौड़ का भी प्रार्थनापत्र बहादुर शाह की सेवा में प्रस्तुत किया गया और शाहजादे के आग्रह पर उन सबके अपराध क्षमा कर दिए गए। दुर्गादास का प्रार्थनापत्र लेकर जो व्यक्ति शाही दरबार में पहुँचा था, उसे भी १६ मई, १७१० ई० को बहादुर शाह ने खिलअत प्रदान की।[२७] प्राप्य आधार-सामग्री अथवा ऐतिहासिक ग्रंथों में ऐसा कोई सुस्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परंतु सुनिश्चित अनुमान यही होता है कि राजस्थान के अन्य राजपूत नरेशों की ही तरह दुर्गादास राठौड़ को भी तब जून, १७१० ई० में उसका पहले का मनसब पुनः प्रदान कर दिया गया होगा, क्योंकि मेवाड़ के वकील के २४ जुलाई, १७१० ई० के पत्र में मनसब की जागीर में दुर्गादास को दिए जानेवाले परगनों के बारे में उल्लेख है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उसे मनसब प्रदान किए जाने के बाद भी दुर्गादास शाही दरबार में नहीं उपस्थित हुआ था, जिससे मनसब के परगनों के दिए जाने का मामला खटाई में पड़ गया था। बहादुर शाह तब भी उत्सुक था कि दुर्गादास शाही दरबार में उपस्थित हो जाय, अतएव ४ अगस्त, १७१० ई० को जब बहादुर शाह ने महाराणा अमरसिंह के नाम फरमान, खासा खिलअत और अन्य पुरस्कार उदयपुर भिजवाए, तब उन्हें ले जाने वाले को आदेश दिया गया कि वहाँ से लौटते समय वह दुर्गादास राठौड़ के पास भी जाय और उसे आश्वासन देकर शाही दरबार में लेता आए।[२८] परंतु तब भी दुर्गादास राठौड़ ने बहादुर शाह के इस आश्वासन तथा आग्रहपूर्ण आदेश की उपेक्षा ही की।

उधर बहादुर शाह अजमेर से ही सीधा पंजाब की ओर बढ़ा क्योंकि वहाँ सिक्खों का विद्रोह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। वह सोनपत, पानीपत, करनाल और थानेश्वर होता हुआ २४ नवंबर, १७१० ई० को साढोरा (थानेश्वर से ३६ मील उत्तर-पूर्व में) पहुँचा, और अगले तीन माह तक वह बराबर इसी क्षेत्र में बना रहा तथा सिक्खों के विरुद्ध शाही अभियान का संचालन करता रहा। शाही सेना के साथ तब मेवाड़ का जो वकील था, उसके १७ दिसंबर, १७१० ई० के पत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दुर्गादास की जागीर के परगनों का मामला तब भी अनिर्णीत ही था। कारण कुछ भी रहा हो सन् १७१० ई० के अंत तक भी दुर्गादास शाही दरबार में नहीं पहुँचा था। यों तब इसी मामले को तय कराने के

२७. इर्विन०, १, पृ० ७१-७२; कामवर०, २, पृ० ३४७।

२८. इर्विन०, १, पृ० ७२-७३; वीर०, २, पृ० ७८४; अख०, बहादुर०, सन् ४, पृ० १९४।

उद्देश्य से दुर्गादास के राजपूत सैनिक, नारायणदास और सबलसिंह, शाहजादा रफीउश्शान के कार्यकर्ताओं से संपर्क साधने का प्रयत्न कर रहे थे, परंतु तब वहाँ किसे अवकाश था कि दुर्गादास के इस मामले की ओर कुछ भी ध्यान देता। पुनः अब शाही पड़ाव राजस्थान से अधिकाधिक दूर जा रहा था, जिससे वहाँ दुर्गादास के स्वयं पहुँचने की कोई संभावना ही नहीं रह गई थी।[२९]

यही कारण था कि हरेक के बहुत चाहने पर भी बहादुर शाह की मृत्यु-पर्यंत दुर्गादास को उसके मनसब की जागीर के परगने नहीं प्राप्त हो सके थे। दुर्गादास तब भी मेवाड़ में ही रहता था और उधर सर्वत्र उसका विशेष महत्व तथा प्रभाव था। अतः सन् १७११ ई० के उत्तरार्द्ध में जब शाहजादा अजीमुश्शान आक्रमणकारी मराठों से मिल कर मालवा में अपने भाई जहाँ शाह के विरुद्ध षड्यंत्र करने का आयोजन करने लगा तब दुर्गादास राठौड़ का भी सहयोग प्राप्त करने को सोचा जा रहा था।[३०]

१७ फरवरी, १७१२ ई० को लाहौर में ही बहादुर शाह का देहांत हो गया। तब उसके पुत्रों में साम्राज्य के लिये गृह युद्ध हुआ, जिसमें अंततः विजयी होकर १६ मार्च, १७१२ ई० को बहादुर शाह का ज्येष्ठ पुत्र जहाँदार शाह सिंहासन पर बैठा। राजस्थान के अन्य राजपूत राजाओं के समान ही दुर्गादास राठौड़ के साथ भी जहाँदार शाह का सीधा व्यक्तिगत संपर्क रहा था। अतः लाहौर से रवाना होने के कुछ दिन बाद २ मई, १७१२ ई० को जहाँदार शाह ने दुर्गादास राठौड़ के नाम एक फरमान भेजा, तथा उसके द्वारा दुर्गादास राठौड़ को चार हजारी जात-तीन हजार सवार का मनसब और 'राव' का खिताब प्रदान किया गया। साथ ही उस फरमान द्वारा दुर्गादास को यह भी आदेश दिया गया कि वह शाही दरबार में उपस्थित हो।[३१] जहाँदार शाह जून १२, १७१२ ई० को दिल्ली पहुँचा, और वहाँ तदनंतर वह राग-रंग में ही पूर्णतया डूबा रहा; तब उसे दुर्गादास का स्मरण ही क्यों होने लगा, जो तबतक भी शाही दरबार में नहीं पहुँचा था। परंतु जब बिहार से ससैन्य चढ़ाई कर रहे शाहजादे फर्रुखसियर की निरंतर सफलताओं और उसका सामना करने के लिये शाहजादे अज्जुद्दीन के सेनापतित्व में भेजी गई शाही सेना के भी भाग निकलने के समाचार २२ नवंबर, १७१२ ई० को दिल्ली में जहांदार शाह

२९. इर्विन०, १ पृ० १०४-१०८, १२९; वीर०, २, पृ० ७८७।

३०. वीर०, २, पृ० ९४४-९४५, ९५०।

३१. इर्विन०, १, पृ० १३५, १५८, १६८, १९०; राठौड़०, पृ० ४९, ५८।

को मिले, तब तो फर्रुखसियर का सामना करने को वह स्वयं २९ नवंबर, १७१२ ई० को ससैन्य दिल्ली से रवाना होकर आगरा की ओर चला। तब आगरा पहुँचने से दो दिन पहले ही १७, दिसंबर १७१२ ई० को जहाँदार शाह ने दुर्गादास राठौड़ के नाम एक फरमान भेजकर उससे आग्रह किया कि फरमान पाते ही वह बिना किसी हिचकिचाहट के शीघ्र ही शाही दरबार में उपस्थित हो जाय; तब उसे सारी शाही कृपाओं से संमानित किया जायगा।[३२] यह शाही फरमान दुर्गादास राठौड़ के पास पहुँचा ही होगा कि जहाँदार शाह को पराजित कर १ जनवरी, १७१३ ई० को फर्रुखसियर मुगल साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

फर्रुखसियर के सम्राट् बनने के कुछ समय बाद से ही राजा अजीतसिंह को किसी प्रकार संतुष्ट करने के प्रयत्न प्रारंभ हुए थे, परंतु कई कारणों से वह मामला संतोषजनक ढंग से तय नहीं हो रहा था। उधर फर्रुखसियर के नाम दुर्गादास राठौड़ का प्रार्थनापत्र आया हुआ था, एवं उसे अपने पक्ष में करना हर प्रकार से सर्वथा अत्यावश्यक जान कर उसी उद्देश्य से १२, नवंबर १७१३ ई० को एक फरमान दुर्गादास राठौड़ के नाम लिखा गया, और साथ ही एक खिलअत और जड़ाऊ पोंहची प्रदान कर दुर्गादास को निर्देश हुआ कि आगे भी वह यथावत् राजभक्त बना रहे। १८ नवंबर, १७१३ ई० को यह फरमान आदि मीर जुमला को सौंपे गए कि वह उन्हें ठीक तरह से दुर्गादास के पास पहुँचवा दे।[३३] पाँच ही दिन बाद २३, नवंबर १७१३ ई० को राव दुर्गादास राठौड़ का पहले का मनसब, जो तीन हजारी जात-दो हजार सवार (जिनमें से ३०० सवार दो अस्पा थे) था, अब बढ़ा कर चार हजारी जात—तीन हजार सवार का कर दिया गया।[३४]

३२. इर्विन०, १, पृ० १९०-१९२, २१८-२१९, २२२-२३२; राठौड़, पृ० ५८-५९।

३३. इर्विन०, १, पृ० २८५; ओझा, जोधपुर०, २, पृ० ५५४-५५५; राठौड़०, पृ० ५०-६०; अख०, फर्रुखसियर, सन् १-२, खंड २, पृ० २११-२१२।

राठौड़ में दुर्गादास को भेजे गए फरमान क्रमांक ७ की ईसवी तारीख तथा विक्रमी तिथि की गणना में पूरे एक वर्ष की भूल हुई है। फर्रुखसियर का जलूसी सन् २ सफर २९,११२६ हि०=मार्च २, १७१४ ई० को ही समाप्त हो गया था।

३४. अख०, फर्रुख०, सन् १-२, खंड २, पृ० २१७-२१८।

अजीतसिंह को आज्ञाकारी बनाने के लिये सैय्यद हुसैन अली खाँ के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना तैयार की गई। हुसैन अली खाँ ने ६ दिसंबर को फर्रुखसियर से बिदा ली, यद्यपि शाही सेना पूरे तीन सप्ताह बाद ही दिल्ली से रवाना हुई थी। अजीतसिंह पर की जा रही इस चढ़ाई में राव दुर्गादास राठौड़ का भी पूरा सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से १२ दिसंबर, १७१३ ई० को उसे पुनः विशेष खिलअत के साथ चोगा, कलगी, जड़ाऊ खंजर, तलवार, हाथी, और घोड़ा प्रदान किए गए। अहमदाबाद के खजाने से दुर्गादास राठौड़ को एक लाख रुपए दिए जाने का आदेश हुआ। दुर्गादास के भाई-बेटों को भी मनसब दिए जाने तथा उनके लिये भी खिलअत और जड़ाऊ पदक भेजे जाने का निर्देश हुआ। इसी सबके साथ यह भी हुक्म हुआ कि उसे तब प्रदान किए गए मनसब के पेटे दुर्गादास को तत्काल शाही खजाने से पचास हजार रुपए दे दिए जाँय; मनसब की जागीर के पेटे दिए जाने वाले परगनों आदि विषयक निर्देश हुआ कि तत्संबंधी समुचित आदेश दुर्गादास के शाही दरबार में स्वयं समुपस्थित होने पर ही दिए जाएँगे।[३५] संभवतः इन्हीं शाही आदेशों को तदनंतर कार्यान्वित करते हुए गुजरात के तत्कालीन सूबेदार, दाउद खाँ पन्नी की मोहर वाला एक शाही फरमान तब दुर्गादास राठौड़ को भिजवाया गया था, जिसके अनुसार दुर्गादास राठौड़ को अहमदाबाद का फौजदार नियुक्त कर उसे आदेश दिया गया था कि कानून तथा रीति-रिवाज के अनुसार वहाँ की व्यवस्था करे, विद्रोहियों तथा उपद्रवियों को निकाल बाहर करे और कर देने वाले नागरिकों की सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखे।[३६] पुनः सैयद हुसैन अली के विश्वस्त कर्मचारी राजा मोहकम सिंह खत्री की जमानत पर खर्चे के लिये पचास हजार रुपए अहमदाबाद के शाही खजाने से दिए जाने का एक परवाना भी दुर्गादास राठौड़ के भाई को इसी शर्त पर दिया गया कि मारवाड़ पर चढ़ाई कर रहे सैयद हुसैन अली की सेना में दुर्गादास राठौड़ भी शीघ्र ही संमिलित हो जाएगा।[३७] दुर्गादास राठौड़ ने तब इस शर्त का समुचित पालन किया या नहीं इस बारे में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परंतु तत्कालीन अखबार, कागज-पत्रों या इतिहास-ग्रंथों में कहीं भी दुर्गादास राठौड़ के बारे में कोई उल्लेख नहीं है जिससे अनुमान यही होता है कि

३५ इर्विन०, १, पृ० २८५-२८७; अख०, फर्रुख०, सन् १-२, खंड २, पृ० २४७-२४८।

३६. राठौड़०, पृ० ५०,५१।

३७. मिरात-इ-अहमदी, अंगरेजी, पृ० ३५६-३६७; खा० उ०, हिंदी, १, पृ० ३१३-३१५।

दुर्गादास राठौड़ सैयद हुसैन अली की सेना में नहीं संमिलित हुआ था।[३८] यही नहीं, तब उसे दी गई अहमदाबाद की फौजदारी का कार्यभार भी दुर्गादास ने कभी नहीं संभाला था, यही सुनिश्चित अनुमान होता है।

फर्रुखसियर की ओर से दुर्गादास को मनसब आदि संबंधी ये फरमान भेजे गए और खासा खिलअत तथा अनेकानेक अन्य वस्तुएँ भी समय समय पर उसे प्रदान की जाती रहीं, परंतु अब दुर्गादास के लिये इन सबमें कोई आकर्षण नहीं रह गया था, अतः वह फर्रुखसियर तथा दिल्ली के शाही दरबार के प्रति पूर्णतया उदासीन और वहाँ से दूर ही रहा। परंतु फर्रुखसियर और उसके साथी षडयंत्रकारी मुगल उच्चाधिकारियों की दृष्टि में तब भी राव दुर्गादास राठौड़ का विशेष महत्व था। यही कारण था कि ७ सितंबर, १७१५ ई० के शाही फरमान द्वारा जब सवाई जयसिंह को फर्रुखसियर ने मालवा से शाही दरबार में दिल्ली बुलवाया था, तब उसने सवाई जयसिंह से यह भी आग्रह किया था कि अन्य राजपूत राजाओं के साथ वह राव दुर्गादास राठौड़ को भी अपने साथ लेता आए।[३९] परंतु मालवा से तब लौटकर भी सवाई जयसिंह शाही दरबार में दिल्ली नहीं पहुँचा, अतः दुर्गादास को वहाँ साथ ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठा। तथापि खानदौरान आदि षड्यंत्रकारी हताश नहीं हुए और आग्रहपूर्ण सतत प्रयत्न कर फरवरी, १७१६ ई० में दुर्गादास राठौड़ को दिल्ली बुलवा ही लिया, तथा खानदौरान का विश्वस्त प्रमुख सहायक सलाबत खाँ १८ फरवरी, १७१६ ई० के दिन दुर्गादास राठौड़ को अपने साथ शाही दरबार में ले गया। तब वहाँ दुर्गादास ने २१ मोहरें नजर तथा न्योछावर आदि कीं। फर्रुखसियर ने उसे खासा खिलअत, पदक, जड़ाऊ जमधर और हाथी पुरस्कार में प्रदान किए।[४०] तदनंतर दुर्गादास राठौड़ कुछ समय तक शाही दरबार में दिल्ली ही ठहरा रहा।

उन दिनों मेवात में खूँटेल वंशीय जाटों के सरदार हठीसिंह का उपद्रव बहुत बढ़ गया था। अतः हठीसिंह के विद्रोह को दबाने में मेवात के फौजदार सयद

३८. चाँदशाह कृत कौटुंबिक इतिहास की हस्तलिखित प्रति के आधार पर राठौड़० (पृ० ५०, फु० नो० २) में लिखा है कि तब अजीतसिंह के आदेशानुसार दुर्गादास राठौड़ सैयद हुसैन अली से मिला था। परंतु अन्य किसी आधार-सामग्री से इसका समर्थन नहीं होता है, तथा वस्तुस्थिति को देखते हुए यह संभव भी नहीं जान पड़ता है, अतः इसे अमान्य ही किया जाता है।

३९. जय०, सीतामऊ०, विविध, ३, पृ० १२१-१२२।

४०. कामवर०, २, पृ० ४१५।

गैरत खान के सहायतार्थ जब शाही सेना दिल्ली से मेवात भेजी जाने लगी, तब अनेकानेक अन्य शाही सेनानायकों के साथ दुर्गादास राठौड़ को भी मेवात भेजे जाने का आदेश १६ मार्च, १७१६ ई० को हुआ। इस शाही सेना को लेकर गैरत खान ने हठीसिंह के मुख्यस्थान गढ़ी खासेरा को जा घेरा। एकाध छुट-पुट लड़ाई भी हुई। अंत में यह देख कर कि उसके विरुद्ध आई हुई इस शाही सेना का सफलतापूर्वक सामना कर सकना उसके लिये संभव नहीं था, ३१ मार्च, १७१६ ई० की रात्रि में ही हठीसिंह गढ़ी खासेरा छोड़ कर वहाँ से भाग निकला। तब दूसरे दिन उस गढ़ी पर शाही सेना का अधिकार हो गया। हठीसिंह के विरुद्ध की गई इस सारी कार्यवाही में दुर्गादास राठौड़ ने पूरा सहयोग दिया था।[४१] हठीसिंह के उपद्रव के शांत हो जाने के बाद भी तब लगभग कोई चार माह तक दुर्गादास राठौड़ मेवात में ही सैयद गैरत खान के साथ ही बना रहा।

इधर विद्रोही चूड़ामन जाट की शक्ति तथा उसके उपद्रव निरंतर बढ़ते जा रहे थे। अतः उसको दबाने के लिये सवाई जयसिंह के सेनापतित्व में एक प्रबल शाही सेना संगठित की जाने लगी, तब उसमें भेजे जानेवाले अनेकानेक प्रमुख शाही सेनानायकों में दुर्गादास राठौड़ का नाम भी २९ जुलाई, १७१६ ई० को लिखा गया। इसी उद्देश्य से तदनंतर दुर्गादास को मेवात से वापस दिल्ली बुलवा लिया गया। तब ८ अगस्त, १७१६ ई० को शाही दरबार में पहुँच कर दुर्गादास ने दो मोहरें नजर कीं और इक्कीस रुपये न्योछावर किए। १५ अगस्त, १७१६ ई० के दिन दुर्गादास राठौड़ को खिलअत और पुरस्कार प्रदान किए गए। दुर्गादास तब दिल्ली में शाही-दरबार में समुपस्थित था, एवं १८ अगस्त, १७१६ ई० को फर्रुखसियर का आदेश हुआ कि सवाई जयसिंह आदि प्रमुख राजपूत नरेशों के साथ दुर्गादास राठौड़ को

४१. गढ़ी खासेरा की भौगोलिक स्थिति का निर्देश संभव नहीं है क्योंकि नकशे में यह नाम नहीं मिलता है। गढ़ी खासेरा छोड़ने के बाद ही हठीसिंह ने सोंख (२७°२९' उत्तर; ७७°३१' पूर्व) का किला बनवाया होगा।—ग्राउज, मथुरा—ए डिस्ट्रिक्ट मेमायर, द्वितीय संस्करण, पृ० ३७९; देशराज, जाट इतिहास, पृ० ५५७।

२८ रबी-उस्-सानी के अखबार में हठीसिंह के गढ़ी खासेरा से निकल भागने की तारीख २८ लिखी है, जो स्पष्टतया प्रतिलिपिकार की ही भूल है। हठीसिंह १८ रबी-उस्-सानी (मार्च ३१, १७ ६ ई०) की रात में ही भागा था। उस गढ़ी पर शाही अधिकार हो जाने की सूचना १९ रबी-उस्-सानी को शाही दरबार में पहुंच गई थी। अख०, फर्रुख०, सन् ५, खंड १, पृ० १४, २९, ३६, ५७, ७६।

भी रमजान महीने के अंत (८ सितंबर, १७१६ ई०) तक शाही सेना की चौकियों पर नियुक्त किया जाय।[४२] तदनंतर चूड़ामन जाट पर चढ़ाइ करने के लिये १५ सितंबर, १७१६ ई० को सवाई जयसिंह ससैन्य दिल्ली से रवाना हुआ। दुर्गादास राठौड़ की भी नियुक्ति इसी सेना में की गई थी, परंतु तब सवाई जयसिंह के साथ ही इस चढ़ाई पर जाने के लिये वह भी रवाना हुआ था या नहीं इस बारे में कोई निश्चित प्रामाणिक जानकारी प्राप्य नहीं हैं। परंतु इस चढ़ाई संबंधी तथा तत्कालीन अन्य प्राप्य जानकारी को देखते हुए यही अनुमान होता है कि दुर्गादास राठौड़ स्वयं तब शीघ्र ही अवश्य सीधा वापस मेवाड़ को लौट गया होगा।

दुर्गादास राठौड़ की वय तब ७८ वर्ष से भी अधिक की हो गई थी। अपनी वृद्धावस्था के ये पिछले आठ वर्ष दुर्गादास राठौड़ ने मेवाड़ राज्य के अंतर्गत सादड़ी गाँव में ही बिताए थे। उदयपुर का महाराणा संग्रामसिंह उसका बहुत आदर करता था और उसकी पूरी आर्थिक सहायता कर रहा था, अतः इन्हीं दिनों जब महाराणा को रामपुरा के मामले में दुर्गादास की सेवाओं की आवश्यकता हुई तब वह तदर्थ सहर्ष तत्पर हो गया। ईसा की १५ वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही इस क्षेत्र पर चंद्रावत सीसोदियों का अधिकार था और सन् १५६७ ई० मुगल साम्राज्य के अधीन होने से पहले ये चंद्रावत शासक मेवाड़ राज्य के अधीन थे। अतः तब से ही मेवाड़ के महाराणा इस क्षेत्र को पुनः अपने अधीन करने को समुत्सुक रहे। वहाँ के राव गोपालसिंह का लड़का रतनसिंह सन् १७०० ई० में मुसलमान हो गया, तब औरंगजेब ने गोपालसिंह को पदच्युत कर रतनसिंह को रामपुरा का शासक बना दिया था। तब तो गोपालसिंह विद्रोही हो गया और यों रामपुरा क्षेत्र में अशांति का प्रारंभ हुआ जो तदनंतर निरंतर बनी ही रही। ८ नवंबर, १७१२ ई० को हुए सुनेरा के युद्ध में रतनसिंह मारा गया।[४३] तब उसका बड़ा लड़का, बदनसिंह, रामपुरा की गद्दी पर बैठा। परंतु उसके बाद भी उस क्षेत्र में शांति नहीं स्थापित हो पाई। गोपालसिंह तब भी स्वयं रामपुरा का शासक बनना चाहता था, जिससे दादा और पौत्र में संघर्ष चलता जा रहा था। दिसंबर, १७१४ ई० के अंतिम सप्ताहों में गोपालसिंह ने ससैन्य रामपुरा पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। बदनसिंह रामपुरा से भाग कर मालवा के तत्कालीन सूबेदार, सवाई जयसिंह के पास पहुँचा। तब सवाई जयसिंह ने गोपालसिंह को भी अपने पास

४२. अख०, फर्रुख०, सन् ५, खंड २, पृ० ३१२-३१३,३३५,११,१७।
४३. रघुवीरसिंह, मालवा में युगांतर, पृ० ५३-५८,१२६-१३०; अखबार, रायल एशियाटिक सोसायटी संग्रह, सन् ४४, प० २१३ ब, २५२ ब; अख०, जहाँदार०, पृ० ३१६।

बुलवाया और वहीं जनवरी १७१५ ई० में दादा-पौते में मेल करवा दिया। गोपालसिंह को रामपुरा का शासक मान्य किया और गोपालसिंह ने वादा किया कि बदनसिंह आदि को वह प्रति वर्ष एक लाख रुपया देता रहेगा।[४४]

परंतु बदनसिंह को केवल रुपया पाकर ही संतोष नहीं हुआ। रामपुरा पर पुनः अधिकार कर वहाँ शासन करने को वह समुत्सुक था, एवं सन् १७१६ ई० के प्रारंभ में वह पुनः विद्रोही होकर मंदसौर सरकार में लूटमार करने लगा, और लगभग मार्च १७१६ ई० में अवसर पाकर उसने पुनः रामपुरा पर अधिकार कर लिया तथा अपने दादा गोपालसिंह को वहाँ से निकाल बाहर किया। उन दिनों अफगान दोस्त मुहम्मद एक बड़ी सेना के साथ मंदसौर-रतलाम के क्षेत्र में सर्वत्र लूटमार कर रहा था एवं गोपालसिंह ने तत्काल दोस्त मुहम्मद के साथ संपर्क साध कर उसकी सैनिक सहायता प्राप्त कर ली, और इस सारे सैनिक दल को साथ लेकर गोपालसिंह ने रामपुरा पर चढ़ाई कर दी। बदनसिंह लड़ने पर उतारू हुआ और अंत में वह युद्ध में काम आया। तब मई, १७१६ ई० में गोपालसिंह ने पुनः रामपुरा पर अधिकार कर लिया और वहाँ का शासक बन गया। तब १८ जुलाई, १७१६ ई० को शाही दरबार में अपने वकील तथा दीवान पंचोली बिहारीदास के द्वारा महाराणा संग्रामसिंह ने प्रयत्न किया था कि रामपुरा गोपालसिंह को नहीं दिया जाकर किसी अन्य को दिया जाय, परंतु फर्रुखसियर ने यह कहकर महाराणा की उक्त प्रार्थना अस्वीकार कर दी कि गोपालसिंह की नियुक्ति शाही आदेश से हुई थी, अतः रामपुरा गोपालसिंह के ही अधिकार में रहेगा।[४५]

बदनसिंह के यों मारे जाने के बाद उसका छोटा भाई संग्रामसिंह तथा उसके साथी विद्रोही बन बैठे, जिससे रामपुरा क्षेत्र की समस्या तब भी यथावत् बनी रही। पुनः उदयपुर महाराणा की ओर से पंचोली बिहारीदास निरंतर इसी प्रयत्न में लगा हुआ था कि रामपुरा भी महाराणा के पट्टे में लिखवा दिया जाय। सवाई जयसिंह ने भी महाराणा की प्रार्थना स्वीकार किए जाने के लिये फर्रुखसियर

४४. अख०, फर्रुख०, सन् १-२, भाग १, पृ० २६३; सन् १-२, भाग २, पृ० १०८; सन् ४, भाग १, पृ० ५६। जय०, सीतामऊ०, विविध, भाग ३, पृ० ११-१२।

४५. जय०, सीतामऊ०, विविध, भाग ३, पृ० १७५-१७७, १८४, १८७-१८८; अख०, फर्रुख०, सन् ५, भाग २, पृ० २१६-२१७, २२५-२२६ २१२, २९४-२९५।

से विशेष आग्रह किया होगा। अतः सन् १७१६ ई० के अंत तक रामपुरा संबंधी शाही स्वीकृति प्रदान कर दी गई होगी। यों रामपुरा महाराणा को सौंपे जाने विषयक फरमान पट्टे आदि औपचारिक आदेश जारी करने में अवश्य ही कुछ माह का समय लगा होगा। फर्रुखसियर के जलूसी सन् ५ के समाप्त होने (३१, जनवरी १७१७ ई०) से पहले ही वह जारी हो गया होगा।[४६]

तब रामपुरा पर अधिकार करने के हेतु महाराणा ने अपना सैनिक दल कीरतसिंह के सेनानायकत्त्व में फरवरी, १७१७ ई० के अंत में ही मालवा भेज दिया था, परंतु औपचारिक शाही आदेशों की प्रतीक्षा में कोई ढाई माह तक उसे उज्जैन में ठहरा रहना पड़ा। इधर रामपुरा में संग्रामसिंह और उसके साथी विद्रोही बन लूटमार कर रहे थे। षड्यंत्र कर संग्रामसिंह ने अपने काका हिंमतसिंह को मरवा डाला, जो तब खीचीं चौहानों के यहाँ ठहरा हुआ था। संग्रामसिंह ने लुकमान रुहेला और उसके साथी अफगानों को अपने यहाँ नौकर रख कर महमगढ़ के खुशाल-

४६. 'मालवा में युगांतर' के प्रकाशन के बाद जयपुर राज्यसंग्रह में तत्संबंधी बहुत सी समकालीन आधार-सामग्री प्रथम बार प्राप्य हुई है, जिसके प्रकाश में पहिले से सुलभ आधार-सामग्री का भी गहराई के साथ पुनः अध्ययन किया गया, जिसके फलस्वरूप मालवा० (पृ० १३०-१३१) में दिए गए रामपुरा संबंधी विवरण में कई संशोधन अनिवार्य हो गए हैं।

प्रामाणिक समकालीन आधार-सामग्री के अनुसार रामपुरा जून, १७१७ ई० के प्रारंभ में औपचारिकरूपेण महाराणा के अधिकारियों को सौंपा जा चुका था। उससे पहले सवाई जयसिंह सन् १७१६ ई० में २७ मई से लेकर १५ सितंबर तक दिल्ली में था। (इर्विन०, १, पृ० ३२३, ३२४)। अतः अगस्त १७१६ ई० में ही कभी सवाई जयसिंह ने इस संबंध में फर्रुखसियर से आग्रह किया होगा। सूर्यमल ने भ्रमवश ही मई, १७१८ ई० के बाद तदर्थ आग्रह करने का लिखा (वंश०, ४, पृ० ३०६३-३०६४)।

डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और देवलिया-प्रतापगढ़ मेवाड़ को दिए जाने का फरमान फर्रुखसियर के जलूसी सन् ५ में जारी किया गया था (मिरात्०, सप्लीमेंट, अंगरेजी०, पृ० १६०)। रामपुरा संबंधी फरमान भी तब उसी के समान जलूसी सन् ५ में ही प्रदान कर दिया गया होगा।

सिंह को भी अपने साथ लिया तथा रामपुरा पर उसने बलपूर्वक अधिकार कर लिया।[४७]

पचोली बिहारीदास तब डूंगरपुर आदि क्षेत्रों में भेजा जाने वाला था, अतः तब रामपुर के इस उलझे हुए मामले को सुलझाने के लिये महाराणा ने दुर्गादास राठौड़ का सहयोग प्राप्त किया। मई, १७१७ ई० के प्रारंभ में दुर्गादास रामपुरा पहुँचा और समझा बुझा कर संग्रामसिंह को अपने साथ उदयपुर ले गया। मई में महाराणा की ओर से कीरतसिंह के पास आदेश पहुँचे कि मालवा में सवाई जयसिंह के सहकारी नायब-सूबेदार रूपराम धाभाई को साथ ले जाकर रामपुरा पर अधिकार कर ले। तदनुसार कीरतसिंह और मेवाड़ के सैनिक दल को साथ लेकर रूपराम धाभाई ससैन्य रामपुरा पहुँचा। उनके वहाँ पहुँचने से दो दिन पहिले ही लुकमान रुहेला रामपुरा छोड़कर चला गया था। खुशालसिंह उसी दिन निकल कर जा रहा था तब राह में मेवाड़ के सैनिक दल से मुठभेड़ हो गई, परंतु बाद में वह भाग खड़ा हुआ। यों मई, १७१७ ई० के अंतिम सप्ताह में रामपुरा पर मेवाड़ का अधिकार हो गया। मालवा के सूबेदार सवाई जयसिंह ने भी १२ अप्रैल, १७१७ ई० को एक परवाने द्वारा अपने नायब-सूबेदार, रूपराम धाभाई को औपचारिक आदेश दिया कि रामपुरा को मेवाड़ के अधिकारियों को सौंप दे।[४८]

रामपुरा में ही रूपराम धाभाई को सूचना मिली कि डूंगरपुर से होता हुआ पंचोली बिहारीदास तब ही नीमच पहुँचा था, सो रूपराम धाभाई ने उसे पत्र द्वारा सारी जानकारी लिख भेजी। तब पंचोली बिहारीदास स्वयं रामपुरा जा पहुँचा और तब कई माह तक वह वहाँ ठहरा रहा। आगे की घटनाओं का कोई विवरण प्राप्य नहीं है परंतु अनुमान यही होता है कि उदयपुर पहुँचने पर दुर्गादास राठौड़ ने प्रयत्न कर महाराणा की ओर संग्रामसिंह को क्षमा प्रदान करवाई। तदनंतर संग्रामसिंह को साथ लेकर मेवाड़ के कई एक गण्य मान्य सरदारों आदि के साथ जुलाई माह में दुर्गादास राठौड़ वापस रामपुरा लौटा होगा। तदनंतर रामपुरा का काम दुर्गादास राठौड़ को सौंप कर पंचोली बिहारीदास अगस्त, १७१७ ई० के प्रारंभ में ससैन्य देवलिया-प्रतापगढ़ के लिये रवाना हो गया होगा।[४९]

४७ अख०, फर्रुख०, सन् ६, भाग १, पृ० १७८; जय०; हिंदी, खंड १, पृ० १११, ११६, १२६, १३३-१३४।

४८. ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० १२४; जय०, हिंदी, खंड १, पृ० १२८, १२६, १३३, १३४, १३७-१३८।

४९. जय०, हिंदी, खंड १, पृ० १३७-१३८।

जून, १७१७ ई० के प्रारंभ में यों रामपुरा पहुँचने के बाद वहीं से

तब दुर्गादास ने मेवाड़ से आए हुए अन्य गण्यमान्य सरदारों के सहयोग से महाराणा के आदेशानुसार रामपुरा का मामला तय कर २७ अगस्त, १७१७ ई० को भानपुरा में राव गोपालसिंह, संग्रामसिंह, और रामपुरा क्षेत्र के सब महत्वपूर्ण चंद्रावत और देवड़ा सरदारों से एक इकरारनामा लिखवा लिया। तदनुसार रामपुरा के चंद्रावत घराने के प्रमुख राव गोपालसिंह और उसके वंशजों को निर्वाह के लिये समुचित जागीरें देने के बाद बाकी सारा इलाका मेवाड़ राज्य के खालसा क्षेत्र संमिलित कर लिया गया। मेवाड़ के सरदार जब उदयपुर को लौटने लगे तब वे राव गोपालसिंह को भी अपने साथ ले गए। संग्रामसिंह को भानपुरा में जागीर दी गई थी, सो वह वहाँ चला गया।[50]

यों अगस्त, १७१७ ई० से रामपुरा क्षेत्र का शासनप्रबंध दुर्गादास राठौड़ देखने लगा, जिससे महाराणा को उस बारे में तब चिंता नहीं रही। संभवतः इन सेवाओं के उपलक्ष में ही इसी समय दुर्गादास को रामपुरा क्षेत्र के पास का ही डग परगना भी जागीर में महाराणा की ओर से मिला था। कुछ और गाँव भी तब उसके अधिकार में होने का उल्लेख मिलता है।[51] दुर्गादास के व्यवस्थाकाल में रामपुरा में शांति और व्यवस्था बराबर बनी रही। संग्रामसिंह को भी उसने समुचित नियंत्रण में रखा। परंतु दुर्गादास राठौड़ अपने इस पद पर लगभग चार-पाँच माह ही रहा। सन् १७१७ ई० को वर्षा ऋतु की समाप्ति होने पर मराठे मालवा में घुस आए थे, जिससे फर्रुखसियर की ओर से महाराणा को विशेष आग्रहपूर्वक लिखवाया जा रहा था कि वह पंचोली बिहारीदास को शीघ्रातिशीघ्र मालवा भेज दे। उधर डूंगरपुर आदि राज्यों के मामलों से निपट कर पंचोली बिहारीदास को भी मालवा आने में कोई बाधा नहीं रह गई थी। अतः संभवतः

पंचोली बिहारीदास ने २ जुलाई और ३१ जुलाई, १७१७ ई० को शाहपुरा के राजा भारतसिंह के नाम रामपुरा क्षेत्र के कई गाँवों की सनदें लिख दी थीं (शाहपुरा की ख्यात०, हस्तलिखित, खंड १, पृ० १०२-५, १०६-१०७)। तदनंतर रामपुरा से ही वह देवलिया प्रतापगढ़ गया था (ओझा, प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, पृ० २०५)।

पंचोली बिहारीदास के तब रामपुरा पहुँचने के पहले की सारी घटनाओं का यह जो प्रामाणिक विवरण समकालीन कागज पत्रों में मिलता है, उससे यह स्पष्ट है कि वीर० (२, पृ० ९८९) में वर्णित घटनाएँ सन् १७१७ ई० के पूर्वार्द्ध में तो नहीं घटी थीं।

५०. वीर०, २, पृ० ९५७-९६१।

५१. वीर०, २, पृ० ९६२-९६४।

नवंबर, १७१७ ई० में पंचोली विहारीदास के मालवा आ जाने पर दुर्गादास राठौड़ ने स्वतः अपना कार्यभार उसे सौंप दिया होगा।[५२]

दुर्गादास राठौड़ की वय तब पूरे ७९ वर्ष की हो गई थी। अतः अपने जीवन के बाकी रहे ये अंतिम दिन किसी तीर्थस्थान में ही बिताने के उद्देश्य से तब वह उज्जैन चला गया और वहीं २२ नवंबर, १७१८ ई० (शनिवार, मार्गशीर्ष शुक्ला ११, १७७५ वि०) को उसका देहांत हो गया। उस समय दुर्गादास की आयु ८० वर्ष ३ मास २८ दिन की थी।[५३] क्षिप्रा नदी के पूर्वी तीर पर श्मशान के पास एक टीले पर उसका दाहसंस्कार किया गया। उसी स्थल पर तदनंतर तब ही पत्थर की एक छोटी परंतु सुंदर सुडौल और साथ ही सुदृढ़ छतरी बनाई गई थी, जिसके विभिन्न फलकों आदि पर दशावतारों और अनेकानेक देवी-देवताओं का सुचारु चित्रण किया गया तथा उसके खंभों को मयूरों की मूर्तियों से सुशोभित किया।

लगभग ढाई सौ वर्ष पहिले अपनी जन्मभूमि, मारवाड़ प्रदेश से सैंकड़ों कोस दूर 'दूर्गो सफगं दागियो'। ··· ··· और उसकी वह उपेक्षित विस्मृत समाधि ··· ··· शताब्दियों से निरंतर प्रकृति तथा साथ ही मानव की भी मार ··· ··· अब तो वह बहुत क्षत-विक्षत हो गई है। तथापि आज भी वह अवश्य ही दर्शनीय और सर्वथा पूजनीय है।

*

५२. जयपुर रेकार्ड्स, एडीशनल पर्शियन, खंड २, पृ० १४७, ११९; अख०, फर्रुख०, सन् ६-८, पृ० ९५।

समकालीन शाही कागज पत्रों और अखबारों में रामपुरा में महाराणा के प्रतिनिधि के रूप में पंचोली बिहारीदास का ही उल्लेख मिलता है। दुर्गादास की तब वहाँ यह नियुक्ति बिहारीदास की अनिवार्य अनुपस्थिति में स्थानापन्न काम करने के लिये अस्थायी रूपेण ही की गई थी ऐसा अनुमान होता है।

५३. बाँकीदास०, क्रमांक ६२६, पृ० ५६; ओझा, जोधपुर०, २, पृ० ५४२-५४३।

'कृष्णदत्तभूषण' और उसके रचयिता

भगवतीप्रसादसिंह

'दिग्विजय भूषण' की भूमिका में मैंने गोकुल कवि की कृतियों का परिचय देते हुए 'कृष्णदत्त भूषण' नामक उनकी एक रचना का उल्लेख किया था और यह बताया था कि उस ग्रंथ का निर्माण उक्त कवि ने सिंहाचंदा (गोंडा) के राजा कृष्णदत्तराम पांडे के प्रीत्यर्थ किया था।[1] गोकुल कवि की जीवनी विषयक सामग्री का संकलन करते हुए मुझे ये तथ्य प्राप्त हुए थे। ग्रंथ तबतक नहीं मिला था अतः मैंने उसके 'शिवराजभूषण', 'भाषाभूषण' आदि रीतिकालीन ग्रंथों की पुरानी परंपरा पर निर्मित अलंकार ग्रंथ होने की संभावना व्यक्त की थी।

इधर राजस्थान विश्वविद्यालय की मुख पत्रिका में प्रकाशित 'कृष्णदत्त भूषण और उसका लेखक'[2] शीर्षक अपने खोजपूर्ण निबंध में डा० आनंदप्रकाश दीक्षित ने मेरी 'कृष्णदत्त भूषण' के रचयिता तथा प्रतिपाद्य विषयक स्थापनाओं का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा है कि न तो 'कृष्णदत्त भूषण' की रचना सिंहाचंदा (गोंडा) केराजा कृष्णदत्तराम पांडे के लिये की गई थी और न इसके रचयिता ही गोकुल कवि हैं। दीक्षितजी ने बहुत विश्वास के साथ घोषित किया है कि 'कृष्णदत्त भूषण' हिंदी का एक ऐसा ग्रंथ है, जिसे हिंदी लेखकों ने बिना देखे-भाले ही अप्राप्य ग्रंथ मान कर उसके लेखन का श्रेय गोकुल कवि को दे दिया है।'[3] उन्होंने एक इसी नाम के लीथो में छपे हुए ग्रंथ की खंडित प्रति को, जो भिनगानरेश कृष्णदत्त सिंह के दरबारी कवि शिवदीन द्वारा लिखी गई थी, आधार मान कर उपर्युक्त मत व्यक्त किया है। विद्वान् लेखक की धारणा है कि 'इस प्रति के रहते हुए गोकुल कवि के नाम पर इसी नाम वाले किसी अलंकारग्रंथ की अलग से रहने की कल्पना भले ही की जाय, शिवदीन कवि का श्रेय नहीं छीना जा सकता।'[4]

संयोगवश इन पंक्तियों के लेखक को अब 'कृष्णदत्त-भूषण' नामक गोकुल तथा शिवदीन कवि द्वारा विरचित उपर्युक्त दोनों ग्रंथों की प्रतियां उपलब्ध हो गई हैं। उनके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि गोकुल कवि का 'कृष्णदत्त भूषण' सिंहाचंदा (गोंडा) के राजा कृष्णदत्तराम पांडे के लिये लिखा गया था और शिवदीन कवि

१. दिग्विजय भूषण (भूमिका), पृ० ४१।
२. राजस्थान युनिवर्सिटी'ज स्टडीज, १९६५, पृ० १-६।
३. वही, पृ० १।
४. वही, पृ० २।

का 'कृष्णदत्त-भूषण' भिनगाधिपति कृष्णदत्तसिंह के नाम पर निर्मित हुआ था। अवध के ये दोनों राजा प्रायः समकालीन थे। दीक्षितजी शीघ्रता में शिवदीन कवि द्वारा विरचित 'कृष्णदत्त-भूषण' की उपलब्ध प्रति के आधार पर 'दिग्विजय-भूषण' की भूमिका में गोकुल कवि रचित 'कृष्णदत्त भूषण' संबंधी निर्दिष्ट तथ्यों को कल्पित मान बैठे। वास्तव में एक ही नाम के इन दोनों ग्रंथों का प्रणयन दो विभिन्न कवियों के द्वारा दो पृथक् आश्रयदाताओं के निमित्त हुआ था। अनुसंधित्सुओं की सुविधा के लिये नीचे उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. गोकुलप्रसाद 'ब्रज' विरचित 'कृष्णदत्त भूषण'

बलरामपुर के महाराज दिग्विजयसिंह के दरबार में आने से पूर्व गोकुल कवि कुछ समय तक सिहाचंदा (गोंडा) के राजा कृष्णदत्तराम पांडे के आश्रय में रहे थे। पांडे लोगों का यह वंश उत्तरमध्यकाल में दिल्ली की ओर से आकर गोंडा में बस गया था। इस शाखा के प्रवर्तक नवाजीराम थे। उनकी वंश परंपरा अब तक चल रही है—
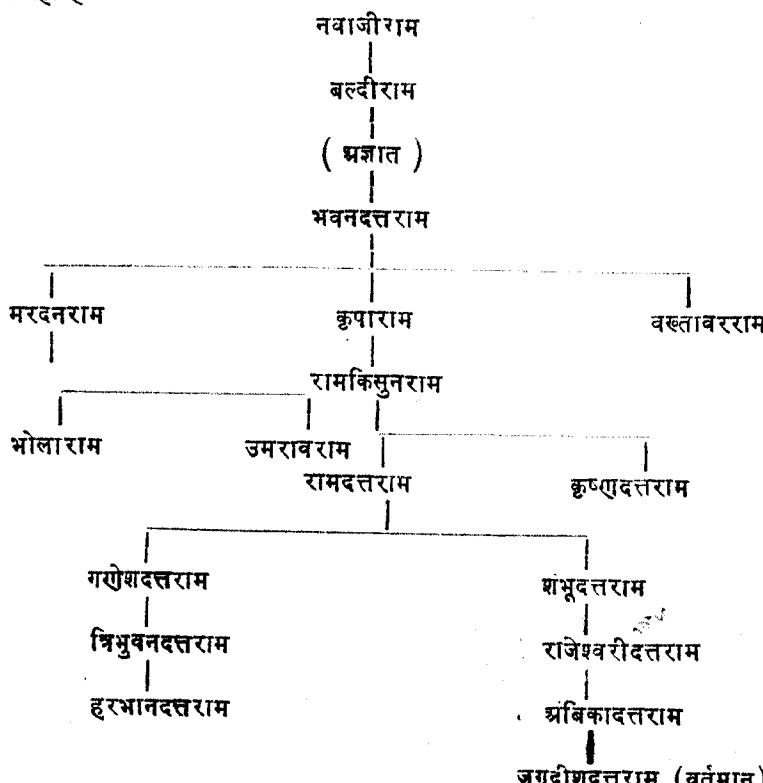
गोकुल कवि ने 'कृष्णदत्तभूषण' की भूमिका में इस वंश का विस्तृत परिचय

दिया है और पुष्पिका में स्पष्ट रूप से कृष्णदत्तराम पांडे के साथ उनके पिता राम-किसुनराम पांडे का भी नामोल्लेख किया है—

इतिश्रीमत्सकलगुनगणनिधान पांडे रामकिसुनराम आतमज राजा कृष्णदत्तराम बहादुर की आग्यानुसार गोकुल कायस्थ विरचिते कृष्णदत्तभूषण राजा राज-श्री बर्नन प्रथम प्रकरण।[५]

इस ग्रंथ के रचनास्थल के विषय में यह उल्लेखनीय है कि गोकुल कवि ने इसका निर्माण तब नहीं किया जब वे कृष्णदत्तराम पांडे के आश्रय में सिंहाचंदा (गोंडा) में रहते थे किंतु उस समय लिखा जब वे बलरामपुर में महाराज दिग्विजयसिंह के दरबार को सुशोभित कर रहे थे। यह संयोग सं० १९३६ के आसपास संघटित हुआ जब पांडे कृष्णदत्तराम पांडे महाराज दिग्विजयसिंह के मेहमान होकर बलरामपुर पधारे थे। गोकुल कवि ने अपने तत्कालीन आश्रयदाता की अनुमति लेकर उक्त ग्रंथ इसी अवसर पर संमानित अतिथि को समर्पित किया था—

संवत षट्गुण खंड ससि जेठ मास सुचि वार।
चलि आए बलिरामपुर कृष्णदत्त सरदार॥
गयो सभा को वेषकरि कीन्हें बहु सनमान।
रुचि लखि कीन्ह विनय को बेस प्रकास बखान॥
कृष्णदत्त भूषण धरो नाम ग्रंथ को स्वच्छ।
भूषण बारह भांति के सोहे अंग प्रतच्छ॥[६]

यह ग्रंथ पांडे कृष्णदत्तराम द्वारा उक्त अवसर पर धारण किए गए बारह प्रकार के आभूषणों के अनुसार बारह प्रकाशों में विभक्त किया गया है—

प्रथम प्रकाश—राजश्री बरनन
द्वितीय प्रकाश—राजधर्म बरनन
तृतीय प्रकाश—धर्म निर्णय बरनन
चतुर्थ प्रकाश—षट्शास्त्र व्यवहार बरनन
पंचम प्रकाश—पुराणव्याख्या बरनन
षष्ठ प्रकाश—नवरस बरनन
सप्तम प्रकाश—दशांगकाव्य बरनन
अष्टम प्रकाश—नखसिख बरनन
नवम प्रकाश—चोबीस अवतार वर्णन

५. कृष्णदत्त भूषण (गोकुल कवि), पृ० ५९।
६. वही, पृ० ४२–४३।

दशम प्रकाश—रामनाम, राजरिषि-देवरिषि, विष्णुपारषद, द्वादश महाभागवत, संत बरनन

एकादश प्रकाश—माला-विधि, दुर्गा-पूजन, वैष्णव-शैव-शाक्त-सौरादि तिलक, त्रिपुंड, रुद्राक्ष उत्पत्ति महिमा बरनन।

द्वादश प्रकाश—जोतिसमत पंथ बरनन।

कवि ने वर्ण्य विषय का ब्यौरा देते हुए लिखा है

वेद अंग अगनिति पुरान मत धर्मशास्त्र की बानी।
षटौ शास्त्र उपनिषद् अनेकन मत मंजुल परमानी॥
काव्य दशांग षटौ ऋतु बरनन नखसिख भाव बखाने।
चित्रकाव्य प्रस्नोत्तर भाखे जोतिस ग्रंथ पुराने॥
ग्रंथ अनेकन मत महत, पंथ परम लखि स्वच्छ।
पढ़े होत मति विमल अति, बढ़े ज्ञान गुन लच्छ॥
परम धरम आचार व्रत, परम पुन्य की बात।
पढ़ि जानिहैं जोग के जतन जुक्ति अवदात॥[७]

इससे यह विदित होता है कि इस छोटे से ग्रंथ के अंतर्गत गोकुल कवि ने जीवनोपयोगी विविध विषयों को समेटने का प्रयत्न किया है।

ग्रंथ के निर्माणस्थल तथा समर्पणविधि के संबंध में यह शंका उठती है कि बलरामपुर नरेश ने अपने दरबारी कवि को एक अन्य राजा के निमित्त ग्रंथ लिखने और अपने दरबार में उसे उक्त राजा को भेंट करने की अनुमति किन परिस्थितियों में दी? गोकुल कवि ने राजा कृष्णदत्तराम पांडे के आश्रय में रहते हुए ही उनको अपनी कोई कृति समर्पित क्यों नहीं की? तत्कालीन गोंडा जनपद के उक्त दोनों राजवंशों के पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण से इसका समाधान हो जाता है। 'कृष्णदत्त-भूषण' के अंतर्गत एक ऐसी घटना का उल्लेख किया गया है, जिससे बलरामपुर और सिहाचंदा (गोंडा) के राजाओं की गहरी मित्रता का पता चलता है। उन दिनों बलरामपुर और तुलसीपुर के राजाओं से युद्ध चल रहा था। पांडे कृष्णदत्तराम के बड़े भाई रामदत्तराम ने बलरामपुर के महाराज दिग्विजय-सिंह का पक्ष लेकर तुलसीपुर के राजा दानबहादुर सिंह पर चढ़ाई कर दी और उन्हें पराजित कर बलरामपुर की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया—

तोप तुपक जंजाल सर दगे जमुर्का जोर।
धावा कीन्हे कोट पर करि हल्ला सब ओर॥

७. वही (गोकुल कवि), पृ० ५३३।

तब अकुलाने। हारत जाने।
दान बहादुर। हिय हारे फुर॥
पठै बसीठी। विनती चीठी।[8]

आठ दिन के घेरे से शत्रु सेना भूखों मरने लगी। विवश होकर तुलसीपुर के राजा दानबहादुर सिंह ने दिग्विजय सिंह को चौधराना देना स्वीकार कर लिया—

आठ दिवस घेरे किला, विकल भये सब लोग।
असन बिना विहबल सकल, डर समान भय भोग॥
सबन कोट ते दीन कहि, बानी विनय पुकारि।
सुरासिंह बाबू चतुर, आयो सरन संभारि॥
भूप दिग्विजै सिंह के, चौधरि हक्क जितेक।
दियो मुचिलका लिखि तबै, साखी देय अनेक॥
यहि प्रकार ते और बहु, जीते अरि हिय हारि।
रामदत्त पांडे परम धरम धुरीन विचारि॥[9]

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद अवध के नाजिम मुहम्मद हसन ने पांडे रामदत्तराम को, जब वे भेंट करने के लिये उसके तंबू में उपस्थित हुए थे, धोखे से मरवा डाला। गोकुल कवि इसका विवरण देते हुए लिखते हैं—

लाग्यो कातिक मास जबहि लखि पर्व अवध को जानि।
पांडे रामदत्त तहं आयो नाजिम ढिग अनुमानि॥
दिन नहान के आइ गयो अब विदा हेत तब जाइ।
तंबू भीतर पांव धरत हो गोली तुपक चलाइ॥
जब गोली गालिब उर लागी जानि दगा की बात।
भागि गये नाजिम तंबू ते डर ते कंपित गात॥
चौकी पर जो रहे सिपाही पांडे जू त्यहि मारि।
देह त्यागि बैकुंठ सिधारे बाढ़ी बहु विधि रारि॥[10]

कृष्णदत्त राम पांडे को जब भाई के इस प्रकार विश्वासघात से मारे जाने का समाचार मिला तो इन्होंने तत्काल नाजिम के कैंप पर धावा बोल दिया और उसके ४०-५० सिपाही मार डाले। साथ ही दो तोपें भी छीन लीं। नाजिम

८. कृष्णदत्तभूषण (गोकुल कवि), पृ० २६।
६. वही, पृ० २६।
१०. वही, पृ० ३६।

की सेना भाग खड़ी हुई। मुहम्मदहसन पहले ही निकल गया था। कृष्णदत्तराम भाई का शव गोंडा ले आए और विधिवत् अंत्येष्टि क्रिया की।

कहा जाता है कि नाजिम मुहम्मद हसन ने यह हत्या पांडे रामदत्त से ऋण रूप में लिये ८० हजार रुपये हड़पने के लिये कराई थी। लखनऊ जाकर उसने शाही दरबार में जो सूचना दी उसमें पांडे रामदत्त को राजद्रोही बताकर दंडित करने की बात कही गई थी। उसके फलस्वरूप पांडे रामदत्तराम का सारा इलाका जब्त करने का फरमान जारी कर दिया गया। जब इस शाही कोप की सूचना कृष्णदत्तराम पांडे को मिली तो वे घबड़ाए हुए महाराज दिग्विजयसिंह के पास सहायता के लिये गए। लखनऊ के नवाबी दरबार में उनकी बड़ी साख थी। उन्होंने वहाँ जाकर नवाब और उनके नायब से सारा वृत्तांत कह सुनाया। उनकी प्रेरणा से अंगरेज रेजीडेंट ने भी इस मामले में हस्तक्षेप किया। इससे फरमान वापस ले लिया गया और नाजिम मुहम्मद हसन को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। पांडे कृष्णदत्तराम को अपना सारा राज्य वापस मिल गया। इतना ही नहीं, कुछ दिनों बाद शाही दरबार से उन्हें 'राजा' की उपाधि भी प्राप्त हो गई। इनके शासनकाल में गोंडा का पांडे वंश वैभव की पराकाष्ठा तक पहुँच गया।

कृष्णदत्त राम पांडे के कोई संतान नहीं थी, अतः उन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपने बड़े भाई पांडे रामदत्तराम के दो पुत्रों—गणेशदत्त राम और शंभूदत्तराम को उत्तराधिकारी बना दिया। गणेशदत्तराम को धानेपुर तथा शंभूदत्तराम को रामपुर का इलाका दिया गया—

पांडेरामदत्त के दुइ सुत विद्यमान परतच्छ।
जेठ गनेसदत्त गुन आगर जिमि गनेस गुन लच्छ॥
लघुसुत संभूदत्त बखानों संभु अंस अभिराम।
उभय पुत्र को कृष्णदत्त नृप सुत सम मानि ललाम॥
धानेपुर में धाम राजसी बाग तड़ाग प्रकास।
तहां गनेसदत्त को राखे मंजुल पुंज नवास॥
सुषमा सुंदर सील के सागर संभू दत्त।
रजधानी जो रामपुर सुख संपदा समस्त॥[11]

पांडे कृष्णदत्तराम आजीवन विद्वानों और कवियों का संमान करते रहे[12]

११. कृष्णदत्त भूषण (गोकुल कवि), पृ० ५१३-५१४।
१२. कृष्णदत्त महिपाल, वित समान करि दान को।
कोविद कविहि निहाल, करत जथागुन बूझि बल॥—वही, पृ० ५१३।

किंतु साहित्यप्रेम की यह प्रवृत्ति उनके साथ ही समाप्त हो गई। उनके उत्तराधिकारियों के आश्रय में लिखे गए किसी काव्यग्रंथ का अब तक पता नहीं चला है।

२. कृष्णदत्त भूषण (शिवदीन कवि)

यह ग्रंथ भिनगा (बहराइच) के राजा कृष्णदत्त सिंह के निमित्त लिखा गया था। इसके रचयिता शिवदीन कवि बिल्लुल ग्राम (संभवतः बिलग्राम, जिला हरदोई) के निवासी थे। कृष्णदत्त सिंह की गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर वे भिनगा चले आए थे और दरबारी कवि हो गए थे।

भिनगा का यह राजवंश गोंड़ा के बिसेन राजाओं से संबद्ध था। इसके संस्थापक राजा भवानीसिंह गोंडा के यशस्वी महाराजदत्त सिंह के छोटे भाई थे, जिनके विषय में आज तक उस प्रदेश में यह दोहा प्रचलित है—

सपट सिरोही सूरता, गई दत्त के साथ।
झाँझ मजीरा सारँगी, रही बिसेनै हाथ॥

गोंडा के बिसेन राजाओं की मूलभूमि देवरिया जिले में स्थित प्राचीन राजधानी मझौली थी। मध्यकाल में दिल्ली सल्तनत की सांध्यवेला में यहीं से जाकर प्रतापमल्ल ने गोंडा के कलहंस राजा को पराजित कर अपना स्वत्व स्थापित किया था। महाराजकुमार जगतसिंह ने अपने पूर्वजों का परिचय देते हुए लिखा है—

सालिग्रामी गंडकी अरु सरजू के तीर।
नगर मझौली बसत है छत्रीकुल- रनधीर॥
ताते उमड़ि महीपसुत आये अवध के पास।
अपर महीपन जीति महि कीन्हों तहाँ सुवास॥
मानमर्दि कलहंस को लीन्हों गोंडा राज।
जाहिर भो परताप मल देव जोग करि काज॥

प्रतापमल्ल की नवीं पीढ़ी में रामसिंह हुए। गोंडा के प्रसिद्ध राजादत्त सिंह इन्हीं के पुत्र थे। रामसिंह के दूसरे पुत्र भवानीसिंह ने भिनगा के जनवार राजा को हराकर वहाँ अपना सिक्का जमाया—

दत्त सिंह को बंधु लघु नाम भवानी सिंह।
हाटक कस्यप रिपु भयो उदय आयु नरसिंह॥
महा युद्ध कीन्हों अमित जानत सब संसार।
बसि कीन्हों भिनगा सकल भागे सब जनवार॥

इनकी वंशावली नीचे दी जा रही है—
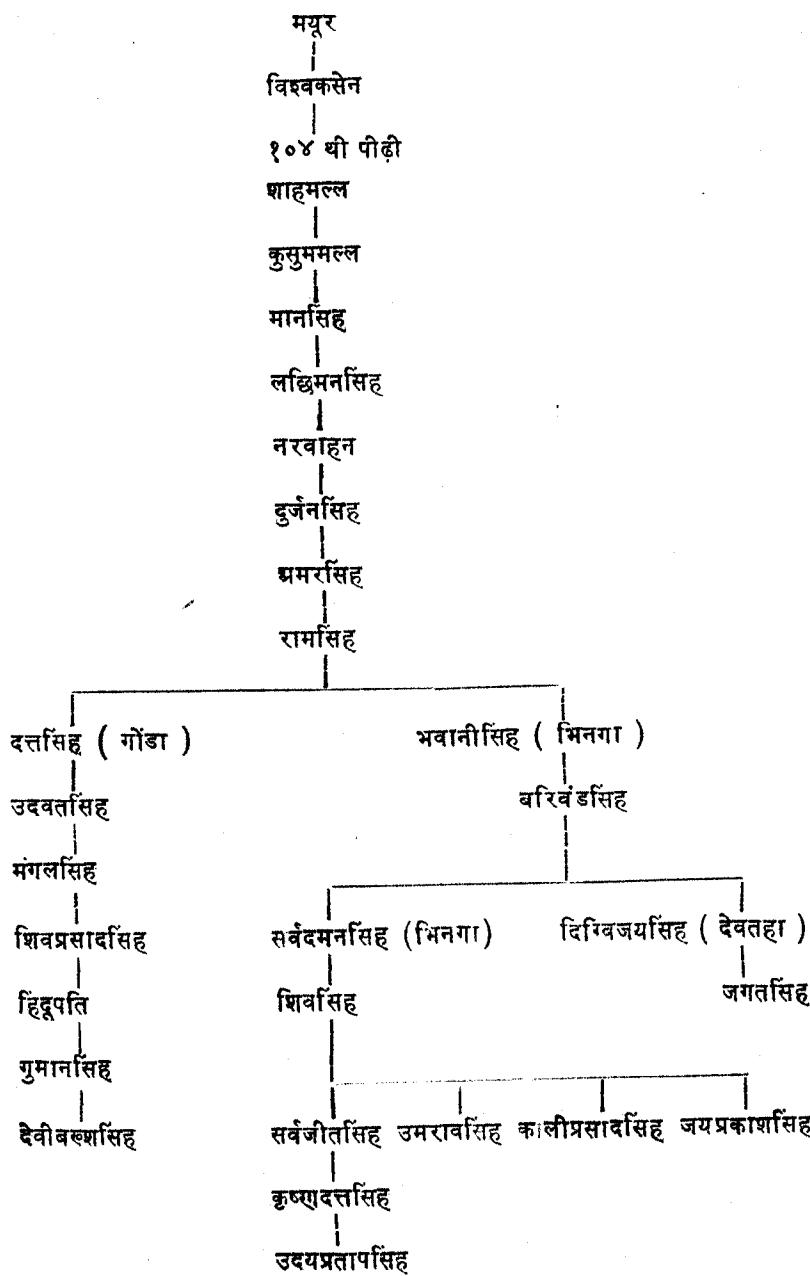
'कृष्णदत्तभूषण' की पुष्पिका में शिवदीन कवि ने अपने आश्रयदाता के पूर्वजों का जो परिचय दिया है, वह उपर्युक्त विवरण से सर्वथा समर्थित है—

'इति श्रीमन्महाराज बिस्सेन वंसावतंस भूप शिवसिंहात्मज सर्वजीतसिंह तनुज कृष्णदत्त सिंह हेत बिरचिते कृष्णदत्तभूषण शिवदीन कवि बिल्लुलग्रामी इति लक्षनाशक्ति कुटिलावृत्ति निरुपण नाम पंचम प्रकासः।'[13]

अवध प्रदेश में गोंडा और भिनगा के विसेनों का राजघराना साहित्यप्रेम के लिये प्रसिद्ध रहा है। इन रियासतों के शासक विद्वानों और कवियों के कल्पवृक्ष ही नहीं रहे हैं, उनमें कई उच्चकोटि के कवि भी हुए हैं। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा—

राजा का नाम	आश्रित कवि	रचनाएँ
दत्त सिंह	भानु कवि	फुटकर कवित्त
	गजराज	दत्तदिग्विजय
बरिवंड सिंह		शिवपुराण
शिव सिंह		१. भक्तिप्रकाश, २. अमरकोशभाषा, ३. भाषावृत्तमंजरी, ४. काव्यदूषन-प्रकाश, ५. अद्भुत रामायण, ६. रामचंद्रचरित, ७. भाषावृत्तरत्नावली, ८. श्रुतबोध भाषा।
शिवप्रसाद सिंह	सदानंद कविराज	१. जैमुनि पुराण २. रासाभगवंतसिंह
जगत सिंह		१. रत्नमंजरीकोष, २. रसमृगांक, ३. अलंकार-साठि-दर्पण, ४. उत्तम-मंजरी, ५. चित्रमीमांसा, ६. जगत-विलास, ७. नखशिख, ८. भारती-कंठाभरण, ९. जगतप्रकाश, १०. नायिकादर्शन, ११. साहित्यसुधानिधि
जगत सिंह	शिव कवि[14]	दौलतिबाग विलास, फुटकर छंद
कृष्णदत्त सिंह	बेनी कवि	फुटकर छंद
	शिवदीन	१. कृष्णदत्तभूषण, २. कृष्णदत्तरासा,
	शंकर	फुटकर छंद।

१३. कृष्णदत्तभूषण (शिवदीन कवि), पृ० ३०।

१४. महाराजकुमार जगतसिंह के काव्यगुरु शिव कवि और 'कृष्णदत्त-भूषण' के रचयिता शिवदीन कवि के डा० दीक्षित ने, अभिन्न होने

शिवदीन कवि रचित 'कृष्णदत्तभूषण' की जो प्रति इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में है, वह डा० दीक्षित द्वारा उपलब्ध प्रति की भाँति लीथो में छपी हुई और खंडित है। भेद केवल इतना है कि जहाँ डा० दीक्षित की प्रति में ३७ से २८० पृष्ठ तक प्राप्त है, इस प्रति की प्राप्त पृष्ठ संख्या ६-१० तथा २५ से ३०२ तक है। पृष्ठ संख्या ६-१० में भिनगा की काली की वंदना की गई है, पृष्ठ ३० पर पंचम प्रकाश समाप्त होता है जिसमें लक्षणाशक्ति की कुटिला वृत्ति का निरूपण किया गया है। पृष्ठ संख्या २८० से ३०२ तक काव्यदोषों का वर्णन है। बीच के छठे से लेकर बारहवें प्रकाश तक के वर्ण्यविषय का विवरण डा० दीक्षित ने अपने निबंध में दे दिया है। अतः हम यहाँ केवल उक्त ग्रंथ में निर्दिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं के संबंध में दी गई अधूरी तथा त्रुटिपूर्ण सूचनाओं को स्थानीय ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोतों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

१. उमराव सिंह

ये शिवदीन कवि के आश्रयदाता महाराज कृष्णदत्त सिंह के पिता राजा सर्वजीतसिंह के छोटे भाई थे। 'कृष्णदत्तभूषण' में इन्हें 'भूपति कुमार' बताया गया है।[१५] इससे जान पड़ता है कि ये राजकुल से संबद्ध थे किंतु राजा नहीं थे। उसी ग्रंथ में अन्यत्र 'भया'[१६] के रूप में उनका उल्लेख यह सिद्ध करता है कि उमराव सिंह राजा के निकटतम सगोत्री थे क्योंकि अवध में 'भया' शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत होता है। दीक्षितजी ने इनके कृष्णदत्त सिंह के, बड़े भाई होने की संभावना

की संभावना व्यक्त की है, किंतु इन दोनों कवियों द्वारा अपने तथा आश्रयदाता के जीवनवृत्त विषयक उल्लिखित तथ्यों से यह विदित होता है कि दो विभिन्न स्थानों के निवासी होने के अतिरिक्त इन दोनों कवियों के समय में कम से कम ५० वर्ष का अंतर था। शिव कवि के आश्रयदाता जगतसिंह का समय १७४३ से १८२० ई० तक माना जाता है और शिवदीन कवि के संरक्षक कृष्णदत्त सिंह का १८२१ से १८६२ ई० तक। प्रथम देवतहा (गोंडा) का निवासी था और द्वितीय बिलग्राम (हरदोई) का। अतः जाति (बंदीजन) मात्र की समता देखकर उन्हें एक मान लेना युक्तिसंगत नहीं होगा।

१५. भूपति कुमार रन बाँके उमराउसिंह,
कही यह लिखि लेहु अति चित चायकै।।—कृतदत्तभूषण, पृ० २२८।

१६. सहज सिकार खेलें भया उमराव सिंह,
जहाँ तहाँ बन बीच सोर घोर सस्सो।—वही, पृ० १४५।

व्यक्त की है, किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, भिनगाराज की वंशावली के अनुसार ये उनके चाचा थे। दो स्थलों पर शिवदीन कवि ने इनका नृप[17] तथा नरेश[18] रूप में भी स्मरण किया है। मेरा विचार है कि उमराव सिंह के शौर्य तथा दानशीलता से प्रभावित कवि द्वारा प्रयुक्त ये विशेषण अपने प्रकृत अर्थवाची न होकर राजकुल से संबंध मात्र के द्योतक हैं। कारण कि भिनगा राज्य के इतिहास में इस नाम के किसी राजा का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वजीत सिंह की अल्प वय में मृत्यु हो जाने के बाद उनके पुत्र कृष्णदत्त सिंह की बाल्यावस्था में उनकी मातामही, महाराज शिवसिंह की वृद्धा पत्नी, द्वारा राज्यसंचालन का उल्लेख स्थानीय स्रोतों में मिलता है, किंतु उमराव सिंह की राज्यप्राप्ति की कहीं चर्चा तक नहीं प्राप्त होती। शिवदीन कवि की एक अन्य रचना 'रासा कृष्णदत्तसिंह' में भी ये महाराज कृष्णदत्तसिंह के चाचा ही बताए गए हैं।[19]

२. युवराज सिंह

ये उमरावसिंह के पुत्र थे। इनकी गणना उस प्रदेश के प्रसिद्ध योद्धाओं में होती थी। शिवदीन कवि ने अपनी एक अन्य रचना 'कृष्णदत्त रासा' में इनका विस्तार से परिचय दिया है। 'कृष्णदत्तभूषण' में उक्त कवि ने इनकी चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

> तेज करि भास्कर जस के छपाकर हैं,
> ज्ञान करि सुरगुर भव में विराज हैं।
> रूप करि मैन सम बैन करि धर्म तैन,
> दान करि बलि रन पारथ को साज हैं॥
> भनै 'सिवदीन' पर स्वारथ को भागीरथ,
> कौन गनै गुन हेरि हारे कविराज हैं।
> तोषि तोषि पोषि पोषि राखै मान गुनिन को,
> येते गुन युत वीर सिंह युवराज हैं॥[20]

१७. सन्मुख समर होत नृप उमराव सिंह,
आनंद स्वरूप सावधान बरसात है॥—वही, पृ० ८०।
१८. जाति भई मिलि गंग तरंग में,
कीरति श्री उमरावनरेश की॥—वही, पृ० २३२।
१९. बारहवीं खोज रिपोर्ट, परिशिष्ट २, पृ० १३५८।
२०. कृष्णदत्तभूषण, पृ० १३४।

इसी ग्रंथ के पृ० १५४ पर दिए गए १५१वें छंद से विदित होता है कि ये कुशल शिकारी भी थे—

> **चढ़त शिकार परी कानन में खलभल,**
> **अरना बराह बन धीर न धरत हैं।**
> **मृगया के जाल भाल भभरे भ्रमत फिरैं,**
> **कोल भील भागि भागि कंदरा डरत हैं॥**
> **भनै 'शिवदीन' महाराज जुवराज सिंह,**
> **तेरे होत जोस होस सबके हरत हैं।**
> **पाछे ते तुपक तब बोलत सिकार सीस,**
> **आगे ह्वै सुभार सेर सूकर गिरत हैं॥**

यहाँ 'जुवराज सिंह' नाम स्पष्ट रूप से दिया गया है, किंतु उसके पूर्व 'महाराज' शब्द का प्रयोग यह प्रकट करता है कि ये कवि के कोई समसामयिक भिनगा के राजा थे। किंतु भिनगा राज की वंशावली में इस नाम के किसी राजा का नाम नहीं आता। शिवदीन कवि के समय में भिनगा की गद्दी पर केवल कृष्णदत्त सिंह के विद्यमान रहने के प्रमाण स्थानीय इतिहास में उपलब्ध हैं। इनके समकालीन भिनगा राजवंश के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों में केवल दो ऐसे हैं, जिनका स्मरण शिवदीन कवि ने श्रद्धा तथा गौरव के साथ किया है। ये हैं—उमराव सिंह और उनके पुत्र युवराजसिंह। कृष्णदत्तसिंह के पिता सर्वजीतसिंह तीन वर्ष की अल्प अवस्था के अपने इस पुत्र को छोड़कर दिवंगत हो गए थे। उसकी बाल्यावस्था में संरक्षक अथवा अभिभावक के रूप में राजकाज महाराज शिवसिंह की पत्नी (कृष्णदत्त सिंह की दादी) चलाती रहीं। उस समय कृष्णदत्तसिंह के चाचा उमरावसिंह तथा उनके पुत्र युवराजसिंह शत्रुओं को पराजित कर राज्य की प्रतिष्ठारक्षा में विशेष सहायक हुए। शिवदीन कवि ने इस असाधारण वीरता से प्रभावित होकर ही उन्हें 'महाराज' कहकर संबोधित किया है ठीक वैसे ही जैसे उसने राजा न होते हुए भी उमराव सिंह को 'नरेश' विशेषण से अलंकृत किया है।

कृष्णदत्तभूषण में केवल 'युवराज' शब्द का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है—

> श्री **जुवराज** सुवीर के राजत करबाल। (पृ० १३१, छंद ८५)
> कोपि कृपान गहे **जुवराज**
> चहै मघवा इंदरासन छोरन। (पृ० ७७, छंद ८२)
> सुनत सवारी कहूँ चढ़िकै अटारी
> धाइ नैनन निहारी छवि नर **युवराज** की। (पृ० ६८, छंद ४०)

उपर्युक्त छंदों में निर्दिष्ट 'जुवराज' शब्द कृष्णदत्तसिंह के लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है और यह उस स्थिति का बोधक है जब वे राजकुमार मात्र थे। रियासत का सारा प्रबंध उनकी दादी, उमरावसिंह तथा युवराजसिंह की सहायता से करती थीं। 'कृष्णदत्तभूषण' में शिवदीन कवि ने आश्रयदाता की बाल्य तथा वयस्क दोनों अवस्थाओं से संबंधित स्वरचित छंद संग्रहीत किए हैं। 'कृष्णदत्त रासा' में वर्णित वृत्तांत से भी यह प्रकट होता है कि उसका निर्माता कृष्णदत्तसिंह के बाल्यावस्था से ही भिनगा में वर्तमान था और इसी लिये उस राजवंश की पूरी परंपरा से भलीभाँति परिचित था। डा० दीक्षित ने 'वीरसिंह युवराज' के कृष्णदत्तसिंह के पुत्र अथवा स्वयं उमरावसिंह होने की संभावना व्यक्त की है। उनकी धारणा है कि उक्त पंक्ति में 'सिंह युवराज' से उमरावसिंह ही अभिप्रेत है यह केवल इसलिये कहा गया है कि इसके पूर्व का छंद भी उमरावसिंह के ही लिये लिखा गया है।' उमरावसिंह की इस व्यक्ति से विभिन्नता की विवेचना पीछे हो चुकी है। रही युवराजसिंह से उपर्युक्त पंक्तियों में संकेतित व्यक्ति से अभिन्नता की बात, उसके समर्थन में भी दीक्षितजी के उपर्युक्त तर्क का उत्तरार्द्ध निरापद रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है।

३. जगतसिंह

ये भिनगा नरेश कृष्णदत्तसिंह के प्रपितामह सर्वदमनसिंह के भाई, दिग्विजयसिंह के पुत्र और बलरामपुर (गोंडा) के निकटवर्ती देवतहा नामक इलाके के तालुकेदार थे।[२१] उत्तर मध्यकालीन अवध के साहित्यप्रेमी सामंतों में इनका विशिष्ट स्थान है। ये उदार आश्रयदाता होने के साथ ही काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य के रूप में भी विख्यात हैं। इनके द्वारा विरचित 'साहित्यसुधानिधि' नामक ग्रंथ तत्कालीन साहित्यप्रेमी समाज में महाराज यशवंतसिंह के 'भाषाभूषण' के समान ही समादृत था। इनकी निम्नांकित रचनाओं का पता चला है—रत्नमंजरी कोष (सं० १८६३), रसमृगांक (सं० १८६३), अलंकार साठि दर्पण (सं० १८६४), उत्तम मंजरी, चित्रमीमांसा, जगतविलास, नखशिख, भारतीकंठाभरण, जगतप्रकाश, नायिकादर्शन, और साहित्यसुधानिधि।

इनके काव्यगुरु शिव कवि असोधर (फतहपुर) निवासी शंभु कवि के शिष्य थे। कुछ दिनों तक बांदा के नवाब जुल्फिकारअली खां तथा ग्वालियर के महाराज

२१. भारतीकंठाभरण (हस्तलेख पृ० २,३) में भी जगतसिंह ने अपने को दिग्विजयसिंह का पुत्र बताया है—

ता सुत भो दिग्विजय सिंह सकल गुनन को खानि।
जगतसिंह वाको तनय बंदि पिता के पाय॥

दौलतराव सिंधिया के दरबार में रहकर वे देवतहा चले आए थे और फिर आजीवन यहीं रहकर साहित्य सेवा करते रहे।

शिवदीन कवि ने जगतसिंह की काव्यप्रतिभा की प्रशंसा न करके उनके शौर्य का ही गुणगान किया है। 'कृष्णदत्त-भूषण' की लीथो में छपी प्रति में लिपिकार की असावधानी से 'दिग्विजयसिंह नंद' के स्थान पर 'दिव्य जयसिंह नंद' लिख गया है। इसी से दीक्षितजी को 'जयसिंह' नाम के एक अन्य राजा के अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ी। जगतसिंह के पिता का नाम 'दिग्विजयसिंह' था, जयसिंह नहीं, यह उनकी प्रसिद्ध रचना 'साहित्यसुधानिधि' की निम्नांकित पुष्पिका से स्पष्ट हो जाता है—

'इति श्रीमन्महाराज कुम्मार बिस्येन बंसावतंस दिग्विजै सिंहात्मज जगतसिंह कवि कृतौ श्रीसाहित्य सुधानिधौ सकल दोष निरुपन नाम दसमस्तरंगः ॥१०॥'[२२]

ये भिनगा के राजा नहीं, महाराज कुमार अथवा गुजोरदार मात्र थे। भिनगा के राजा कृष्णदत्तसिंह नाते में इनके पौत्र लगते थे। इन्होंने अपने पूर्वजों की भाँति कवियों को आश्रय देकर साहित्य की अभिवृद्धि में योग ही नहीं दिया, स्वयं काव्यरचना कर वाग्देवता के चरणों में प्रचुर भावपुष्प भी अर्पित किए। शिवसिंह सेंगर ने इनकी काव्यशैली के उदाहरणस्वरूप एक छंद उद्धृत किया है—

कानन समीर बसे भृकुटी अपांग अंग,
आसन अजिन मृग अजिन अनाथा के।
अरुन वियोगे कर विसद विभूति अंग,
त्यागे नींद विषय निमेष विध बाधा के॥
कृष्णसिंह काम कला विविध कटाच्छ ध्यान,
धारना समाधि मनमथ सिद्धि बाधा के।
प्रेम के प्रयोगी सुख संपति सँयोगी अति,
स्याम के वियोगी भये योगी नैन राधा के॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भिनगा नरेश कृष्णदत्तसिंह के दरबारी कवि शिवदीन की भाँति बलरामपुर के महाराज दिग्विजयसिंह के आश्रित गोकुल कवि ने भी सिंहाचंदा (गोंडा) के राजा कृष्णदत्तराम पांडे के निमित्त 'कृष्णदत्तभूषण' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ की उपलब्ध प्रति के अनुशीलन से यह विदित होता है कि दिग्विजयभूषण की भूमिका में एतद्विषयक जो सूचनाएँ दी गई थीं, वे निराधार नहीं थीं।

*

२२. साहित्यसुधानिधि (हस्तलेख), पत्र ४२।

हिंदी की आदिकालीन फागु कृतियाँ

गोविंद रजनीश

•

फागु काव्यों की उपजीव्य लोक परंपरा और साहित्यिक परंपरा दोनों ही रही हैं। लेकिन जिन काव्य प्रक्रियाओं और संवेदनाओं को इस काव्य रूप में स्थान मिला, वे उन्हें शिष्ट काव्य की कोटि में बैठा देती हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में फागु-काव्य-रूप का किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है। अपभ्रंशोत्तर काल में फागु, हास, चर्चरी और धमाल जैसे काव्यरूपों का प्रचलन हुआ। लोकपरंपरा से अनुस्यूत होने के कारण ये काव्यरूप अवश्य ही ऋद्ध एवं लोकप्रिय रहे होंगे।

वसंतकालीन गेय रूपकों में फागु काव्य का स्थान प्रमुख रहा है। वसंत-वर्णन और वसंत-क्रीड़ा-वर्णन ही फागु काव्य के प्रमुख वर्ण्यविषय रहे, परंतु जैन कवियों ने चारित्रिक संयम, इंद्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, चारित्रिक उदात्तीकरण, एवं तीर्थंकरों और धार्मिक पुस्तकों की महिमा गान हेतु फागु काव्य को प्रयुक्त कर वर्ण्य-विषय का धार्मिकीकरण कर दिया जब कि जैनेतर फागु काव्य जैसे 'वसंत विलास फागु' में इस परंपरा को मूल रूप में अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास किया गया। सामान्य रूप से फागु काव्य इन लक्षणों से युक्त होते हैं—

१. इनमें वसंतनिरूपण किया जाता है।

२. इनमें विप्रलंभ एवं संयोग दोनों दृष्टियों से शृंगार-संयोजना होती है।

३. इनमें शैली संव्यूहन अलंकृत पद्धति पर होती है।

४. गेय तत्व से युक्त होने के कारण इनमें लयात्मकता और ध्वन्यात्मकता, शब्द एवं नाद सौंदर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है।

५. वाद्य, नृत्य के साथ ही ये गेय भी होते हैं।

हिंदी का आदिकाल, इन फागु काव्यों का उत्प्रेरक एवं उपजीव्य रहा है। इस काल में चार फागुओं का अस्तित्व मिलता है—

१. वसंत विलास।

२. जिन चंद्र सूरि फागु।

३. जिन पद्मसूरि कृत 'सिरी थूलिभद्द फागु'।

४. राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु'।

१. वसंत विलास

कृतिपरिचय—अपने समय में, परवर्ती युग में और आधुनिक काल में भी वसंत विलास बहुत लोकप्रिय रहा है। १६वीं शती के अलावा विभिन्न समयों पर की गई प्रतिलिपियाँ और १६वीं शती की प्रति के आधार पर बनाए गए चित्र, इसकी उत्तरोत्तर लोकप्रियता के प्रतीक हैं। इसकी चुंबकीय शक्ति की नियति से इसे अनेक बार संपादित होने के लिये बाध्य होना पड़ा है।[1] चित्रकला की दृष्टि से भी समय समय पर इस पर विचार हुआ है।

फागुकार—अनेक व्यक्तियों द्वारा संपादित तथा विचारित होने के कारण कृतिकार संबंधी अटकल में वैविध्य होना स्वाभाविक है। कृतिकार संबंधी अब तक के दिए गए विचार हैं—

१. साराभाई नवाब ने अपने एक आलेख में यह स्थापना की है कि सचित्र वसंत विलास का प्रतिलिपिकार आचार्य रत्नागर ही इस कृति का लेखक है।[2]

२. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने स्थापना की है कि वसंत विलास फागु की रचना जैन साधु नर्तर्षि द्वारा हुई है।[3]

३. कांतिलाल बलदेवराम व्यास ने संकेत दिया है कि इस कृति के रचयिता गुणवंत हैं।[4]

४. मुनि जिनविजय जी साधिकार कहते हैं कि इसके रचयिता मुंज हैं।[5]

लेकिन ये सभी मत भ्रामक हैं। नवाब ने संवत् १५०८ की प्रतिलिपि को मूल प्रति समझ लिया। अन्य प्रतिलिपियों में इस प्रतिलिपिकार का रचयिता के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। पुन: वसंत विलास १३-१४वीं शती की कृति है, न कि १६वीं शती की। श्री मुंशी ने नर्तर्षि का अर्थ भी भ्रमपूर्ण लिया है, उसका संदर्भित अर्थ है—जो कवियों द्वारा पूज्य है। दूसरे सुभाषित में आया यह छंद संस्कृत का एक सुभाषित है, जिसमें नर्तर्षि, कृष्ण का विशेषण है। वसंत विलास

१. केशवलाल हर्षदराय ध्रुव द्वारा तीन बार, व्यास (कांतिलाल बलदेवराम) द्वारा तीन बार, मोदी (मधुसूदन चिमनलाल) ने एक बार, डा० नार्मन ब्राउन ने एक बार, और डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसका संपादन एक बार किया है। इनमें अंतिम, पूर्ण तथा पाठालोचन पर आधारित वैज्ञानिक संपादन डा० गुप्त का है।

२. फार्बस गुजराती (त्रैमासिक), जनवरी-मार्च, १९३७।

३. वही, जनवरी-मार्च, १९३७।

४. वसंत विलास (त्रिपाठी संस्करण), भूमिका, पृ० २९।

५. वही (व्यास द्वारा संपादित), प्राक्कथन।

के रचयिता ने संस्कृत सुभाषितों को उद्धृत भर किया है, फिर नतर्षि नामक किसी कवि का कोई विवरण भी नहीं मिलता।

श्री व्यास ने गुणवत नाम सुझाया है, वह भी भ्रामक है, क्योंकि गुणवंत का अर्थ गुणवान व्यक्ति से है। इसी प्रकार 'जंबुस्वामी फाग' में विजयवंत शब्द आया है, जिसका अर्थ विजय का वरण करने वालों से है। फिर गुणवंत कोई कवि नहीं हुआ है।

मुनि जिनविजय ने मुंज नाम प्रस्तावित किया है, जो 'मुंजवयण' से गृहीत है। कहीं कहीं संस्कृत के 'मंजु' को मुंज लिख दिया गया है, यदि ऐसा प्रमाद संभावित है तो 'मुंजवयण' का आशय होगा सुंदर वचन। परंतु जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है 'मुंज', मुज्झ है, जिसका अर्थ है मेरे। अतः यह नाम भी अटकल का परिणाम है। फिर मुनि जिनविजय के पास अपने कथन का अन्तः-साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य नहीं है, केवल अर्थकल्पना का आधार उन्होंने लिया है।

निष्कर्ष यह है कि फागुकार अज्ञात है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ये तथ्य सामने आते हैं—

१. कृतिकार जैन न होकर अजैन ही है।

२. संस्कृत का वह प्रकांड विद्वान और सुभाषितों का अत्यंत प्रेमी रहा है।

३. वह प्रकृति से भावप्रवण और जीवन के प्रति उल्लास से परिपूर्ण रहा है। सहृदयता, जीवनमूल्यों के प्रति आस्था और जागरूकता, उसके चरित्र की विशेषताएँ रही हैं।

४. कवि और कृति पर्याप्त लोकप्रिय रहे हैं। चित्रकला से उसकी सज्जा तथा अनेक प्रतिलिपियाँ होने से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

रचनाकाल—कुछ मत रचनाकाल संबंधी प्रतिपादित किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. ध्रुव का मत है[६] वसंतविलास की रचना १५वीं शती के दूसरे चरण (१४५०) में हुई, यह प्रमाण रत्नमंदिर गणि की 'उपदेशतरंगिणी' से प्राप्त होता है।

२. व्यास का मत है,[७] इस कृति का रचनाकाल १५वीं शती का प्रथम चरण है।

६. प्राचीन गुर्जर काव्य।

७. के० बी० व्यास, वसंतविलास फागु, ए फर्दर स्टडी।

३. सांडेसरा का मत है,[८] कृति का रचनाकाल संवत् १४०० से लेकर १४५० तक ठहरता है।

ध्रुव, व्यास और सांडेसरा के मत १५०८ की तिथि और 'उपदेशरंगिणी' के रचनाकाल से अनुप्रेरित हैं। श्री व्यास का भाषावैज्ञानिक विवेचन इस तिथि को १४०० के समीप खींच लाता है। व्यास ने 'आराधना' (१३३०), 'अतिचार' (१४११), 'गौतम रास' (१४१२), मुग्धावबोध औक्तिक' (१४५०) 'श्रावक अतिचार' (१४६६), पृथवीचंद्रचरित्र (१४७८) और नमस्कार 'बालावबोध (सं० १५००) की भाषा से वसंतविसाल की भाषा की तुलना की है। इसी आधार पर व्यास ने निष्कर्ष निकाला कि रत्नमंदिर गणि के समय (सं० १५१७) तक कृति ने पर्याप्त लोकप्रियता प्रात कर ली थी। यह परिणाम निकाला जा सकता है कि 'वसंतविलास' की रचना सं० १४०० के आस-पास हुई थी।

ध्रुव का मत भी इसी आधार पर बना था। सांडेसरा के मत में कोई मौलिकता नहीं थी।

डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है 'कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमें वर्णन नहीं करता है, वह अपने ही समय के वसंत के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसलिये मेरा अनुमान है कि 'वसंतविलास' का रचनाकाल सं० १३५६ के पूर्व का तो होना चाहिए और यदि वह सं० १२५० से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। संभव है उसकी भाषा का रूप इस परिणाम को स्वीकार करने में बाधक हो। किंतु भाषा प्रतिलिपि-परंपरा में घिस कर धीरे-धीरे अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है, इसलिये भाषा का साक्ष्य प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में बाधक नहीं होना चाहिए।[९]

इस प्रकार डा० गुप्त का विचार 'वसतविलास' की रचना तिथि को और भी पहले निर्धारित करने का है। डा० गुप्त की प्रस्तावित धारणा के सूत्र पहले वाले (लेखकीय) सूत्रों से कहीं अधिक पुष्ट हैं।

विषयपरिसर—वसंतविलास का प्रारंभ मंगलाचरण के छंद से किया गया है, जिसमें हंसवाहिनी और वीणाधारिणी सरस्वती की वंदना की गई है। इसके बाद वसंत के उद्दीपन रूप को परिवार्श्वीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

८. ए रिव्यू आव् वसंतविलास, बुद्धिप्रकाश, जुलाई-सितंबर, १९४३, पृ० १६८।

९. भारतीय साहित्य, अप्रैल १९६४, वसंतविलास, पृ० ७४।

इसी परिवेश में वन के अंदर कदलीगृह और दीर्घ मंडप निर्मित किया गया है। यह परिवेश अत्यंत मोहक एवं विराट है—

खेलनवापि सुखालीय जालीय गुप्य विश्राम।
मृगमद पूरि कपूरिहिं पूरीया जल अभिराम॥
रंगभूमी सजकारीअ झारीअ कुंकुम घोल।
सोवन सांकल सांधीय वांधीय चंपक दोल॥[१०]

[उस वन में भली भाँति धुली हुई क्रीड़ा-वापी में जाल-गवाक्ष तथा विश्राम (मंच) हैं और वह कर्पूर से पूरित मृगमद (कस्तूरी) के अभिराम जल से पूरित की गई है। रंगभूमि (क्रीड़ा भूमि) की सज्जा की गई है। कुंकुम को घोलकर उसमें छिड़का गया है। स्वर्ण की शृंखला से चंपकों से सुसज्जित दोला को मजबूती से बाँधा गया है।]

ऐसे परिवेश में कामीजन हैं, विलसते हैं। काम के समान अलवेसरों (अल्पवयसों) ने वेश धारण कर रखा है। इस स्थल पर कवि ने युवक-युवतियों के अबाध विलास और आमोद प्रमोद का विशद वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि का मन बहुत रमा है। उसकी सृजन प्रक्रिया और सौंदर्य बोध, विलास के विभिन्न कोणों में रूपायित हुआ है। शृंगार का कोई भी कोना कवि की दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। उस क्रीड़ा भूमि में कामदेव (नृप) का शासन है, जिसका कवि ने लंबा रूपक बाँधा है—

कुसुम तणुं करि धणुंहरे गुणह भमरला माल।
लख लाघवि नवि चूकइ मूंकइ शर सुकुमाल॥
मयणु जीवयणु निरोपइ लोपइ कोइ न आण।
मानिनी जन मन हाकइ ताकइ किशल कृपाण॥[११]

[कुसुम उसके धनुष हैं, भ्रमरावलि प्रत्यंचा है। वह लाघवयुक्त कामदेव अपने लक्ष्य में कभी नहीं चूकता है। सुकुमारों को बाणों से बींध देता है। कामदेव के निरूपित वचनों को कोई उल्लंघित नहीं करता। अपने किसलयरूपी कृपाण से वह मानिनियों के मन को परिचालित करता रहता है।]

वसंतविलास के पग पग पर उल्लास, ऐश्वर्य और शृंगारजन्य लास्य है। क्रीड़ा-विलास की थिरकन है। उसके ये तत्व तथा उसके भावबोध का सौंदर्य इस कृति को अनुपम बना देता है।

१०. वसंतविलास (डा० गुप्त का संस्करण), ८-९।
११. वही, डा० गुप्त पृ० १९-२०।

इसके पश्चात् कवि ने उन उपादानों का वर्णन किया है, जो कामदेव के शस्त्र एवं उद्दीपन-विभाव के सहायक हैं। कोकिल, बकुल, चंपा, पातल, आम्र-मंजरी, किशुक कली, और केतकी ऐसे ही शस्त्र हैं।

इसी उद्दीपन विभागांतर्गत कवि ने विरहिणियों के उद्‌गारों की मार्मिक व्यंजना की है। ऐसे परिवेश में प्रिय वियोग अत्यंत दुःखदाई प्रतीत होता है। विरहिणियाँ वायस को बुला कर उससे अनुनय विनय करती है।

देसु कूपरची वासिरे वास वली सर पडउ।
सोवन चोच निरूपम रूपम पांखुड़ी बेउ॥[१२]

[हे वायस, तुझे मैं वायसिका कपूर से वासित कर दूंगी, यदि तू यह स्वर (प्रिय आगमन का) सुना देगा। सोने से चोंच मढ़ा दूंगी। तेरी दोनों पंखुड़ियों को चाँदी से मढ़ा दूंगी।]

शकुन विचारने के बाद नायिका का पति लौट आता है। उसका मन हर्षित हो जाता है। रंग मनाकर वह अपने प्रियतम का मन हर्षित और सरसित कर देती है। जी भरभर वह अपने पति से सुख प्राप्त करती है। प्रिय से नवसमागम प्राप्त करके उसके अंग मनोहर हो जाते हैं। इस संयोग शृंगार के परिवेश में कवि ने नारी सौंदर्य, प्रसाधन, सज्जा का वर्णन बड़ी तल्लीनता से किया है—

भमुहि कि मनमथ धणुहीन गुण हीयडइ वरहार।
वाण कि नयण कडोंस रे नाकुरची नलीआर॥[१३]

[भ्रू ऐसे हैं मानो कामदेव का धनुष हों। सुन्दर गात के वक्ष पर स्थित हार मानों उस धन्वा की प्रत्यंचा है। उनके नयन कटाक्ष वाण हैं और उनकी नलिका नलिआर है—वह नली जिसमें से वाण छोड़ा जाता है।]

यह सौंदर्य निरूपण और सौंदर्य बोध संयम की रस्सी को ढीली कर उद्दाम स्थिति की ओर लरज जाता है। ऐसे स्थलों पर उसके वर्णन सौंदर्यरूपा नारी को भी निर्वसना कर देते हैं—

नमाणिनकरइं पयोधर योधरे सुरत संग्रामि।
कंचुक तीजइं सनाहु रे नाहु महाभडु पामि॥[१४]

[सुरत रूपी संग्राम में उन युवतियों के पयोधर ऐसे योद्धा के समान हैं, जो पराजित नहीं हो रहा है। पति रूपी महाभट को देखकर मानों कंचुक रूपी (सन्नाह) कवच को परित्यक्त कर रहे हों।]

१२. वही, पृ० ४७।
१३. वही, पृ० ४७।
१४. वही, पृ० ६४।

कवि ने ऐसे ही निर्वसन सौंदर्य के परिवेश में नायक-नायिकाओं की संयोग-क्रीडाओं का चित्रण कर फागु की परिसमाप्ति की है। सौंदर्य बोध और प्रकृति-संवेदनाओं की मार्मिक व्यंजना में कवि इतना सिद्धहस्त था कि उस काल में इस ग्रंथ को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई।

२. जिनचंद्र सूरिफाग

जिनचंद्र सूरिफागु की वर्ण्य वस्तु संयम श्री से संबंधित है। कृति में वसंत और कामदेव के आक्रमण और शील नरेंद्र द्वारा उनके पराभव का वर्णन किया है। इसी संदर्भ में कवि ने वसंत सौंदर्य, नारी सौंदर्य एवं नारी के अलंकारों का वर्णन किया है।

अंत:साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि फागुकार ने अपने गुरु और महागुरु, दोनों का ही आदर के साथ स्मरण किया है। जिणचंद्र सूरि की गुरु और शिष्य-परंपरा इस प्रकार रही थी—

जिणप्रबोधसूरि-जिणचंद्र सूरि-जिणकुशलसूरि।

अत: संभव है कि जिनकुशल सूरि ही 'जिनचंद्र सूरि फागु' के रचयिता रहे हैं। जिन कुशल सूरि ने जिनचंद्र से संबंधित 'जिनचंद्रसूरि चतु: सप्ततिका' भी लिखी है। ये सभी खरतरगच्छीय आचार्य हुए हैं।

इस फागु की रचना पाटण नगर में हुई, जबकि पद-महोत्सव जावालपुर में हुआ था। अत: इस फागु की रचना पदमहोत्सव के समय नहीं हुई (डा० सांडेसरा का मत भ्रामक है) इस फागु में पाटण नगर की प्रशंसा की गई है—

गूजरात पाटण भल्लउँ सयलहं नयरहं माहि।

परंतु उक्त आपवान महोत्सव जावालपुर के वीर चैत्य में हुआ था जबकि स्तवन पाटण के शांतिनाथ चैत्य का है। अत: इससे सिद्ध होता है कि फागु पदोत्सव के बाद में लिखा गया। कितने समय बाद, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना निश्चित है कि फागु काव्य की रचना सं० १३७७ से पूर्व हो चुकी थी क्योंकि सं० १३७७ की ज्येष्ठ कृष्णा एकादशी को जिनकुशलसूरि (कुशल कीर्ति) का पदमहोत्सव हो गया था। संभवत: १३५० के लगभग यह फागु लिखा गया। भाषा की दृष्टि से इस ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश के कहीं अधिक समीप पुरानी हिंदी है। कहीं-कहीं शौरसेनी अपभ्रंश के शब्द 'निसणो विग्गु' प्रयुक्त हुए हैं।

ग्रंथकार ने सर्वप्रथम संत वंदना पुन: पार्वती और तत्पश्चात् अहिल्याबाई पाटण के अलंकार रूप तीर्थंकर श्री शांतिनाथ की स्तुति की है।

इसमें कुल २४ छंद थे। जैसलमेर से जो खंडित प्रति मिली है उसमें प्रारंभ के ५ छंद और अंत के ५ छंद प्राप्त हुए हैं, शेष छंद नष्ट हो चुके हैं। खंडित प्रति के आधार पर ग्रंथ के संपूर्ण काव्यसौंदर्य का आस्वाद नहीं मिल पाता है। जितने

भी छंद उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि विवेच्य फागु का वसंत एवं नारी सौंदर्य वर्णन परंपरागत और नाम परिगणनापरक है। उसमें किसी मौलिक उद्भावना अथवा नवीन भावबोध को कोई स्थान नहीं मिला है। कृति का महत्व उसके प्राचीन होने में है, न कि उसके काव्यत्व में।

३. थूलिभद्द फागु

जिन पद्मसूरि कृत १७ पद्यों की यह कृति ७ भासों से निबद्ध है। भास की व्युत्पत्ति भाष्य से हुई है। भाष्य-भाष्यउ-भासों-भास। भाष्य का तात्पर्य कथ्य से है। यह भास निबद्धता केवल स्थूलिभद्र फागु तक ही सीमित रही है। परवर्ती फागु काव्य 'नेमिनाथ फागु' में यह परंपरा नहीं मिलती। स्थूलिभद्र की कथा सुप्रसिद्ध जैन कथा है। सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपालप्रतिबोध' की कथा के उत्तरार्द्ध को कवि ने वर्ण्य विषय के रूप में चुना है। पूर्वार्द्ध की कथा के अनुसार स्थूलिभद्र अत्यंत स्वरूपवान् कामुक एवं विलासी थे। एक बार वसंतकाल में कोशा नामक वारवनिता पर वे मुग्ध हो गए। बारह वर्षों तक उस वारवनिता के साथ भोगविलास में लिप्त रहे। बाद में सचेत होने पर प्रबुद्ध हुए। सांसारिक भोगविलास से विरक्त होकर सन्यासी हो गए। उत्तरार्द्ध के अनुसार एक बार कालांतर में वे चातुर्मास्य में कोशा के गृह पर आए। कोशा का अपरिमित सौंदर्य, अपार संपत्ति और गदराया यौवन भी स्थूलिभद्र को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका। इस बहाने कवि ने कोशा के शृंगार, नखशिख वर्णन, प्रकृति उद्दीपन के परिप्रेक्ष्य का वर्णन करने के लिये अवसर निकाल लिया है।

अनुपम सज्जा एवं अतीव रूपराशि के साथ कोशा स्थूलिभद्र के पास पहुँचती है, उसे अभिभूत करने। पर स्थूलिभद्र प्रभावहीन और शांत रहते हैं। कोशा खीजती है, उदासी व्याप्त जाती है। तब वह उपालंभ का तीर छोड़ती है—

बारह वरिसहं तणउ नेहु किहि काहणि छंडिउ।
एवडु निठुरपणउ केई मूसिउ लुमिह मंडिउ॥[१५]

वह बारह वर्ष का नेह, रस-विभोर, मादक स्मृतिसा, कैसे निष्ठुर बन कर छोड़ दिया यही व्यथा कोशा को सालती है। लेकिन यह तीर भी इंद्रियजयी की चारित्रिक दृढ़ता के लौह कवच से टकरा कर लौट जाता है। उद्विग्न, उद्वेलित एवं कामोन्मत्त कोशा को तब स्थूलिभद्र सीख देता है—

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरू गिण्हेइ ?
तिम संजमसिरि परिवएवि वहुधंमसमुज्जल,
आलिंगइ तुह कोस कवणु पसरंत महाबल ?[१६]

१५ स्थूलिभद्र फागु, १९।

१६. वही, २२।

चिंतामणि को परित्यक्त कर पत्थर ग्रहण करना जैसे मूढ़ता है वैसे ही संयमश्री का वरण करके कोशा का आलिंगन करना भी मूढ़ता का कार्य होगा। कवि का अभीष्ट इस संयम और चारित्रिक दृढ़ता का दिग्दर्शन करना ही रहा है, जिसमें उसका ध्येय सफल होता है। कोशाजन्य शृंगार का उद्दाम वेग शनैः शनैः स्थूलिभद्र के संयम और अपरिग्रह के शांतरस में पर्यवसित हो जाता है।

कृति काव्यात्मक कसौटी पर खरी उतरती है। उसका काव्यपक्ष सबल है—

१. प्रकृति परिवेश—यद्यपि 'कुमारपाल प्रतिबोध' में स्थूलिभद्र की पूर्वार्द्ध कथा में परिपार्श्व के रूप में वसंत वर्णन हुआ है, जो उद्दीपन विभाव एवं व्यापक प्रसार की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है। स्थूलिभद्र फागु में वासना के साथ वसंत का परिहार है और संयम के साथ वर्षा ग्राह्य है। वर्षा-वर्णन उद्दीपन विभाग का परिप्रेक्ष्य तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही नाद व्यंजना की ही दृष्टि से भी सुंदर प्रकृतिचित्रण है। निःसंदेह जिनपद्मसूरि का वर्षा वर्णन प्रकृति, मानवीय भाव, एवं मानवीय क्रिया व्यापारों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का द्योतक है—

सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते,
माणमडप्फर माणणिय तिम तिम नाचंते।
जिम जिम जलभरियं नेह गयणंगणि मिलिया,
तिम तिम कामी तणा नयण नीरिहि झलहलिया।
मेहारव भरडलति य जिम जिम नाचइ मोर,
तिम तिम माणिणि खलभलइ साहीता जिमचोर।[१७]

[शीतल, कोमल, सुरभित वायु जैसे जैसे प्रवाहित हो रही है वैसे वैसे मान और गर्व मानिनियों को नचा रहा है। जिस प्रकार गगन आंगन में जलपूर्ण मेघ आकर घिर जाते हैं, वैसे ही विषयी के नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं। मेघ गर्जना सुनकर उल्लसित हुए मोर जिस प्रकार नृत्य करते हैं और उस गर्जना के साथ साथ मानिनियों की जैसी व्याकुलता बढ़ जाती है, वैसी ही व्याकुलता और उद्विग्नता पकड़े हुए चोर की होती है।]

२. सौंदर्यबोध—कवि का सौंदर्यबोध सचेत एवं प्रबुद्ध था। कोशा के नखशिख का वर्णन कवि ने अलंकृत शैली में किया है। उसके उपमान, बिंब एवं प्रतीक अभिनव और प्रयोगसाध्य हैं। कामदेव के खड्ग समान वेणी को और उत्तुंग पयोधरों को शृंगार रूपी पुष्प के स्तवक बताने में नया ही सौंदर्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि ने नारी सौंदर्य का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था, तभी उसका वर्णन मार्मिक है—

१७. वही, ८-९।

कन्नजुयल जसु लहलहंत किरमयणहिंडोला,
चंचल चपल तरंग चंग जसु नयणकचोला,
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालिमसूरा,
कोमल विमलु सुकंठु जासु वाजइ संख तूरा,
लवणिमरसभर कूवडिय जसु नाहिय रेहइ,
मयणराय किर विजयखंभजसु ऊरु सोहइ,
जसु नेह पल्लव कामदेव अंकुश जिम राजइ,
रिमझिमि रिमझिमि ए पायकमलि घाघरिय सुवाजइ ।[१८]

कवि ने दोनों कानों को दोलायमान मदन हिंडोले के समान बताया है। नयन कटोरे ऐसे हैं, मानों चंचल तरंगे विलास कर रही हों। उसकी कपोल पालि फूली हुई रूई के समान थी। कोमल, निर्मल और सुंदर कंठ से निःसृत स्वर इस प्रकार प्रतीत होते थे जैसे शंखनाद और तूर्यनाद हो रहा हो।

रचनाकाल—थूलिभद्द फागु का रचनाकाल राहुल सांकृत्यायन के अनुसार १२०० ई० (१२५७ वि०) के लगभग है जबकि श्री अक्षयचंद्र शर्मा के अनुसार इसका रचनाकाल १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। फागु कर्ता जिनचंद्र सूरि को आचार्य पद संवत् १३८९ में प्राप्त हुआ और संवत् १४०० में उनकी मृत्यु हो गई। अतः यह सहज रूप से कल्पना की जा सकती है कि विवेच्य कृति का रचना-काल संवत् १३८९ से १४०० के बीच में रहा होगा। अतः मध्य में रचनाकाल मानने पर, कहा जा सकता है कि उक्त फागु की रचना १३९५ के लगभग हुई होगी।

४. राजशेखर सूरि कृत नेमिनाथ फागु

जैन मतावलंबी राजशेखर सूरि ने नेमिनाथ फागु में अपने उपास्य नेमिनाथ का चरित्र २७ पद्यों में निबद्ध किया है। इस कृति में धर्मनिरूपण मात्र नहीं है, अपितु काव्यसौंदर्य की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट काव्य है। काव्यशैली वर्णनानुकूल और लालित्यपूर्ण है। कृति का पूर्वार्द्ध राजमति के सौंदर्यनिरूपण और नखशिख वर्णन से परिपूर्ण है। शृंगार वर्णन में कवि विशेष दक्ष है। उसका शृंगार वर्णन उद्दाम न होकर, मर्यादित है। यह शृंगारनिरूपण शांत रस में पर्यवसित होकर धर्मनिरूपण में सहयोग प्रदान करता है। चारित्रिक निष्ठा और इंद्रिय दमन ही इस कृति में कवि के लक्ष्य और विवेच्य विंदु हैं।

वर्ण्यवस्तु—नेमिनाथ फागु की वर्ण्यवस्तु जैन तीर्थंकर नेमिनाथ और राजीमती अथवा राजुल से संबंधित है। विवेच्य कृति के अनुसार नेमिनाथ, यादव

१८. वही, १४-१५।

कुल उत्पन्न राजकुमार और समुद्रविजय तथा शिवादेवी के पुत्र थे। उनका सुललित मुख, काजल से समान श्यामल, लावण्ययुक्त तथा कमल के समान सुंदर था। वे शक्ति में भीम के समान और रूप में अपार थे। ये विवाह नहीं करना चाहते थे, परंतु जब एक बार कृष्ण बलराम के साथ वसंत क्रीड़ा में रत थे तो लग्न का आयोजन राजुलदेवी के साथ हो गया। माता-पिता, और भाई-बांधवों की प्रेरणा से किसी तरह विवाह के लिए प्रस्तुत हुए। इस स्थल पर कवि को, श्रेष्ठ घोड़े पर सवार नेमिनाथ के सौंदर्यवर्णन का अवसर मिल गया है। इस स्थल पर लूण उतारने की परंपरा जहाँ लोकाचार की द्योतक हैं वहाँ दसार कोटि यादव भूपालों का उल्लेख अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन एवं पौराणिक जैन धर्मी ग्रंथों से अनुस्यूत परंपरा का परिचायक है। जैसे ही बारात उग्रसेन के घर (द्वारका) पहुँचती है, वैसे ही वध्य पशुओं के समूह को देखकर नेमिनाथ का हृदय विरक्त हो जाता है। इसी स्थल पर कवि ने राजुल का विरहवर्णन किया है। सांवत्सरि दान करके और संसार त्याग कर, नेमिनाथ उज्वलगिरि (धवलिगिरि, गिरनार) पर्वत पर संयम की दीक्षा ग्रहण करके केवल ज्ञान की प्राप्ति करते हैं। राजुल भी पति का अनुसरण करके सिद्धि प्राप्त करती है।

सौंदर्य-बोध—राजशेखरसूरि का सौंदर्यबोध जागरूक था—

किम किम राजलिदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ,
चंपइ गोरी अधधोइ अंगि चंदनुलेवउ,
खुंपु भरविउ जाइकुसम कस्तूरी सारी,
सीमंतइ, सिंदूर रेह मोतीसरि सारि।
नवरंगी कुंकुमितिलय किय रयणतिलउ तसु भाले,
मोती कुंडल कन्निथिय विबोलिय करजाले ॥[१९]

कवि कहता है राजुल के शृंगार का कैसे वर्णन करूँ वह चंपकवर्णी, अति उज्वल और चंदनलेपित अंगों वाली है। सीमंत प्रदेश में सिंदूर रेखा शोभायमान है जो मोतियों से पूरित है। नव वर्णी कुंकुम और रत्न तिलक भाल पर शोभायमान हैं कानों में मोतियों के कुंडल हैं। यद्यपि इस वर्णन में मौलिकता का अभाव है। आगे कवि ने सौंदर्य-निरूपण करते हुए कहा है—

अह निरतिय कज्जल रेह मुहकमलि तंबोलो,
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो,
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लहमाला,
करि कंकणमणि वलय-चूड खलकावइ वाला।

१९. नेमिनाथ फागु, १८-१९।

रुणुझुणु ए रुणुझुणु ए रुणुझुणु ए कडिघघरियालि,
रिमझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए पय नेउरजुयली,
नहि आलतउ बलवलउ सेअंसुयकिमिसि,
अंखडियाली रायमए प्रिय जोअइ मनरसि ॥[२०]

[उसने नेत्रों में अंजन रेखा और मुख कमल में तांबूल दे रखा है। उसके कंठ में नागोदर हार सुशोभित हो रहा है। मरकती, जरीदार कंचुक तथा पुष्पमाल धारण किए वह बाला हाथ में धारण किए हुए कंकण एवं मणियों से वलयित चूड़ियां खनखना रही है। उसकी कटि में मेखला रुनझुन-रुनुझुन की ध्वनि कर रही है तथा दोनों पैरों में नूपुर झंकृत हो रहे हों। उसके नखों की श्वेत कांति से युक्त आलक्तक उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार साजसज्जावेष्टित होकर राजीमति अनुरागपूर्वक अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थी।] उपास्य बुद्धि से संपृक्त होने के कारण कवि का सौंदर्यबोध, मर्यादा के परिवेश में चक्कर काटता रहा है।

कृति का रचनाकाल—राजशेखर सूरि ने संवत् १४०५ में प्रबंधकोश की रचना की है। अतः विवेच्य कृति का रचनाकाल संवत् १४०० के लगभग ठहरता है। इसकी पुष्टि 'स्थूलिभद्र फागु' और 'नेमिनाथ फागु' की वर्णनशैली से होती है। दोनों फागु कृतियों में अद्भुत साम्य है—

१. दोनों काव्यों में छंदविधान एक सा है। स्थूलिभद्र फागु के समान 'नेमिनाथ फागु' भी २७ कड़ी और ७ भासों में निबद्ध है। प्रत्येक भास में एक दोहा और तत्पश्चात् एक रोला का संयोजन किया गया है।

२. दोनों कृतियाँ नारी सौंदर्य और नखशिख वर्णन से युक्त हैं। उनका श्रृंगार वर्णन जैन कवियों के भावानुकूल है। यह श्रृंगारनिरूपण दोनों ही कृतियों में, शांत रस में पर्यवसित होकर धर्मनिरूपण में सहायक सिद्ध होता है। चारित्रिक निष्ठा, संयमश्री का महत्व इंद्रियदमन ही इन कवियों के विवेच्य बिंदु हैं।

३. दोनों ही कृतियों में भाषा साम्य है तथा शब्दविन्यास और ध्वन्यात्मकता में सानुरूपता है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त दोनों फागुओं के रचनाकाल में विशेष अंतर नहीं रहा है। यदि 'स्थूलिभद्र फागु' की रचना संवत् १३९५ में हुई तो नेमिनाथ की रचना संवत् १४०० के लगभग।

इन फागु काव्यों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें व्यापक कथावस्तु को संक्षेप में इस प्रकार संयोजित करके प्रस्तुत किया जाता है कि कथा प्रवाह कहीं भी विशृंखलित नहीं होने पाता है। प्रबंधात्मकता के साथ धार्मिक लक्ष्य, प्रकृति-परिवेश, और नख-शिख-वर्णन का भी समायोजन हो जाता है। वस्तुतः फागु काव्य गेयात्मक-इतिवृत्तात्मक-लघु खंडकाव्य कहे जा सकते हैं।

२०. वही, २०-२१।

*

सरस्वती के कतिपय ऋग्वैदिक विशेषणों की विवेचना

मुहम्मद इसराइल खाँ

•

ऋग्वेद में सरस्वती से संबद्ध अनेक विशेषण आए हैं। उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनके विषय में हम बहुधा सुना करते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी हैं जो हमारे होते हुए भी चिरनूतन एवं रहस्यमय प्रतीत होते हैं। उनका विवेचन हमारी इच्छा को क्षणिक संतुष्ट ही कर पाएगा, चिर संतोषलाभ सहज न होगा। ये विशेषण यत्र-तत्र अपने भिन्न क्रमों एवं रूपों से 'सरस्वती' नाम को अलंकृत करते हैं। मुख्य रूप से ये निम्नलिखित हैं—

१. ऋतावरी, २. पावका. ३. घृताची, ४. अकवारी, ५. चित्रायुः, ६. हिरण्यवर्तनिः, ७. घोरा, ८. वृत्रघ्नी, ९. अविश्री, १०. असुर्या, ११. पारावतघ्नी, १२. धरुणामायसी पूः, १३. विसखाइव, १४ नदीतमा, १५. देवितमा, १६. तन्यतुः, १७. आपप्रुषी, १८. बृहती, १९. रथ्येव, २०. इयाना, २१. राया युजा, २२. शुचिः, २३. वाजिनीवती, २४. सप्तस्वसा, २५. सप्तधातुः, २६. सप्तथी, २७. त्रिषधस्था, २८. मरुत्सखा, २९. सख्या, ३०. उत्तरा सखिभ्यः, ३१. सुभगा, ३२. वीरपत्नी, ३३. वृष्णः पत्नी, ३४. प्रियतमा, ३५. प्रिया, ३६. मरुत्वती, ३७. भद्रा, ३८. पापीश्वी अथवा ३९. पावीश्वी कन्या, ४०. मयो भूः, ४१. अम्बितमा, ४२. सिंधुमाता, इत्यादि।

उपर्युक्त कथित इन्हीं विशेषणों में से हमने केवल चार विशेषण—१. सिंधुमाता, २. सप्तस्वसा, ३. घृताची, ४. पावीश्वी को प्रस्तुत लेख का विषय बनाया है और उनपर पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ विशेषण तत्कालीन सामाजिक, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं, जिसका संकेत स्थानानुसार कर दिया गया है।

१. सिंधुमाता

पूरे ऋग्वेद में सरस्वती के लिये यह विशेषण केवल एक बार[1] प्रयुक्त हुआ है। इसकी व्याख्या विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। श्रीमत्सायणाचार्य इसे **'अपां मातृभूता'**, ऋगर्थदीपिकाकार श्रीवेंकटार्यतनूद्भव श्रीमाधव 'सिंधूनां माता' ग्रीफिथ 'जलार्णवों की माता' तथा गेल्डनर, जिसकी मा सिंधु है, ऐसा करते हैं।

१. ऋग्वेद ७, ३६.६।

ये टीकाकार केवल इतने ही अर्थमात्र से संतोषलाभ करते हैं, जब कि श्रीविल्सन के कुछ अधिक शब्द हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। उनके विचार से 'सिंधुमाता' का अर्थ 'सिंधु की माँ है' और ये अपनी इस विचारधारा को टिप्पणी ऋ० ७.३६.६ में स्पष्ट करते हुए स्कालियास्ट के बिलकुल समीपस्थ दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्होंने सरस्वती को जलों की माता माना है। इस प्रकार सरस्वती जलों की मां है, न कि सिंधु की।

हम व्यक्तिगतरूप से इसी प्रकार की संमति से सहमत हैं और इस बात के पक्षपाती हैं कि 'नदी-स्तुति' में गिनाए गए नदियों के नामों के अतिरिक्त, सरस्वती के साथ आए 'सिंधु' का अर्थ सामान्य नदी के लिये हुआ है। 'नदी-स्तुति' के सिंधु को कभी भी सरस्वती की जन्मदात्री नहीं मान सकते हैं। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि इसका वर्णन बहुत ही थोड़े से मंत्रों[२] में एक साधारण नदी के लिये हुआ है, जब कि सरस्वती का विशद् एवं व्यापक वर्णन, उसे बिलकुल फीका बना देता है। साथ ही ऋग्वेद के सरस्वती संबंधी 'नदीतमा'[३] को लेकर सारी शंकाएँ दूर की जा सकती हैं। सरस्वती का एक विशेषण '**धरुण-मायसी पूः**'[४] है जो उसे एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान करने, नदियों की माता उद्घोषित करने तथा बड़े-बड़े नदी-नदों की प्रसविन्त्री घोषित करने तथा सैकड़ों दलीलों की एक दलील है।

पश्चिमी विद्वानों में से राथ तथा जिमर[५] जैसे विद्वान् जो सरस्वती का समन्वय 'सिंधु' से दिखाने का साहस करते हैं; उन्हीं में से उन्हीं के साथी लासेन तथा मैक्समूलर[६] सरस्वती को एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान करने का श्लाघनीय कदम उठाते हैं और उसे भारत की पश्चिमी सीमाओं का एक लौहदुर्ग[७] मानते हैं। प्रसंग अधिक व्यापक और विषय दूरगामी हो जायगा, यदि हम यहीं प्रसंगात् '**धरुण-मायसो पूः**' की कल्पना इस लौह-दुर्ग में न करें। यह बात बिलकुल सत्य जान

२. १.६७.८, १.२५.५, २.११.६, २५.३.५, ३.३५.६ इत्यादि; अथर्ववेद ३.१३.१, ४.२५.२, १०.४.१५, १३.३.५० इत्यादि। मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इंडेक्स, मोतीलाल बनारसीदास भा० २, पृ० ४५०।

३. ऋ० २.४१.१६।

४. वही, ७.६५.१।

५. मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इंडेक्स, मोतीलाल बनारसीदास, १६५८, भाग २, पृ० ४३५।

६. वही, पृ० ४३५-३६।

७. वही, पृ० ४३६।

पड़ती है कि सरस्वती अपने विशाल शरीर से भारत के पश्चिमी भाग में अवस्थित रह कर, देश की रक्षा करती रही हो, पश्चिम से भारत पर हमला करनेवाले बहादुर लोग, अपने उद्यम में, इसे बहुत बड़ी बाधा डालनेवाली मानते रहे हों। यह अपनी विशाल एवं उच्च लहरों से मान न भरनेवाली बन, उन्हें अपने पार करने में चुनौती देती रही हो और उन्हें भयभीत कर सहज में उनका साहस तोड़ती रही हो। तब जाकर कहीं उसे यह गौरव प्राप्त हुआ हो कि वह एक लौह-दुर्ग कहलाए। यहाँ यह भावना सतत् विद्यमान है कि वह अपनी विशालता के कारण समुद्रतुलना में क्षम रही हो।

एक अन्य मंत्र[८] में, पर्वत से उतर कर, उसे समुद्रपर्यंत गमन करती हुई कहा गया है। यहाँ वह नितांत पवित्र है और धनों की दात्री है। यह पर्वत शब्द अधिक मार्मिक है, जब कि वैदिक पद्धति में 'मेघ' रूप में अपना एक विशिष्ट अभिप्राय रखता है। सरस्वती को अंतरिक्ष-स्थानीय भी कहा गया है और इस रूप में वह 'माध्यमिका वाक्' ठहरती है जिसकी प्रकृतिपरक व्याख्या मेघध्वनि अथवा विद्युत्ध्वनि से की गई है। परंतु आश्चर्यजनक समन्वय यहाँ भी दीख पड़ता है जब उसकी कल्पना वाक् के साथ-साथ नदी के रूप में भी की गई है। वह बादलों के साभूत जलप्रवाहों को लेकर, मैदानों तक आती है तथा अगणित स्रोतों, नदियों तथा नदों को जल दान करती है। अतः इस विश्लेषण के आधार पर भी, उसे सिंधुमाता = नदियों की माता अथवा जलों की माता कहने में आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

यह विशेषण और कतिपय अन्य, जिनमें समान ही भाव प्रलुप्त है, हमारा ध्यान अनायास ही, भारत की उस सामाजिक स्थिति की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें माता की महती प्रतिष्ठा थी। समाज में मातृप्रधान परिवार की प्रथा प्रचलित थी और माँ ही परिवार की मुखिया हुआ करती थी। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक आर्य, जिन्होंने अपना भरण पोषण नदी की छत्रछाया में पाया था, उसे उसी प्रकार आदरभाव देते थे जैसे कोई माँ अपने बहुत से बच्चों पर समान दृष्टि रखती है। उनका नित्य साहचर्य माँ-पुत्रवत् था। उससे प्राप्त होनेवाली अनेक सुविधाओं के कारण, अपनी सामाजिक प्रवृत्ति (मातृप्रधान परिवार की प्रथा) का आरोप, अपनी पड़ौसिनी निरंतप्रवाहिनी नदी पर किया। एक मंत्र[९] में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह नदी पंच जातियों का संवर्द्धन करती है। प्रसंग 'पञ्च जाता वर्धयन्ती' करके आया है जिसकी व्याख्या सायण ने निम्न प्रकार की है—

८. ऋ०, ७.९५.२।
९. ऋ० ६६.१.१२।

पञ्च जाता जातानि निषादपञ्चमांश्चतुरो वर्णानि गंधर्वादीन् वा वर्धयन्ती अभिवृद्धान् कुर्वती।

सरस्वती एक महती उदारवती माता के रूप में सतत् प्रवहमान थी। वह अपने समीप में बसने वाली जातियों का सम्यक् प्रकार पालन किया करती थी। अनेक जातियों में पंच जातियों का स्थान बड़े महत्व का था। ये पाँच जातियाँ या तो पाँचों वर्णों के रूप में ली जा सकती हैं या इसमें भरत, कुरु, पूरु, पाशवतस् तथा पांचाल लोगों को संमिलित किया जा सकता है।

२. सप्तस्वसा

इस शब्द का प्रयोग सरस्वती के लिये ऋग्वेद में केवल एक बार[10] हुआ है। सायण इसका अर्थ 'गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि स्वसारो यस्यास्तादृशी नदीरूपा-यास्तु गङ्गाद्याः सप्तनद्यः स्वसारः' करते हैं। श्रीमाधव गंगादि सात बहनों में इसका तात्पर्य मानते हैं। ग्रिफिथ इसे 'सात बहनों वाली' तथा विल्सन सात बहनों का अर्थ सात छंद तथा सात नदी करते हैं।

प्रश्न यह है कि उस समय तो देश में अगणित नदियाँ थी, सात नदियों का अर्थ किन में गम्य है? ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि उन नदियों में भारत की उत्तरी भाग की नदियों का वर्णन मुक्त कंठ से हुआ है। यह भाग भारत का सदैव से 'शीर्ष' रहा है। इसी भाग से संबंध रखने वाली नदियों में सरस्वती का स्तवन बहुत बढ़ कर हुआ है। डासन[11] ने इन सात नदियों के नाम इस प्रकार गिनाए हैं--

१. गंगा (गैंजेज),
२. यमुना (जमुना)
३. सरस्वती (सरसूति)
४. सुतुद्री (सतलज)
५. परुष्णी
६. मरुद्वृधा
७. आर्जिकीया (विपासा, हिफैसिस व्यास)

श्री अभयदेव[12] इन नदियों की कल्पना पार्थिव रूप में करते हैं। इन्हीं

१०. ऋ० ६. ६१ १०
११. डासन, हिंदू क्लासिकल डिक्शनरी, ब्राडवे हाउस लंदन, १९१४, पृ० २८१
१२. श्री अभयदेव, सरस्वती देवी एवं नदी, वेदवाणी, अमृतसर वर्ष १०, अंक ७, पृ० १३।

नदियों के समान स्वर्गलोक की भी गंगा आदि सात नदियाँ हैं, जिन्हें वे निम्नरूप से प्रस्तुत करना चाहते हैं—

१. आनंद की धारा
२. सत्ता की धारा
३. चैतन्य की राधा
४. विस्तार और सुषोम से युक्त ऋजुगामिनी सत्य की धारा
५. मनु की धारा
६. निम्नकृष्णवर्णधारा से युक्त वायु से बढ़ने वाली प्राणधारा
७. अन्नमय पर्वंवती स्थूल धारा

श्री अरविंद सात नदियों का तात्पर्य, जीवन के सप्तधा जलों के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके एतदर्थ विचार, उन्हीं के जटिल दार्शनिक शब्दों में निम्न रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं—

'इस प्रकार सप्तधा जल ऊपर उठते हैं और शुद्ध मानसिक क्रिया बन जाते हैं, वे स्वर्गीय शक्तिशाली होते हैं। वे वहाँ, केवल एक से उद्भूत भिन्न स्रोतों, परंतु एक प्रथम चिरस्थायी सतत् नवीन शक्तियों के रूप में, अपने को प्रकट करते है—क्योंकि वे सब एक ही अति चैतन्य सत्य सप्तशब्द अथवा मौलिक क्रियात्मक अभिव्यक्तियों, दिव्य मस्तिष्क, सप्त वाणी के गर्भ से प्रवाहित हुए हैं.........'

कुछ लोगों का सामान्य विचार यह भी है कि सात नदियों का अभिप्राय पंजाब की पाँच नदियों और सरस्वती तथा सिंधु में समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'सप्तस्वसा' का अर्थ, जो लोग सात छंद मानते हैं, उसकी अपनी एक विशिष्ट महत्ता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि ऋग्वेद में सात प्रकार के छंद प्रयुक्त हैं। वे सब वाणीस्वरूप हैं अथवा अवयव के रूप में सरस्वती की सात बहने हैं अथवा पूरे ज्ञान के भंडार को इन्हीं द्वारा विभक्त किया गया है। यह उपादान और भी मूर्तिमान हो उठता है, जब सप्तस्वसा को सूर्य की सतरंगी किरणों के साथ समीकरण करते पाते हैं, क्योंकि भारती के रूप में सरस्वती का सूर्य से अधिक घनिष्ठ संबंध है। यह सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। यह अंधकार को दूर करता है तथा प्रकाशपुंज को फैलाता है। वाणी जिस प्रकार इला के रूप में पृथिवी-स्थानीय, सरस्वती के रूप में अंतरिक्षस्थानीय तथा भारती के रूप में द्युस्थानीय है और अलग-अलग सप्तधा रूप में तीनों लोकों में विद्यमान है, तद्वत् यह सूर्य-प्रकाश भी अपने सप्तधा रूप से तीनों लोकों में सतत् विद्यमान है।

१३. श्री अरविंद, आन दि वेद, श्री अरविंद अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय केंद्र, पांडिचेरी १९५६, पृ० १३८ और आगे।

इसी प्रसंग में यहाँ एक और बात ध्यान देने योग्य है। वैदिक आर्यों ने 'सप्त' अथवा 'त्रिक्' के प्रति अपनी अधिक आस्था व्यक्त की हैं; जैसे कि सात नक्षत्र अथवा तीन देवियाँ (ऋग्वेद में सरस्वती इला और भारती; बाद के साहित्य में सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती तथा पुरुष रूप में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश)। यदि हम 'सप्तस्वसा' को नदी के रूप में स्वीकार करते हैं, तो निःसंदेह ही, इससे भारत की उस भौगोलिक परिस्थिति का ज्ञान होता है, जब यहाँ बहुत सी नदियां रही होंगी जिनमें सरस्वती का प्रमुख स्थान रहा होगा। लोग सदैव इन्हीं का नाम बड़े आदर तथा भक्ति से लेते रहे होंगे। शनैः शनैः लोगों में, उनका महत्व और प्रतिष्ठा बढ़ती गई होगी और आपस की घनिष्ठता के कारण, 'सप्तस्वसा' स्वभावतः प्रकाश में आया होगा। यदि यही अभिप्राय लक्षित है तो 'सप्तस्वसा' का प्रयोग किसी भी इन नदियों के साथ किया जाना अनुचित नहीं है। यहाँ 'शब्द' प्रस्तुत सरस्वती के साथ आया है जो इसी अभिप्राय को द्योतित करता है।

३. घृताची

सरस्वती के विशेषण के रूप में यह शब्द केवल एक बार[१४] प्रयुक्त हुआ है। श्री माधव ऋगर्थदीपिका में इसका अर्थ 'उदकमञ्चन्ती' करते हैं। यहीं पर इस दीपिका के संपादक श्री लक्ष्मण स्वरूप दो[१५] हस्तलिपियों का हवाला देते हैं जिनमें शब्द का अर्थ 'उदकञ्चती' किया गया है। संपादक यहीं पर भट्टभास्कर मिश्र[१६] की टीका का हवाला देते हैं, जहाँ शब्द का अर्थ **'घृतमाज्यभागं प्रत्यञ्चन्ती'** किया गया है। सायण इसका अर्थ 'घृतमुदकमञ्चती', विलसन 'जल-वर्षण करने वाली' और ग्रीफिथ 'बामी' अर्थात् घी अथवा सारगर्भित जलों से भरी अथवा उनका वर्षण करने वाली, करते हैं।

इसके अतिरिक्त शब्द का, ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयोग भी हुआ है। एक स्थल पर यही शब्द[१७] स्वर्णिमा विद्युत् का विशेषण बन कर आया है जो (विद्युत्) जल की वर्षा करती है। एक दूसरे स्थल पर[१८], सायण ने इस शब्द का अर्थ **'घृते-**

१४. ऋ०, ५.४३.११।

१५. पी० = ए पाम-लीफ मलयालम मैन्युस्क्रिप्ट, पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी।
डी० = ए पाम-लीफ मलयालम मैन्युस्क्रिप्ट, लालचंद पुस्तकालय, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर।

१६. बी० बी० = भट्टभास्कर मिश्र की तैत्तिरीय संहिता की टीका।

१७. वही।

१८. ऋक्, १.१६७.२।

नाक्ता स्रुक्' किया है। आगे के एक मंत्र[19] में, शब्द इंद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसकी व्याख्या करते हुए सायण लिखते हैं—

हे पुरुहूत बहुभिराहूतेन्द्र घृताची। घृतशब्दो हविर्नाममुपलक्षयति तथा च सोमाज्यपुरोडाशादिलक्षणं हविरञ्चति प्राप्नोतीति घृताची॥

एक अन्य स्थल[20] पर, शब्द द्वितीया एक वचन में प्रयुक्त हुआ हैं जिससे 'धीः' अथवा बुद्धि का भाव प्रकट होता है। सायण लिखते हैं—

'घृतमुदकमञ्चति भूमिं प्रापयति या धीर्वर्षणं तां घृताचीम्...'

उपर्युक्त अवलोकनों से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

घृताची वह है :

(क) जो जल-दान अथवा जल-वर्षण करती है,

(ख) जिसके लिये घृतेनाक्ता स्रुक् अर्पित की जाती है अथवा जिसे घृत, सोम, पुरोडाशादि युक्त बलि दी जाती है,

(ग) जो घी का वर्षण करती है,

इस शब्द के सूक्ष्म विवेचन से सरस्वती की क्रमिक विकासावस्था का भान होता है। यदि वह जल-वर्षण करती है अथवा जल का दान देती है, तो वह निश्चय रूप से नदी स्वरूपा है तथा अपने जलों द्वारा समीपस्थ वैदिक आर्यों की जल संबंधी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यदि वह याज्ञिकों द्वारा दी गई बलि को यज्ञों में स्वीकार करती है, तो असंदिग्ध रूप से, उसका स्वरूप पार्थिव नदीमात्र से उठता जा रहा है और उसका व्यक्तित्व शनैः शनैः देवतात्व को को प्राप्त करता जा रहा है। चर्म-चक्षुओं के लिये, इस प्रकार संवर्धन को प्राप्त होता हुआ रूप अधिक आनंद का विषय बन जाता है। 'घृतम्' का अर्थ क्षरण भी होता है। यह क्षरण वाग्देवी सरस्वती का शब्दार्थ-रूप-क्षरण है। इसी क्षरणरूप उसके कार्य से ज्ञान का प्रसार होता है, क्योंकि वह स्वयं 'ज्ञानवती' अथवा 'धीवंती है। अतः 'घृताची'[22] जिसका अर्थ 'प्रकाशवती' अथवा 'ज्ञानवती' किया गया है, सर्वथा उपयुक्त है।

'घृताची' शब्द हमें सरस्वती के उस क्रियात्मक कार्य की ओर भी हठात् आकृष्ट करता है जब कि वह अपनी बहनों के साथ 'मिल्श काउ' अर्थात् दूध देने

१९. वही, ३.६.१।

२०. वही, ३.३०.७।

२१. वही, १.२.७।

२२. वामन शिवराम आप्टे, दि प्रैक्टिकल संस्कृत-इङ्ग्लिश डिक्शनरी, पूना, १८१०, पृ० ४७८

वाली गौ के रूप में गृहीत है तथा जिन सब के हाथ 'घृतार्द्र' हैं। यह बात भी यहाँ अविस्मरणीय है कि क्या सरस्वती सत्यतः लोगों के घरों में अथवा लोगों के हाथों में घूम-घूमकर घी, मक्खन और मधु का दान किया करती थी। इस बात का समाधान हमें दो रूपों में मिलता है। एक तो यह कि सरस्वती का जल बड़ा मीठा, स्वादु एवं स्वास्थ्यवर्धक रहा होगा। लोग उसका पान कर बड़े-बड़े राजरोगों को मिटाने में समर्थ रहे होंगे। अस्तु, कुछ इसी प्रकार के अभिप्रायों में सरस्वती के घी, मक्खन तथा मधु देने के कार्यों की इतिश्री समझनी चाहिए।

'घृताची' शब्द जहाँ एक ओर इस अर्थ को द्योतित करता है, वहीं इससे एक दूसरा अर्थ भी लक्षित होता है जो महत् महत्वपूर्ण है। यह बात बिना किसी प्रमाण के सत्य सी जान पड़ती है है कि सरस्वती के किनारे बसने वाले वैदिक आर्य, समीपवर्ती जलवायु के पशुओं के अनुकूल होने के कारण, गौओं का पालन अधिक करते रहे हों और उन लोगों के पास, गो-संपत्ति एक श्रेष्ठ धनराशि रही हो। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी, यदि यह कहा जाय कि गो-संवर्धन हमारे बाप-दादों का एक आकर्षक पेशा रहा है जिसके ऋग्वेद में अनेक छिट-पुट प्रमाण मिलते हैं। विचारधारा की पुष्टि और भी प्रबल हो जाती है, जब कि एक मंत्र[२३] में राजा नाहुष का वर्णन आता है जिनके लिये सरस्वती ने 'घृत' का दोहन किया। इसका तात्पर्य यही समझ में आता है कि राजा नाहुष सरस्वती के बहुत बड़े भक्त रहे हों और उनकी भक्ति से प्रसन्न हो, उसने (सरस्वती) राजा को ऐसा आशीर्वाद दिया हो, जिससे उसकी गो-संपत्ति दिन-दूनी रात चौगुनी होने लगी हो। अंततोगत्वा वह इतनी बढ़ गई हो जो सहस्र संवत्सर यावत् समाप्त न होने वाली हो गई हो। राजा बलि के विषय में, उनके गो-संबंधी कार्य अधिक ख्यात हैं। उनका यह आख्यान पौराणिक आधारशिला पर टिका हुआ है, पर जहाँ एक ओर राजा बलि गो-सम्राट् के रूप में हमारे सामने आते हैं, संभव है वहाँ राजा नाहुष गो-राज रहे हों। उनके पास गौओं की महती राशि रही हो, वे संभवतया उनका दान भी किसी न किसी रूप से करते रहे हों। यह अन्वेषण का विषय है कि ऋग्वेद में यत्र-तत्र उनके दान विषयक बीज मिलते हैं अथवा नहीं। इस प्रकार 'घृताची' शब्द से भारत के प्राचीन वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ता है।

४. पावीरवी

यह विशेषण सरस्वती के लिये ऋग्वेद में केवल दो बार[२४] प्रयुक्त हुआ

२३. ऋ० ७.९५.२।

२४. ऋ० ६.४९.७; १०.६५.१३।

है। न केवल सरस्वती के साथ ही यह दो बार आया है, अपितु पूरे ऋग्वेद में यह प्रयोग के केवल मात्र है। पहला मंत्र इस प्रकार है—

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्॥

ऋ०, ६.४९-७

दूसरा मंत्र निम्न प्रकार है—

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वे देवासः शृणवन वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरंध्या॥

ऋ०, १०.६५.१३

शब्द की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार की गई है। कुछ लोग 'पावीरवी कन्या' दोनों को मिलाकर अर्थ करते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग दोनों को अलग अलग करके। सायण ने दोनों की सत्ता अलग अलग मानी है। वह प्रथम मंत्र के 'पावीरवी' का अर्थ 'शोधयित्री' तथा 'कन्या' का अर्थ 'कमनीया' करते हैं। दूसरे मंत्र के 'पावीरवी' का अर्थ 'आयुधवती' तथा 'तन्यतुः' का अर्थ 'स्तनयित्री' कर दोनों को 'वाग्माध्यमिका' का विशेषण माना है—'पावीरवी आयुधवती तन्यतुः स्तनयित्री वाग्माध्यमिका'। इसी प्रकार विलसन पहले मंत्र के 'पावीरवी' का अर्थ 'प्युरिफाइंग' अर्थात् शुद्ध करने वाली तथा दूसरे 'पावीरवी' का अर्थ 'आर्म्ड' अर्थात् आयुधयुक्त करते हैं। गेल्डनर 'पावीरवी' तथा 'कन्या' दोनों को संयुक्त कर 'पवीरु की पुत्री' (?) ऐसा अर्थ करते हैं। स्वयं गेल्डनर पवीरु के अर्थ से निश्चित नहीं हैं। अतः उन्होंने इसी प्रसंग में ग्रासमान तथा लुडविग को उद्धृत किया है जो पवीरु का अर्थ 'विद्युत्' करते हैं। ग्रिफिथ पहले मंत्र के 'पावीरवी' तथा 'कन्या' दोनों को संयुक्त कर 'लाइटनिंग्स् चाइल्ड' अर्थात् विद्युत्सुता ऐसा अर्थ करते हैं। दूसरे मंत्र के केवल 'पावीरवी' का अर्थ 'लाइटनिंग्स् डाटर' विद्युत्सुता ही करते हैं, जब की पुत्र्यर्थ सूचक कोई शब्द वहाँ नहीं है। 'तन्यतुः' से पुत्र्यर्थ सूचक अर्थ यहाँ भी नहीं निकलता जिसका अर्थ स्वयं ग्रिफिथ के द्वारा 'गरजो' इस 'आज्ञावाचक' अर्थ का सूचक है।

पुंलिंग शब्द 'पावीरव' में ङीप् प्रत्यय जुड़कर स्त्रीलिंग 'पावीरवी' शब्द बना है। डा० मोनियर विलियम्स[२५] के मत से 'पावीरव' शब्द का अर्थ 'विद्युत् से निकलना या विद्युत् से संबंध रखना' है। उन्होंने स्त्रीलिंग में इसी शब्द के अर्थ

२५. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, लंदन, १८७२, पृ० ५७१।

को 'विद्युत् की पुत्री' स्वीकार करते हुए, वास्तव में, उसे 'विद्युत्ध्वनि'[२६] माना है। शब्द का मूल 'पवीरु' है जिसका अर्थ उन्होंने 'विद्युदाभ'[२७] किया है। 'पावन' शब्द से 'पावीरवी' का संबंध जोड़ना कुछ अनुचित सा प्रतीत होता है। सायण 'पावीरवी' का अर्थ 'शोधयित्री' कर 'पावन' से अनुप्राणित हुए होंगे, ऐसा जान पड़ता है। परंतु 'पावन' 'पावीरवी' के निष्पत्ति-क्रम में एक सुसंयत एवं सुबद्ध कड़ी प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त दो और शब्द—'पवीर' तथा 'पविः' हैं जिनसे 'पावीरवी' शब्द का संबंध जोड़ना अधिक संभव जान पड़ता है। 'पवीर' का वैदिक अर्थ 'शलाका अथवा शूल'[२८] है। दूसरा शब्द 'पविः' हमारी समस्या को अधिक सरलता से सुलझाता हुआ प्रतीत होता है जिसका अर्थ निम्न प्रकार किया गया है—

'इन्द्र-कुलिश; कुलिश अथवा शर का अग्र-भाग; वाणी; अग्नि'[२९]

इस प्रकार शब्द के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'पावीरवी' का संबंध इन्हीं शब्दों से है। इनमें से भी 'पविः' के साथ इसका संबंध घनिष्ठ जान पड़ता है। 'पवि' इंद्र का अस्त्र माना गया है जिससे वह शत्रुओं का संहार करते हैं जो सृष्टि-क्रम में बाधा डालते हैं। जब वह अस्त्र का प्रयोग करते हैं, उस समय गंभीर ध्वनि होती है। बहुत से धर्म-दर्शनों में इस बात पर बल दिया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से हुई है। वे शब्द देवताओं के इच्छास्वरूप थे। देवताओं ने अपना होंठ फड़फड़ाया, शब्द बाहर आए और सृष्टि प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। तीन देवियों-सरस्वती, इला एवं भारती के प्रसंग में, सरस्वती का स्थान अंतरिक्ष अथवा मध्य-क्षेत्र बताया गया है और इस प्रकार वह माध्यमिका वाक् है जो मध्यम स्थान से सर्वप्रथम प्राकृतिक अनुभवों के रूप में उत्पन्न हुई कल्पित की गई है। स्पष्ट शब्दों में, इसे यों भी कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि काल में आकाश में बादल रहे होंगे। उनके परस्पर संघर्ष के कारण बिजली उत्पन्न हुई होगी और अंततोगत्वा उससे शब्द उत्पन्न हुआ होगा। इसी शब्द के सर्वप्रथम अंतरिक्षजात होने के कारण उसे प्रकृतिपरक व्याख्यानुसार माध्यमिका वाक् माना गया होगा और बाद में इसी से अधिक विश्लेषिता होकर परा, पश्यंती, मध्यमा एवं वैखरी का रूप धारण कर लिया होगा। सायण सत्य ही कहते हैं कि 'सरस्वती = सर इत्युदकनाम। तद्वती

२६. वही, पृ० ५७१।

२७. वही, पृ० ५५८।

२८. वामन शिवराम आप्टे, दि प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पूना, १८६०, पृ० ६८८।

२९. वही, पृ० ६८८।

स्तनितादिरूपा माध्यमिका च वाक्' ।[३०] इसी मंत्र में उन्होंने भारती को 'भारती भरतस्यादित्यस्य संबंधिनी द्युस्थाना वाक्' तथा इडा 'इडा पार्थिवी प्रैषादिरूपा' कह सत्यतः उनको 'पश्यंती' तथा 'वैखरी' रूप वाणियों के भेद ही माने हैं। यह भारती द्युस्थाना वाक् हो, सूर्य से भलीभाँति संबद्ध रह 'रश्मिरूपा'[३१] कही गई है जो प्राकृतिक अनुभाव का ही एक रूप है। यही रश्मिरूपा भारती तथा स्तनितादिरूपा सरस्वती, पृथ्वी पर भलीभाँति समझी एवं समझाई जाने वाली होने के कारण वैखरी रूप हैं। परंतु विद्यु कुलिश अथवा वज्र है। अतः माध्यमिका वाणी का जनक यही है। इस प्रकार 'पावीरवी' को 'विद्युत्सुता' मानकर 'माध्यमिका वाक्' का ही एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक एवं प्राकृतिक विवेचन करना है और कुछ नहीं। जहाँ पर 'पावीरवी' शब्द आया है, वहाँ सरस्वती को वाग्देवी मानकर, उस मंत्र की बुद्धिपरक व्याख्या करना सर्वथा उपयुक्त एवं उचित प्रतीत होता है। शब्द को और जटिल बनाना, एक प्रकार से अपने को अंधेरे में रखना है।

प्रारंभ में गिनाए गए ऋतावरि! ऋ० २. ४१. १४; सप्तस्वसा ऋ० ६. ६१. १०; सप्तधातुः ऋ० ६. ६१. १२; सप्तथी ऋ० ७. ३६. ६; त्रिषधस्था ऋ० ६. ६१. १२ विशेषणों से सरस्वती के सामाजिक भगिनित्व पर; मरुत्सखा ऋ० ७. ९६. २; सख्या ऋ० ६. ६१. १४; उत्तरा सखिभ्यः ऋ० ७. ९५. ४ से सरस्वती के सामाजिक सखित्व पर, सुभगा ऋ० १. ८९. ३; ७. ९५. ४; ८. २१. १७; मरुत्वती ऋ० २. ३०. ८; वृषणः पत्नी ऋ० ५. ४२. १२; वीरपत्नी ऋ० ६. ४९. ७; प्रियतमे ऋ० ७. ९५. ५; सुभगे! ऋ० ७. ९५. ६; भद्रा ऋ० ७. ९६. ३; से, उसके सामाजिक पत्नित्व पर; पावीरवी ऋ० ६. ४९. ७; १०. ६५. १३; कन्या ऋ० ६. ४९. ७; से उसके सामाजिक पुत्रित्व पर; मयोभूः ऋ० १. १३. ९, ५. ५. ८; अम्बितमे! ऋ० २. ४१. १६; सिंधुमाता ऋ० ७. ३६. ६ से, उसके सामाजिक मातृत्व पर तथा शेष से उसके अन्य अवशेष पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

*

३०. सायण व्याख्या, ऋ० १. १४२. ९।

३१. वही, ऋ० २. १. ११।

संत कबीर की सगुण भक्ति का स्वरूप

गोवर्धननाथ शुक्ल

कबीर के संपूर्ण वाङ्मय का रहस्य सत्यं शिवं सुंदरं की साधना एवं उपासना है। उनकी यह उपासना प्रमुख रूप से मानसी और गौण रूप से वाङ्मयी थी। जिस प्रकार अपने समय के प्रचलित सभी काव्यरूपों को अपना कर वे अपनी एक निराली काव्यशैली के स्रष्टा बन गए उसी प्रकार अपने समय की प्रचलित सभी धर्म-साधनाओं को आत्मसात् करके वे एक नितांत निराले धर्म साधक भी सिद्ध हुए। कबीर को मध्ययुगीन सर्वतोमुखी भगवदास्था के साहित्य का आदि कवि और निर्विवाद रूप से निर्गुण भावना का प्रथम प्रवर्तक माना जाता है। यह ठीक भी है कि कबीर ने एक सुधारक के रूप में स्पष्ट और कठोर रूप में मूर्तिपूजा और अवतार-वाद का खंडन किया है। परंतु मध्ययुगीन हिंदी भक्तिसाहित्य में कबीर संत और चिंतक के रूप में अधिक चर्चित हैं। क्योंकि निर्गुण निराकारवादी साधक एक चिंतक के रूप में ही चर्चित होते हैं उन्हें प्राय: भक्त नहीं कहा जाता। इधर हिंदी साहित्य में आधुनिक शब्दप्रयोग की परंपरा के आधार पर इन दो शब्दों में भेद कर लिया गया है। सगुणोपासकों को भक्त कहा जाता है और निर्गुण निराकार-वादियों को संत। मराठी भक्ति वाङ्मय में ऐसा कोई भेद नहीं है। उसका मुख्य कारण शायद यही है कि वहाँ के सभी निर्गुणवादी संत, पंढरिनाथ आदि विट्ठलभक्त भी रहे हैं और सभी विठ्ठलोपासक भक्त निर्गुण निराकारवादी भी रहे हैं।

महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है—

सगुण निर्गुण जयाची हीं अंगे।
तोची साह्मां संगे क्रीड़ा करी॥

सगुण निर्गुण जिस एक परमात्मा के अंग हैं वही मेरे साथ लीला करता है। इतना ही नहीं ज्ञानेश्वर महाराज के मत में निर्गुण की अपेक्षा सगुण अधिक मधुर और व्यवहार साध्य है। श्रीएकनाथ महाराज ने कहा हैं—

तेथ सगुण आंणि निर्गुण। उभय रूपें मी ब्रह्म पूर्ण।
निर्गुणापासून सगुण न्यून। ह्मणे तो केवल मूर्ख जाण॥
सगुण निर्गुण दोन्ही समान। न्यून पूर्ण असेना।

श्री एकनाथ महाराज ने सगुण निर्गुण का एकत्व सिद्ध करते हुए जमे हुए और पिघले हुए घी से उपमा दी है। उसमें भी जमा हुआ घी विशेष आनंददायक होता है।

विथरलें तें तूप होये। थिजले त्या परीस गोड आहे।
निर्गुणा परीस सगुणी पाहे। अति लव लाहे आनंदु॥

ज्ञानेश्वर महाराज सगुण को अधिक सुविधापूर्ण भजनीय सिद्ध करते हैं—

तुझें भजन मजंप्रिय गा दातारा।

साधक कबीर सुधारक भी जबरदस्त थे। सच्चे सुधारक का स्वयं क्रियावान् होना अनिवार्यत: आवश्यक है। सदाचार कबीरसाधना का एक बड़ा साधक तत्व है। बिना सदाचार के अध्यात्म साधनासाध्य नहीं अथवा जलताड़नवत् एक व्यर्थ क्रिया है। अत: सदाचरण संत का प्रथम सोपान है। जगत का प्रथम आदर्श है। संत का व्यवहार सुष्ठु, स्पष्ट और लोकमंगलमय होना चाहिए। उसका आचरण मानव मात्र के लिये आदर्श होना चाहिए। इसी लिये संतों के वरणीय आचरण की एक लंबी सर्वमान्य सूची भारतीय संत वाङ्मय में प्रतिष्ठित चली आरही है। कबीर के जीवन में वह सूची लगभग पूर्णत: लागू प्रतीत होती है, इसी लिये वे संत हैं। तात्पर्य यह है कि सत सदाचरण और लोक-मंगल-साधना के कारण संत हैं। निर्गुण प्रेमसाधना के कारण उन्हें कोई संत नहीं कहता। संतों का प्रथम लक्षण उनके चित्त की आर्द्रता अथवा कोमलता ही बताई गई है—

संत हृदय नवनीत समाना।

अथवा—

परहित द्रवै सो संत पुनीता।

अत: संत का लक्षण विश्वकरुणा अथवा भूतदया से अभिभूत होना है, न कि निर्गुण तत्व का साधक होना। कबीर कट्टर सुधारवादी अथवा दूसरे शब्दों में लोककल्याण के साधक होने के कारण संत हैं। निर्गुणवादी होने के कारण संत नहीं। कोमलचित्त कबीर ने अपने युग पर असीम करुणा बरसाई है। भूले भटकों को राह दिखाई। करुणा के क्षणों में वे कहते पाए जाते हैं—'संतो इन दोऊ न राह पाई'। राम रहीम के धार्मिक कलह में भटके लोगों पर कबीर करुणान्वित थे। इसलिये वे संत कहलाए परंतु संत और सुधारक से भी बढ़कर वे उपासक थे। उनकी उपासना विवेक परिमार्जित थी परंपराभुक्त अथवा यांत्रिक न थी। संत नीर-क्षीर-विवेकी तो होता ही है—

'संत हंस गुन गहहिं परिहरि वारि विकार'। अतः अपनी उपासना पद्धतियों में 'विकाररूप वारि अंश' को त्याग कर 'गुनपय' का संग्रह करके अपनी एक विशिष्ट भजन पद्धति के वे स्रष्टा बने थे, अतः आचरण से संत और प्रेम-लक्षणा-भक्ति के कारण वह भक्त थे। वस्तुतः निर्गुण की उपासना बनती ही नहीं, उसका तो चिंतन ही संभव है। निर्गुण या चिंतक अपनी आराधना की अंतिम स्थिति में आगे चलकर द्रष्टा बन जाता है। द्रष्टा धीरे-धीरे निखिल दृश्य को अपने में लय कर लेता है। इस स्थिति में अविद्या छूट जाती है। साधक ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर भेदात्मक ज्ञान की आत्यंतिक निवृत्ति पर पहुँच कर ब्रह्मानंद की अनुभूति करता है। तुलसी कहते हैं—

सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोई हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥

अतिशय द्वैत का वियोग अर्थात् (भेदात्मक ज्ञान की आयंतिक निवृत्ति) योग द्वारा ही साध्य है। योग मार्ग और भक्ति मार्ग में अलौकिक अंतर है। योग मार्ग का लक्ष्य अभेद है जब कि भक्ति मार्ग का लक्ष्य ही भेद बनाए रखना है। लक्ष्य के अतिरिक्त योग मार्ग और भक्ति मार्ग की साधन पद्धतियों में भी भेद है। योग मार्ग का प्रारंभ विराग, वितृष्णा उपरति एवं त्याग से होता। भक्ति मार्ग रागात्मक और समष्टि भाव के साथ चलता है।

कबीर ने योगमार्ग पर यत्र तत्र अटूट श्रद्धा व्यक्त की है और योग की अनंत अनुभूतियों को अटपटी अभिव्यक्ति दी है। उसके पास इस अभिव्यक्ति के लिये शास्त्रीय शब्दावलियों का अभाव रहा होगा, ऐसी बात नहीं लगती। अटपटापन उनके निजी वातावरण के कारण था। अतः साधनपुष्ट अनुभूति अत्यंत सबल होने के कारण उसे अपने चतुर्दिक वातावरण से ही संबल एवं आश्रय मिलता रहा। इसी कारण कबीर की योगपरक शतशः अनुभूतियाँ निम्न-माध्यम जीवन के व्यावसायिक तथा नैत्यिक वातावरण के परिचित रूपकों से भावभूत बोझिल एवं अटपटी हो गई है। उसकी अपेक्षा उनकी भक्तिपरक अनुभूतियाँ अधिक सुस्पष्ट, सरल एवं सुस्वादु है।

देखना यह है कि कबीर का प्रकृत रुझान किस ओर है। आत्मसाधना के लिये उन्होंने वेदांत के सिद्धांतों पर आस्था प्रकट की और आत्मानुशासन के लिये उन्होंने हठयोग को वरणीय माना है। वेदांत और योग में उन्होंने मिथ्याचार अथवा दंभाचार की कहीं गुंजाइश नहीं पाई, परंतु वेदांत और योग की अटपटी उक्तियों से वे पहुँचे हुए हठयोगी किंवा गुरु गोरखनाथ की भाँति बहुत ऊँचे सिद्ध महात्मा सिद्ध नहीं होते। सिद्ध महात्माओं के सत्संग के कारण वे हठयोग की महत्ता

और उसके रहस्यों से परिचित अवश्य हो गए थे और हठयोग की लोकोत्तर सिद्धि और शक्ति के चमत्कार भी उन्होंने देखे होंगे। वे काफी मात्रा में योगाभ्यासी भी रहे होंगे। परंतु मन उनका भक्ति भावनाओं में ही रमता था और इसी लिये बार-बार वे भक्ति भावना के राजमार्ग पर लौट आते थे। सगुण निर्गुण को तत्वतः एक ही स्वीकार करते हुए उपयोगिता की दृष्टि से भेद मानते हैं। वे कहते हैं—

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण कौ करु ध्यान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहै हमारा ध्यान॥

(साखी १०, कर्ता नि०)

इस प्रकार सगुण की भक्ति और निर्गुण का चिंतन (ध्यान) कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है। उन्हें अपने नित्य व्यक्तिगत जीवन के लिये यही मार्ग आचरणीय और समीचीन सा लगता था।

यह मानी हुई बात है कि वे विवाहित गृहस्थ थे। जुलाहे का व्यवसाय उनका पैतृक व्यवसाय था। भिक्षाटन उनकी शांत और अक्खड़ प्रकृति के विरुद्ध पड़ता था। वे किसी सांप्रदायिक योगी के चेले भी नहीं थे। योगाभ्यास बिना किसी योगी की दीर्घकालीन सेवा के होता भी नहीं। गृह त्याग करके किसी योगी के सतत् संपर्क और शिष्यत्व में रहना उनकी जीवनी में कहीं मिलता नहीं। अतः उनका हठयोग और वेदांत संबंधी संपूर्ण ज्ञान बहुत कुछ सत्संगजनित ही था। अभ्यासजनित कम। हाँ अनुभूति अवश्य तीव्र थी। अतः सोऽहम् के सरोवर में उनका 'हंसा' कल्पनालोक में ही केलि करता था परंतु भावलोक में भक्ति ही विराजती थी। जीव की मुक्तावस्था का बोध उन्हें कल्पना में ही रहा होगा। परंतु नित्य जीवन की साधना में वे एक भावुक भक्त थे। शून्यवाद या अजपा जाप या हठयोग को वे भक्ति के सामने नष्टप्राय: अथवा मरा हुआ समझते हैं।

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहदहू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

स्पष्ट है कि प्रस्तुत साखी में शून्य, अजपा, अनहद आदि से बौद्धमत, वेदांत, हठयोग आदि सिद्धांतों अथवा साधनाओं की व्यर्थता की ओर संकेत है और राम-प्रेम या रामभक्ति की महिमा को वे खुल्लमखुल्ला स्वीकार करते हैं। शून्यवादी सिद्धांत की चर्चा मूल माध्यमिक कारिका में आई है। शून्यवाद सब कुछ असत् मानता है। शून्य शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल सत्ता का विरोध या अभाव ही है। बौद्ध माध्यमिक आचार्यों के मौलिक ग्रंथों में इस शब्द का अर्थ नास्ति या अभाव के अर्थ में न होकर अनिवर्तनीयता के अर्थ में है। अनिवर्तनीयता ब्रह्म के संबंध में अद्वैत वेदांत में भी आई है, इसी लिये अद्वैतवादियों को अपने सिद्धांत के प्रतिपादन

के लिये मायिक व्यवहार को अंगीकार करना पड़ा है। बौद्धों के यहाँ आगे चलकर शून्य का प्रयोग एक विशेष सिद्धांत का सूचक बन गया। यह शून्य परमार्थ का सूचक होने से निरपेक्षता का बोध देने लगा। निरपेक्षता तथा अभाव में मौलिक अंतर है। शून्य परोक्ष तत्व को ही कहा गया है अतः माध्यमिक आचार्यों ने 'शून्याद्वैतवाद' का समर्थन किया। यह नानात्मक प्रपंच शून्य का ही विवर्त है। परमतत्व की सत्ता से कोई मुकर नहीं सकता। उसकी सत्ता सर्वतोभावेन माननीय है, परंतु वह इतना अज्ञेय और अकथनीय है कि उसके विषय में किसी प्रकार का शाब्दिक वर्णन नहीं हो सकता। अतः केवल द्वैती और शून्याद्वैती इस बिंदु पर एक हो गए हैं। इसी कारण शायद शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया।

कबीर का शून्य निस्संदेह ब्रह्मबोधक शांकर शून्य है—

सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।
सुधा सिंधु सुख विलस ही, विरला जानै भेव ॥

वे प्रपंच की निंदा और माया के हेयत्व के लिये शांकर तर्कों को ही अपनाते हैं। वैधी भक्ति के भक्त्याचार्यों की भाँति माया की गर्हणा के लिये कबीर शांकर सिद्धांत से पोषण प्राप्त करते हैं। पर वे मूलतः अद्वैत साधक नहीं, अन्यथा 'शून्यमरै, अजपा मरै', न कहते। 'राम सनेह' ही उन्हें राजमार्ग लगा था और भक्ति तत्व उन्हें अविनाशी तत्व प्रतीत हुआ था। इसी कारण वे निर्विकल्प स्वर से 'राम सनेही ना मरै' की उद्‌घोषणा करते हैं। इसी प्रकार 'अजपा मरै' कह कर वे हठ योगियों के सिद्धांत का निराकरण करते हैं। अजपा को योगियों की गायत्री माना गया है—

अजपा योगिनां गायत्री।

व्यक्तिगत साधना के लिये कबीर को योग अथवा हठ योग भी स्वीकार्य नहीं। कबीर ने अनेक थोथे मतवादों और सिद्धांतों को अस्वीकार करते हुए कहा है—

अगम अगोचर धाम धनी को सबै हियाँ ते जाना।
दिखै न पंथ मिलै नहिं पछी ढूंढ़त और ठिकाना॥
कोऊ ठहरावैं शून्यक कीन्हा जोति एक परमाना।
कोऊ कह रूपरेख नहिं वाके, **धरत कौन को ध्याना॥**

यदि वह रूपरेख रहित निर्गुण है तो लोग ध्यान किसका करते हैं। अतः कबीर इस दृश्य जगत के कर्ता को ध्यान के लिये अनिवार्यतः स्वीकार करते हैं—

रोम रोम में पगटकर्ता काहे भरम भुलाना।

यहीं से कबीर की समस्त साकार भावना स्पष्ट हो जाती है। कबीर के वचनों का प्रथम संग्रह बीजक को माना जाता है। बीजक में ही उनके सगुण-

साकारवादी कथन यत्र-तत्र मिल जाते हैं। सगुण निर्गुण की मिलीजुली समन्वित उपासना पद्धति को कबीर ने महाराष्ट्र के संतों से लिया है। कबीर ने अपनी आराध्य संतपरंपरा में संत नामदेव को सर्वाधिक श्रद्धा और आदर दिया है। नामदेव महाराष्ट्र के संत थे जो महाराष्ट्र से पंजाब चले गए थे। पंढरपुर में विट्ठल मंदिर के प्रथम सोपान पर प्रणाम करते हुए उन्होंने अपना देह त्याग किया था, जो आज भी वहाँ 'नाम देवाचीं पायरी' कहलाता है। नामदेव की भक्तिसाधना ही कबीर की आदर्श भक्तिसाधना थी। इसी कारण कबीर ने भी नामदेव के इष्टदेव 'विट्ठला' को अपने पदों में भावभीने शब्दों में याद किया है। अन्यथा कबीर का विट्ठल से क्या संबंध ! वे कहते हैं—

मन के मोहन बीठुला यह मन लागौ तोहिरे।
चरन कमल मन माजिया, और न भावै मोहिरे॥

आगे एक स्थान पर वे कहते हैं—

गोकल नाइक बीठुला मेरा मन लागौ तौहिरे।
बहुतक दिन बीछुरैं भयें, तेरी ओसेरि आवै मोहिरे॥

प्रस्तुत पंक्तियों में विट्ठल को उसी प्रकार स्मरण किया गया है जैसे कोई प्रोषित पतिका अपने प्रियतम को याद करती है विरहतत्व प्रेम लक्षणा भक्ति का बीज तत्व है। कबीर के बीजक पदों के बीठुला, गोकुल आदि शब्दों के अर्थ भक्ति-परंपरा स्वीकृत अर्थों के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ देने वाले नहीं हो सकते। इन पदों में आगे चलकर अद्वैत सिद्धांत और योग की भी शब्दावली आई है। वह दक्षिण की संतपरंपरा की परिपाटी पर ही है। दक्षिणी संतपरंपरा का उद्घोष है—

अद्वैतेचि चालो अक्षयी भक्ति योग।

कबीरपूर्व महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वर एवं कबीर-समसामयिक संत नामदेव, एकनाथ तथा परवर्ती संत तुकाराम की शब्दावलियाँ समझ लेने पर कबीर की कथन-शैली और भक्ति परंपरा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

संत नामदेव के वाङ्मय में 'बाबा, सद्गुरु, प्रह्लानंद, बिठुला, नरहरि, रामा, गोविंदा, माधवा आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है और युगपत् सिद्धांत तथा योग की भी चर्चा मिलती है और उसी के बाद वे एकदम सगुण तथा साकार पर आ जाते हैं और लगभग यही पद्धति कबीर की है। अतः पहले नामदेव की उक्तियों को लीजिए—

बाबा अहंकार निश घन दाट। बाबा संबोधन कबीर की भी शैली है। कबीर कहते हैं—

> **१. लावौ बाबा आग जलावौ घरारे।**
> **का करनि मन धंधै परारे॥**
> **नहिं छाड़ौ बाबा राम नाम,**
> **मोहि और पढ़न सूँ कौन काम।**

इसी प्रकार 'राम, राया, ज्ञानराया मराठी संतों की शैली है। कबीर इसी शैली में कहते हैं—

गोविंदे तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन रामा,।

महाराष्ट्र संतों ने विट्ठल को पिता, रुक्मिणी को माता माना है—

बापु रखुमा देवी वरू विट्ठल गोविंदु
अमृत पान गे माये।—अभंग संग्रह

फिर महाराष्ट्र संत सद्‌गुरु पर निष्ठा, सगुण निर्गुण के समन्वयपूर्वक नाम-माहात्म्य पर बल देते हैं। वे एक ओर गान की और ध्यान की चर्चा करते हैं, दूसरी ओर पांडुरंग की मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध होते हैं। एक ओर विट्ठल को पिता और रुक्मिणी को माँ स्वीकारते है दूसरी ओर कांताभाव में विह्वल भी होते हैं। एक ओर जप, ध्यान, तिलक, कंठी, बुक्के की चर्चा करते हैं तो दूसरी ओर मन से, मन की ही गंगा-यमुना में स्नान की सलाह देते हैं। कहना व्यर्थ है कि सगुण निर्गुण, निराकार, साकार का इतना उदार समन्वय और भक्ति भावना का इतना विशाल मुक्त क्षेत्र विरासत में कबीर को दक्षिण के महाराष्ट्र संतों से ही मिला था। उन पर महाराष्ट्र संतों का प्रभाव दिखाना यद्यपि यहां पर अभिप्रेत नहीं है परंतु यह एक स्वतंत्र शोध का विषय अवश्य है। आज तक कबीर की भक्ति पद्धति पर गड्‌डलिका न्याय से ही विचार हुआ है। उनको कोरा निर्गुण निराकार वादी संत ठहरा कर उनकी भक्तिभावना के प्रति पूर्ण न्याय नहीं किया गया। उनकी व्यक्तिगत भाव-भीनी प्रेमोपासना सगुणोपासकों जैसी आर्द्र, सांद्र है और वह भी कांताभाव-संमित है। उसमें भी विरह की टीस बीज भाव में विद्यमान है। उनको इस क्षेत्र में मीरां के समकक्ष लाकर बैठाया जा सकता है।

इनकी भक्ति भावना का स्वरूप स्पष्टतः समझने के लिये उन पर थोड़ा सा महाराष्ट्र संतों का प्रभाव दिखाना यहां समीचीन होगा। महाराष्ट्र संतों ने विट्ठल, गोविंद, हरि, माधव, नरहरि, श्रीरंग आदि भगवान के सगुण नामों पर अनेक अभंग लिखे हैं। अभंग भगवत् कीर्तन के पदों को ही कहते हैं। कबीर ने अपने पदों का

बीजक नाम अभंग शब्द से ही प्रेरित होकर दिया है। रहस्यमय अविनाशी तत्व ही बीज या बीजक होता है। यही अभंग शब्द का तात्पर्य है। महाराष्ट्र में जो अभंग साहित्य का स्थान है वही कबीर पंथ में बीजक का है।

कबीर के बीजकों में विट्ठल, नरहरि, गोविंद, माधव आदि नामों की चर्चा इस प्रकार है—

१. मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
२. इहि पर नरहरि भेटिये, तूं छाडि कपट अभिमान रे।
नरहरि सहजै जिन जाना।
३. रसना रसहि विचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे।

श्रीरंग दक्षिण का और विशेषकर महाराष्ट्र संतों का भगवान्‌वाची विशिष्ट शब्द है।

४. अच्यंत च्यंत ए माधौ सो सब माहिं समाना।
५. हरि जननि मैं बालक तेरा।
६. गोव्यंदा गुण गाइये रे, ताथे भाई पाइये परम निधान।
७. माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी।

कबीर का 'अवधू' शब्द भी महाराष्ट्रीय संत संप्रदाय का प्रसाद है। अवधूत श्रीदत्तात्रेय की जितनी मान्यता महाराष्ट्र में है उतनी उत्तर भारत में नहीं। श्रीदत्तात्रेय की चर्चा श्रीमद्‌भागवत के एकादश स्कंध में आई है। उनकी आजगरी वृत्ति बड़े बड़े महात्माओं और संतों की स्पृहणीय और वरणीय थी। श्रीदत्तात्रेय प्रथम अवधूताचार्य हैं। अवधूत गीता में उनके सिद्धांतों की चर्चा है। दत्तपंथ महाराष्ट्र के प्रमुख पांच पंथों में है। कबीर ने अपनी अनेक उलटबांसियां 'अवधू' के नाम से कहीं हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा की चर्चा वाले अधिकांश पद अवधू के नाम से हैं। त्रिकुटी समाधि कथा, झोली बटुवा, अनहद की चर्चा वाले पद जोगी या जोगिया को संबंधित करके कहे गए हैं। समन्वयवादी कबीर ने दत्तात्रेय के अवधूतों के पंथ को और गोरखनाथ आदि के नाथ पंथ को मिला दिया है। महाराष्ट्र में ये दोनों पंथ कबीर से पूर्व ही मिली जुली स्थिति में आ गए थे। दत्त पंथ में प्रारंभ में परमहंसचर्या की प्रधानता थी। केवल कौपीन ही एक मात्र परिग्रह था। परंतु बाद में नाथ पंथ के आ मिलने से विभूति, कुंडल, मुद्रा, कनफटे कुंडल, त्रिपुंडी, किंकरी, त्रिशूल, पादुका, मृगचर्म, बुक्का, काला गंडा आदि (जोगियों की विशिष्ट वेषभूषा) उन्हें भी ग्राह्य हो गई। गुरु भावना दोनों ही पथों में सर्वोपरि थी। कबीर में सद्‌गुरु निष्ठा का स्वर जो सब से ऊंचा सुनाई देता है, उसका बहुत कुछ कारण इन दोनों पंथों में अतिशय मान्य गुरु भावना है।

कबीर की निषेधात्मक शैली—

ना तू नारी, न तू पुरुष।

नाद नाही, बाद नाहीं, काल नहीं काया।

आदि दत्त संप्रदाय की अवधूत गीता की निषेधात्मक शैली के अनुकरण पर है। अवधूत गीता में सब कुछ नकारात्मक है। इसी प्रकार कबीर की आरती शैली पर है। देखा गया है कि उत्तर भारत की आरती शैली में निर्गुण चर्चा नहीं होती। महाराष्ट्र में भगवान् की आरती में निर्गुण चर्चा भी होती है। वहां संतों की भी आरती होती है। कबीर की आरती में भी वही झलक देखने को मिल जाती है। द्विपदी, अष्टपदी तथा अन्य काव्य शैलियों की विविधताओं की प्रेरणा कबीर को महाराष्ट्र संतों से मिली। आगे चलकर इस परंपरा पर हिंदी कवि नहीं आ सके। इसका रहस्य यही है कि उनपर महाराष्ट्र संतों का प्रभाव नहीं दीख पड़ता। वे महाराष्ट्र संतों के सपर्क में आए ही नहीं।

कबीर पर महाराष्ट्र संतों का प्रभाव संक्षेप में दिखाने का यही प्रयोजन है कि महाराष्ट्र संत नामदेव का कार्यक्षेत्र पंजाब था और उनकी उपासना पद्धति महाराष्ट्री थी। उनकी समन्वित भाषा, निर्गुण सगुण का समन्वित दृष्टिकोण, दत्त तथा गोरख पंथी प्रभाव, अभंग कीर्तन पद्धत्ति, सद्‌गुरु निष्ठा आदि सब कुछ वे अपने साथ लाए थे। नामदेव का समय विक्रमीय पंद्रहवीं शताब्दी है। लगभग यही समय कबीर का भी है। महाराष्ट्र के संत-चरित्र-लेखकों में कबीर की पंढरपुर यात्रा और नामदेव से भेंट की चर्चा भी की है।

इस दृष्टि से विचार करने पर कबीर साहित्य के अनुशीलन में कई नई दृष्टियां प्राप्त होती हैं। महाराष्ट्र के संत-चरित्र-लेखकों का आधार 'जन्मसाखी श्रीनामदेवजी' के लेखक कोई पूरणदासजी थे जिन्होंने १८९८ में गुरुमुखी में उक्त ग्रंथ की रचना की।

कबीर विशेष कर महाराष्ट्र संतों के संपर्क में नामदेव के निकट आए थे, यह निर्विवाद है। उन्होंने वारकरी संतों की पंढरपुर की भक्ति यात्रा (वाणी) की थी। यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है।

ऐसी स्थिति में कबीर भक्ति क्षेत्र में निश्चय ही सगुण साकारोपासक सिद्ध होते हैं। अन्यथा कोई निर्गुण संत निरुद्देश्य उस समय उतनी कष्टसाध्य पंढरपुर की यात्रा कभी न करता। नहीं, उसे वहाँ जाने की आवश्यकता थी। अब देखना है कि कबीर की निजी भक्ति का स्वरूप कैसा है। कबीर को रामनाम की दीक्षा मिली थी अतः अनेक पद जिनमें रामनाम की चर्चा है प्रायः भक्तिपरक ही हैं। उन्होंने अपने राम को दशरथि राम से बिलग करके उस पूर्ण ब्रह्म माना है। तुलसी

की भाँति पूर्ण ब्रह्म को 'दशरथ-अजिर-बिहारी' स्वीकार न कर सके। 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ' को दशरथ-सुत-रूप दिखाना, राम रहीम की एकता स्थापित करनेवाले कबीर के लिये कठिन था। शायद 'तिहुँलोक' से उनकी मथुरा न्यारी थी जो उनके राम में रहीम आ मिला। इसी कारण 'रहीम' में वे दशरथ-अजिर-बिहारी नहीं पा सके। क्योंकि उन्हें हिंदुओं के साथ-साथ मुसलमानों का भी धार्मिक नेतृत्व करना था। अतः अपने राम का वे इस प्रकार निरूपण करते हैं—

राम के नाम इंसान बागा, ताका मरम न जाने कोई।
भूख त्रिखा गुण वाकै नाहीं, घट घट अंतरि सोई॥
वेद विवर्जित, भेद विवर्जित, विवर्जित पापारुं पुण्यै।
ज्ञान विवर्जित, ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुंन्य॥
भेष विवर्जित, भीख विवर्जित, विवर्जित डयंभक रूपं।
कहैं कबीर तिहुँलोक विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥

इस प्रकार घट घट वासी का वेद विवर्जित, भेद विवर्जित तथा ग्यान-ध्यान-विवर्जित नकारात्मक शैली में निरूपण तो सरल था, क्योंकि वह तो सबको स्वीकार्य था। अतः उसका यह रूप सार्वभौम भक्ति के लिये सुलभ मानकर कबीर उसका खुलेआम प्रतिपादन करते हैं। पर दशरथसुत का वे सार्वभौम रूप अपने समसामयिक को नहीं समझा पाते अतः उसे स्वीकार नहीं करते। यों वे उनकी दुष्टदलन शक्ति से प्रसन्न हैं। दुष्टदलनवाले अवतारों पर उनकी आस्था है। अतः नरसिंह (नरसिंघ) के करुणा और क्रूरता भरे अवतार की वे प्रशंसा करते हैं।

तत्वस्वरूप रामरहस्य को शाक्तों से बचाने की उसी प्रकार सलाह देते हैं, जिस प्रकार शंकर ने पार्वती से कहा था—'गोपीनीयं, गोपनीयं, गोपनीयं प्रयत्नतः।' कबीर कहते हैं—

राम राम राम रमि रहिये, साषित सेती भूल न कहिये।
का सुन हां कौं सुमृत सुनायें, का साषित पैं हरि गुन गायें॥

राम के प्रति कबीर के अनेक भाव हैं। यदि उन्हें स्थूल रूप में विभक्त किया जाय तो उन्हें दो भागों में सुविधा से बाँटा जा सकता है—प्रथम सामाजिक और दूसरा व्यक्तिगत। उनकी सामाजिक रामभक्ति-भावना में चरम दैन्यविह्वल निवेदन, निश्छल प्रणति के दर्शन होते हैं और संपूर्ण मर्यादा के साथ। इस भक्ति में वे कहीं विनम्र दास्यभाव लिए हुए हैं तो कहीं उनके प्रति पितृभाव। वारकरी संतों ने विट्ठल को अपना बाप और रखुमा (रुक्मिणी) को अपनी माँ माना है 'तू माझी माउली' की प्रायः सभी महाराष्ट्र संतों ने आवृत्ति की है। कबीर भी 'हरि जननि मैं बालक तोरा' उसी गलदश्रु भाव से कहते हैं, जिस प्रकार महाराष्ट्र

संत चरम दास्यभावापन्न प्रणति से। यहाँ तक कि वे अपने को भगवान का कुत्ता स्वीकार करते हैं—

> कबीरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
> गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥
> तौ तौ करैं तो बांदुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाऊँ।
> ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जौ देवै सो खाऊँ॥[1]

कबीर में कुत्ते जैसी स्वामी, निर्भरता और आश्रयभावना कूट कूट कर भरी हुई है। भगवान पर अपने को सर्वतोभावेन निर्भर कर देना भक्त का एकमात्र कर्तव्य है। इसी में उसका चरम विश्वास प्रकट होता है। अन्यथा तो दिखावा मात्र है। मानव समाज के लिये भक्ति के इन सर्वमान्य तत्वों का उपदेश देते हुए कबीर ने विश्वास और आस्था पर बल दिया है। 'मोर कहाइ करइ नर आसा, कहहु तो कहा मोर बिस्वासा' के अनुसार भक्त कहलाने वाला धिक्कार का पात्र बनता है। कैसी भी भक्ति हो बिना सेवक सेव्य भाव के निष्पन्न नहीं होती।

भक्ति के लिये अत्यधिक द्वैत अनिवार्य है और उसमें भी आराध्य के प्रति निरवधिक अनंत अनवद्य कल्याण गुणत्वज्ञान पूर्वक स्वामीयत्व भाव सहित अपने प्रभु को सांसारिक समस्त वस्तुओं से अनेक गुणाधिक मानते हुए सहस्रों अंतरायों के होते हुए भी अप्रतिबद्ध निरंतर प्रेम प्रवाह बना रहे तभी भक्ति है। कबीर की प्रेम और पतिव्रता वाली साखियों में निरवधिक प्रेमाभक्ति के सब लक्षण मिलते हैं। ऐसी भक्ति के लिये आलंबन की नितांत आवश्यकता है भले ही वह प्रस्तर अथवा धातु की निर्मित मूर्ति न हो परंतु भक्त के हृदय में उसकी मानसमूर्ति तो अवश्य होनी चाहिए। उसके अप्रतिम सौंदर्य, अजित शक्ति और अनिवार्य क्षमता की अनुभूति उसे अवश्य हो।

कबीर की दूसरे प्रकार की निजी भक्तिभावना मानव हृदय की चिर अभिलाषमयी रतिमूला प्रेमलक्षणा कांतासक्ति है। अप्रतिम सौंदर्य, अजितशक्ति और अनिवार्य क्षमता के दर्शन कबीर ने अपने दूलहे राम में किए थे। अतः उनके लिये वे अपना अक्खड़ भाव और पुरुषभाव भूल कर दुलहिन बने और उनके साथ भाँवर डालने के लिये प्रेमविह्वल हुए। राम ही उनके वे अनुपम मोती थे जो उनकी नजर में आए थे। पार्थिव जगत् में भले ही उन्होंने राम के दर्शन न किए हों पर भावलोक में उनका उनके साथ मिलन अवश्य होता था। कल्पना सदैव यथार्थ के पंख पर ही सैर करती है। अतः कबीर की कल्पना के प्रियतम कहीं न कहीं

१. निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग, साखी, १४-१५।

यथार्थ का बाना अवश्य पहने हुए थे[2] और उस प्रीतम के कोटि सूर्य-संकाश दिव्य सौंदर्य को कल्पना के नेत्र से ही नहीं चर्म चक्षुओं से भी देखते होंगे। हाँ उस अपार्थिव सौंदर्य का पार्थिव शब्दों में वर्णन नहीं करते रहे होंगे। क्योंकि पार्थिव सदैव मरणधर्मा है। भक्त कबीर में सौंदर्य का व्यवहारपक्ष है। सौंदर्य के रूप-पक्ष या आकारभावना का अभाव है। अतः वे सगुणवादियों के अवतारधारी प्रिय-तम को प्रकाशमय तो स्वीकार करते हैं पर नखशिखात्मक रूपवान व्यक्तित्व नहीं दे पाते हैं। क्योंकि कबीर में लीला भावना का अभाव है, अतः वे अपने आराध्य की साकारता को मन में स्वीकार करते हुए भी कहते नहीं। परंतु साकार विष्णु-मूर्ति की भावना उनके हृदय में है।

जाके नाभि परम सु उदित ब्रह्म, चरन गंगा तरंगरे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं जगत गुरु गोव्यंदरे॥[3]

सगुण साकार भक्तों के स्वर में स्वर मिलाकर वे एक स्थान पर कहते हैं—

भजि नारदादि सुकादि बंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजसि भूषण पिया मनोहर, देव देव सिरोमनि॥[4]

देवाधिदेव शिरोमणि जिस मनोहर पिया की वे चर्चा करते हैं, उससे उनका निजी भाव कांताभाव है। उनके दास्य भाव और मातृ-पितृ-भाव का ऊपर संकेत दिया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनके मधुर भाव की चर्चा की जाती है। कांता-भाव या मधुरा भक्ति के यावन्मात्र उपासक सगुण साकारोपासक हैं। मुस्लिम सूफी संतों को साकार भावना से बचने के लिये और अपने इस अभाव की पूर्ति के लिये ऐतिहासिक व्यक्तियों का पल्ला पकड़ना पड़ा। ये लोग प्रेमी नायक नायिकाओं के पार्थिव प्रेम को खींच कर दिव्य धरातल पर ले जाने के प्रयत्न में लगे रहे। हिंदी साहित्य में अकेले कबीर ही ऐसे भक्त हैं जो कांताभाव में डूबकर भी अपने प्रिय के नखशिख अथवा उसके रूपसौंदर्य की चर्चा नहीं करते। प्रिय को साकार न मानना व्यवहारिक दृष्टि से नितांत असंभव है। कबीर में प्रेम की संपूर्ण अनुभूतियाँ

२. आया था संसार में देखन को बहु रूप।
कहैं कबीर संत हो, परि गया नजर अनूप॥
वेदांत के स्थूल विराट् और हिरण्यगर्भ को मान कर भी भागव-तोक्त कारणजगत् को नहीं स्वीकार कर पाते। अतः कबीर अवतार-लीला से अछूते रह जाते हैं।

३. पदावली, पद ३६०।

४. वही, पद ३६२।

हैं। पूर्व राग से लेकर उत्सुकता भरी पिय मिलन की एकांत कोठरी तक सारे सोपानों की उन्होंने क्रमशः चर्चा की है—किसी अनुभूतिशीला पति परायणा प्रणयासक्ता नारी की भाँति। यौवनमत्ता दुलहिन रामदेव पाहुने ('पाहुणे' मराठी में दूल्हा तथा जमाई के लिये प्रयुक्त होता है) के साथ भांवर डालती है। प्रिया को बिना कुछ करे धरे सुख सुहाग मिल जाता है। बहुत दिनों में बिछुड़े प्रिया प्रीतम मिलते हैं। प्रिया जबर्दस्ती उलझती है। प्रियतम को अपने प्रेम में उलझा कर रखती है। मन मंदिर में अहोरात्र वास देती है। एकांत कोठरी मे पलंग बिछाया जाता है। पर्दा डाला जाता है और प्रियतम को (हाव-भाव-कटाक्षों से) रिझा लिया जाता है।

संयोग के संपूर्ण चित्र तो कबीर में हैं ही, वियोग की अनुभूतियाँ भी कम नहीं। प्रोषितपतिका की भाँति संदेश भेजे जाते हैं और आने की प्रतीक्षा की जाती है। प्रेम पाती लिखी जाती है। प्रतीक्षा करते करते आंखों में झाँई पड़ जाती हैं। प्रिय का नाम रटते-रटते जीभड़िया में छाले पड़ते हैं। विरहिणी अपने प्रियतम को एक पलक नहीं भूलती। प्रेम पत्र का मसौदा इतना ही है—

यह तत वह तत एक है एक प्रान दुई गात।
अपने जिय से जानिये मेरे जिय की बात॥

(११० साखी)

अतीत के मानजन्य कलह को याद करके विरहिणी को कर्तव्यबोध होता है। पश्चात्ताप भी होता है—

पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान॥

कबीर को प्रेम करना, प्रेम रखना, प्रेम निभाना सभी कुछ आता था—

नेह निभाए ही बनै, सोचै बनै न आन।
तन दे मन दे सीस दे, नेह न दीजे जान॥ १२८

विरहिणी या तो मृत्यु चाहती है या दर्शन—

'कै विरहिणी को मीच दै कै आपा दिखलाय' क्योंकि आठों पहर का जलना विरहिणी को अब सहन नहीं। विरहिणी कुछ नहीं चाहती विरह के कमंडलुवाले ये दो वैरागी नेत्र दर्शनभिक्षा चाहते हैं।

विरह कमंडलु कर लिये वैरागी दो नैन।
मांगे दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥

सगुणोपासक कांताभाव-भावित भक्तों की भाँति कबीर की तुष्टि प्रियतम के दर्शन मात्र से ही हो जाती है। कांताभाव भावित भक्त कबीर का पुरुष भाव अष्ट-छापी भक्तों की भाँति विलुप्त हो जाता है और वे अपने को किसी समर्थ विभु प्रभु की विरहिणी बहुरिया के रूप में ही पाते हैं। प्रेम के आवेश में वे पतिप्राणा भार्या का संपूर्ण भावलोक आत्मसात् कर लेते हैं। प्रिय के आने पर यदि प्रकाश नहीं होगा तो वह तन के दीवले में प्राणों की वत्ती को अपने रक्त के तेल (स्नेह) से ही सींचेगी।

उस प्रकाश में प्रिय का मुख देखेगी। आगे चलकर मन की चिंता अभिलाषा का रूप ले लेती है। वह कैसा स्वर्णिम दिवस होगा जब प्रिय हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लेंगे।

सो दिन कैसा होयगा पिया गहैंगे बाँह।
अपने घर बैठावहीं चरन कंवल की छांह॥

विरह वेदना के अनंत अनुभूत चित्र कबीर के काव्य में भरे हैं। उस आधार पर उन्हें कांताभावापन्न परमोच्च भक्त कहा जा सकता है। कबीर की कांतासक्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि वे वैध प्रेम में ही विश्वास करते हैं। किसी सगुणोपासक भक्त ने इतने समारोह के साथ अपना विवाह अविनाशी पुरुष के साथ नहीं कराया। दूसरी बात यह है कि प्रेम की सर्वोच्च स्थिति वे आचार्य वल्लभ की भाँति स्वकीया में ही स्वीकार करते हैं। चैतन्य का परकीया प्रेम, उन्हें परमात्मा से भी स्वीकार नहीं। यह उनकी परमोच्च आचारनिष्ठा है। आगे चल कर फिर न तो किसी लौकिक सगुणोपासक का इतना साहस हुआ कि वह उस अविनाशी से विवाह करे और न वह उस एकांत प्रेम को व्यक्तिगत रूप से व्यक्त कर सका। सगुणोपासक या तो राधा के माध्यम से अथवा गोपियों के माध्यम से प्रियतम पर पहुँचने लगे या फिर कहीं कहीं स्वामिनियों के नेतृत्व में यूथ बनाकर सखी अथवा सहचरी भाव से पहुँचे। कबीर की तरह धूमधाम से विवाह कर अविनाशी की पत्नी बनने का साहस शायद किसी को नहीं हुआ। यही उनकी मौलिकता है।

भगवान की उपासना को लौकिक कामना से पंकिल कर उसे यांत्रिक बना कर चलाने वाले भक्तों के पास कबीर जैसी मार्मिक अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। न निर्गुणियों, निराकारवादियों के पास वैसी अनुभूति हो सकती है। इसी लिये कबीर निर्गुण संतों की पंक्ति से भी अलग खड़े प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः कबीर सुधारक और भक्त दोनों ही हैं। उनके सुधारवादी और समन्वयवादी दृष्टिकोण ने उन्हें एक ओर कटु आलोचक दूसरी ओर मार्मिक चिंतक

बना दिया। परंतु उनका मूल रूप सगुण साकारवादी भक्त का ही है। वे भक्ति के क्षेत्र में दंभ, स्वार्थ, छल, प्रपंच, दिखावा मिथ्याचार आदि पसंद नहीं करते थे। जिन उपासना पद्धतियों में उन्हें सदाचार, संयम, कठोर साधना, देह गेह के प्रति नश्वर बुद्धि, भूतदया, अहिंसा, करुणामैत्री, मुदिता आदि के दर्शन हुए उनको ही उन्होंने सराहा, समझा और अपनी दाद दी। छाप दी। परंतु जहाँ उन्हें दंभ, कपट, मिथ्याचार, हिंसा, छल एवं स्वार्थ दीखा वहीं उन्होंने कस कर कशाघात किया। वे हिंदू मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे। अतः राम रहीम के भेद मिटाने की दृष्टि से ही भगवान का साकार रूप समाज के सामने स्पष्ट स्वीकार नहीं करते किंतु अपनी एकांत प्रेम लक्षणा भक्ति के लिये उनके मानस मंदिर में अवश्य ही कोई साकार मूर्ति समाई हुई थी और इसी लिये उन्हें सगुण साकारोपासक भक्तों में रखना समीचीन होगा।

*

द्विज पशुपतिकृत चंदावलि

शालिग्राम गुप्त

असम और अविभाजित बंगाल में प्रचलित विशुद्ध गाथाओं के बीच से आज तक बहुत कम प्रणयगाथाओं का संग्रह एवं प्रकाशन हो सका है। ऐसा लगता है कि प्रणयगाथाओं की अपेक्षा धार्मिक संस्कार से संत्रस्त गाथाओं का प्रचलन ही उपर्युक्त क्षेत्रों में इसकी कमी का मूल कारण रहा है। असम और बंगाल में प्रचलित विशुद्ध प्रणयगाथाओं के मध्य सर्वाधिक प्रचलित एवं अनेक कवियों द्वारा अनेक रंगों में रँगकर प्रस्तुत की जानेवाली गाथा है 'मृगावती' की। ई० सन् १५०३ में सुहरावर्दी संप्रदाय के शेख बुधन या बुढन के शिष्य कुतुबन ने और ई० सन् १७८० में ओरछा निवासी मेघराज प्रधान ने 'मृगावती' प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की थी। हिंदी में मृगावती की कथा को लेकर जिस प्रकार उपर्युक्त कवियों ने उसका भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत किया है उसी प्रकार असम बंगाल के दो हिंदू और आठ मुसलमान कवियों ने भी १७ वीं शती के तृतीय चतुर्थांश से लेकर २० वीं शती के प्रथम चतुर्थांश के बीच मृगावती आख्यान को लेकर दस आख्यानक काव्यों की रचनाएँ की हैं।

दो हिंदू कवियों में से प्रथम हैं असम के कवि द्विजराम, जिन्होंने संभवतः १७ वीं शती के अंतिम चतुर्थांश में 'चाहापरी उपाख्यान वा मृगावती चरित' (लि० काल १७६० ई०) की रचना पुरानी असमिया अथवा कामरूप उपभाषा में की। प्रस्तुत रचना डा० महेश्वर नेओग, अध्यापक गुवाहाटी विश्वविद्यालय द्वारा संपादित होकर १९५८ ई० में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत उपलब्ध रचना से न लेखक का कोई परिचय प्राप्त होता है और न ग्रंथ-रचनाकाल ही ज्ञात होता है। किंतु द्विजराम के काव्य का कथारूप एवं पात्रों के नाम मुस्लिम देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपने किसी पूर्ववर्ती मुस्लिम कवि के काव्य की कथावस्तु को आधार बनाकर अपने उपाख्यान की सृष्टि की होगी। द्वितीय हिंदू कवि हैं बंगाल के द्विज पशुपति, जिनकी कृति 'चंद्रावलि' की एक हस्तलिखित प्रति डा० सूर्यकांत भुंजइ को गौरीपुर के सरकार पाड़ा (असम) से कुछ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिलिपि श्री धन महाम्मद सरकार और श्री शेख कानडू सरकार ने १२६५ बंगाब्द अर्थात् १५८५ ई० में की थी। उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति का पाठ,

प्रकाशित पाठ[1] से कुछ भिन्न है। 'चंद्रावलि' से उसके रचयिता एवं रचनाकाल के संबंध में कुछ भी सूचना उपलब्ध नहीं होती। अनुमान से ई० सन् की १७ वीं शती का तृतीत चतुर्थांश 'चंद्रावलि' का रचनाकाल माना जा सकता है। प्रस्तुत काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि सूफी मत या सूफी काव्य वातावरण के प्रभाव से यह नितांत अछूता है अथवा यह कहें कि 'चंद्रावलि' की कथा और उसका विस्तार किसी विशिष्ट जीवनदर्शन से प्रेरित नहीं लगता।

मुस्लिम कवियों द्वारा रचित 'मृगावती' आख्यान की परंपरा में सर्वप्रथम हैं–संभवतः श्रीहट्ट (सिलहट) निवासी खलील, जिन्होंने १७३२-१७३३ ई० के आसपास श्रीहट्ट नागरी लिपि में 'चंद्रमुखी' की रचना की थी। उपर्युक्त प्रकाशित रचना की कथा का उपक्रम 'मृगावती' आख्यान के समान किंतु छोटे रूप में है। १८ वीं शती के मध्य तक 'चंद्रमुखी' आख्यान का बंगाल में खूब प्रचार हो चला था। फलस्वरूप उसकी लोकप्रियता से प्रभावित हो उसी कथा का इस्लामी रूपांतर १६ वीं शती में मुहम्मद अकबर ने 'गुल सनौवर' रचकर प्रस्तुत किया। 'मृगावती' नामक तीसरे आख्यान काव्य के रचयिता हैं मुहम्मद मुकिम, जिनका काव्यकाल १७६०-१७८० ई० के बीच माना जाता है। रचना का केवल उल्लेख मात्र मिलता है। १६ वीं शती में मुहम्मद आवेद और करीमुल्लाह ने क्रमशः 'चंद्रावली' और 'यामिनीभान' नाम से मृगावती आख्यान को ही प्रस्तुत किया। खेद है कि उपर्युक्त दोनों ही कवियों एवं उनके काव्यग्रंथों के बारे में कुछ भी उल्लेखनीय विवरण प्राप्त नहीं। इसी शती के तीसरे कवि हैं मिरजापुर निवासी एबादतुल्ला और सेबादतुल्ला, जिन्होंने १८४५ ई० में मृगावती आख्यान का गीतिप्रधान अनुवाद 'कुरंगभानु' नाम से प्रस्तुत किया। २० वीं शती के प्रथम चतुर्थांश के शेष दो कवि हैं शाफातुल्ला सरकार और मुंशी महम्मद खातरे, जिन्होंने क्रमशः १६१२ और १६१६ ई० में 'विश्केतु चंद्रावली' और 'मृगावती यामिनीभान ओ रुकमनि परी की कथा' नाम से अपनी अपनी रचनाएं प्रकाशित कराईं। उपर्युक्त दोनों ही प्रकाशित ग्रंथ उपलब्ध हैं किंतु दोनों ही कवियों ने ग्रंथरचना का कोई उल्लेख नहीं किया है। अनुमान से ये दोनों ही रचनाएँ १६ वीं शती के अंतिम चतुर्थांश की मानी जा सकती हैं। चेल्टू सरकार के पुत्र शफातुल्ला सरकार कोचबिहार (कूचबिहार) निवासी, मेखलीगंज थानांतर्गत चांडा बाधा नामक ग्राम के निवासी थे। मुंशी महम्मद खातेर

१. 'चंद्रावलिर पुथि' (रायल आकार के २७५ पृष्ठों में समाप्त)—प्रकाशक सोलेमानी सुलभ पुस्तकालय, ३३७, अपर चितपुर रोड, गरणहाटा, कलकत्ता। प्रकाशनतिथि नहीं दी हुई है, टाइप और कागज अति प्राचीन हैं। अनुमान से पुस्तक ८०-८५ वर्ष पूर्व छपी होनी चाहिए।

ने केवल अपने को गोविंदपुर का निवासी बतलाया है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त कवियों का अन्य कोई परिचय प्राप्त नहीं।

द्विज पशुपति 'चंद्रावलि' काव्य रचना के पूर्व निरंजन की वंदना और सरस्वती के चरणों में कोटि नमस्कार करता हुआ काव्यरचना में प्रवृत्त होता है। रचना की आरंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

निरांजनेर करनि सब एकिन जानिबे।
जार जे ललाटे लेखो अवश्य हइबे॥
शृजन पालन सेहि ईश्वर करता।
जत देख संसारे ते ताहार शृजिता॥
स्वरेस्वतिर पदे मोर कटि नमस्कार।
रचिब चंद्रावलिर पुस्तक करिया प्रचार॥

असम से प्राप्त 'चंद्रावलि' रचना का कथा सार सविस्तार इस प्रकार है—

पश्चिम देश में एक उज्वल नगरी है कनकानगर। राजा अश्वकेतु के विवाह के बारह वर्ष हो गए, लेकिन संतान न होने से वे बहुत दुखी थे। रानी ने बड़ी भक्ति से देवी काली की पूजा की। देवी ने प्रकट होकर अपनी जटा से पांच फूल रानी को देकर पुत्रवर दिया। पांच दिनों के बाद राजा के संग रानी का रतिप्रेम आरंभ हुआ। यथा समय पुत्रोत्पत्ति हुई। सारे नगर में उत्सव मनाया गया। सात वर्ष की अवस्था में कुँवर का विद्यारंभ हुआ। विद्याशिक्षा के पश्चात् अस्त्रशिक्षा, राजकार्य शिक्षा के साथ रसिक नागर होकर नाना गीत सीखा। अंत में एक उत्तम वैष्णव के पास निगूढ़ वेद का अध्ययन किया। किंतु जब उसने बयालिस स्वरों का गीत सीखना चाहा, तब उसके गुरु ने कहा कि दक्षिण बिहार के श्रीवत्सर राजा मात्र उस गीत को जानते हैं। गुरुदक्षिणा देकर कुँवर घर लौट आया। गुरु ने उसे नाम दिया विश्वकेतु।

'रत्नामय नामक पुरी का एक राजा था चंद्रसेन। पाँच विद्याओं में पारंगत उसे पाँच कन्याएँ थीं। सबसे छोटी कन्या का नाम था चंद्रावली। इंद्र उसके नृत्य को देखकर कामातुर हो गया था। क्योंकि नृत्य करते समय उसका सौंदर्य प्रस्फुटित होता था। एक दिन देवराज इंद्र ने मुंह में तृण लेकर उसे आलिंगन करना चाहा किंतु चंद्रावली ने अस्वीकार किया। इस पर इंद्र ने उसे क्रुद्ध होकर शाप दिया—वह जंगल में मृगी होकर तृण खाकर घूमती रहेगी और १२ वर्षों के पश्चात् विश्वकेतु से उसकी भेंट होगी। वही विश्वकेतु उसका पति होगा एवं कामसरोवर में उतरते ही उसका अभिशाप खंडित हो जायगा।

एक दिन जब विश्वकेतु जंगल में शिकार करने गया तब मृगीरूपी चंद्रावलि को उसने देखा। विश्वकेतु ने जब उसे जीवित ही पकड़ना चाहा, तब वह अपने

रक्षार्थ कामसरोवर में कूद पड़ी। उसी समय उसने विद्याधरी रूप में परिणत हो, विश्वकेतु को अपना परिचय दिया और विमान पर चढ़ कर उड़ गई। कुँवर फिर अपने नगर में नहीं लौटा। राजा रानी ने उसे बहुत समझाया किंतु कुँवर घर वापस आने के लिये तैयार नहीं हुआ और वहीं एक वर्ष तक रहते हुए कन्या के वापस लौटने की प्रतीक्षा करते रहने की अभिलाषा व्यक्त की। राजा ने अनेक दास दासियों को पुरस्कारादि देकर खूब सुंदर घर बनवाया एवं सुमति धाय के हाथ कुँवर को सौंप दिया।

यद्यपि चंद्रावलि पुनः रत्नापुर में लौट आई, परंतु कुँवर के लिये उसका मन हमेशा जलता रहा। रात्रि निद्राविहीन और भोजन रुचिहीन हो गया। अनेक दिनों बाद उसके स्नान का समय हुआ। मधुमास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि के अश्विनी नक्षत्र में चंद्रावलि कामसरोवर में स्नान के लिये अपनी चार बहनों के साथ गई। उसकी बहनों ने सरोवर के आसपास नवनिर्मित भवन देख कर संदेह प्रकट किया। तब चंद्रावलि ने चालाकी से अपनी बहनों से कहा कि कौन हम लोगों को पकड़ सकता है? तब पाँचों बहनें अपने अपने कपड़े सरोवर के किनारे रख कर उसमें उतर कर केलि करने लगीं। इधर जब कुँवर ने अपनी धाय सुमति द्वारा उनके सभी कपड़े छिपवा दिए, तब कोई भी जल से बाहर न निकल सकी। चंद्रावलि ने चतुरता पूर्वक एक कमल के पत्ते पर अपने नख से एक श्लोक लिख कर सरोवर के किनारे फेंक दिया। उस पत्ते को लेने के लिये जब कुँवर और उसके बंधुगण गए तब पाँचों बहनें जल से निकल कर, अपने अपने कपड़े पहन उड़ गईं। प्रणय पीड़ा से कुँवर विलाप करने लगा। धाय ने उसे परामर्श दिया कि इस बार उन लोगों के स्नान करने के लिये आने पर वह जिसे चाहता है, उसी के वस्त्र छिपा दे। पुनः जब विद्याधरी के आने का समय हुआ तब कुँवर और धाय एक गड्ढे में छिप गए। नव निर्मित भवनों को इस प्रकार उजाड़ सा बना दिया मानों उनमें कोई न रहता हो। विद्याधरियाँ इस बार निःसंकोच सरोवर में उतर पड़ीं, किंतु चंद्रावलि सब कुछ मन ही मन समझ गई थी। कुँवर जहाँ छिप कर बैठा था, चंद्रावलि अनजाने ही वहीं पर अपने कपड़े उतार कर रख आई थी। कुँवर ने शीघ्रता से उन कपड़ों को छिपा दिया। स्नानोपरांत उसकी चारों बहनों ने अपने अपने कपड़े पहन लिए। चंद्रावलि अपने कपड़े न पाकर बोली—जिसने मेरे कपड़े चुराए हैं मैं उसे अभिशाप दूंगी। उसकी चारों बहनें वस्त्र पहन कर रत्नामयपुर उड़ चलीं।

कुँवर और चंद्रावलि का प्रेमालाप प्रारंभ हो गया। कुँवर चंद्रावलि को उसके कपड़े न देकर, एक रेशमी की साड़ी पहनाकर अपने घर ले गया। तत्पश्चात् एक दिन कुँवर ने उससे सुरत की माँग की। चंद्रावलि ने उत्तर दिया—

अल्पमति कन्या आमि अविभाहिता नारि।
पुरुसेर संग्राम आमि कभू नाहि करि॥
पुष्पेर कालिका तनू भ्रमरा नाहि बइसे।
अखंड जौवन मोर पुरुशे नाहि हिंसे॥
कुशेर अंकुश मोर नाहिं बिन्धे चरणे।
पुरुसेर जत्रणा आमि सहिब केमने॥

और कहा—मधुमास के शुक्ल पक्ष में मेरी बहनें जब आएँगी, तब वे तुम्हारे साथ मेरा बिवाह कर देंगी। इस बीच तुम निगूढ़ शृंगार के अतिरिक्त मेरे साथ कोई भी रंग क्रीड़ा कर सकते हो। इस तरह वे दोनों मधुर संलाप, शयन, भोजन के साथ-साथ बीच-बीच में पासे खेलते रहे। कभी-कभी मदन राग में नाना गीत गाते और तंबूरा बजाते।

सुमति धाय की सूचना पाकर राजा रानी अपनी बहू को देखने के लिये आए। रानी ने उसे तेल सिंदूर और काजल लगाया और सोचा कि कुंवर और चंद्रावलि को नगर में ले जाकर विवाह कर दें। किंतु चंद्रावलि ने कहा कि उसकी बड़ी बहनों के आने पर ही उसकी शादी हो सकती है। राजा रानी नगर लौट गए। एक दिन कुंवर के स्नान करने के लिये जाने पर चंद्रावलि ने धाय से अपने कपड़े लेने की चेष्टा की, किंतु सफल नहीं हुई। इस बार चंद्रावलि ने कुंवर को नगर से बिवाह की सामग्री ले आने के बहाने भेज दिया। जाते समय मार्ग में कुंवर को अनेक अमंगल हुए। इधर चंद्रावलि ने सुमति से कहा—'स्नान के लिये आज शुभ दिन है। आज निश्चय ही मेरी बहनें आएँगी। तब चलो हम सब सरोवर के तट पर चलें और स्नान कर वस्त्र पहन वहाँ पर बैठें।' धाय ने उसे अच्छी तरह स्नान कराया। चंद्रावलि ने पुन: अपने पुराने वस्त्रों के लिये कहा—'तुम मेरे कपड़े दो। उसे पहनकर मैं कुंवर को छोड़कर अपने देश कभी नहीं जाऊँगी।' धाय ने उसके कपड़े दे दिए, जिन्हें पहनते ही वह बाँहें फैलाकर ऊपर उड़ गई और प्रासाद के ऊपर बैठ गई। धाय ने कहा कि तुम्हें अपने सत्य वचन से मुकरना नहीं चाहिए। बिवाह की सामग्री लेकर कुंवर अभी आएगा। तुम्हारे बिना वह मर जायगा। तब चंद्रावलि ने उसे समाधान दिया—

'माँ धाय, मेरी बात सुनो। अल्प कष्ट से यदि मनुष्य बहुत धन पाए तो केवल परिहास करता है, यत्न नहीं। बिना यत्न के यदि पुरुष नारी को पाए तब रति के सिवा वह नारी की व्यथा नहीं समझता है। यह कथा मैं जानती हूँ। मेरे लिये कुमार थोड़ा कष्ट करें। मैं यही चाहती हूँ। कुँवर के चरणों में मेरे अनेक नमस्कार। यदि कुँवर रत्नापुर आए, तो भेंट होगी। सभी बातें जान कर कुँवर मेरे देश आए। उसकी प्रतीक्षा में मैं अवश्य बैठी रहूँगी।' उसके बाद उसने धाय को एक सर्वशक्ति-संपन्न अँगूठी हमेशा धारण करने के लिये दी।

इधर कुँवर सदलबल नगर से आया। किंतु चंद्रावली के चले जाने का सारा विवरण सुनते ही वह हाथी पर से मूर्छित हो कर गिर पड़ा। स्वस्थ होने पर उसने काली पूजा की और द्विज संन्यासी के रूप में चंद्रावली की खोज में अपनी यात्रा दक्षिण की ओर आरंभ की। सात दिनों में अपने देश को पार कर कुँवर ने त्रिपुर नगर में प्रवेश किया। वहां उसने बयालिस सुरों में गीत गानेवाले राजा श्रीवत्सर को देखा। उस राजा की स्त्री थी विद्याधरी रानी चतुर्भुजा। वह दिन में चार रूप धारण करती थी। उसी रानी को एक रात जब करपुरा नगर का वसुदत्त हरण करने आया तो वह देवी का स्मरण कर मर गई। अतः वसुदत्त श्रीवत्सर राजा को ही पकड़ लाया। त्रिपुर नरेश के प्रति करुणार्द्र होकर विश्वकेतु ने प्रभूत सैन्य शक्ति के साथ करपुरा नगर जाकर वसुदत्त का वध किया। कृतज्ञ होकर श्रीवत्सर नरेश कुँवर को बयालिस सुरों का गीत सिखाकर अपने घर लिवा आया। चतुर्भुजा रानी पुनः जीवित हो गई। कुँवर का मन बहलाने के लिये राजा अपने नगर की सभी विद्याधरी नर्तकियों का नृत्य करवाता था। फिर भी विश्वकेतु चंद्रावली को जब नहीं भूल सका तब राजा ने उसे अपनी रानी को ही देना चाहा। रानी अनिच्छा पूर्वक बारह वर्ष की कन्या का रूप धारण कर कुँवर के पास गई किंतु अपना परिचय नहीं दिया। अंत में रानी का वास्तविक परिचय पाकर कुँवर ने त्रिपुर नरेश की भर्त्सना कर वहाँ से विदा ली। नाना ग्राम नगर पारकर वह सागर संगम पर पहुँचा। वहां उसने कुछ चरवाहों को देखा। उन लोगों ने कुँवर से कहा एक कुंभीर (घड़ियाल) मनुष्यों को सागर के इस पार से उस पार पहुँचाता है किंतु इसके लिये एक मनुष्य उसको भोजनार्थ देना पड़ता है। वस्तुतः वह कुंभीर एक अभिशप्त मुनिकुमार था। विश्वकेतु को समुद्र पार उतारने के बाद जब उसके मुँह से गोविंद का नाम सुना, तब उसे शापमुक्ति मिल गई।

कुँवर पुनः अनेक नगरों में घूमता हुआ कांचन नगर पहुँचा। वहां पुरुषों की बिक्री होती थी और सुंदरी कन्याएँ उन्हें रखती थीं। सुंदर परदेशी को देखकर वे उसे पकड़ रखती थीं। इसलिये विश्वकेतु ने एकाक्ष का वेश धारण कर उस देश को पार किया। नगर पार करते समय उसने जंगल में एक कन्या को सोते हुए देखा। वह कन्या उदारचंद्र राजा और सुधन्या नामक रानी की पुत्री चित्रमाला थी। छोटी अवस्था में ही एक राक्षस उसे चुराकर वहाँ लाया था और स्वयं विवाह करने के लिये उसका पालन पोषण करता था। चित्रमाला के संकेतानुसार विश्वकेतु ने राक्षस की आँखें फोड़कर उसे मार डाला। राजा उदारचंद्र और रानी सुधन्या ने आदर सत्कार के साथ कुँवर को ले जाकर अपनी कन्या से उसका विवाह कर दिया। दोनों सानंद भोग करने लगे। परंतु कुँवर चंद्रावली को तनिक भी नहीं भूला। अंत में वह शिकार के बहाने नगर के बाहर गया और वहां भगवती की

उपासना की। देवी मायामृगी के रूप में प्रकट हुई। उसी मृगी का पीछा करता करता कुँवर अपनी सेना से बिछड़ कर बहुत दूर निकल गया और बिहड़ा नगर पहुँचा। वहाँ के लोग भेंड़ पालन करते, मद्य मांस खाते और परदेशियों को देखकर उन्हें मार कर उनका धन छीन लेते। वहाँ धर्म-कर्म कुछ भी नहीं था। कुँवर को मेषांबर नामक एक मद्यप गडेरिए ने देखा तो उसे मार कर खाने के लिये अपने घर ले आया। गुफा की तरफ एक घर में भेड़ों को रख कर उसने एक जगह आग जलाई और विनय पूर्वक कुँवर को साथ लेकर, दरवाजा बंद कर, बैठा। वहाँ कुँवर ने अनेक व्यक्तियों को देखा, जिनमें किसी के हाथ कटे थे तो किसी के पैर। किसी की आँखें फूटी थीं तो कुछ की छाती में पत्थर बंधे थे। यह देखकर विश्वकेतु रोने लगा। मेषांबर ने कुछ भेड़ों को आग में पकाकर खाया। और पुनः दरवाजे पर आकर बैठा। बैठे-बैठे उसे नींद आ गई। रात गहरी होने पर एक बंदी ने आकर कुँवर से कहा कि सुबह होते ही मेषांबर के हाथ पैर तोड़ कर कुछ दिन पड़े रहने देना और बाद में उसे मार डालना। उसके परामर्श के अनुसार विश्वकेतु ने मेषांबर की आंखें फोड़ कर, भेड़ों को खोल कर उनके साथ ही बाहर चला गया और अंत में गदा से मेषांबर का सिर तोड़ कर उसे मार डाला एवं सभी बंदी राजपुत्रों को मुक्त कर दिया।

वहाँ से कुँवर बाघ-भालुओं से भरे जंगल को पार कर श्रीमुरारि के राज्य में पहुँचा जो भूत, प्रेतों और दैत्यों का राज्य था। वहाँ एक बुढ़िया की शरण में वह रहा। रात में दैत्य मेषांबर की मृत्यु की खबर सुनकर जब वे हत्याकारी के संधान में चले गए तब विश्वकेतु भय से बुढ़िया को कंधे पर बिठाकर जंगल में चला गया। आधे रास्ते में जाकर उसने बुढ़िया को पटक दिया। उसके बाद वह मोहाधन के सुर राजा भूतकिंकर के नगर में पहुँचा। जहाँ रात-दिन का कोई ज्ञान नहीं था। राजसभा में विश्वकेतु ने तंबूरा लेकर बयालिस सुरों में गीत गाकर सबको मुग्ध कर दिया। दूसरे दिन उसने रत्नामयपुर की खोज करनी चाही। किंतु कोई उसका पता नहीं बता सका। राजा के आदेशानुसार कुँवर एक सिद्ध गुरु रुद्रभारती के पास, नाना देशों को पार कर ले जाया गया। रुद्रभारती ने कहा—यहाँ से सात मास का रास्ता और सात समुद्र पार है सर्प आंजागढ़। उसके बाद सूर्य-रश्मि-विहीन सात दिनों का बीहड़ पथ है, उसी पथ पर जाते-जाते आनंद का स्फुरण होगा। फिर रत्ना नामक पुरी मिलेगी जिसका चंद्रसेन राजा अधिकारी है। रुद्रभारीत ने इतने कठिन पथ पर जाने से विश्वकेतु को मना किया, पर उसने सिद्ध गुरु से अपने शरीर की रक्षा के लिये अनेक तंत्र-मंत्र सीख कर राजा का आभरण उतार कर दास की तरह गुरुसेवा की। गुरु ने काली की पूजा की, जिसमें कुँवर ने अपनी जांघ का मांस काट कर आहुति दी। गुरुभारती ने उसकी अग्नि-

परीक्षा ले कर उसे विदा किया। मोहाधन के सुर राजा भूतकिंकर से उसने सात नावों पर सात मास की सामग्री लेकर समुद्र यात्रा आरंभ की। दो समुद्र पार हो गए। तृतीय समुद्र आते ही कुँवर की नाव टूट गई। तिमंगि नामक महामच्छ सर्प ने नाव तोड़ दी। एक तख्ते पर बैठ कर वह समुद्र पार उतर गया और एक ब्राह्मण बुढ़िया के घर आश्रय लिया। वहाँ से बिदा लेकर इस बार कुँवर रत्नापुर के गढ़रक्षक अजगर सर्प का ग्रास बन गया। कुँवर ने तब सिद्ध गुरु का नाम स्मरण किया जिससे अजगर के पेट में आग जल उठी। अजगर ने उसे अपने मुंह से बाहर निकाल दिया। उससे मुक्तिलाभ प्राप्त कर कुँवर ने अजगर से मणि प्राप्त की। प्रातः ही वीर विश्वकेतु ने रत्नामयपुर की यात्रा आरंभ की। सात पर्वतों को पार कर वह रत्नामयपुर में पहुँचा।

रत्नामयपुर का राजा चंद्रसेन अपनी कन्याओं के साथ राज्य भोग करता था। तंबूरा बजाकर गाता गाता कुँवर एक सरोवर के तट पर बैठा। कुँवर की जटा में राजकुमारी की अँगूठी देख कर चंद्रावलि की दासियों ने भीतर जाकर उसे इस बात की सूचना दी. चंद्रावलि ने सभी घटनाओं पर विचार कर मंत्री एवं प्रजापति की आज्ञा से नगर में ढोल बजा कर घोषणा करा दी कि सभी परदेशी राजा के द्वार पर आकर अन्नभिक्षा ले जायँ। यदि ऐसा नहीं हुआ तो दूसरे दिन सभी को मार दिया जायगा। विश्वकेतु ने कमर में कपड़ा बांध कर हाथ में तंबूरा लेकर राजा के सोने चाँदी के घंटे पर चोट की। चंद्रावलि की दासी ने उसे खींच कर चंद्रावलि की खिड़की के पास खड़ा किया। वहीं पर खड़े-खड़े जोगीरूपी कुँवर ने बयालिस सुरों में गीत गाना आरंभ किया। चंद्रावलि ने दासियों को, कुँवर को स्नान कराकर, भिक्षा देने की आज्ञा दी और स्वयं भीतर जाकर उसने काली पूजा की। मंत्री को विवाह का आयोजन करने को कहा। दासियों ने कुँवर को स्नान कराकर पुनः गाने के लिये खिड़की के नीचे खड़ा किया और उसके योगी होने का कारण पूछा। कुँवर ने कहा कि उसने चंद्रावलि के लिये योगी का रूप धारण किया है। इस पर दासियों ने लांछना के साथ उससे अंगूठी और तंबूरा छीन लिया। इतने समय तक चंद्रावलि कुँवर के सामने नहीं आई और भीतर से ही बात करते हुए उसने कुँवर से कहा—'मुझे अनेक गंधर्व कन्याओं के बीच से तुम्हें खोजना होगा।' अनेक खोज चेष्टा के पश्चात् दासियों के बीच से कुँवर ने चंद्रावलि को पहचाना और तब दोनों का विवाह गया।

[हस्तलिखित प्रति इसके बाद खंडित है। अतः आगे की शेष कथा प्रकाशित पाठ से दी जा रही है।]

विवाह में आए राजागण अपने अपने देश लौट गए। स्वर्ण महल में दोनों ने पुष्प शैया पर विश्राम किया। कुँवर को विगत १२ वर्षों के दुःख और श्रम क्षण

मात्र में विस्मृत हो गए। चंद्रावलि ने अपने सतीत्व की परीक्षा दी और विश्वकेतु ने अपने पवित्र चरित्र का प्रमाण देते हुए बतलाया कि उदयचंद्र राय की कन्या चित्रमाला का राक्षस से उद्धार कर उसने उससे विवाह किया है। इसके बाद दोनों का मदन-शयन आरंभ हुआ।

रत्नापुरी में विविध मनोरंजन एवं क्रीड़ा करते विश्वकेतु को छह मास बीत गए। एक रात उसने स्वप्न में अपने माता पिता को देखा तो उदासमन हो चंद्रावलि से अपने घर वापस जाने की इच्छा व्यक्त की और उससे भी संग चलने की प्रार्थना की। अतः चंद्रावलि ने अपने स्वर्गवासी पिता के प्रति वेगवान रथ पर चढ़ कनका नगरी चलने की तैयारी की। चंद्रावलि के जाने की घोषणा सुनकर सभी सहेलियाँ एवं बहनें उससे मिलने के लिये आईं। विविध रत्नादि भेंट देकर पुरजन एवं परिजनों ने दोनों को विदा किया। पवन रथ पर कुंवर और चंद्रावलि के साथ चार अन्य दासियाँ आरूढ़ हो रत्नापुर से चले। मार्ग में किंकर राजा के देश में विश्वकेतु ने चार दंड के लिये रथयान को रोका और भारति गुरु के दर्शन किए। धनादि देकर उनकी चरण सेवा की और आशीर्वाद प्राप्त कर पुनः कनका नगरी की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में पुनः दो दिनों के लिये उदयचंद्र के राज्य में रथयान रुका, जहाँ विरहिणी चित्रमाला विश्वकेतु की प्रतीक्षा किया करती थी। राजा और महारानी सुधन्या ने जमाता का हर्षित हो आदर स्वागत किया। चंद्रावलि और चित्रमाला एक दूसरे से मिलीं। राजा उदयचंद्र ने विविध रत्नाभूषण देकर कुंवर की विदाई की। वहाँ से प्रस्थान कर कुंवर अपने राज्य में पहुँचा और मोना नामक राज मालिनी के यहाँ प्रातःकाल रथ से उतरा। रथ को लेकर सारथी पवन पुनः अंतरिक्ष लोक लौट गया। अपने यहाँ ठहरे कुंवर से बात चीत के क्रम में मालिनी ने बताया कि आज से सात वर्ष पूर्व राजा देश त्याग कर चले गए थे और रानी तुम्हारे वियोग में रो-रो कर कुरूप और नेत्रहीन सी हो चलीं। मालिनी से यह समाचार पाकर कुंवर बड़ा दुःखी हुआ और रोता हुआ उसके चरणों पर गिर पड़ा। कुंवर के आग्रह पर मालिनी तत्क्षण उसके आने का समाचार देने राजा के पास गई और उन्हें कुंवर के अपनी दो पत्नियों के सहित वापस आने की खबर दी। सुखद समाचार पा राजा रानी हर्षित हो मालिनी के संग पैदल ही कुंवर के पास गए और रोते हुए कुंवर को हृदय से लगाया। चंद्रावली और चित्रमाला ने महारानी के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद प्राप्त किए। राजा की आज्ञा से पुत्रवधुएं धूम धाम के साथ सादर राजमहल में आईं। कनका नगर आनंद से मुखरित हो उठा। राजा ने फकीरों एवं ब्राह्मणों को सात दिनों तक निरंतर अपार धन दान देकर उन्हें तृप्त कर दिया। सबने सिंहासनासीन विश्वकेतु और उसकी पत्नियों को आशीर्वाद देकर अपने अपने घर की राह ली।

*

घसीरा के युद्ध का ऐतिहासिक पर्यालोचन

गिरीशचंद्र त्रिवेदी

डा० कालिकारंजन कानूनगो कृत 'हिस्ट्री आव् दि जाट्स' में भरतपुर के सूरजमल जाट एवं अन्य प्रमुख शासकों के जीवन एवं कृतित्व का व्यापक विवेचन मिलता है। विद्वान् इतिहासकार का यह प्रसिद्ध ग्रंथ जाट इतिहास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। इस में भरतपुर के इतिहास का जितना संतुलित एवं विवेचनात्मक निरूपण किया गया है, उतना अभी तक इस विषय के अन्य विद्वानों द्वारा संभव नहीं हो सका है। सूरजमल के युद्ध का भी विवरण उनके ग्रंथ में है, किंतु उसके कतिपय ऐसे समरों का उल्लेख उसमें नहीं है जिनकी सूचना हमें समकालीन स्रोत 'सुजान-चरित्र' से मिलती है। सूदन का यह ग्रंथ डा० कानूनगो की जिज्ञासु दृष्टि से किसी प्रकार ओझल हो गया। फलस्वरूप 'हिस्ट्री आव् दि जाट्स' में 'सुजानचरित्र' में संनिहित भरतपुर के इतिहास, प्रमुखतः सूरजमल से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री का उपयोग नहीं हो सका। यहाँ हम इसी प्रकार के एक उपेक्षित किंतु महत्वपूर्ण युद्ध, घसीरा के युद्ध के विवरण की ऐतिहासिकता पर विचार करेंगे।

सूदन के अनुसार अपने विरोधियों को विनष्ट करने की अभिमंत्रणा के समय नवाब वजीर सफदर जंग ने सूरजमल से सर्वप्रथम राव बहादुरसिंह बड़गूजर से निपटने की इच्छा व्यक्त की।[1] सूरजमल के निवेदन पर वजीर ने सम्राट् अहमद शाह से बहादुरसिंह के विरुद्ध अभियान की आज्ञा भी ले ली। तदनंतर सफदर जंग ने राव के पैतृक दुर्ग घसीरा (दिल्ली से ४० मील दक्षिण) पर आक्रमण करने के लिये सूरजमल को निर्देश दिया।[2] सूरजमल की योजना थी कि बहादुर सिंह को कोल से घसीरा जाने के लिये विवश किया जाय (तत्पश्चात् वहीं उस के साथ युद्ध किया जाय)। अतएव जब जवाहरसिंह के नेतृत्व में और सेना उसके पास आ गई तो सूरजमल ससैन्य कोल पहुँचा।[3] उसके आगमन का समाचार सुनकर

१. अबल मुझै बड़गूजरै तासत करना जानि—सुजानचरित्र, पृ० ६७।

२. सरोपाउ समसेर दै फुरमायौ मनसूर।
   घासहरे पै कुंवरजी जाना तुमैं जरूर।—वही, पृ० ६८।

३. इत सूरज हू सुत सहित कोल आए बाजाय दुंदभि अतोल।
—वही, पृ० १०२

राव पलायन कर गया।[४] सूरजमल ने ४००० अश्वारोहियों को साथ लिया तथा शेष सेना को कोल में ही छोड़कर राव बहादुरसिंह का पीछा किया। सूरजमल को युद्ध के हेतु सन्नद्ध एवं अपने को उस क्षेत्र में युद्ध में समर्थ न समझ कर राव ने घसीरा में प्रतिरोध करने का निश्चय किया। अतएव यमुना पार कर वह घसीरा जा पहुँचा। उधर सूरजमल भी राव का पीछा करता हुआ ससैन्य घसीरा आगया, और दुर्ग का घेरा डाल दिया। सूदन ने आक्रमण की तिथि गतागत मास (चैत्र ?) संवत् १८०९ (तदनुसार १९ मार्च–३ अप्रैल ?, १७५३ ई०) दी है।[५]

घसीरा स्थित राव बहादुरसिंह का दुर्ग एक सशक्त तथा सम्यक् परिरक्षित दुर्ग था। उसकी दक्षिणी एवं पश्चिमी प्राचीर के बाहर पानी भरा हुआ था अतएव उधर से दुर्ग दुर्गम था। इसके अतिरिक्त प्राचीर के आग्नेय अस्त्र एवं ८००० योद्धा[६] किसी भी आक्रमण के प्रबल प्रतिरोध के हेतु सन्नद्ध थे। एतदर्थ सरलता से उसपर

४. सब समाचार ए राउ पाइ तजि कोल गयौ तर गंग धाइ।

—वही, पृ० १०२।

५. ब्रह्म सिद्धि धरि बिन्द निधि बरष गतागत माँह।
धासहरे पै कोपि करि चढ़्यो सूर नर नाह॥—वही, पृ० ९७।

साधारणतया 'गतागत' का प्रयोग किसी मास के निमित्त नहीं होता है। चैत्र ही एक मात्र मास है जिसके कृष्ण पक्ष में एक संवत् का अंत होता है एवं शुक्ल पक्ष में नवीन संवत् का प्रारंभ। कदाचित् इसी अर्थ को लेते हुए (गत = गया हुआ + आगत = आया) पांडित्य-प्रदर्शन के लिये सूदन ने १८०९ संवत् के कृष्ण पक्ष चैत्र के निमित्त उक्त शब्द का प्रयोग किया। बाह्य रूप से 'गतागत' का अर्थ चैत्र के शुक्ल एवं कृष्णपक्ष दोनों ही से लिया जा सकता है क्योंकि हर संवत् की भाँति १८०९ में भी ये दोनों ही पड़े थे किंतु शुक्ल पक्ष (जिससे कि उसका प्रारंभ हुआ था) से इसका अर्थ लेने पर घेरे की अवधि एक वर्ष से ऊपर हो जायगी (क्योंकि अगले संघर्ष, जिसकी तिथि वैशाख, संवत् १८१० थी, में संमिलित होने का संदेश सूरजमल को घसीरा में ही मिला था) जो सर्वथा अशुद्ध है। अतएव ग्रंथकार का आशय कृष्ण पक्ष, चैत्र, संवत् १८०९ से ही प्रतीत होता है। सुजानचरित्र की तिथियों की प्रामाणिकता पर प्रस्तुत लेख के लेखक का एक लेख—'क्रानोलोजी इन दि सुजान चरित्र' जरनल आव् दि बिहार रिसर्च सोसाइटी में प्रकाशनार्थ गया है।

६. वसु हजार नर सुभट रहे समुहाइ शस्त्र गहि।—वही, पृ० १०३।

अधिकार नहीं किया जा सकता था। सूरजमल ने उत्तर और पूर्व से उस पर आक्रमण किया। उधर बड़गूजर ने ५००० बंदूकों एवं बहुत सी तोपों को भरवा कर तथा ७०० अश्वारोहियों एवं ४०० पदाति सेना के साथ सूरजमल का सामना किया।[७] पूर्वी द्वार की ओर हुए संघर्ष में राव आहत हुआ और गढ़ में लौट गया किंतु उत्तर की ओर राव की सेना संघर्षरत रही। सूरजमल ने अपनी सेना को सुरक्षार्थ पीछे हटा लिया और दुर्ग से दूर हट कर (तीन या चार तीर की दूरी पर) सुरक्षित मोर्चा बनाया। ११ दिन तक ऐसे ही युद्ध चलता रहा। परंतु दुर्ग का पतन संभव नहीं प्रतीत हो रहा था। जब दक्षिण और पश्चिम की ओर का पानी कहीं कहीं सूख गया तो सूरजमल ने चारों ओर से दुर्ग को ऐसा घेर लिया कि आवागमन अवरुद्ध हो गया। पुर निवासियों की युद्ध समाप्त करने की प्रार्थना पर जालिमसिंह को सूरजमल के पास भेजा गया। वहाँ यह निश्चय हुआ कि यदि राव दस लाख रुपया तथा सभी तोपें एवं रहँकले (तोप लादने की गाड़ी) दे तो घेरा उठा लिया जायगा। बड़गूजर ने दूसरी शर्त को मानने से अस्वीकार कर दिया। जब राव की ओर से स्वीकृति सूचक समाचार में विलंब हुआ तो सूरजमल ने अपने दूत, अमरसिंह को राव के पास भेजा। उसने दूत के साथ हुई वार्ता में वाक्छल का सहारा लिया और संधि के बहाने दिल्ली स्थित अपने पुत्र फतेसिंह के पास सब माल भिजवा दिया। राव के इस विश्वासघात से क्रुद्ध होकर सूरजमल ने वैशाख, कृष्ण पक्ष, षष्ठी[८] (२३ अप्रैल, १७५३) को दुर्ग जीतने का समय निश्चित किया और चारों ओर से दुर्ग पर सुनियोजित आक्रमण किया। युद्ध में बहुत से योद्धा काम आए। शनैः शनैः आक्रमणकारियों का दबाव बढ़ने लगा तथा राव के सैनिकों की संख्या अनुक्षण क्षीण होने लगी। फिर भी राव ने साहस नहीं छोड़ा। परिवार की स्त्रियों के संहार के बाद अवशिष्ट १०० योद्धाओं के साथ वह दुर्ग के बाहर निकल आया। भीषण संघर्ष में गोली से पराक्रमी राव आहत हुआ किंतु अद्भुत वीरता का परिचय देता हुआ वह युद्ध करता रहा। अंततोगत्वा एक शत्रु सैनिक ने क्षत-विक्षत राव एवं एकमात्र अवशिष्ट योद्धा का शिरच्छेद कर दिया। इस प्रकार विकट एवं दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् सूरजमल का आधिपत्य घसीरा में स्थापित हुआ।

७. हित जंग कढ्यौ वह राव सबै सत सात तुरंगम साजि जबै,
सत वेद सुपाइक अग्ग धरैं बड़ गूजर यौं रनकौं निकरैं।
—वही, पृ० १०४।

८. माधव वदि छटि भूमि सुत सूरज हिय निरधार।
दुग्ग लेन निजु बल बलन कहि भेज्यौ हित रार।—वही, पृ० १२१।

उपर्युक्त वृत्तांत सुजानचरित्र के पाँचवें प्रकरण का सरांश है। इसका प्रणेता सूदन सूरजमल जाट का सहचर एवं राजकवि था। उसने अपने ग्रंथ में प्रधानतया १७४५-१७५३ ई० के बीच के सूरजमल के समरों का प्रायः आँखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है। घटनाओं का सूक्ष्म, व्यापक एवं सामान्यतया तथ्यपूर्ण वर्णन सुजानचरित्र में मिलता है, जिनकी पुष्टि सामान्य रूप से समकालीन फारसी एवं मराठी ग्रंथों द्वारा होती है।[९] भरतपुर से संबंधित काल के इतिहास का यह मौलिक एवं अधिकृत स्रोत है। संबंधित उत्तर मुगल इतिहास की भी यथेष्ट जानकारी इससे होती है।

सूदन अधिकांश घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा था। इसके अतिरिक्त वर्णित विषय भी सामान्यतः सही है। एतदर्थ सुजानचरित्र में उल्लिखित घसीरा युद्ध के विवरण का निजी मौलिक महत्व है। सौभाग्य से इस संघर्ष के आधारभूत तथ्यों की संपुष्टि समकालीन महत्वपूर्ण फारसी स्रोत 'तारीखे अहमदशाही' द्वारा भी होती है।[१०] 'तारीखे अहमदशाही' सम्राट् अहमदशाह के शासनकाल का 'पूर्णतम एवं सर्वाधिक यथार्थ इतिहास है।' ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत युद्ध इसी शासनकाल में लड़ा गया था। 'तारीख' का प्रणेता अज्ञात है, किंतु उसने यह दावा किया है कि वह 'सभी अवसरों पर उपस्थित रहा एवं सम्राट् अहमद की पूर्ण दुर्गति (उसने) अपनी आँखों से देखी एवं रोया।'[११]

नवाब वजीर सफदर जंग एवं सूरजमल द्वारा राव बहादुरसिंह का विरोध, घसीरा पर राव का स्वामित्व, संघर्ष की प्रचंडता, उस में आग्नेय अस्त्रों का योगदान, राव की सेना का संहार, राव के परिवार की महिलाओं का उत्सर्ग, अवशिष्ट योद्धाओं सहित दुर्ग के बाहर निकल कर राव का आमरण विकट संघर्ष तथा २३

९. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव (अवध के नवाब, पृ० ३०४) लिखते हैं, 'अधिकांश घटनाएं, जिनका कवि ने वर्णन किया है यथार्थ हैं (जैसा कि मुझे मालूम हुआ जब मैंने फारसी और मराठी समकालीन ग्रंथों से इसकी तुलना की)'; टीकम सिंह तोमर (हिंदी वीरकाव्य, पृ० ३२३) की धारणा है कि सुजानचरित्र 'ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य कृति है। वर्णित विषयों का जितना विस्तृत एवं तथ्यपूर्ण वर्णन इस में मिलता है उतना उक्त विषय संबंधी अन्य ग्रंथों में संभवतः नहीं मिलेगा।'

१०. तारीखे अहमदशाही, ४७ ए, ५२ बी, १०६ बी, जदुनाथ सरकार द्वारा फाल आव् दि मुगल इंपायर, भा० २, पृ० ४३६ में निर्दिष्ट।

११. सरकार, वही, भा० १, पृ० १० (संदर्भग्रंथ अनुक्रमणिका) में उद्धृत।

अप्रैल १७५३ को दुर्ग का पतन आदि सभी विवरण इतिहाससंमत हैं। बहादुर सिंह के पुत्र फतेसिंह के दिल्ली में होने के कारण पारिवारिक विनाश से उसके बच जाने तथा सूरजमल के दुर्ग पर अधिकार का अनुमोदन भी तारीखे अहमदशाही द्वारा होता है। किंतु कुछ तथ्य ऐसे हैं, जिनका विशिष्ट उल्लेख सुजानचरित्र में नहीं है, परंतु उनकी ओर स्पष्ट इंगित करनेवाले परोक्ष संकेत सूदन के उक्त ग्रंथ में अवश्य मिलते हैं। राव बहादुरसिंह की चकला कोल की फौजदारी, सूरजमल द्वारा राव का कोल से निष्कासन, आसन्न संघर्ष में आग्नेय अस्त्रों के द्वारा १५०० जाटों का विनाश एवं राव द्वारा २५ दुर्धर्ष योद्धाओं सहित बाहर निकल कर मृत्यु-पर्यंत युद्ध ऐसी ही घटनाएँ हैं। हम क्रमशः इन पर विमर्श करेंगे।

सूदन ने किसी भी स्थान पर यह नहीं लिखा है कि राव बहादुरसिंह चकला कोल का फौजदार था परंतु कोल के साथ राव के निकट संपर्क को उसने निःसंदेह स्वीकार किया है। प्रस्तुत युद्ध के पूर्व राव कोल ही में था, इसकी सूचना हमें उसके ग्रंथ से मिलती है। यदि राव का कोल में आवास क्षणिक या स्पष्ट उद्देश्य रहित होता तो सूरजमल ससैन्य कोल क्यों जाता जो घसीरा की विपरीत दिशा में है। वह राव के घसीरा में लौटने की प्रतीक्षा करके सीधा वहीं आक्रमण कर सकता था। सूरज मल की राव को कोल से हटा कर घसीरा लाने की योजना[12] बहादुर सिंह के कोल में असामान्य दीर्घावास की संभावना से उद्भूत थी जो उसके कोल में प्रशासकीय नियुक्ति जैसे किसी स्पष्ट कारण के बिना नहीं हो सकती थी। इस प्रकार स्पष्टतः राव को वहाँ के फौजदार के रूप में अभिहित न करते हुए भी सांकेतिक रूप से उसे अभिव्यंजित किया गया है। तदनंतर, जहां तक चकला कोल से सूरजमल द्वारा राव बहादुरसिंह के निष्कासन का प्रश्न है, इसके अनुमोदन का संकेत भी सुजानचरित्र में मिलता है। प्रथम, सूरजमल को युद्ध के लिये सन्नद्ध देखकर कोल से राव के पलायन का एवं सूरजमल द्वारा अपनी सेना के एक भाग को वहाँ छोड़ने का स्पष्ट वर्णन ग्रंथ में मिलता है।[13] सेना का छोड़ना संभवतः कोल पर कधिकार करने की सुविचारित योजना का अंग था। अन्यथा आसन्न युद्ध की पृष्ठभूमि में, जिसमें सेना की निर्विवाद आवश्यकता थी, सूरजमल के उक्त निश्चय

१२. ऐसी कछू ब्योंत चित धरिए याहि घेरि घासहरें करिये।—सुजान०, पृ० ६८।

१३. सब समाचार ए राउपाइ तजि कोल गयौ तट गंग धाइ

× × ×

एक जाति बाजवर साजि लेउ अरु सब वहीर ह्यां थाभि देउ।

—वही, पृ० १०२।

के औचित्य को अन्य किसी आधार पर दिग्दर्शित नहीं किया जा सकता है। राव के हटते ही सूरजमल की सेना ने कोल पर आधिपत्य स्थापित कर लिया होगा।[१४] तदनंतर, राव ने स्वयं (सूरजमल के इतने समक्ष) सूरजमल पर उसकी 'भूमि' के आहरण[१५] का आरोप लगाया था। राव के इस कथन का आशय घसीरा के संनिकट उसके पैतृक भूभाग पर सूरजमल के अधिकार और कोल से उसका निष्कासन दोनों ही हो सकता है। इसी भाँति दुर्ग की प्राचार के आग्नेय अस्त्रों के प्रहार से कितने जाट कालकवलित हुए इसका स्पष्टीकरण तो सूदन ने नहीं किया है, किंतु उन अस्त्रों की प्रचुरता एवं उनके सम्यक् उपयोग से हुए यथेष्ट संहार का आभास अवश्य कराया है। प्रारंभ में ही उसने यह कहा है कि परकोटे पर चारों ओर लगीं तोपों (लोह जंत्र) के कारण दुर्ग के पास आ पाना (और उस पर अधिकार करना) दुःसाध्य कार्य था।[१६] पुनः तोपों आदि के प्रतिघात को ध्यान में रखते हुए ही अनुमानतः सूरजमल ने उद्धत जवाहरसिंह को, सेना को पीछे हटाकर खाइयाँ और ओट बना कर फिर युद्ध करने का दृढ़ आदेश दिया था।[१७] इस प्रकार सूदन ने जाट आक्रमणकारियों पर प्रतिपक्षी आग्नेय अस्त्रों के घातक प्रहार को युक्तिपूर्वक इंगित किया है। स्वभावतया उनके द्वारा यथेष्ट संख्या में जाट सैनिक हत हुए होंगे। मृतकों की संख्या न मिलने पर भी उक्त संघर्ष में आग्नेय अस्त्रों की व्यापक भूमिका[१८] के विषय में शंका नहीं रह जाती है। अतएव लंबी अवधि तक चलनेवाले घेरे और समर में १५०० जाट मारे गए हों, इस संभावना को सूदन निर्मूल नहीं करता है। वस्तुतः सूदन का यह दोष है, कि जहाँ एक ओर युद्ध की अन्य सूक्ष्म घटनाओं के निरूपण में उसने श्लाघनीय पटुता प्रदर्शित की है वहीं दूसरी ओर हताहतों की निश्चित गणना के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण उपेक्षा दिखलाई है जो ऐतिहासिकता की दृष्टि से क्षम्य नहीं है। अंततः राव के साथ अंतिम संघर्ष में दुर्ग के बाहर निकल कर युद्ध करनेवालों की संख्या सुजानचरित्र में २५ नहीं अपितु

१४. सूरजमल ने कोल पर अधिकार करके कुछ समय के लिये उसे अपनी राजधानी बनाया था।—अलीगढ़ गजेटियर, पृ० १७०-१७१।

१५. जो वस दिन पहलें कह देते तौ यह भुव ऐसे नहिं लेते।—सुजानचरित्र, पृ० ११८।

१६. लोह जंत्र चहुँ ओर तासु तट कौन सकै लहि।—वही, पृ० १०३।

१७. सुत तोहि सपत मेरी अनेक पग अग्ग देइ धरि हिय बिबेक।
—वही, पृ० १०८।

१८. सुजानचरित्र, पृ० १०४, ११५, १२५, १२६, १२८, १३३, १३६।

१०० दी गई है।[१९] कुछ समय पश्चात् २० या ३० योद्धाओं के अवशिष्ट रहने की अस्पष्ट संख्या दी गई है,[२०] जिसे तारीख की संख्या २५ के समीप माना जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि राव के सैनिकों की अंतिम समय उत्तरोत्तर क्षीण होती हुई संख्या की क्रमबद्ध एवं विस्तृत तालिका सुजानचरित्र में मिलती है। घटती हुई संख्या उल्लिखित क्रम में १५०, १००, २० या ३०, ५ एवं १ है।[२१] इस प्रकार तारीख में प्राप्य अतिरिक्त तथ्यों का खंडन सुजानचरित्र कहीं भी नहीं करता है। यदि किंचित् तार्किक दृष्टिकोण से सूदन के पृष्ठों का विवेचनात्मक सर्वेक्षण किया जाय तो यथेष्ट सीमा तक दोनों में सामंजस्य दिखलाई पड़ता है।

दुर्ग के घेरे की अवधि के विषय में प्रत्यक्ष रूप से सुजानचरित्र विरोधाभास प्रस्तुत करता है। सूदन ने दुर्ग के पतन की यथार्थ तिथि दी है, जो संवत् १८१०, वैशाख के कृष्ण पक्ष की षष्ठी (तदनुसार २३ अप्रैल १७५३ ई०) है। दूसरी ओर उसने आक्रमण की निश्चित तिथि नहीं दी है। 'गतागत' मास का उल्लेख अवश्य किया है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है इसका आशय संवत् १८०६ के चैत्र के कृष्ण पक्ष (तदनुसार १६ मार्च–३ अप्रैल १७५३ ई०) से ही लगता है। इस दशा में चढ़ाई की तिथि १६ मार्च से ३ अप्रैल के बीच में ही रही होगी। अतएव यदि वास्तविक युद्ध की अवधि को ही घेरे की अवधि माना जाय तो अधिकतम यह १$\frac{1}{4}$ माह के लगभग आती है जो ३ माह की प्रामाणिक अवधि से मेल नहीं खाती है। परंतु यह भी हो सकता है कि दुर्ग का घेरा पहले डाल दिया गया हो और संघर्ष बाद में प्रारंभ हुआ हो तथा ग्रंथकार ने आक्रमण (चढ़यौ सूर नरनाह) को युद्ध के ही अर्थ में प्रयोग किया हो। मास की दुर्ज्ञेयता सुजानचरित्र के अनुसार कालावधि के निर्विवाद निर्धारण में एक स्पष्ट अवरोध है। जो भी हो, दुर्ग के घेरे के समय के विषय में सूदन की उदासीनता किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कही जा सकती है, विशेष रूप से जब कि वह प्रत्यक्ष दर्शी था या कम से कम उसे संघर्ष का प्राथमिक ज्ञान अवश्य था।

यदि कतिपय मूलभूल तथ्यों के प्रति ग्रंथकार ने अवहेलना प्रदर्शित की है, तो दूसरी ओर प्रस्तुत समर से संबंधित कुछ अतिरिक्त तथ्यों पर भी उसने प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ, दुर्ग पर आक्रमण के कारणों की व्याख्या करते समय यह स्पष्ट किया गया है कि बहादुरसिंह पर कभी सूरजमल का वरदहस्त था

१६. जुहे डेढ़ सै में रहे एक सौ ज्वान।
चढ़े राउ के संग आसा तजे प्रान ॥—वही, पृ० १३८।

२०. रहे बीस कै तीस सथ्थी तिहिं सथ्थ।—वही, पृ० १३६।

२१. वही, पृ० १३८, १३६, १४०।

परन्तु असद खाँ के युद्ध में उसने हीलाहवाली की और बाद में विलग होकर अबुल मंसूर खाँ का अनुवर्ती हो गया। परंतु उसने अबुल मंसूर खाँ का साथ भी छोड़ दिया तथा (सूरजमल और अबुल मंसूर खाँ के विरुद्ध) मल्हारराव होल्कर से दुरभ-संधि की।[२२] इसी आधार पर सूरजमल के दूत अमरसिंह ने राव पर आक्रमण का औचित्य प्रदर्शित किया था। पुनः सुजानचरित्र से यह विशेष रूप से ज्ञात होता है कि बहादुरसिंह एक साहसी, पराक्रमी एवं दुर्द्धर्ष योद्धा था। सूरजमल का शत्रु होने पर भी उसकी वीरता एवं दृढ़ता की स्वीकारोक्ति ग्रंथ में कई स्थलों पर है,[२३] जो सूदन की ऐतिहासिक निष्पक्षता को प्रतिबिंबित करती है। प्राचीन चरितपरंपरा के अन्य ग्रंथों में यह दुर्लभ है। तदुपरांत, युद्ध से संबंधित अधिकांश तथ्यों का सूक्ष्म एवं व्यापक विवरण सुजानचरित्र में मिलता है। घसीरा दुर्ग की भौगोलिक स्थिति, अस्त्र शस्त्रों[२४] एवं दोनों पक्षों के प्रमुख सेनानायकों[२५] की लंबी तालिका तथा व्यूह रचना के प्रत्येक पक्ष की सूचना उक्त ग्रंथ में संनिहित है। पुनः, इस स्रोत से यह भी ज्ञात होता है कि राव बहादुरसिंह के परिवार की महिलाओं ने जौहर किया तत्पश्चात् राव के आदेश पर उसके एक सेवक ने उनका शिरच्छेद कर दिया।[२६] अंततः घसीरा के पतन के पश्चात् सूरजमल ने अमरसिंह नामक अपने एक विश्वासपात्र सेनानायक को एक सैनिक टुकड़ी के साथ दुर्ग के संरक्षण के निमित्त नियुक्त कर दिया।[२७]

२२. वही, पृ० ११६।

२३. वही, पृ० १०८, १३३, १३४, १३६, १४१ आदि।

२४. प्रयुक्त आयुधों में निम्न लिखित का उल्लेख किया गया है—जाल तोप, हथनाल, घुरनाल, जंजाल, बंदूक, सेल, सांग, भुसंडी (भुशुंडी), खंडी, कपान (कृपाण), असि, खंजर, कटार, दुधार, (दुधारा), सिरोही, फरसा, भल्लै (भाला), बल्लम, तेगा, बरछा, बाण इत्यादि।

२५. सूरजमल के सेनानायकों में जवाहरसिंह (उसका पुत्र), मीर पनाह बख्शी, सीदी, सूरतराम गौड़, भर्थसिंह (भरतसिंह), दौलतराम, राजागूजर (?), गोकुलराम, बलराम (बल्लभगढ़ दुर्गाधिपति), हरि नागर, मोहनराम बख्शी आदि उल्लेखनीय हैं। दूसरी ओर बहादुरसिंह के सेनानायकों में उसका मामा (?), जालिमसिंह, देवीसिंह, हाथियराम (हाथीराम), उसका मंत्री (?) आदि प्रमुख थे।

२६. सुजानचरित्र, पृ० १३७।

२७. वही, पृ० १४१

भरतपुर राज्य के प्रसार के निमित्त किए गए युद्धों की शृंखला में घसीरा के युद्ध का यथेष्ट महत्व है। इसके परिणामस्वरूप भरतपुर राज्य की शक्ति का विस्तार हुआ। घसीरा राज्य में संमिलित कर लिया गया तथा अलीगढ़ एवं समीपवर्ती प्रदेश पर भी जाटों का अधिकार हो गया।

अंत में हम कह सकते हैं कि यद्यपि इस महत्वपूर्ण युद्ध से संबंधित कतिपय तथ्यों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने का दोष सूदन पर है फिर भी इसकी जितनी सूचना हमें उसके ग्रंथ से मिलती है उतनी संभवतः अन्यत्र प्राप्य नहीं है। उसके द्वारा वर्णित अधिकांश घटनाएँ प्रमाणिक हैं। प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण सुजानचरित्र में प्राप्त घसीरायुद्ध की अतिरिक्त सूचनाओं का विशिष्ट महत्व है। इस ग्रंथ की उपादेयता को स्वीकार करते हुए ही प्रो० जदुनाथ सरकार ने फाल आव् दि मुगल इंपायर में इस का उपयोग किया था। घसीरा के युद्ध का भी अत्यंत संक्षेप में उन्होंने उल्लेख किया है। डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव (फर्स्ट टू नवाब्स आव् अवध) तथा डा० रघुवीरसिंह (मालवा इन ट्रांजीशन) ने भी सुजानचरित्र का प्रयोग किया है। परंतु वर्णित विषयों की भिन्नता के कारण इन ग्रंथों में उसका उपयोग आवश्यक स्थलों तक ही सीमित रहा है। खेद का विषय है कि जाट-इतिहास के लेखन में सूदन के इस प्राथमिक एवं अधिकृत ग्रंथ का सम्यक् उपयोग संभवतः अभी तक नहीं किया गया है।

*

'उभयप्रबोधक रामायण' पर रामचरितमानस का प्रभाव

सत्यनारायण शर्मा

•

उभयप्रबोधक रामायण के रचयिता महात्मा बनादासजी हैं। इनका जन्म गोंडा जिले के अशोकपुर नामक गांव में पौष शुक्ल ४, सं० १८७८ (१८२१ ई०) के हुआ था।[१] उभयप्रबोधक रामायण का रचनाकाल संवत् १९३१ अगहन शुक्ल पंचमी है।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस का इस ग्रंथ पर अपरिमित प्रभाव पड़ा है। जिस तरह तुलसी ने मानस के सात सोपान रखे हैं, उसी तरह इन्होंने भी अपने ग्रंथ में सात खंड रखे हैं।[३] वे सात खंड निम्नांकित हैं—गुरुखंड नामखंड, अयोध्याखंड, विपिनखंड, विहारखंड, ज्ञानखंड और शांतिखंड।[४] प्रथम गुरुखंड के पूर्व एक 'प्रथम मूल खंड' भी है जिसमें कवि ने संक्षेप में संपूर्ण रामकथा का सार वर्णन कर दिया है। इसमें रावण के घोर अत्याचार से त्रस्त पृथ्वी एवं देवताओं का ब्रह्मा के पास जाकर अपनी व्यथा सुनाने का वर्णन ठीक 'मानस' जैसा ही है।[५] भगवान् के निवास स्थान के संबंध में देवताओं एवं शिव के जो यहां कथन हैं, वे 'मानस' से सर्वथा प्रभावित हैं।[६] अपने आश्रम में भगवान् राम के पदार्पण करने पर 'मानस' में भरद्वाज मुनि का कथन है—

> अजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
> सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥[७]

यहां भी वे वही बात कहते हैं—

> योग तप यज्ञ व्रत भजन वैराग्य तप सकल साधन भये सिद्धि आजू॥[८]

१. रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ४८१।
२. उ० प्र० रा०, पृ० ६३, प० सं० ३६।
३. वही, प० सं० ३६ की अंतिम पंक्ति।
४. वही, प० सं० ३७।
५. मा० १. १८३-१-१. १८४; उ० प्र० रा०, पृ० १, दंडक २।
६. मा० १.१८५.२-५; उ० प्र० रा०, पृ० १, दंडक २।
७. मा० २.१०७.५-६।
८. उ० प्र० रा०, पृ० ६, छप्पै ७।

इसी तरह वन मार्ग में राम के पीछे चलती हुई सीता एवं लक्ष्मण का बनादास ने भी तुलसी की तरह वर्णन किया है—

प्रभु पदरेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएं। लखन चलहिं मगु दहिन लाएँ॥
मा० २. १२३. ५-६

रामकंज पदरेख जानकी चलत बचाये।
लषण दक्ष मग देत सिया रघुबर पदरेखा॥
उ० प्र० रा०, पृ० ६, २०-२१

भरत की भायप-भक्ति[९] और सुतीक्ष्ण की प्रेम विह्वलता[१०] के वर्णन में भी उनपर 'मानस' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

तुलसी की तरह ही बनादास ने भी राम एवं सीता को समस्त संसार का पिता एवं माता घोषित किया है तथा अग्नि परीक्षा में छाया सीता के ही जलने का उल्लेख किया है।[११] राम के भिन्न भिन्न अवतार[१२] तथा सीता के अपरिमित सौंदर्य एवं शक्ति[१३] के संबंध में भी तुलसी की मान्यता से बनादास की मान्यता सर्वथा मिलती जुलती है।

अपने ग्रंथ के 'प्रथम गुरु खंड' में महात्मा बनादास ने गोस्वामी तुलसीदास जी के महत्व का जोरदार शब्दों में प्रतिपादन करते हुए उनके प्रति अपनी अगाढ़ भक्ति प्रदर्शित की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में तुलसी को अपना गुरु स्वीकार किया

९. क—मा० २.१७४.२, २.१७५.४, २.१७६.१-६, २.१८३.१-२; उ० प्र० रा०, पृ० ७, पं० ३-५।
ख—मा० २.२०२.१; उ० प्र० रा०, पृ० ७, पं० १४-१५।
ग—मा० २.२४०.२, २.२४०.८; उ० प्र० रा०, पृ० ७, पं० १६-१८।
घ—मा० २.३२६.२-३; उ० प्र० रा०, पृ० १४, सवैया ४६।
ङ—मा० ७.१ (ख); ७.१.८; उ० प्र० रा०, पृ० १२, पं० ३-६।
१०. मा० ३.१०.३-२१; उ० प्र० रा०, पृ० ८, पं० ४-११।
११. मा० ६.१०६.११, १.२४६.२-३; उ० प्र० रा०, पृ० ११, छंद ३२, पं० १-२।
१२. मा० ६.११०.७-८; उ० प्र० रा०, पृ० ४१७, प० सं० ८०।
१३. मा० ३.२२.६, १. श्लो० ५, १ १४८.३-४; उ० प्र० रा०, पृ० ५२, प० सं० ७६।

है[१४] और भगवान् की साक्षी लेकर अपनी कृति को गोस्वामीजी की कृपा का प्रसाद बतलाया है।[१५] गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथों का नामोल्लेख करते हुए बनादास ने उन्हें कविसम्राट् घोषित किया है[१६] और अन्यान्य शास्त्रों एवं ग्रंथों को छोड़कर उन्हीं की रचनाओं के अमृतरस के आस्वादन का परामर्श दिया है।[१७] इस घोर कलिकाल में उनकी दृष्टि में तुलसीकृत 'मानस' ही साधु-संतों के जीवन का सर्वस्व है।[१८] इसकी प्रभूत प्रशंसा करते हुए 'ऐसे सद्ग्रंथ' में 'प्रीति' 'प्रीतीति' रखने वालों की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है।[१९] गोस्वामीजी की महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए बनादास ने यहाँ तक कह दिया है कि—जो अवतार न होत गुसाईं को, को जग जानतो राम बेचारे।[२०]

अपने ग्रंथ के 'द्वितीय नामखंड' में मानसकार की तरह इन्होंने भी भगवान् राम के नाम की अपार महिमा घोषित की है। वस्तुतः बनादास का यह नाम-महिमा-वर्णन 'मानस' के बालकांड में वर्णित नाम-वंदना-प्रकरण से अक्षरशः प्रभावित है। तुलसी का कथन है—

क—'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥'[२१]

ख—'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥'[२२]

बनादास भी कहते हैं—

(क) अगुण सगुण दोउ रूपन को बोध करै,
एक राम नाम नहिं दूसरे को काम जू।
अगम अनादि दोऊ अकथ अनूप अति,
मति न सकति कहि महा सुख धाम जू॥[२३]

१४. उ० प्र० रा०, पृ० २१, पद ६ की अंतिम पंक्ति; वही, पृ० २५, पद ३२ की तीसरी पंक्ति।
१५. वही, पृ० २०, पद ३ की अंतिम पंक्ति।
१६. वही, पृ० २६, पद ३४।
१७. वही, पृ० २७, पद ३६।
१८. वही, पृ० ३३, पद ७५।
१९. उ० प्र० रा०, पृ० २२, पद १३ की अंतिम दो पंक्तियाँ।
२०. वही, पृ० ३०, पद ५७, पंक्ति २।
२१. मा० १.२१.८।
२२. मा० १.२३.१-२।
२३. उ० प्र० रा०, पृ० ५१, पद ७०, पं० १-२।

(ख) निरगुण सरगुण ब्रह्म स्वरूप अगाध अनूप करै को बखाना।
नाम अधीन उभय तिहु काल में पूरण प्रेम हृदय ठहराना ॥[२४]

महान् से महान् होकर भी रामनाम में लौ न लगानेवालों की बनादास ने बड़ी भर्त्सना की है[२५] और बार-बार अपने इस कथन की आवृत्ति की है कि—

दास बना न कछू बनि आय जो राम को नाम नहीं लव लाई ।[२६]

तुलसी की तरह इन्होंने भी बार बार अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि इस घोर कलिकाल में संसार सागर को पार करने के लिये भगवान् राम के नाम के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है।[२७] 'नामखंड' के अतिरिक्त अपने ग्रंथ के अन्यान्य खंडों में भी स्थलस्थल पर कवि ने सशक्त शब्दों में नाम की महिमा का गान किया है[२८] और समस्त साधनों एवं आशाओं को गरल के समान त्याग कर दिवारात्रि नामस्मरण करनेवाले बड़भागी जनों की प्रभूत प्रशंसा की है।[२९]

अपने ग्रंथ के 'अयोध्या खंड' के प्रारंभ में महात्मा बनादासजी ने तुलसीदासजी की तरह ही विविध देवी-देवताओं, संतों, शास्त्रों, राम से संबंधित पुरुषों एवं स्थलों की बार-बार अभिवंदना करते हुए उनसे रामभक्ति प्रदान करने की करबद्ध प्रार्थना की है।[३०] तुलसी के स्वर में स्वर मिलाकर वे आगे कहते हैं—

रामायण शतकोटि मुनिन बहु विधिहु बखाना।
महिमा कोटि समुद्र पार कोउ लहत न जाना ॥
निज निज मति अनुहारि भाव भक्ती के गाये।
वचन बुद्धि मन शुद्ध हेत सरधा अधिकाये ॥

२४. वही, पृ० ६०, पद १७, पं० १, ३।
२५. वही, पृ० ५५-५६, पद ६५-१०३।
२६. वही।
२७. उ० प्र० रा०, पृ० ४०, पद ४, पृ० ४१, पद १५, पृ० १८२, पद ६२, पृ० ५१४, पद २६।
२८. वही, पृ० १५, पद ५०, पृ० १९. पद २, पृ० २४, पद २६, पृ० २५, पद ३२, पृ० ४८२, पद ३०-३४, पृ० ४८६, पद ५०, पृ० ५०९, पद ९३-९६, पृ० ५२७, पद १०२।
२९. वही, पृ० १८, पंक्ति ४-६।
३०. मा० १.१५.१, १.१८.६; उ० प्र० रा०, पृ० ५७-५९, पद १-१०।

जिमि पिपीलिका सिंधु को करत मनोरथ पार हित ।
कह बनादास तिमि मोर गति लागो भाँति अनेक चित ।।[३१]

इस पद्य में वर्णित 'शतकोटि' रामायण को तुलसी भी स्वीकार करते हैं[३२] और बनादास भी । तुलसी ने भी रामचरित की महिमा को अपार समुद्र कहा है[३३] और बनादास भी कहते हैं । मुनिगणों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार भक्तिभाव से पूर्ण रामायण रची, यह बात दोनों कवियों को मान्य है ।[३४] 'वचन बुद्धि मन शुद्ध हेत' एवं 'निज गिरा पावनि करन कारन'[३५] में कोई विशेष अंतर नहीं है । 'जिमि पिपीलिका सिंधु को करत मनोरथ पार हित' और 'जिमि पिपीलिका सागर थाहा । महामंद मति पावन चाहा ।'[३६] में प्रकरण भिन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है । ठीक इसी तरह विश्वामित्र की राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना, राम-लक्ष्मण सहित उनका मिथिला गमन, राम-लक्ष्मण के द्वारा विश्वामित्र की सेवा, पुष्पवाटिका-प्रसंग, बनगमन प्रकरण में केवट का प्रेम, भरत को वन आते देख लक्ष्मण की उग्रता, चित्रकूट की सभा और उसमें राम-भरत-संवाद आदि प्रसंगों के जो महात्मा बनादासजी ने वर्णन किए हैं, उनपर रामचरितमानस का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित होता है । इन स्थलों में कहीं कहीं तो मानस की शब्दावली का भी प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया गया है और कहीं कहीं थोड़ा परिवर्तन करके वहाँ की शब्दावली ग्रहण की गई है ।

तुलसी की तरह ही बनादास ने भी राम और शिव की एकता प्रतिपादित की है तथा रामभक्त का लक्षण शिव के चरणों में निश्छल प्रेम बतलाया है ।[३७] वस्तुतः शिव के इष्टदेव राम ही हैं और शिव से बढ़कर राम को प्रिय कोई नहीं है— 'मानस' में निरूपित इस तथ्य की आवृत्ति बनादासजी ने भी की है ।[३८] तुलसी की शब्दावली में 'गणिका अजामिल व्याध गीध' आदि के उद्धार के पौराणिक उदा-

३१. उ० प्र० रा०, पृ० ६३-६४, पद ४० ।
३२. मा० १.३३.६, ७.५२.२ ।
३३. मा० १.३६१.१० ।
३४. मा० १.१३.१० ।
३५. मा० १.३६१.६ ।
३६. मा० ३ १.६ ।
३७. मा० १.१०४.६; उ० प्र० रा०, पृ० ८२, पद ५६ ।
३८. मा० १.५१.८, ६.२.६; उ० प्र० रा०, पृ० ८२, पद ६०, पृ० ४४८, पद ७७ ।

हरण उपस्थित कर बनादास ने भी लोगों को रामभक्ति की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।[३९] अपने ग्रंथ में संत, गुरु एवं राम इन तीनों की महत्ता का बार बार प्रतिपादन करते हुए[४०] तुलसी की तरह ही इन्होंने सत्संग एवं सत्संगति की अपार महिमा घोषित की है।[४१] अपने आराध्य की जन्मभूमि से इन्हें इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि दुःख-सुख को समान भाव से सहते हुए वे इस शरीर से अहर्निश अयोध्या में ही निवास करना चाहते हैं।[४२]

यों तो 'उभय प्रबोधक रामायण' के शेष खंडों की कथा प्रायः रामचरितमानस की कथा से काफी साम्य रखती है परंतु 'विहार खंड' में बन से लौटने के पश्चात् भगवान् राम एक बार और जनकपुर जाते हैं और वहाँ से लौटते समय काशिराज के अतिथि बनते हैं।[४३] बनादासजी ने काशिराज के द्वारा किए गए भगवान् राम के आतिथ्य-सत्कार का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। वस्तुतः यह महात्मा बनादासजी की सर्वथा मौलिक उद्भावना है। इस तरह इन्होंने प्रकारांतर से गोस्वामी तुलसीदास जी के 'हरि अनंत हरि कथा अनंता'[४४] अथवा 'रामचरित सत कोटि अपारा।'[४५] सिद्धांत को ही स्वीकृत किया है। तुलसी की तरह बनादास ने भी 'नाम रूप लीला धाम'[४६] ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं पवित्र जीवन की मर्यादाओं पर काफी बल दिया है और ज्ञान, वैराग्य के आधार पर ही भक्ति की स्थापना की है। 'उभय प्रबोधक रामायण' की पंक्तियों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि तुलसी की तरह ये भी एक पहुँचे हुए महात्मा थे। इनका साधक भी एकमात्र दशरथकुमार भगवान् राम के आश्रय का ही अनन्य आकांक्षी था। उसे उसी का बल था, उसी की आशा थी। यही कारण है कि वह स्पष्ट शब्दों में उद्घोष करता है—

> बसै अयोध्या द्दाम कहीं नहिं आना जाना।
> एक राम की आश और नहिं जान जहाना।।[४७]

३९. मा० ७.१३०.९-१२; उ० प्र० रा०, पृ० १८, पद ६४।
४०. उ० प्र० रा०, पृ० ५५३, पद ४५, पृ० ५५५, पद ५०।
४१. वही, पृ० ५५४, पद ५१, पृ० ५५५, पद ५५-५६।
४२. वही, पृ० १६, पंक्ति ८-९, पृ० ५०९, पद ९७।
४३. वही, पृ० ४४८, पद ७५-७७।
४४. मा० १.१४०.५।
४५. मा० ७.५२.२।
४६. उ० प्र० रा०, पृ० १८१-१८२, पद ६१।
४७. वही, पृ० ५०९, पद ९७।

'उभय प्रबोधक रामायण' पर 'रामचरितमानस' के प्रभाव को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये 'मानस' की शब्दावलियों, पंक्तियों एवं भावों का अनुकरण करनेवाली अथवा उनसे साम्य रखनेवाली इस ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

क—**चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप** तृन जाति ।

—मा० २.१३८

चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप कृत-कृत भये ।

—उ० प्र० रा०, पृ० ६, पद १०

ख—**सजल नयन तन पुलकि** निज इष्टदेव पहिचानी ।

—मा० २.११०

सजल नयन तन पुलक कबहुँ मुख बोलि न जाई ।।

—उ० प्र० रा०, पृ० १५, पद ५०

ग—एकु दारुगत देखिउ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।

—मा० १.२३.४

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ।।

—मा० १.११६.३

पावक एक अहै गति दारु औ एक प्रत्यक्ष सबै कोउ जाना ।
दास बना हिम बोरा यथा जल या विधि है युग ब्रह्म विधाना ।।

—उ० प्र० रा०, पृ० ५१, पद ७१

घ—मुनि श्राप जो दीन्हा अति मल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना ।

—मा० १.२११.६

शाप दीन हित कीन अनुग्रह मैं अति माना ।

—उ० प्र० रा०, पृ० ११०, पद २२

ङ—धाए धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ।।

—मा० १.२२०.२

त्यागि सबै गृह काज चले जनु जन्म के दारिद लूटन सोना ।

—उ० प्र० रा०, पृ० ११३, पद ३८

च—**तात जनक तनया** यह **सोई** । धनुष जग्य जेहि कारन होई ।।

—मा० १.२३१.१

तात जनक तनया सोई होत स्वयंबर जासु हित ।

—उ० प्र० रा०, पृ० ११८, पद ६९

छ—कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें । **नाथ साथ धनु हाथ हमारें** ।।

—मा० २.२२९.८

हाथ नाथ साथ धनु हाथ कहां तक कोउ रिस मारे ।

—उ० प्र० रा०, पृ० २४२, पद ७३

ज—**भरतु हंस** रविबंस तडागा । **जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ।**

—मा० २.२३२.६

भरत हंस जग **जनमि कीन्ह गुण दोष बिगाभा ।**

—उ० प्र० रा०, पृ० २५५, पद ५६

झ—सीता मातु सनेह बस बचन कहइ बिलखाइ ।

—मा० १.२५५; उ० प्र० रा०, पृ० ४४५, पद ५८

ञ—एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास ।

—दोहावली, दो० २७७; उ० प्र० रा०, पृ० ५२३, पद ७२

इस तरह उपर्युक्त अध्ययन से तुलसी-परवर्ती रामभक्तिशाखा की एक उत्कृष्ट कृति बनादास कृत 'उभय प्रबोधक रामायण' पर 'रामचरितमानस' का प्रभाव असंदिग्ध है ।

*

स मी क्षा

तुलनात्मक भाषाविज्ञान

अनुवादक—डा० केसरीनारायण शुक्ल; प्रकाशक—कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा; मूल्य ५)।

रूस के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक फिलिप फ्योदोरोविच फारतुनातोव द्वारा मास्को विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर जो भाषण दिया गया था और सोवियत संघ की विज्ञान एकादमी द्वारा ग्रंथाकार में तुलनात्मक भाषाविज्ञान शीर्षक के अंतर्गत जिसका प्रकाशन हुआ, उसी का यह हिंदी अनुवाद—क० मु० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा द्वारा—तुलनात्मक भाषाविज्ञान शीर्षक के अंतर्गत ग्रंथ रूप से प्रकाशित किया गया है। इस अनुवाद का कार्य किया है डा० केसरीनारायण शुक्ल, एम० ए०, डि० लिट्० ने। वे आजकल गोरखपुर विश्व-विद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं पर दश बारह वर्षों तक वे रूस में हिंदी अध्यापक के रूप में कार्य कर चुके हैं और रूसी भाषा के अच्छे जानकार होने के नाते यह अनुवाद निश्चय ही उत्तम कोटि का होगा, ऐसा विश्वास जिया जा सकता है।

इस कृति में निम्नांकित ११ शीर्षकों के अंतर्गत तुलनात्मक भाषाविज्ञान के विविध पक्षों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है—(१) भाषाविज्ञान की समस्या और अन्य विज्ञानों से उसका संबंध, (२) भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण, (३) भारत-यूरोपीय भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन, (४) भारत-यूरोपीयेतर भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण, (५) भाषा और बोलियाँ, (६) वाग्ध्वनियों का शरीर प्रक्रियात्मक अध्ययन, (७) भाषा में ध्वन्यात्मक पक्ष का महत्व, (८) विचारणा और वाग्व्यापार में भाषा, (९) शब्द प्रक्रिया, (१०) शब्द-संयोजना और उनके भाग तथा (११) भाषा के प्रतीकों के रूप में शब्दों के उच्चारण में रूपांतर। ग्रंथ के अंतिम ६ शीर्षक—विशेष रूप से पठनीय हैं। संबद्ध पक्षों के प्रति रूसी पंडितों की भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति और विवेचनदृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। आशा है, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्रेमी विद्वज्जन ग्रंथ का स्वागत करेंगे।

—करुणापति त्रिपाठी

गोदान—अध्ययन की समस्याएँ

लेखक—डा० गोपालराय; प्रकाशक–ग्रंथ निकेतन, पटना; मूल्य ८) ७५।

इस शीर्षक से डा० गोपालराय ने गोदान-विषयक अध्ययन की समस्याओं को लेकर उनका विवेचन और समाधान करते हुए यह ग्रंथ प्रस्तुत किया है। लेखक ने अध्यापक के रूप में अपना कार्य करते हुए जिन समस्याओं और जटिल प्रश्नों का अनुभव किया उनका विवेचनात्मक समाधान—स्वानुभूति और मननचिंतन के आधार पर यहाँ किया गया है। लेखक के मन में लगभग दश वर्ष पूर्व से गोदान-संबंधी अनेक समस्याएँ चक्कर काटती रही हैं। फलतः लेखक द्वारा प्रस्तुत की गई विवेचनात्मक व्याख्या में मनन, चिंतन, और प्रज्ञात्मक अनुशीलन का सहज योग है।

प्रस्तुत ग्रंथ के कुछ अध्याय अयंत विचारोत्तेजक, प्रेरणादायक और मौलिक चिंतन के मर्मबोध से अनुप्राणित हैं। लेखक ने इस उपन्यास को ग्राम्यजीवन और कृषिसंस्कृति का महाकाव्य सिद्ध करते हुए जो स्थापनात्मक प्रतिज्ञा की है उसी के आलोक में इस ग्रंथ का विकास देखना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य में विवेचना के परिवेश का सही सही रूप समझा जा सकता है और ग्रंथ में विवेचित परिसूत्रों की परिमित व्याप्ति का रहस्य भी समझ में आजाता है। ग्रंथ के द्वितीय-तृतीय अध्यायों में 'एक अलोमहर्षक ट्रेजडी और केवल सत्य का वाहक' शीर्षकों द्वारा—नूतन संदर्भ में और नए परिप्रेक्ष्य से उपन्यास का समीक्षात्मक मूल्यांकन तो किया ही गया है, युग-बोध के संदर्भ में ट्रेजडी नामक पश्चिम के शब्दार्थ-बोध की भी इस कृति में मौलिक और नई व्याख्या उपस्थित की गई है। इस पक्ष को समझने से ही लेखक की विवेचनादृष्टि ठीक-ठीक समझी जा सकती है। लेखक के मत से गोदान के औपन्यसिक महाकाव्य का दुःखांत रूप जिस ग्रामीण जीवन के विस्तृत फलक पर यथार्थबोध से प्राणवंत है, उसे भी तभी समझा जा सकता है। 'केवल सत्य का वाहक' शीर्षक अध्याय में सप्रमाण घोषित किया गया है कि गोदान का स्थान आदर्शवादी उपन्यासों में विशेष महत्वपूर्ण है। उसमें अंकित ग्रामीण जीवन का ऐसा दर्पण-फलक है जिसमें यथार्थ रूप प्रतिबिंबित हुआ। ग्रामीण जीवन और कृषक समाज का ऐसा मार्मिक एवं यथार्थवादी चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। इसी कारण यह उपन्याम 'सत्य' का वाहक कहा गया है।

शेष अध्याय—जिनमें कथाशिल्प, चरित्र चित्रण, प्रमुख पात्रों का शील-निरूपण, भाषा शैली, और अंतिम लघु अध्याय, वे सभी लेखक की प्रतिज्ञात दृष्टि से विवेचित हैं। निश्चय ही इस ग्रंथ का छठा प्रकरण विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें होरी का शील निरूपणात्मक चरित्रविश्लेषण किया गया है। आधुनिक ग्राम्य संस्कृति के आलोक में उक्त पक्ष की गंभीर विवेचना हुई है। इसी प्रकार 'विद्रोही युवक' के रूप

में 'गोबर' की समीक्षा में चरित्र के नए पक्ष उभारे गए हैं। मालती एवं झुनिया का चरित्रविश्लेषण भी यथार्थबोध से अनुप्राणित है।

हिंदी के उत्कृष्टतम उपन्यासों में 'गोदान' का स्थान है और विश्व की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद भी होगया हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च-कक्षाओं में भी प्रायः 'गोदान' का अध्ययन होता है। अतः प्रस्तुत ग्रंथ छात्रों के लिये ही नहीं सभी सचेत हिंदी साहित्य और उपन्यास के अध्येताओं के लिये प्रेरणा-दायक प्रस्तावना होगा। आशा है इसका हिंदी में समुचित मूल्य आँका जायगा। नवयुग की चेतना के दृष्टिबोध को लेकर परिवेशगत संदर्भ के आलोक में विशिष्ट हिंदी उपन्यासों के नए मूल्यांकन की प्रेरणा प्राप्त होगी।

—करुणापति त्रिपाठी

सूरदास

संपादक—डा० हरिवंशलाल शर्मा; प्रकाशक-राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य ८)५०।

डा० हरिवंशलाल शर्मा द्वारा संपादित और राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस कृति में सूरविषयक निबंधों का संकलन किया गया है। संपादक ने सूरसंबंधी विविध विषयों पर योजनाबद्ध रूप से बीस उत्तम निबंधों का यहाँ संग्रह किया है। प्रकाशकीय निवेदन में संपादक ने बताया है—राधाकृष्ण मूल्यांकन माला के अंतर्गत समीक्ष्य निबंधसंग्रह का प्रकाशन विशेष दृष्टि से किया गया है।' हिंदी के पुराने और नए साहित्यकारों और विशिष्ट कृतियों से संबद्ध जो बहुत सी सामग्री शोध और आलोचना के ग्रंथों या पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर बिखरी पड़ी है उसके सारतत्व को यथाशक्ति यहाँ निबंधों के माध्यम से संकलित करने का प्रयास किया गया है। जिज्ञासु शोधकर्ता अथवा पाठक इन बिखरी, पर महत्वपूर्ण सामग्रियों की जानकारी एवं सूर मूल्यांकन के आधारभूत अध्ययन के लिये पुस्तकालयों तथा अन्य स्थानों में दौड़ धूप करते रहते हैं। काफी प्रयत्न के बाद भी अनेक अवसरों पर उक्त सामग्री समग्र रूप से उपलब्ध नहीं हो पाती। राधाकृष्ण प्रकाशन ने पाठकों को सुविधा-पूर्वक पूर्वोक्त प्रकार की सामग्री और साहित्यिक आलोचना का सार सुविधापूर्वक उपलब्ध कराने के विचार से इस ग्रंथमाला का प्रकाशन आयोजित किया है। यह कृति उसी की एक कड़ी है।

इसमें सूर-साहित्य के मर्मज्ञ और उच्चकोटि के समर्थ सुधीजनों द्वारा गवेषणापूर्ण और उपयोगी, पर साथ ही साथ उत्कृष्ट एवं गंभीर सामग्री का एकत्र संग्रथन किया गया है। इसके अधिकारी संपादक सूरदास के मर्मज्ञ एवं विशेषज्ञ

हैं। उनकी रचनात्मक कृतियों और समीक्षात्मक एवं शोधपरक नाना पक्षों एवं मान्यताओं के गंभीर और लब्धप्रतिष्ठ विचक्षण हैं। इस निबंधसंग्रह में स्वयं उनके भी तीन निबंध हैं, क्रमश: जिनके विवेच्य क्षेत्र हैं—सूर का जीवनचरित्र, उनकी भक्ति भावना तथा श्रीमद्भागवत और सूर सागर। इन निबंधों में शीर्षकानुसारी सूरसंबंधी अनुशीलन और अध्ययन से संबद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, गोवर्द्धननाथ शुक्ल, विजयेंद्र स्नातक, मुंशीराम शर्मा, भगीरथ मिश्र, नलिनविलोचन शर्मा, रामचंद्र तिवारी, प्रेमनारायण टंडन, सत्यदेव चौधरी, सत्येंद्र, कत्याल, भगवद्स्वरूप मिश्र, मनमोहन गौतम, कैलाशचंद्र भाटिया, शिवशंकर शर्मा राकेश के विद्वत्तापूर्ण गवेषणात्मक और गंभीर सामग्री से युक्त निबंध इसमें संगृहीत हैं। संकलित ग्रंथ का निबंधों के कारण स्वरूप अत्यंत उपयोगी और महत्वपूर्ण हो गया है। निबंधों की योजना क्रमिक रूप से करते हुए इस निबंधसंग्रह को ग्रंथ का रूप प्राप्त हो गया है।

आशा है इस संकलित ग्रंथ से हिंदी के एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों और सूर का विशेष अध्ययन करनेवालों को निश्चय ही पर्याप्त सहायता मिलेगी।

—करुणापति त्रिपाठी

शब्दार्थक ज्ञानकोश

लेखक—श्रीरामचंद्र वर्मा; प्रकाशक—शब्दलोक प्रकाशन, लाजपत नगर, वाराणसी; मूल्य १२) ५० ।

श्री रामचंद्र वर्मा ने अपने जीवन की आधी शताब्दी का समय शब्दसाधना में समर्पित किया है। नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में 'हिंदी शब्दसागर' नामक विशालतम शब्दकोश का निर्माण हुआ। डा० श्यामसुंदरदास के प्रधान संपादकत्व में हिंदी के इस विशालतम कोश के संपादकों में अग्रणी थे, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और प्रमुख सहायक थे श्रीरामचंद्र वर्मा। वर्माजी तभी से कोश-संपादन और शब्द साधना के परिवेश में रहते हुए निरंतर शब्दों के अर्थ और प्रयोग मूलक सूक्ष्मता का गंभीर चिंतन, मनन और विवेचन करते चले आ रहे हैं। बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, फारसी, पंजाबी, अंगरेजी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता और सफल अनुवादक होने के फलस्वरूप शब्दार्थ विषयक व्यावहारिक ज्ञान की उनमें पर्याप्त गहराई है।

'हिंदी शब्दसागर' का संपादन करने के अतिरिक्त 'संक्षिप्त शब्दसागर' और प्रामाणिक शब्दकोश के अनेक संस्करणों का वे संपादन, संशोधन, परिवर्धन और परिष्कार करते रहे हैं। संमेलन द्वारा प्रकाशित पांच खंडों वाले **मानक शब्दकोश**

का संपादन भी वर्मा जी ने बड़े श्रम और वैदुष्य के साथ किया है। लगभग १२-१३ वर्षों पूर्व वर्माजी द्वारा 'शब्द-साधना' नामक पुस्तक लिखी गई। इसके कुछ वर्षों बाद 'शब्दार्थ-मीमांसा' का हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशन किया गया। प्रस्तुत ग्रंथ—शब्दार्थक ज्ञानकोश उसी शृंखला की एक प्रौढ़ कड़ी है। कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों में वर्मा जी द्वारा हिंदी-शब्दों के प्रयोग-संपृक्त अर्थ-विज्ञान का और पर्यायवाची शब्दों की अर्थगत भेद-सूक्ष्मता का अनुशीलन अवश्य हुआ था, पर वह सुव्यवस्थित, सुवर्गीकृत और वैज्ञानिक क्रम से नियोजित नहीं था। शब्दार्थक ज्ञान कोश में १२५ शब्दकुलकों का आर्थी विवेचन और प्रवृत्तिमूलक प्रयोगार्थ निर्धारण किया गया है।

आरंभ की प्रस्तावना के बाद 'शब्द और अर्थ' शीर्षक भाग के अंतर्गत विवेचन के सैद्धांतिक और सहायक सूत्रों का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य उपस्थित किया गया है, जिसमें शब्दों की रचना आर्थी विकास, उनके रूप विकार के विचार के साथ, अर्थ और कंठस्वर, अर्थ-विज्ञान, पर्यायविज्ञान आदि का लगभग ५० पृष्ठों में वर्णन किया गया है। तदनंतर ३०-३२ पृष्ठों में वर्माजी ने अनुशीलन और अपनी साधना से उद्भावित—अर्थ विवेचन विषयक आधारदृष्टि का निरूपण किया है। **तुलनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन** के अंतर्गत एक सौ पचास पर्यायवाची शब्दकुलकों का जिस बारीकी से तुलनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है वह निश्चय ही हिंदी के कोश-वाङ्मय और अर्थ-विज्ञान-विषयक साहित्य की अमूल्य निधि है। आश्चर्य होता है यह देख कर कि इस वृद्धावस्था में दुर्बल आँखों से रुग्ण होकर भी शब्दोपासना के रत्नों को भाषा के सागर में डूब कर वर्मा जी किस प्रकार निकालते रहते हैं। यह लेखक की अविरत साधना, प्रौढ़ वैदुष्य और विवेचन दृष्टि की मौलिकता का ही परिणाम है।

विश्वास है कि वर्मा जी का यह मार्गदर्शक कार्य उन शोधकर्ताओं को दृष्टि और प्रेरणा देगा जो हिंदी में शब्दों के आर्थी विवेचन का कार्य कर रहे हैं।

—करुणापति त्रिपाठी

वैदिक योगसूत्र

लेखक—पं० हरिशंकर जोशी; प्रकाशक—चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१; आकार—डबल डिमाई १६ पेजी; पृष्ठ-संख्या—४२०+३२; मूल्य—२०)

वैदिक वाङ्मय पर ८ पुस्तकों के रचयिता पं० हरिशंकर जोशीजी द्वारा लिखित 'वैदिक योगसूत्र' नामक पुस्तक के ४ अध्यायों में लेखक महोदय ने बताया है कि समस्त वैदिक वाङ्मय योगपरक है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

वाङ्मय की अबतक की सभी व्याख्याओं को उन्होंने व्यर्थ सिद्ध किया है। वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण, निरुक्तकार यास्क, आद्य शंकराचार्य तथा मधुसूदन ओझा प्रभृति विद्वानों की खूब आलोचना की है। इनमें भी सायण तथा यास्क तो पंडित जी के विशेष कोपभाजन बने हैं। लेखक ने अपने सिद्धांत को संस्कृत गद्यखंडों में उपस्थित किया है तथा उनका भाष्य हिंदी में किया है। इन गद्यांशों को उन्होंने सूत्र कहा है। ये सूत्र वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा गीता के मंत्रों के आधार पर रचे गए हैं। लेखक के ये सूत्र इतने विस्तृत हैं कि सूत्र की परिभाषा इनपर लागू नहीं होती।

आलोच्य पुस्तक 'वैदिक योगसूत्र' में योग की परिभाषा बताते हुए दो प्रकार की सृष्टि कही है। प्रथम है साधारण स्वाभाविक तथा द्वितीय है, असाधारण अस्वाभाविक। इसे वे अतिसृष्टि भी कहते हैं। इसी का नाम योगदर्शन है (अंतदर्शन—भूमिका, पृ० १२)। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिये अन्यत्र कहा है—'वेदों में जो कुछ भी वर्णन है वह सब अंतर्जगत् का है' (भूमिका, पृ० ८)। किंतु विचारणीय बात यह है कि जबतक बाह्य जगत का स्वरूप समझ में नहीं आयगा तबतक सूक्ष्म, अदृश्य अंतर्जगत का स्वरूप कैसे समझ में आयगा ? रसोई घर में पहले अग्नि को देखा, उसके बाद पर्वत पर या जंगल में धुआँ देखकर अनुमान किया जाता है कि जहाँ जहाँ धुआँ है, वहां वहां अग्नि है, जैसा कि रसोई घर में देखा था। सगुण उपासना की प्रवृत्ति इसी लिये हुई कि अल्पज्ञ मंद बुद्धि के लोग भी क्रमशः आगे बढ़ते हुए मंत्रद्रष्टा ऋषियों की गति को प्राप्त कर सकें। अतएव समस्त वैदिक वाङ्मय का तात्पर्य आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के रहस्यों का प्रतिपादन करने में है अन्यथा विषयासक्त मंदबुद्धिवाले व्यक्तियों का उद्धार कैसे होगा !

लेखक जिस योगपरक समस्त वैदिक ववाङ्मय को सिद्ध करते हैं उस योग को प्राप्त करने का प्रकार क्या है ? इस महान् प्रश्न का समाधान पुस्तक में नहीं किया गया। भगवद्गीता में १८ अध्यायों की संज्ञा योग ही कही गई है। किंतु भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है कि जो जिस प्रकार से भी मुझे भजता है, उसे मैं उसी रूप में अपना लेता हूँ। योग शब्द के श्रवण मात्र से ही श्री पतंजलि के योगदर्शन का भान अनायास ही हो जाता है और उस योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ अंग है। द्वैत वेदांत आत्मा की प्राप्ति के लिये योगदर्शन के ध्यान और समाधि को स्वीकार करता है। मैं संसारी नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ किंतु अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूं, शुद्ध हूँ बुद्ध हूँ (ज्ञानरूप) इत्यादि प्रकार से श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त कर जीवन्मुक्ति की स्थिति में पहुँचा जाता

है। किंतु अद्वैत वेदांत की यह स्थिति कर्म और उपासना के अनुष्ठान के अनंतर ही प्राप्त हो सकती है। इसके अभाव में तो मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी ही नहीं हो सकता अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही उसमें नहीं आती।

अब हरिशंकरजी का यह योग, वेदांत की पद्धति में आ नहीं सकता क्योंकि कर्म के अस्तित्व को आप स्वीकार नहीं करते। कर्ममार्ग में सकाम कर्मों के अनंतर निष्काम कर्म होते हैं। ये निष्काम कर्म चित्तशुद्धि करते हैं। चित्तशुद्धि के बिना उपासना हो नहीं सकती। उपासना के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। लेखक के योग का समन्वय पतंजलि के योगदर्शन के साथ भी नहीं हो सकता क्योंकि अष्टांग योग क्रियाप्रधान है। उसकी प्राप्ति के लिये संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक आदि के ऊहापोह (तर्क-वितर्क) में उलझने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी स्थिति में पंडितजी के प्रस्तुत वैदिक योगसूत्र को किस श्रेणी में रखा जाय और उससे किस लक्ष्य की प्राप्ति होगी और वह किस प्रकार होगी ये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। इनका समाधान इस पुस्तक में नहीं हुआ है।

द्रव्ययज्ञ का (अग्नि में आहुति डालना) उपहास करते हुए लेखक महोदय कहते हैं—'बाहरी अग्निकुंड में अन्न घी आदि को स्रुवा या हाथों से डालना भी क्या तमाशा नहीं है ? (पृ० ६ भूमिका)। इसका उत्तर पाठकों को मैं भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में देना उचित समझता हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, उन्होंने जोर देकर कहा है कि मनुष्य को (यज्ञ, दान, तप) करने ही चाहिए। इसका कारण भी उन्होंने बता दिया है कि तीनों कर्म मनुष्यों को पवित्र बनानेवाले हैं अर्थात् चित्त की शुद्धि करनेवाले हैं। देखिए यह श्लोक—

यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। —गीता, १८।५

पृष्ठ २७ (अध्याय १ पाद २) में लेखक ने लिखा है—'स्पष्ट है कि इस प्रकार वेदों से लेकर अखिल उपनिषदों तक का मुख्य विषय योग ही है अन्य कुछ नहीं, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता'। इसी प्रकार की बात पृ० २३ में (अध्याय १ पाद २) भी कही गई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि लेखक ने योग की प्राप्ति का उपाय ही नहीं बताया तो पाठक को चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है, यही कहना होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा की प्राप्ति (आत्मदर्शन) का उपाय बताते हुए कहा है कि पहले आत्मा का श्रवण करना चाहिए, उसके बाद वैसी ही भावना करनी चाहिए। पूर्व में जैसा कहा गया है कि योग शब्द से पतंजलि के अष्टांग योग का ही बोध होता है; उस योग में श्रवण, मनन तथा

निदिध्यासन का कोई उपयोग नहीं होता। ऐसी स्थिति में पंडित जी के मत से बृहदारण्यक उपनिषद् व्यर्थ हो जायगा। यह कैसे सहन किया जा सकता है, क्योंकि लेखक स्वयं भी उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि लेखक ने वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों आदि का गहन अध्ययन किया है और प्रत्येक बात सप्रमाण कही है। अग्नि, सोम, इंद्र, यम, ऋषि आदि अनेक देवताओं की आध्यात्मिक व्याख्याएँ इस ग्रंथ में दी गई हैं। ये व्याखाएँ सर्वथा मान्य हैं किंतु वैदिक वाङ्मय अध्यात्म तक ही सीमित है, यह कहना भ्रांतिमूलक है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों का दृष्टिकोण इतना संकुचित कदापि नहीं हो सकता। सायण, उवट, महीधर तथा यास्क आदि ने केवल कर्मकांडीय व्याख्याएँ ही क्यों की थीं, यह विचारणीय है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उस काल में यज्ञों की प्रधानता थी। अतएव तदनुसार ही वैदिक साहित्य की व्याख्या की गई। प्रत्येक लेखक या कवि अपने समय के सामाजिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का ही प्रयत्न करता है। कोई भी मनुष्य अजर अमर होकर संसार में नहीं आता कि वह सहस्रों वर्षों तक लिखता ही रहे। उदारता एवं शांत मस्तिष्क से विचार करने पर ज्ञात होगा कि वैदिक वाङ्मय की आध्यात्मिक एवं आधिदैविक व्याख्याएँ भी यत्र तत्र की गई हैं। अश्वमेध यज्ञ का आधिदैविक वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में ही विद्यमान है। छांदोग्य उपनिषद् में तथा अन्य उपनिषदों में आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक वर्णन उपासनाओं के प्रसंग में स्वयं उपनिषद् ही करते हैं। पुराण ग्रंथों को तथा इतिहास को तो वेद का महत्वपूर्ण अंग आचार्यों ने माना ही है। एक वचन याद आ गया है। संभवतः यह महाभारतका है यथा—

> **आत्मा नदी संयम-पुण्य तीर्थाः,**
> **सत्योदका-शीलतटा दयोर्मिः।**
> **तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र,**
> **न वारिणा शुद्धयति चांतरात्मा॥**

गंगास्नान का यह आध्यात्मिक वर्णन कितना चमत्कारपूर्ण है! कहा है— आत्मा नदी है, संयम तीर्थ है। सत्यरूपी जल से वह नदी पूर्ण है, शील उस नदी के तट हैं, दया की तरंगें उस नदी में उठ रही हैं। अतः हे पांडुपुत्र! तुम उस नदी में (आत्मा में) स्नान करो क्योंकि भौतिक जल से अंतरात्मा की शुद्धि नहीं होती।

पाठक विचार करें, यह उपदेश पांडुपुत्र (संभवतः युधिष्ठिर) को दिया गया है। क्या लेखक महोदय ने सर्वेक्षण करके यह निश्चय कर लिया है कि भारत में सभी युधिष्ठिर हैं? मेरी समझ से तो करोड़ों में एकाध हो सकता है। ऐसी

स्थिति में विषय वासनाओं के सरोवर में आकंठ निमग्न सामान्य संसारी मनुष्यों को तो भौतिक गंगा में स्नान, तर्पण, जप, तप, आदि करके शनैः शनैः ही आगे बढ़ना होगा। तब कहीं जन्मांतरों में वे आध्यात्मिक उपदेश के अधिकारी होंगे।

लेखक ने उपनिषदों और गीता में कर्मकांड एवं उपासना में लीन व्यक्तियों की कड़ी भर्त्सना की है। यह बात सत्य है किंतु गीता में भगवान् कृष्ण ने यहाँतक कह दिया है कि जो लोग भूत, प्रेत आदि की उपासना करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं। अब भर्त्सना की बात कहाँ रह गई ? तथाकथित भर्त्सना अथवा प्रताड़ना का रहस्य यही है कि जो कुछ ये लोग कर रहे हैं वही सब कुछ नहीं है, उसके आगे भी बहुत कुछ है, इसलिये आगे बढ़ो। भगवान् कृष्ण ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये ४ श्रेणियाँ भक्तों की बताईं और कहा कि ये सभी ठीक हैं किंतु ज्ञानी (आत्मज्ञानी) तो मेरी आत्मा है (गीता अ० ७।१६-१८)। क्या अब भी भर्त्सना के लिये कहीं अवकाश है ?

प्रस्तुत पुस्तक में पुनरुक्ति तथा विषय का अधिक विस्तृत होना पाठक की अरुचिका कारण भी बन जाता है। यह संतोष की बात है कि इस पुस्तक में कुछ सूक्ष्म अशुद्धियाँ ही दृष्टि गोचर होती हैं। प्रकाशकगण असह्य मूल्य रखकर साहित्य के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। यह नहीं होना चाहिए। जहाँ तक पुस्तक की उपयोगिता का संबंध है उस दृष्टि से पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। विद्वानों को यह नई दिशा एवं महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करती है।

—केशवपुरी

विष्णुपुराण का भारत

लेखक—डाक्टर सर्वानंद पाठक; प्रकाशक—चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१; आकार—डबल डिमाई १६ पेजी, पृष्ठ–४१६; मूल्य २०)।

'विष्णुपुराण का भारत' डाक्टर सर्वानंद द्वारा लिखित शोधप्रबंध है। लेखक ने दो विषयों में पी-एच०डी० तथा आचार्य और तीर्थ उपाधियाँ प्राप्त की हैं। तदनुरूप अपने शोधप्रबंध को अधिकाधिक उपयोगी बनाने में एक सौ सत्ताइस पुस्तकों का आलोडन किया है। छोटी से छोटी वस्तु का प्रतिपादन भी प्रमाण और प्रतीक देकर किया गया है।

विष्णुपुराण में ६ अंशों में वर्णित आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विषयों को लेखक ने पाठकों की सुविधा के लिये दस अंशों में विभाजित किया है। मूल विष्णुपुराण में अल्पमात्रा में वर्णित विषयों का भी प्रतिपादन, पौरस्त्य और पाश्चात्य मतों के तुलनात्मक अध्ययन एवं व्याख्या सहित किया है।

यह बात बिना किसी हिचक के कही जा सकती है कि लेखक ने परिश्रम किया है और उसका परिश्रम सराहनीय है। स्थान स्थान पर तालिकाओं की योजना से पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हुई है।

पुस्तक का प्रथम अंश भूमिका रूप है। द्वितीय अंश में भूगोल का वर्णन है, जिसमें नदी, पर्वत और जनपदों के आधुनिक नाम और स्थान का उल्लेख किया गया है। तृतीय अंश में विष्णुपुराणोक्त समाजव्यवस्था के अंतर्गत समाज के विभिन्न अंगों का वर्गीकरण है। चतुर्थ अंश में राजनीतिक संस्थान के अंतर्गत शासनप्रणाली की चर्चा है। पंचम अंश में तत्कालीन शिक्षा और साहित्य का वर्णन है। षष्ठ अंश में संग्रामनीति की चर्चा है। सप्तम में आर्थिक दशा, अष्टम में धर्म, नवम में दर्शन, दशम में कला की विवेचना की गई है। एकादश उपसंहारात्मक है।

लेखक ने विष्णुपुराण का काल विभिन्न मतों के आधार पर ईस्वी दो सौ या तीन सौ शतक निर्धारित किया है। देश और काल का निश्चय करना जटिल समस्या है। इससे भारतीय परंपरा को दृष्टि में रखते हुए भारतीय पुराण और इतिहास के प्रत्येक शब्द का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा, तभी तथ्य और सत्य का निर्धारण किया जा सकता है। संप्रति स्थिति यह है कि भारतीय लेखक पाश्चात्य विचारों और दृष्टिकोणों के वात्याचक्र में दिग्भ्रमित हो गए हैं। उससे निकलने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं। यहाँ तक की प्रदेशों और नगरों के संबंध में भी पाश्चात्य विद्वानों ने जो मत प्रतिदित किए हैं, उन्हें भी उसी रूप में बिना अपनी छानबीन के मान लिया गया है, जब कि यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों के मत अधिकतर भ्रामक हैं। उदाहरण के लिये महाभारतकालीन विराट् नगर की स्थिति पाश्चात्य विद्वानों ने राजस्थान में मानी है। साधारण बुद्धि से भी यह बात समझी जा सकती है कि पांडव अपने अज्ञातवास के लिये राजस्थान का चुनाव किसी भी रूप में नहीं कर सकते थे, न वह अपने को वहाँ छिपा सकते थे।

वाराणसी के स्वामी केशवपुरीजी ने विराट् नगर की खोज कच्छ प्रदेश में की है। उनकी युक्तियों और प्रमाणों का समर्थन विशिष्ट विद्वानों ने भी किया है। विदेशी शक्तियाँ प्रयत्नपूर्वक अपने अटूट साधनों और अविच्छिन्न प्रचार सामग्रियों के माध्यम से भारत के प्राचीन गौरव को मिटाकर अपना सिक्का जमाने पर तुली हुई हैं। यदि हम अब भी नहीं चेते तो हमारा अस्तित्व दो हजार वर्षों का ही रह जायगा। फलत: हमारा जगद्गुरुत्व मिथ्या हो जायगा। पाठकजी जैसे विद्वानों से हम यह आशा करते हैं कि भविष्य में वह अपनी प्रतिभा द्वारा भारत का गौरव बढ़ाने का श्रेय प्राप्त करेंगे। अन्यथा भारतीय विद्वानों का शोध-कार्य केवल सामग्री संकलन तक ही सीमित रह जायगा। यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि भारत का गौरव भारतीय वाङ्मय की रक्षा और उसको अपनाए रखने

से ही सुरक्षित रह सकता है। भौतिक विज्ञान से भले ही हम चंद्र और मंगल लोक तक पहुँच जायँ, पर उसका श्रेय हमें नहीं मिल सकता है। वह तो विदेशियों का उच्छिष्ट ही कहा जायगा। अतः जो हमारा है, हमें उसी की रक्षा करनी है और उसी पर गर्व करना है।

आलोच्य ग्रंथ में विद्वान लेखक ने विष्णुपुराणोक्त विषयों का सूक्ष्म वर्गीकरण करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत में शिक्षा, सामाज विज्ञान राजनीति, युद्धविद्या, अर्थशास्त्र आदि किसी विषय का आभाव नहीं था। यह सर्वथा उचित ही है। हमारे ऋषियों का तो यह डिंडिमघोष है कि जो कुछ यहाँ है, वही सर्वत्र (विश्व में) है। जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। इस बात को अपनी खोज द्वारा यदि भारतीय विद्वान् सिद्ध और प्रमाणित कर सकें तो भारत की और भारतवासियों की बहुत बड़ी सेवा होगी और उनकी विद्वत्ता तभी सार्थक होगी।

लेखक ने पृष्ठ १४ पर लिखा है कि 'भारतीय समाज द्वितीय शतक के पूर्व तक राशिसंस्थान से सर्वथा अपरिचित था।' यह कथन नितांत भ्रामक और भ्रांत है। विष्णुपुराण में भले ही राशियों का उल्लेख न किया गया हो, पर अन्य पुराणों में राशियों का उल्लेख किया गया है। यथा—

मेष राशिगते जीवे। माघे वृष गते जीवे।—आदि

केवल पुराण में हीं नहीं, वेदों में भी राशिचक्र का स्पष्ट उल्लेख है—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्तिचक्रं परिद्यामृतस्य आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्चतस्थुः।—ऋक् १, १६४, ११।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि = क उ तच्चिकेत।

ऋक्०,१,१६४,४८

इन मंत्रों में 'द्वादशार' और द्वादश शब्दों से द्वादश राशियों का ही ग्रहण किया गया है।

लेखक ने स्वयं वेद में पुराण के उल्लेख की चर्चा की है (प्रस्तावना, पृष्ठ 'ग') इस स्थिति में विष्णुपुराण ईसवी द्वितीय शतक की रचना कैसे हो जायगा? सृष्टि के आरंभ में पुराण भी वेदों की भाँति संहिता था। 'पुराण संहिता चक्रे भगवान् बादरायणः।' यह वचन उपलब्ध है। पुराण के एक वक्ता का भी कथन है कि 'हमने पूर्वजों से ऐसा सुना है।' इन सब बातों से पुराणों को आधुनिक या मध्यकालिक नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि अधिकतर भारतीय विद्वान् भी विदेशी विद्वानों के मतों का अनुसरण करते हुए महाभारत तथा अन्य पुराणों का

रचनाकाल ईसा से लगभग दो तीन सौ वर्ष पूर्व मानने लगे हैं और उसकी घटनाओं का काल उससे दो तीन सौ वर्ष पूर्व। ऐतिहासिक अनुसंधान की आधुनिक शैली, विकासवाद और संकुचित दृष्टिकोण के कारण इस तरह की धारणाएँ बन गई हैं। लेकिन शास्त्रीय मत का तर्कयुक्त खंडन नहीं किया गया।

कई पुराणों में मौर्य तथा गुप्त राजाओं के नाम भी आए हैं। इससे यह अनुमान किया गया है कि उनकी रचना गुप्तकाल में हुई है। पुराणों में केवल भूत और वर्तमान का ही इतिहास नहीं, भविष्य की कुछ घटनाएँ भी दी गई हैं। यदि यह न माना जाय तो ऐसे उल्लेखों को 'प्रक्षिप्त' मान लेने में हिचक क्यों की जाय? जब कि 'प्रक्षेप' की परंपरा हमारे यहाँ सिरदर्द का रूप ग्रहण कर चुकी है। सबसे बड़ी बात यह कि पुराण का अर्थ ही है 'पुराना।'

एकादश अंश में भूगोल के विषय में लेखक ने कहा है कि 'यद्यपि पुराण में वर्णित द्वीप, समुद्र और पर्वत आदि की सीमा आधुनिक परंपरा के लिये कल्पनातीत भासित होती है और इस कारण से अमान्य है।' किंतु पौराणिक प्रतिपादन और शैली ऐसी है, मात्र इतना कह देने से पाठकों को संतोष नहीं हो सकता। वह कुछ और भी जानना चाहते हैं।

पुस्तक में अशुद्धियाँ कम नहीं है। अशुद्ध पुस्तक छापना आज के हिंदी प्रकाशकों की विशेषता है। सात समुद्र पार के निवासी विदेशी जिन्हें संस्कृत का शुद्ध उच्चारण करना भी नहीं आता, वे एक एक शब्द में तीन तीन चार संयुक्त अक्षरों वाले वेदों तक को सर्वांग शुद्ध छाप सकते हैं, किंतु ढोल बजा बजा कर हिंदी को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा कहने वाले भारतीय हिंदी की पुस्तकें शुद्ध नहीं छाप सकते, यह कलंक की बात है। इस विषय में लेखक ने बड़ी भूमिका के साथ अशुद्धियों के लिये क्षमा याचना की है। इसपर यही कहा जा सकता है कि लेखक अपने दायित्व से विमुख हो रहे हैं।

पुस्तक का मूल्य सुनते ही घबराहट होने लगती है। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये लेखक, प्रकाशक और पाठक का परस्पर सहयोग अत्यंत आवश्यक है।

एक बात और, पुस्तक में लेखक का पता भी प्रकाशक के नाम के साथ ही मुद्रित होना चाहिए। इसके अभाव में पाठक लेखक के साथ संपर्क नहीं स्थापित कर पाता। यह संपर्क लेखक और पाठक दोनों के लिए आवश्यक है।

जैसा कि प्रारंभ में कहा जा चुका है, लेखक का परिश्रम सराहनीय है। विषयों का विवेचन, वर्गीकरण तथा तुलनात्मक अध्ययन पाठकों को महत्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। अतः पुस्तक संग्रहणीय है, इसमें कोई संदेह नहीं।

—एम० भारती

ओटक्कुषल (बांसुरी)

मूलकृति—जी० शंकर कुरुप; रूपांतर—नारायण पिल्लै, लक्ष्मीचंद जैन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ६, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७; मूल्य ८)।

मलयालम के प्रसिद्ध कवि जी० शंकर कुरुप की सन् १६२६ से १६५० तक की कविताओं का संग्रह 'ओटक्कुषल' वह गौरव ग्रंथ है जिसे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित एक लाख रुपए का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ है। 'प्रवर परिषद्' के मत से "'ओटक्कुषल' की कविताओं में भारतीय अद्वैत भावना का साक्ष्य है जिसे कवि ने परंपरागत रहस्यवादी मान्यता के अंगीकरण द्वारा नहीं, प्रकृति के नाना रूपों में प्रतिबिंबित आत्मछवि की वास्तविक अनुभूति द्वारा प्राप्त किया है। चराचर के साथ तादात्म्य भाव की इस प्रतीति के कारण कवि कुरुप के गीतिकाव्य में भी एक आध्यात्मिक और नैतिक उदात्त स्वर है।'

कुरुप एक रहस्यवादी कवि हैं। लेकिन उनका रहस्यवाद लामा धर्म की गुप्त साधनाओं, मंगोलियन धर्म की रहस्यमयी प्रक्रियाओं, शाक्त संप्रदाय के तांत्रिक अनुष्ठानों अथवा अन्य धर्मों द्वारा अनुमोदित गुप्त प्रक्रियाओं से सर्वथा भिन्न है। कुरुप मूलतः प्रकृति के कवि हैं। बाल्यकाल से ही प्रकृति के नाना दृश्यों की सहज नैसर्गिक सुषमा ने कवि को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। उसी के शब्दों में 'प्रकृति के प्रति मेरा आकर्षण, उसके साथ मेरा निकट संबंध, उसके साथ एकाकार हो जाने की अनुभूति तथा उससे प्राप्त प्रकृति के परे रहनेवाली चेतनाशक्ति का आभास–इन सबकीं पूंजी के बल पर ही साहित्यलोक में प्रवेश करने तथा उसके एक कोने में घर करने में मैं समर्थ हुआ हूँ।' आड़वार संत नम्म के समान उसका हृदय निरंतर उड़ान भरा करता है—कभी बादलों के साथ, कभी पहाड़ियों पर। वह कभी समुद्र की लहरों के साथ नृत्य करता है तो कभी पुष्पों से हास्य विनोद क्योंकि ऐसे ही स्थलों पर उसकी प्रियतम से भेंट होती है, जो उसे कहीं दूर से पुकारता प्रतीत होता है।

कवि को लगता है कि कोई अदृश्य शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। वह अणु से भी सूक्ष्म और महत् से भी महान् है। उसकी सत्ता कण-कण में व्याप्त है। यह जो नाना रूपात्मक विश्वप्रपंच है, उसी के अनेक रूप हैं। मेघों की गर्जना में शंपा की चमक में, सागर के गुरु-गंभीर-गर्जन में, संकुल-उत्तुंग-कुल पर्वत में उसे विश्वात्मन् का ही स्वर सुनाई पड़ता है—

शायद ऐसा सोचकर कि
हम तुम्हें भूल न जाएँ
अत्युग्र घोष के साथ
विस्मयकारी ढंग से रूप बदल कर

वर्षा मेघों का जटाजूट प्रकंपित कर
अपने गर्जन-तर्जन से
बार-बार समूचे संसार को चौंकाते हुए,
बीच-बीच में
खींच लेते हो तुम अपनी नंगी तलवार
जो आकाश को दमका देती है

—पुष्पगीत, पृ० २१

यही नहीं उसके अस्तित्व का भान प्रकृति के कण-कण को हो रहा है पक्षी पुष्प, आकाश, सागर सभी उसके स्वर्गिक स्पर्श से अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करते दिखाई देते हैं—

हे निष्पाप,
तुम्हारी सुंदरता के सागर में
हिलोरें ले रहे हैं पखेरू,
तरुण पवन के स्पर्श से दोलायमान
ये विकसित श्वेत सुमन मंजरियाँ
उठा रही हैं धवल फेन।

—बनजूही, पृ० ५९

अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि ब्लेक ने कहा है कि एक बालुकाकण में संपूर्ण विश्व का दर्शन करना, एक वन्य पुष्प में स्वर्ग का दर्शन करना, करतल में अनंत को धारण करना और एक घटिका मात्र में अनंतकाल का दर्शन करना, यही रहस्यानुभूति है—

टु सी द वर्ल्ड इन ए ग्रेन आव् सैंड
ऐंड ए हेवेन इन वाइल्ड फ्लावर
होल्ड इन्फिनिटी इन पाम आव् योर हैंड
ऐंड इटर्निटी इन ऐन आवर

—ब्लेक

ब्लेक के समान कुरुप को भी अणु में विभु के दर्शन होते हैं। उन्हें वृंदावन की विटप शाखाओं में, वनस्थली में, कदंब वृक्षों में, कालिंदी में अब भी नीलमणि-वर्णवाले की कांति दिखाई पड़ती है। उसी के इंगित पर विश्व का प्रत्येक कण परिचालित हैं—

नहीं है मेरी इच्छा से यह
करती है मेरी गति का परिचालन
कोई महती अदृश्य शक्ति

उसकी एक फूंक से
क्षीर सागर प्रकंपित होता है,
उन्नत महाकाय पर्वत
परिवर्तित होता है लघु धूलि-कणिकाओं में ।

—मेघगीत, पृ० ८३

जहाँ तक प्रकृति में अज्ञात और अरूप सत्ता के दर्शन, उसके मानवीकरण और उससे प्रेरणाप्राप्ति आदि का प्रश्न है, कुरुप हिंदी के प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत के बहुत निकट आजाते हैं। दोनों को समान रूप से प्राकृतिक वातावरण में रहने का अवसर मिला है, दोनों ने प्रकृति से बहुत कुछ सीखा है, दोनों के लिये प्रकृति शिक्षिका रही है। यही नहीं, दोनों का काव्यविकास भी लगभग एक सा रहा है। कुरुप के 'मेरी कविता' नामक वक्तव्य और मंत के 'मैं और मेरी कला' नामक निबंध के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

कुरुपजी का दूसरा मुख्य स्वर देशभक्ति का है। यह देश-भक्ति-भावना उसी अद्वैत भावना की देन है, जो विश्वात्मा को प्रत्येक घट में देखती है, जिसके कारण व्यक्ति चराचर के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। वस्तुतः जो अद्वैत-दर्शन जीव और ब्रह्म में अभेद की स्थापना कर मानव-मानव की समानता का और मानवमात्र के आत्मगौरव की बात करता है अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' जिसका सिद्धांत है, उससे बढ़ कर मानवमात्र की समानता का समर्थक और कौन हो सकता है? शंकर कुरुप अपनी इसी उदात्त भावना के फलस्वरूप मानवतावादी उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके। उनकी देश-भक्ति-भावना को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। पुष्पगीत (पृ० ११) नामक कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

कुरुपजी वस्तु और शिल्प दोनों के धनी हैं। उन्होंने बिबों और प्रतीकों में अपनी बात कही है। परंपरागत छंदविधान और भाषा को नूतन प्रयोगों और नई अर्थवत्ता से सजाया है। उसे नई भंगिमा दी है। मूल रचनाओं को देखने से एक आश्चर्यजनक यह तथ्य भी सामने आया है कि उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। उसमें संस्कृत पदावली की भारमार है। कहीं कहीं पूरे पद संस्कृत के लगते हैं— मुग्धतारकवृन्दम्, रम्याम् शुचिस्मिताम्, प्रेमस्वरूपाम्, लोकैकात्मा, पाटलविद्रुमम्, उन्मेषदायिनिममजन्मभूमि आदि एसे ही प्रयोग हैं। आर्य-भाषा-परिवार से भिन्न द्रविड़ परिवार की एक भाषा में इतनी संस्कृत शब्दावली निश्चय ही श्लाघ्य है। आज हम जिस भावात्मक एकता या भाषागत समस्या के समाधान की बात करते हैं, वह कुरुप सदृश महाकवियों की वाणी से ही संभव है। इस दृष्टि से उनका कृतित्व न केवल मलयालम भाषा के लिये अपितु समूचे भारतीय साहित्य में विशिष्ट उपलब्धि है।

—वासुदेव सिंह

एक और नचिकेता

मूलकृति—जी० शंकर कुरुप; रूपांतर—नारायण पिल्ल, लक्ष्मीचंद जैन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७; मूल्य ३)।

'एक और नचिकेता' महाकवि जी० शंकर कुरुप की 'ओटक्कुषल्' की परवर्ती (१९५०-१९६४) दस कविताओं—सर्गगीत, पथिकगीत, अंतर्दाह, एक और नचिकेता, बूढ़ा शिल्पी आदि का संग्रह है। यह एक प्रकार से 'ओटक्कुषल्' का पूरक ग्रंथ है। इससे कुरुप के काव्यविकास के परवर्ती चरण को भलीभाँति समझा जा सकता है। महाकवि को उसकी समग्रता में समझने के लिये तथा उसके शिल्प और काव्यसौंदर्य की सच्ची परख की दृष्टि से प्रस्तुत संकलन अत्यंत उपादेय है।

इस संग्रह के गीतों का भी मूल स्वर 'ओटक्कुषल्' जैसा है। कवि का प्रकृति-अनुराग पूर्ववत् बना हुआ है। उसे कलिंदजा की कूलभूमि में, नील गगन में, तरु के पीछे अब भी किसी महाशक्ति का मादक स्वर सुनाई पड़ता है। उस अज्ञात शक्ति को जानने की अदम्य उत्कंठा अब भी बनी हुई है—

जिज्ञासा है कि
पूछूं—वह कौन है, वह कौन है ?
कौतुक है कि
पूछूं—वह क्यों, वह क्यों
आदित्य मंडल भी अंधा बन जाता है
उस आलोक के अभाव में, यह जगत् ज्योतित है
उसकी रश्मियों के प्रकाश से
पुष्प ग्रहण करते हैं रंग उसी से
हँसते हैं तारे अंधकार में भी
उसी के प्रभाव से।

—परछाइयाँ लंबी हो रही हैं, पृ० ५३

लेकिन लगता है कि उनको अबतक के जीवन में वह सुख प्राप्त नहीं हो सका है, प्रारंभ से ही वह जिसकी तलाश में थे। इसी लिये उसमें करुणा का स्वर भी उभर कर आया है। 'पथिक गीत' और 'अंतर्दाह' में यह स्वर विशेष रूप से मुखरित है, जिसमें यत्र यत्र निराशा का भी पुट विद्यमान है—

यह भूमंडल केवल घनीभूत वाष्प है,
और यह अंतरिक्ष गरम निश्वास है,
काली चट्टानें जमे रक्त के ढेले हैं,
जीवित हैं यहाँ केवल दारिद्र, रोग और युद्ध।

—अंतर्दाह, पृ० ९

लेकिन उनकी यह करुणा व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनकी उदार मानवतावादी दृष्टि की सूचक है। यहाँ व्यक्तिगत करुणा समष्टिगत वेदना का अंग बन कर आई है।

—वासुदेवसिंह

नंददास : जीवनी और काव्य

लेखक—डा० भवानीदत्त उप्रेती; प्रकाशक—रामबोध पुस्तक मंदिर, हुड़ेती, पिथौरगढ़; वितरक—चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी-१; आकार—डबल डिमाई १६ पेजी; पृष्ठ संख्या २९५; मूल्य १२)।

ग्रंथ डा० उप्रेती का इलाहाबाद विश्वविद्यालय में डी० फिल्० उपाधि के हेतु प्रस्तुत शोधप्रबंध है। ग्रंथारंभ से डाक्टर रामकुमार वर्मा लिखित दो पृष्ठों का 'प्राक्कथन', चार पृष्ठों की लेखक की 'कथनिका' एवं पुनः लेखक की ही १५ पृष्ठों में लिखी 'भूमिका' है। मूल ग्रंथ निम्नांकित आठ अध्यायों में विभक्त है—१. जीवन-चरित्र, २. कृतियाँ, ३. कृतियों का कालक्रम, ४. कथावस्तु और आधार, ५. कृतियों में प्राप्त दार्शनिक तत्व, ६. भक्तिभावना, ७. काव्यपक्ष, ८. उपसंहार। मूल ग्रंथ दो भागों में विभक्त माना जा सकता है—शोध और आलोचना। प्रथम दो अध्यय शोध के अंतर्गत आएँगे और शेष आलोचना के।

भूमिका में लेखक ने यह दिखाने का अच्छा प्रयास किया है कि अबतक नंददास पर क्या कार्य हो चुका है और उसने प्रस्तुत प्रबंध में क्या किया है। भूमिका के देखने से ही लगता है कि लेखक को थोड़ा और सजग होने की आवश्यकता है। लेखक तासी के ग्रंथ का उल्लेख करता हुआ लिखता है—

'तासी का'''इतिहासग्रंथ संवत् १८९६ में हिंदी जगत में प्रविष्ट हुआ'—भाषा संबंधी ऐसे प्रयोग चिन्त्य हैं। तासी के ग्रंथ का प्रथम संस्करण १८३९ ई० में हुआ था और दूसरा संस्करण १८७०-७१ ई० में। ग्रियर्सन का 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिंदुस्तान' १८८८ ई० में 'द जर्नल आव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल' के एक अंक के रूप में एवं १८८९ ई० में स्वतंत्र पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' ग्रियर्सन की पोथी के प्रकाशन के १०-११ वर्ष पहले १८७८ ई० में प्रकाशित हुआ था। तासी का ग्रंथ फ्रांसीसी भाषा में है। अतः उसका उपयोग हिंदी साहित्य के किसी इतिहासकार ने नहीं किया। यह तो जब डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा अनूदित होकर हिंदुस्तानी अकेडमी, इलाबाद से १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ है, तब कहीं हिंदीवालों के लिये सुलभ हुआ है। ग्रियर्सन को भी तासी के ग्रंथ के द्वितीय संवर्द्धित संशोधित संस्करण का पता नहीं था, यद्यपि इसका प्रकाशन उनके ग्रंथ के प्रकाशन से प्रायः

सात वर्ष पूर्व हो चुका था। उन्हें इसके पचास वर्ष पूर्व हुए प्रथम संस्करण का पता था। उन्होंने अपने ग्रंथ की 'प्रस्तावना' में लिखा है कि मैं अपने ग्रंथ में ६५२ कवियों के नाम एवं विवरण दे सका हूँ और इनमें से केवल ७० का उल्लेख तासी ने इसके पहले अपने ग्रंथ में किया है। ऐसी स्थिति में ठीक-ठीक अंगरेजी भी न जाननेवाले शिवसिंह सेंगर के फ्रांसीसी में लिखे तासी के ग्रंथ से प्रेरणा ग्रहण करने को असंभव न मानने की कल्पना करना असावधानी का ही सूचक है।

पुनः शिवसिंह सेंगर के प्रकरण में उप्रेतीजी लिखते हैं कि 'सरोजकार ने नंददास का संवत् १८८५ में उदय होना लिखा है।' सरोज में नंददास का समय १५८५ दिया गया है। यह तीन सौ वर्षों का अंतराल क्या प्रेस के भूतों के सिर मढ़ दिया जाय, जब कि उसी अनुच्छेद में एक बार और भी '१८८५ में उदय होने की बात' कही गई है। सरोज के प्रथम एवं द्वितीय संस्करणों में कविपरिचय पाँच स्तंभों में विभक्त है। तीसरा स्तंभ 'संवत्' है। इसके अंतर्गत नंददास के प्रकरण में केवल '१५८५' की संख्या दी गई है। तीसरे संस्करण (१८८३ ई०) से कवि-परिचय सपाट रूप में दिया गया और स्तंभ तोड़ दिए गए। इसमें प्रथम कवि अकबर को 'संवत् १५८४ में उत्पन्न हुये' लिखा गया, शेष कवियों के संवतों में, जैसे नंददास के संवत् १५८५ में, 'में उ०' जोड़ दिया गया। यह 'उ०' उत्पन्न का संक्षिप्तीकरण है, फिर यह 'उदय' कहाँ से आ गया। यह भी लेखक की अनवधानता का प्रतीक है। पृष्ठ ४६ पर १५८५ को जन्म संवत् माना गया है।

पुनः उप्रेतीजी कहते हैं कि 'नाममाला, अनेकार्थ, पंचाध्यायी, रुक्मिणी-मंगल तथा दशम स्कंध का उल्लेख तो सरोजकार ने उसी प्रकार किया है जिस प्रकार तासी ने, परंतु तासी द्वारा उल्लिखित शेष नौ ग्रंथों को छोड़ दिया है तथा दानलीला एवं मानलीला के नाम नए ग्रंथों के रूप में दिए हैं।' शिवसिंह ने सच्चे शोधी के समान प्रयुक्त ग्रंथों का बराबर उल्लेख किया है। जब उन्होंने तासी को देखा ही नहीं, तब तासी द्वारा उल्लिखित नौ ग्रंथों के छोड़ देने की बात क्या अर्थ रखती है और 'उसी प्रकार' से लेखक का क्या अभिप्राय है, कुछ समझ में नहीं आता।

अस्तु लेखक की एक त्रुटि उसकी सजगता में थोड़ी-सी कमी है।

ग्रंथ की दूसरी त्रुटि उसकी पुनरक्तिमयता है। उपसंहार (२७१-८३) में कुल १४ पृष्ठ हैं। इसमें पूर्वकथित बातों को ही दुहराया गया है। नया कहने के लिये इसमें कुछ नहीं है। एक ही अध्याय में पहले जो बातें विस्तार से कही गई हैं, वे ही उसके अंत में पुनः 'निष्कर्ष' रूप में प्रस्तुत की गई हैं। यह पुनरुक्ति-प्रधानता ग्रंथलेखन के सुनिश्चित ढाँचे के कारण आई है। जिस बात का भी विवेचन करना है, लेखक कवि के एक एक ग्रंथ को लेकर उनपर विचार करता है। यही क्रम आलोचनावाले तीसरे से सातवें अध्याय तक बराबर चला है, फलतः

अनावश्यक ही नहीं, क्षोभकारक भी, पुनरुक्तियों की भरमार हो गई है। एक ही बात बार-बार पढ़ते-पढ़ते जी ऊब जाता।

प्रथम अध्याय में जीवनचरित्र की सामग्री एवं जीवनचरित्र-निर्माण है। पहले उसने अंतःसाक्ष्य लिया है, तदनंतर बहिःसाक्ष्य। रसमंजरी, विरहमंजरी, रासपंचाध्यायी में और दशमस्कंध में भी—जिसे उप्रेतीजी ने नंददास के ग्रंथों में से बहिष्कृत कर देने की कृपाकी है—कवि ने अपने एक रसिक मित्र का उल्लेख किया है, जिसके लिये उसने इन ग्रंथों की रचना की। वार्ता साहित्य के अनुसार यह रसिक मित्र ग्वालियर की बेटी 'रसिक मंजरी' है। पर उप्रेतीजी वार्ता साहित्य को अप्रामाणिक मानते हैं और रसिक मित्र को कोरी कल्पना। नंददास के तीन ग्रंथ मंजरी नाम से हैं—रस मंजरी, रूप मंजरी, विरह मंजरी इनमें से 'रस मंजरी' का नामकरण संस्कृत 'रस मंजरी' के नाम पर हुआ है, ऐसा डा० उप्रेती का कथन है ? रूप मंजरी एवं विरहमंजरी का नामकरण मंजरी रूप में ही क्यों हुआ, इसका समीचीन उत्तर उप्रेतीजी के पास नहीं है। नंददास के इस मंजरी प्रेम के पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। होना तो यह चाहिए था कि यह रहस्य भेद किया जाता; हुआ क्या है कि इस रहस्य को ही झुठला दिया गया है। पृष्ठ ६-१६ में छ बार प्रकारांतर से कहा गया है कि—

'नंददास ग्रंथों में मित्र का उल्लेख कवि-कल्पना-प्रसूत है और उसका समावेश रचना का कारण देने के प्रयोजन के फलस्वरूप हुआ है। अतः रसमंजरी, विरहमंजरी और रासपंचाध्यायी में मित्रोल्लेख का, किसी व्यक्ति के साथ कवि की मित्रता होने से कोई संबंध नहीं ज्ञात होता है।'

जब अंतःसाक्ष्यों की यह दुर्दशा है, तब बहिःसाक्ष्यों के लिये क्या कहा जाय ?

पहला बहिःसाक्ष्य 'साहित्यलहरी है, जिसे उप्रेतीजी ने पहले तो महाकवि सूरदास की रचना नहीं माना है और यदि यह रचना सूर की हो भी तो इसके अंतिम पद में आए 'नंदनंदन दास हित साहित्यलहरी कीन' के 'नंदनंदनदास' को 'नंददास' नहीं माना है, कृष्णदास माना है; और कृष्णदास तो अष्टछाप के सभी कवि हैं, ऐसा कहा है। मैं भी साहित्यलहरी को महाकवि सूर की रचना नहीं स्वीकार करता। इसका रचयिता तो कोई नवीन सूरदास है, जो अपने को सुप्रसिद्ध महाकवि सूरदास से अलग करने के लिये अपने को उसी पद में 'सूर नवीन' कहता भी है—

तृतिय ऋक्ष सुकर्मयोग विचारि **सूर नवीन**

द्वितीय बहिःसाक्ष्य है—भक्तमाल। लेखक ने 'सकल सुकुल संवलित' का अर्थ सुंदर कुल में उत्पन्न माना है। नंददास को शुक्ल ब्राह्मण मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार 'चंद्रहास अग्रज सुहृद' का एक उपहासास्पद

अर्थ किया गया है—'चंद्रमा के प्रकाश की भाँति श्रेष्ठ सखा' अर्थात् अष्टसखाओं में उनका स्थान चंद्रमा की भाँति था। इसका सीधा अर्थ है, नंददास जी 'चंद्रहास-अग्रज' चंद्रहास के बड़े भाई थे और 'सुहृद' सुंदर हृदय वाले थे। लेखक का कथन है कि 'चंद्रहास कहने से नंददास का प्रयोजन किसी व्यक्ति के नाम से नहीं रहा होगा।' 'चंद्रहास ही मम परितापं' में आए चंद्रहास को लेकर लेखक कहता है—

'यदि तुलसी के उक्त कथन में चंद्रहास शब्द से किसी व्यक्ति के नाम का बलात् प्रयत्न किया जाय तो और बात है अन्यथा तुलसी द्वारा भी इस प्रयोग के व्यक्तिवाचक होने की बात कल्पना में भी नहीं आती है। फिर नाभादास जी के कथन में यह हठ क्यों बरता जाय कि चंद्रहास नंददास के भाई का नाम ही है।'

तीसरा वहिःसाक्ष्य ध्रुवदस कृत भक्त-नामवली है। न तो इस ग्रंथ से प्रसंग-प्राप्त उद्धरण दिया गया है न संदर्भ-संकेत है। यह भी लेखक की अजागरूकता का संकेतक है।

नंददास ही नहीं सभी अष्टछापी कवियों के ऐतिह्य-निर्माण के लिये वार्ता साहित्य का सर्वाधिक महत्व है। पर लेखक ने वार्ता साहित्य को अप्रामाणिक माना है। फिर भी इसकी तीन बातें न जाने क्यों स्वीकार कर ली हैं—

१. तुलसीदास नंददास से उम्र में बड़े थे।
२. नंददास की मृत्यु अपने गुरु गुसाईं विट्ठलनाथजी के जीवनकाल में ही मानसी गंगा पर हुई थी।
३. नंददाद सनाढ्य ब्राह्मण थे।

वास्तविकता यह है कि वार्ता साहित्य को छोड़ अष्टछापी कवियों के जीवन-चरित्र-निर्माण की दिशा में कोई दूसरा चारा नहीं। जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले।

उप्रेतीजी ने पुरानी ही लीक पर चलकर नंददास का जन्मकाल संवत् १५९० वि० स्वीकार किया है, क्योंकि तुलसीदास से यह उम्र में छोटे थे और तुलसीदास का जन्मकाल सं० १५८९ माना जाता है। इधर नवीन शोध से तुलसी-दास जी का जन्मकाल सं० १६०० सिद्ध हो रहा है, तो क्या नंददास का जन्मकाल १६०१ माना जायगा ?

साहित्यलहरी के आधार पर नंददास का दीक्षाकाल सं० १६०६ माना जाता था। उप्रेती जी ने उसकी उपेक्षा करके बड़ी तत्परता से इनका दीक्षाकाल सं० १६२३ वि० माना है, जो ठीक भी हो सकता है—है तो अनुमान ही की बात।

मृत्युकाल १६४१ स्वीकार किया गया है जो तथाकथित अप्रामाणिक वार्ता के ही अनुकूल है।

दूसरा अध्याय 'कृतियाँ' है। इसमें पदावली सहित ११ ग्रंथ नंददास की रचना के रूप में स्वीकृत हैं। पुरानी मान्यता के निम्नांकित तीन ग्रंथ दशम स्कंध, सुदामा-चरित, गोवर्द्धनलीला—शोधक की दृष्टि में नंददास की रचना नहीं हैं। लेखक ने सारी शक्ति 'दशम स्कंध' को सूची से वहिष्कृत करने के प्रयास में लगाई है। कुतर्कों का अनावश्यक उत्तर देने से मौन रहना अच्छा है। तीनों ग्रंथ निश्चित रूप से नंद-दास की रचना हैं, इतना ही कह देना पर्याप्त है। भँवरगीत की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में कवि की छाप 'जन मुकुंद' है, इस पर पूर्ण विचार अपेक्षित था। पर इसका उल्लेख तक नहीं हुआ है।

तृतीय अध्याय में ग्रंथों के कालक्रम पर लेखक ने अत्यंत तर्कपूर्ण संगत विचार प्रस्तुत किए हैं, पर यदि कवि और लेखक इसी तर्कपद्धति पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते हों तो नंददास की रचनाओं का यह काल-क्रम-निर्धारण ठीक ही है अन्यथा कल्पनाविलास के समान ही यह भी तर्कविलास ही है। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि कवि अपनी श्रेष्ठ रचना प्रारंभ ही में दे जाता है, उत्तरकालीन रचनाएँ उतनी समर्थ एवं श्रेष्ठ नहीं होतीं। इस प्रकरण में उदाहरण देना अनावश्यक है, खोजने वाले को उदाहरण स्वतः मिल जाँयगे।

निष्कर्ष यह है कि शोध संबंधी अंश में अनेक प्रश्नवाचक चिह्न लगाए जा सकते हैं, आलोचना अंश में पुनरुक्तिवाली बात छोड़ दी जाय तो वे पर्याप्त प्रभाव-पूर्ण है।

—किशोरीलाल गुप्त

शर्की राज्य जौनपुर का इतिहास

लेखक—श्री सय्यद एकबाल अहमद जौनपुरी; प्रकाशक—शीराज हिंद प्रकाशन भवन, ११५, रिजवी खाँ, जौनपुर; पृष्ठ संख्या ६४३; आकार—डबल डिमाई १६ पेजी; मूल्य २५)।

श्री सय्यद इकबाल अहमद लिखित शर्की राज्य जौनपुर का इतिहास मैंने आद्योपांत पढ़ा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इसमें आए हुए तथ्य और घटनाएँ मेरे विचार से प्रथम बार हमारे सामने आई हैं। सदियों से जौनपुर के इतिहास के जो महत्वपूर्ण अंश आवरण में थे और अब तक रहस्य बने हुए थे उनको हमारे सामने प्रस्तुत करके लेखक ने सराहनीय कार्य किया है।

इतिहास की प्रामाणिकता उन प्रमाणों और साक्ष्यों पर निर्भर करती है जिनके आधार पर इतिहासकार इतिहास लिखता है। श्री इकबाल ने अपने इस ग्रंथ में जिन प्रमाणों तथा साक्ष्यों को प्रस्तुत किया है और जिनको आधार मानकर ग्रंथ की रचना की है, वे महत्वपूर्ण और विश्वसनीय हैं। ये साक्ष्य शोध कार्यों के

लिये और भी उपयोगी हो सकते हैं। साक्ष्यों और प्रमाणों के रूप में अनेक हस्त-लिखित ग्रंथ, पारिवारिक वंशवृक्ष, जिला गजेटियर तथा गयासुद्दीन तुगलक के शासनकाल से लेकर मुहम्मदशाह रंगीले के शासनकाल तक के अनेक अभिलेखों को प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथलेखन में लेखक ने बहुधा अपने स्वतंत्र विचारों का ही प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ इतिहास के विद्वानों तथा शोध छात्रों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

इस ग्रंथ में शर्की शासनकाल से लेकर आधुनिक काल तक का इतिहास दिया गया है। इसके साथ ही विभिन्न कालों में बने भवनों तथा महत्वपूर्ण स्थानों का भी वर्णन है जो विषय एवं ग्रंथ की उपयोगिता को और भी बढ़ा देता है। बहु-संख्यक चित्रों, मानचित्रों तथा मूल अभिलेखों के समावेश से ग्रंथ की प्रामाणिकता तथा लेखक की लगन तथा श्रम सहज दृष्टिगोचर होते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि लेखक ने इस ग्रंथ में जौनपुर के इतिहास को प्रत्येक दृष्टिकोण से रखने का प्रयास किया है जिसमें वह पूर्ण सफल है। श्री इकबाल अहमद अपने इस प्रयास के लिये प्रशंसा के पात्र हैं।

—आशुतोष उपाध्याय

ग्रह-नक्षत्र

लेखक—डाक्टर संपूर्णानंद; प्रकाशक हिंदुस्तानी अकेडेमी, इलाहाबाद; मूल्य १२)२५।

डाक्टर संपूर्णानंद की दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की पुस्तकों से हिंदी संसार भलीभाँति परिचित है। आपके वैज्ञानिक निबंध भी यत्रतत्र प्रकाशित होते रहे हैं पर पुस्तक के रूप में आपने ग्रह-नक्षत्र लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि वैज्ञानिक विषयों पर भी आप आधिकारिक रूप से लिख सकते हैं। इससे बहुत पहले भौतिकी पर भी आपने एक छोटा ग्रंथ लिखा था।

आकाशवाणी के लखनऊ केंद्र से नक्षत्रलोक के संबंध में आपने कुछ वार्ताएँ प्रसारित की थीं। उन्हीं का संशोधित और संवर्द्धित रूप इस पुस्तक में संगृहीत है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ब्रह्मांड की रहस्यलीला का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सरल रूप में उद्घाटन किया है। विषयों का विवेचन बड़ी विद्वत्ता से किया गया है। आजकल जब अंतरिक्ष का अन्वेषण बड़ी सूक्ष्मता से हो रहा है, सर्वसाधारण के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक में चार प्रकरण १. ग्रह और उनकी उत्पत्ति २. तारे, उनकी उत्पत्ति, भेद और गतियाँ ३. नीहारिकाएँ और उनकी उत्पत्ति और ४. उपसंहार : ज्योतिष और दर्शन तथा २७ फलक चित्र हैं। फलक चित्रों में अनेक बहुरंगी चित्र हैं। रंगीन चित्रों से पुस्तक की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है।

पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध है। छपाई अच्छी है और जिल्द बँधाई आकर्षक। प्रत्येक हिंदी, खगोल और ज्योतिष प्रेमी के लिये पुस्तक संग्रह करने के योग्य है।

—फूलदेवसहाय वर्मा

राजस्थान का लोक साहित्य

लेखक—नानूराम संस्कर्ता; प्रकाशक—रूपायन संस्थान, बोरुंदा, जोधपुर (राजस्थान); पृष्ठ संख्या–८ + २७७ + २=२८७, मूल्य–१५)।

भारत में लोकतंत्र के श्रीगणेश के साथ ही प्रांतीय सरकारों के आर्थिक सहयोग से साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में भी चेतना की लहर आई। फलस्वरूप, चिर उपेक्षित लोकसाहित्य एवं संगीत के विकास को बल मिला। प्रस्तुत ग्रंथ भी राजस्थान सरकार के शिक्षा विभाग के द्वारा इसी उद्देश्य से प्रदत्त आर्थिक सहायता का प्रतिफल है।

नागरी लिपि में हिंदी भाषा की सहचरियों में राजस्थान की प्रौढ़ साहित्यिक डिंगल भाषा से साहित्य जगत् प्राय: परिचित है, लेकिन लोक (सर्वसाधारण) में नित्य प्रचलित सांस्कृतिक छटा से ओतप्रोत साहित्यिक वातावरण से पाठकों को परिचित कराना तथा लोककथाओं, लोकगीतों, मुहावरों, कहावतों एवं लोकवार्ता विषयक सामग्री का, आलोचना एवं विश्लेषण पद्धति से परे, संग्रह करना इस ग्रंथ के प्रकाशन का एवं प्रकाशन संस्थान का मूल उद्देश्य है।

साहित्यमहोपाध्याय श्री नानूरामजी संस्कर्ता का यह प्रयास प्रशंसायोग्य है, क्योंकि राजस्थान के अप्रसिद्ध ग्रामीण अंचलों में बैठकर उत्तम पुस्तकालयों आदि साधन विहीन एवं विकटतम महंगी की परिस्थिति में यह एक सामान्य शिक्षक की ध्येयनिष्ठा अथवा तपस्या का मधुर फल है।

ग्रंथ के प्रारंभ में लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के लोकविषयक मत एवं राजस्थानी लोकसाहित्य के संग्रह एवं उत्थान विषयक प्रयासों का सुंदर वर्णन किया है। ग्रंथ में लेखनक्रम नौ विभागों में विभाजित है जिनके नाम क्रमश: लोकसमीक्षण, राजस्थान और राजस्थानी, लोकगीत, लोककथा, लोक कहावतें, पहेली, बाल-लोक-साहित्य, लोकानुरंजन तथा लोकप्रचलित कुछ तथ्य हैं। अंत में सहायक ग्रंथों की सूची भी दी गई है।

इस बृहद् ग्रंथ में खटकने वाली बात लेखक का संस्कृत भाषा के व्याकरण एवं उसके साहित्य तथा आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से परिचित न होना है।

अगले संस्करण में प्रकाशन संस्थान इस ग्रंथ में राजस्थान का एक सांस्कृतिक मानचित्र जिसमें विभिन्न भागों की बोलियाँ, उनके सांस्कृतिक नाम और लोक-

संस्कृति-सूचक वैशिष्ट्य का भी वर्णन हो तथा राजस्थानी ख्याल (लोकनाट्य) एवं ख्यालकारों का वर्णन भी समुचित रूप में संलग्न करें तो उत्तम होगा।

ग्रंथ में यत्र तत्र संशोधन (प्रूफ संबंधी), व्याकरण, भाषा शैथिल्य के दोष और अनावश्यक अज्ञान एवं द्वेषपूर्ण वाक्यावलियों का संनिवेश न होता तो उत्तम था। यह ग्रंथ लोकसाहित्य एवं लोकसंस्कृति के प्रेमियों के लिये संग्रह योग्य है।

— देवकीनंदन शर्मा

श्री हरीश भादानी के दो कविता संग्रह

एक उजली नजर की सुई—पृष्ठ संख्या ८८; मूल्य ५) तथा सुलगते पिंड—पृष्ठ संख्या ११२, मूल्य रु० ६); प्रकाशक—वातायन प्रकाशन, ५, डागा बिल्डिंग, बीकानेर।

ये कविता संग्रह पढ़ते हुए मुझे लगा कि जो कुछ भी हो श्रीहरीश भादानी ने जीवन और शब्दों के संबंध को ढूंढने का ईमानदारी से प्रयास किया है। यह सच है कि उनके प्रयास की क्षेत्र-परिधि बड़ी सीमित है और इस कारण ये कविताएँ मन को उस उष्णता से स्पर्श नहीं कर पातीं जिसकी कविता के पाठक को चाह होती है। लेकिन बंधन काटते काटते ही कटते हैं और ये संग्रह इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कवि को इसका अहसास है।

'एक उजली नजर की सुई' के संबंध में श्री भादानी का आग्रह है कि इस संग्रह की रचनाओं को कविता कहा जाए, गीत नहीं। क्योंकि 'आज के गीत और आज की कविता का कथ्यात्मक और शिल्पगत अंतर समाप्त हो चुका है।' यदि यह सच है तो उक्त रचनाओं को कविता कहा जाए, यह आग्रह क्यों ? वे आगे कहते हैं 'मूल रूप में वह काव्य है, पढ़ने-सुनने में मिलती लय के आधार पर भले हम गीत कह दें। किसी रचना को मन की विशेष स्थिति या शुष्क बौद्धिकता से परे की भावाभिव्यक्ति के आधार पर गीत नव गीत के नाम से बाँटना अतीत के रूढ गीत से जुड़े रहने का मोह ही होगा, जब कि बदले हुए संवेदन की अनुभूतियों को काव्याभिव्यक्ति की संज्ञा में स्वीकारना युगजीवन की सहजता से जुड़ा रहना है।' यह पढ़ने पर सहज ही मन में एक प्रश्न उठता है। काव्य क्या है ? परंपरा के अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। नई परिभाषा क्या है ? और परंपरा से जुड़े रहने का मोह त्याज्य है, तो 'काव्य' शब्द को ही क्यों स्वीकार किया जाए ?

वस्तुतः 'गीत' और 'काव्य' विषय, शिल्प और निर्वाह की दृष्टि से ही नहीं प्रकृति की दृष्टि से भी दो पृथक् चीजें हैं। जैसे उपन्यास को बड़ी कहानी या कहानी को छोटा उपन्यास नहीं कहा जा सकता वैसे ही कविता को अगेय गीत या गीत को गेय काव्य नहीं कहा जा सकता। कविता में रस का परिपाक होना आवश्यक है।

और गीत एक भाव द्वारा श्रोता या पाठक के मन को वेध लेता है। बहरहाल 'उजली नजर की सुई' की रचनाओं को श्रीमादानी कविता कहें या गीत, रचनाओं में ताजगी है, यह मैं जरूर कहूँगा।

दोपहरी जैसी पीड़ाएँ
अपनेपन की
मृगतृष्णाएँ,
थके-थके-से मन हिरना को
किस
दूरी की आस बँधाएँ ?

(पृष्ठ २५)

बहुत घुली
घुल-घुल घराई
बदरी विरहा साँस की,
उलझ उलझ पथ भूली गंगा
सपनों के आकाश की

(पृष्ठ ८१)

ऐसी संगीतमय पंक्तियाँ वे सहज ही लिख गए हैं।

सुलगते पिंड की रचनाएँ गीत की अपेक्षा कविता के अधिक निकट हैं। अधिक निकट इसलिये कह रहा हूँ कि इनमें एक प्रभाव की अपेक्षा रसोत्कर्ष की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। ये रचनाएँ अधिक सशक्त भी हैं। लेकिन कहीं कहीं लगता है जैसे शब्दों के मोह में सहज आनेवाले संगीत को बुद्धिपुरस्सर तोड़ दिया गया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ७० पर—

साँस के बाजार में
उपलब्धियाँ जितनी मिलीं
नंगी मिलीं
लाज तो आई बहुत
कुछ हिचकिचाहट भी हुई लेकिन—

इन पंक्तियों के ठीक बाद—

इस आदमीनुमा अस्तित्व के लिये
उन्हें स्वीकारना जरूरी था,
लिया ढोया
उन्हें ढाँपा बहानों के कमजोर पर्दों में

ये पंक्तियां क्षण भर के लिये जबान को जैसे रोक देती हैं। यह गतिरोध सहज बनते हुए वातावरण को नष्ट कर देता है।

वैसे श्री भादानी को शब्दों का आवश्यकता से अधिक मोह है। मोलती, धूपती, साँझती, कल्मषे, दर्दाये, अगियायें, बीजे, प्रारूपती, हवाते, संघर्षती, विस्फूटने दो, विस्फोटो, आहटती, टकरी, दुर्गंधायें, बीजा, दरारित, बुढ़िया गई, उपेक्षाई नजर, अहिल्याई, सीताई, पत्थराना जैसे (संज्ञा को क्रिया अथवा विशेषण का रूप देकर बनाए गए) शब्दों का उन्हें न जाने क्यों इतना आकर्षण है ? दोनों संग्रहों में पन्ने पन्ने पर ये शब्द बिखरे पड़े हैं। एक-आध स्थान पर 'विचारपूर्वक किया गया हुआ, यह प्रयोग जहाँ चमत्कार उत्पन्न कर सकता है वहीं इसका अनावश्यक बाहुल्य रचनाओं को कुरूप कर देता है। श्री भादानी को इस मोह से निकलना होगा। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वे तथाकथित 'आज' की कविता के व्यूह से निकलने की कोशिश कर रहे हैं।

कुंठाग्रस्त लंबे चेहरोंवाली कविताओं की भीड़ में एक ईमानदार चेहरा देखकर खुशी होती है।

—क्षीरसागर

शांतिनिकेतन से शिवालिक तक

संपादक—शिवप्रसाद सिंह; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; पृष्ठ संख्या—४६६; आकार—डबल डिमाई १६ पेज; मूल्य २०)।

श्री पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति श्रद्धानिवेदन करने के लिये उनके अनुगामी तथा उनके द्वारा ही उपकृत एवं उनके छात्र श्रीशिवप्रसाद सिंह, जो द्विवेदी जी के काशी हिंदू विश्वविद्यालय में पुनरागमन के बाद अब रीडर हो गए हैं, उनका द्विवेदीजी के प्रति श्रद्धानिवेदन है। इस प्रकार का एक और प्रयत्न इसके पूर्व भारतेंदु भवन, चंडीगढ़ से भी हो चुका है, जब वे वहाँ प्राध्यापक थे। आज के इस युग में, जब अनास्था बाढ़ पर है, जब मानयता के प्रति और उसके मूल्यों के प्रति, जिनमें से अनेक हमारे जीवन के मूलाधार हैं, विश्वास उठ रहा है किसी के प्रति कृतज्ञताज्ञापन की बात साधारण नहीं है। श्रद्धा श्रद्धा ही है, वह इस भूमि में सदा मर्यादित रही है। भले ही वह स्वार्थानुपूरित ही क्यों न हो। इसलिये इसके संपादक ने जो कुछ भी कार्य किया, उसकी अपने स्थान पर महत्ता है।

शांतिनिकेतन से शिवालिक तक में द्विवेदीजी के कुछ चित्र और कुछ महत्व के पत्र उपलब्ध कराए गए हैं तथा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर श्रद्धानुरंजित प्रकाश डाला गया है। मूलतः उनके शोधछात्र और उनके अंतर्गत काम करनेवालों के निबंध इसमें संकलित हैं, जिनमें कुछ नए और कुछ पुरानी पत्र-

पत्रिकाओं से संकलित हैं। श्रद्धा, मूल्यांकन में अवरोध उत्पन्न करती है, तटस्थता एकांत कृति को अपना निकष मानती है। द्विवेदी जी, जैसा कि स्वयं संपादक ने कहा है, का व्यक्तित्व ऊपर से जितना सीधा सादा लगता है उसका विश्लेषण उतना ही कठिन है। इस कठिन व्यक्तित्व को श्रद्धा की दृष्टि से और उनके साहित्य को भी प्रशंसा की दृष्टि से प्रस्तुत करना सरल काम नहीं है।

आज जब गली कूचे में ऐसे लोगों का, जिनका न कभी अतीत था और न कोई भविष्य ही है, अभिनंदन हो रहा है और कुछ लोग स्वतः आयास कर अपने को अभिनंदित कराने में अपनी साहित्यसाधना की चरम सिद्धि समझ रहे हैं तो द्विवेदी जी जैसे व्यक्ति का, जिन्होंने हिंदी में कुछ अच्छे ललित निबंध लिखे हैं, कथा साहित्य में भी जिनका अच्छा स्थान है तथा और भी ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं एवं शांतिनिकेतन से शिवालिक तक जीवन का अनुभव प्राप्त किया है और अपनी कार्य-क्षमता और निपुणता से मान अर्जित किया है, का अभिनंदन कर शिवप्रसादसिंह या भारतीय ज्ञानपीठ ने उनका कोई विशेष उपकार नहीं किया है, अपितु अपना यश-विस्तार ही किया है।

अच्छा होता, शांतिनिकेतन का भी कोई व्यक्ति इसमें लिखता और थोड़ी उतावली न दिखाकर हिंदी के जाने माने लोगों से उनके साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत कराया गया होता और ऐसे लोगों का योगदान और भी अच्छा होता जो साहित्य को साधना की वस्तु भी समझते हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन से द्विवेदी जी में कार्य करने का नया उत्साह उत्पन्न होना चाहिए और उन्हें वास्तव में जीवन के अतल से कुछ ऐसी कृतियाँ हिंदी में देनी चाहिए जिनकी गरिमा स्थायी महत्व की हो।

—रश्मिरथी

यौवनविज्ञान पर नया प्रकाश

लेखक—डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा; प्रकाशक—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, (प्रा० लि०), ग्रेट नागरोड, नागपुर-२; पृष्ठ संख्या—२०१, ड० क्रा० १६ पेजी; मूल्य ३।

प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है कि विद्वान् लेखक ने प्राचीन और आधुनिक लेखकों के पूर्वाग्रहों से हटकर स्वतंत्र शैली द्वारा वैज्ञानिक एवं सरल ढंग से विषय को समझाने का पूर्ण प्रयास किया है।

सत्य यह है कि यौवनविज्ञान पर कम से कम हिंदी में अभी ऐसी पुस्तकों की बहुत कमी है, जो इस विषय की अधिकृत पुस्तक मानी जा सके। प्रस्तुत पुस्तक भी इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। फिर भी इस पुस्तक के लेखक इस संबंध

में अत्यधिक सावधान हैं कि पुस्तक का दुष्प्रभाव युवकों और युवतियों पर न पड़े। जैसा कि इस प्रकार की पुस्तकों से सामान्यतः होता है।

इस दृष्टि से यह पुस्तक उत्तम है। साधारणतः शरीर की बनावट; उसके विभिन्न अंगों की क्रियाशीलता आदि का परिचय इस पुस्तक से हो सकता है।

—एम० भारती

दरिया विचार मुक्तावली

लेखक तथा संपादक—महंथ ब्रजनंदनदास जी साहब, प्रकाशक—राजदेवदास, गाजीपुर (उ० प्र०), मूल्य अजिल्द ४)५०, सजिल्द ५)२५।

प्रस्तुत पुस्तक दरिया साहब (बिहारवाले) की रचनाओं का उपयोगी संक्षिप्त संकलन है। संत दरिया साहब रहस्यवादी संत थे। मध्यकालीन संतों का चिंतन पलायनवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित नहीं था। यही कारण है कि प्रायः सभी संत गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए परिलक्षित होते हैं। समाज में सामान्य धरातल का जीवन यापन करने के कारण इन संतों में अपने परिवेश की परिस्थितियों को समझने की शक्ति उपनिषद्कालीन ऋषियों से भिन्न प्रकार की थी। इसी लिये इनका रहस्यचिंतन लोकोन्मुखी बन सका। इसी कारण दरिया साहब भी अपने समसामयिक संत कवियों की भाँति मानव समाज में व्याप्त कुरीतियों के प्रशमनार्थ सन्नद्ध हो सके तथा उन्होंने समाज की 'भाषा' को अपनी कविता का माध्यम बनाया।

दरिया साहब कबीर की भाँति उदार विचारों के पोषक थे। उन्होंने अपनी चिंतन प्रक्रिया का मूल स्रोत कबीर को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं अपने को कबीर का 'अवतार' कहकर गौरवान्वित समझा है। कबीर की भाँति इनके मतावलंबी हिंदू और मुसलमान दोनों ही पाए जाते हैं जिन्हें अपने अपने धर्म तथा रीतिरिवाजों का पालन और आचरण करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

अब तक दरिया साहब के लगभग २० ग्रंथ दृष्टिपथ में अवतरित हुए हैं, जिनमें आध्यात्मिक चिंतन तथा रहस्यात्मक उक्तियाँ पग पग पर दृष्टिगत होती हैं। उनमें भक्ति और प्रेम के विशद विवेचन के अतिरिक्त, मानव को समुन्नत आचरण और नैतिकता की शिक्षा देनेवाले कथन भरे पड़े हैं। निःसंदेह कवि की मौलिक चिंतनप्रक्रिया, समुन्नत रचनाकौशल और उच्चकोटि की काव्यप्रतिभा मध्यकालीन संत कविपरंपरा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

महंथ ब्रजनंदनदास जी साहब द्वारा संपादित प्रस्तुत पुस्तक अपने में पूर्ण है। पुस्तक के विषय में संपादक ने स्वयं लिखा है : 'प्रस्तुत ग्रंथ में केवल ३२ विषयों पर सतगुरु दरिया साहब के विचारों का संग्रह है जो पाँच खंडों में आबद्ध हैं'। इन पाँच अध्यायों में ब्रह्म, माया, अवतार, सृष्टिविकास, निरंजन, पुनर्जन्म, सत्य,

अहिंसा, तीर्थ, व्रत, बहुदेव-देवीपूजन-विरोध, गुरु, अस्पृश्यता, हिंदुमुस्लिम समालोचना आदि विषयों पर दरिया साहब के विचार संग्रह किए गए हैं। ग्रंथ के नामकरण के संबंध में संपादक का कहना है कि 'हर विषय के विचार मुक्ता स्वरूप हैं, इसलिये ग्रंथ का नाम 'दरिया विचार मुक्तावली' रखा गया है।'

इस ग्रंथ की विशेषता है संपादक द्वारा विहित टीका। यह टीका केवल शब्दार्थ का बोध ही नहीं कराती है, तन्निष्ठ गूढ़ भाव का प्रकाश भी प्रस्तुत करती है। साथ ही जहाँ अंतर्कथाएँ निहित हैं, वहाँ उनका भी विशद उल्लेख कर दिया गया है। किं बहुना, इससे पुस्तक की उपयोगिता और अधिक हो गई है।

परिशिष्ट भाग में दरिया साहब की भाषा और काव्यकौशल पर भी विचार किया गया है जो कि पाठकों के लिये अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

अनवधानता के फलस्वरूप कुछ अशुद्धियाँ तो खटकती ही हैं। यथा 'दरिया साहब कहते है कि ब्रह्मा ने बहुत सी सुंदर रूपवती स्त्रियों की रचना किया है', पृ० ३२५। 'अणोरणियाँ महती महियाँ', पृ० २००। अहर्निश के स्थान पर 'अह्निशि', पृ० १६३। 'जो शरीर रक्षार्थ अत्यंत आवश्यकीय है', पृ० २१६; 'जिस तरह पतंग दीपक के प्रेम में अपने को निछावर कर दिया', पृ० २२०।

प्रस्तुत संस्करण संत साहित्य की अनमोल निधि है जिसका संग्रह किसी भी मानव के लिए गौरव का विषय हो सकता है।

—प्रेमीराम मिश्र

सामाजिक विज्ञानों की पारिभाषिक शब्दावली का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक—गोपाल शर्मा एम० ए०, पी०-एच० डी०; प्रकाशक—एस० चंद एंड कंपनी, दिल्ली; १९६८, पृष्ठ संख्या ३५२; मूल्य १५)।

हिंदी के भावी विकास तथा उन्नयन के मार्ग में जो अनेक बाधाएँ तथा समस्याएँ हैं, उनमें से एक पारिभाषिक शब्दावली भी है। यद्यपि हिंदी में गत सौ वर्षों से पारिभाषिक शब्दावली के संकलन तथा निर्माण का कार्य हो रहा है और इसमें अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों (डा० रघुवीर), संस्थाओं (नागरीप्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य संमेलन), केंद्रीय सरकार (शिक्षा मंत्रालय, विधि मंत्रालय, लोकसभा सचिवालय), राज्य सरकारों (मध्य प्रदेश सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, बिहार सरकार) आदि ने योग दिया है, पर न तो अभी तक कोई सर्वसंमत पारिभाषिक शब्दावली ही बन सकी है और न इस समस्या के संबंध में कोई व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध वैज्ञानिक चिंतन ही हुआ है। डा० गोपाल शर्मा का 'सामाजिक विज्ञानों की पारिभाषिक शब्दावली का समीक्षात्मक अध्ययन' इस महत्वपूर्ण समस्या का पहला निष्पक्ष तथा शैक्षिक अध्ययन है। यद्यपि लेखक ने यह ग्रंथ मूलतः दिल्ली

विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अंतर्गत पी-एच० डी० की उपाधि के लिये लिखा था और उन्हें उसपर १९६३ में यह उपाधि प्राप्त भी हो गई, परंतु ग्रंथ की रूप-रेखा, विवेच्य सामग्री तथा विवेचन स्तर पी-एच० डी० के सामान्य धरातल से कहीं ऊँचा है।

ग्रंथ दो खंडों में विभक्त है—सैद्धांतिक सर्वेक्षण खंड (पृ० ३-१०४); और समीक्षात्मक अध्ययन खंड (पृ० १०७-३५२)। सैद्धांतिक सर्वेक्षण खंड के अंगर्तत तीन अध्याय हैं—१—शास्त्रीय भाषा और पारिभाषिक शब्द; २—भारत में द्विभाषी (हिंदी और अँगरेजी) कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दावली निर्माण, ३—शब्दावली संप्रदाय। समीक्षात्मक अध्ययन खंड के अंतर्गत पाँच अध्याय हैं—४—सामाजिक विज्ञान और उनकी व्याप्ति, सामाजिक शब्दावली की संस्कृति-सापेक्षता, ५—राजनीति की शब्दावली, ६—आर्थिक शब्दावली, ७—शिक्षा की शब्दावली, ८—भारतीय मानक शब्दावली और समन्वय की समस्या। ग्रंथ के आरंभ में डा० नगेंद्र का संक्षिप्त प्राक्कथन है जिसमें उन्होंने विषय के महत्व तथा प्रस्तुत कृति के वैशिष्ट्य का उद्घाटन किया है। उनके शब्दों में डा० शर्मा ने, 'न केवल नवीन अपितु प्राचीन पर्यायों का भी अध्ययन किया है और तुलनात्मक दृष्टि से दोनों की प्रामाणिक समीक्षा की है। इस कार्य के लियें उन्होंने विषयों के आधुनिक रूपों को उनके प्राचीन ऐतिहासिक रूपों के समक्ष रख कर संकलपनाओं का पारस्परिक अध्ययन एवं विश्लेषण किया है और कई स्थानों पर प्राचीन शब्दावली के आधार पर नई विषयवस्तु का बड़े मौलिक ढंग से संगठन कर आधुनिक प्रसंग में शब्दावली की उपयुक्तता का विशेष परीक्षण किया है'। (प्राक्कथन, पृ० १-२)। ग्रंथ के अंत में तीन परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट क में वैज्ञानिक शब्दावली से संबंधित समस्याओं पर भाषातत्व की दृष्टि से विचार करने के लिये २७ अगस्त, १९६२ से १ दिसंबर, १९६२ तक भारत सरकार के पारिभाषिक शब्दावली आयोग द्वारा आयोजित एक कार्यगोष्ठी की रिपोर्ट के प्रसंगोपयोगी अंशों का हिंदी अनुवाद दिया गया है। परिशिष्ट ख में अँगरेजी उपसर्गों तथा उनके समानार्थी भारतीय उपसर्गों की तालिका दी गई है। परिशिष्ट ग में अँगरेजी हिंदी लिप्यंतरण योजना दी गई है। एक उपयोगी ग्रंथसूची तथा हिंदी और अँगरेजी दोनों की अनुक्रमणिकाओं के फलस्वरूप कृति की उपादेयता और बढ़ गई है।

डा० शर्मा का पहला अध्याय 'शास्त्रीय भाषा और पारिभाषिक शब्द' है। शास्त्रीय विषयों की भाषा सामान्य अथवा साहित्यिक भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिये कालिदास के पूर्वमेघ की एक प्रसिद्ध पंक्ति है—**धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः**। इस पंक्ति में बादल का रसात्मक वर्णन है। पर वैज्ञानिक बादल का इस रूप में वर्णन नहीं करेगा। उसकी बादल संबंधी परि-

भाषा कुछ इस तरह की होगी : 'जब हवा का तापक्रम ओस बिंदु से नीचे गिर जाता है तब भाप धूल अथवा धूएँ के कणों को केंद्रित करके जल के सूक्ष्म कणों के रूप में परिणत होने लगती है और संघनन की क्रिया के विस्तार से बादल बन जाते हैं।' स्पष्ट है कि इन दोनों भाषारूपों में अंतर है। ज्ञान विज्ञान की भाषा अथवा शास्त्रीय भाषा में रस, भाव, अलंकार का स्थान नहीं होता। यह भाषा पारिभाषिक शब्दों तथा प्रतीकों से लदी होती है। इस भाषा में संकल्पनापरक शब्द का एक बँधा-बँधाया सुनिश्चित अर्थ होता है। संसार के सभी प्रमुख वैज्ञानिकों ने विज्ञान में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की है। उदाहरण के लिये अमरीकी पत्र 'साइंस' के संपादक रोलर का कथन है,'...विज्ञान के अस्तित्व के लिये न केवल विचारों की अभिव्यक्ति अत्यंत सराहनीय है बल्कि इस अभिव्यक्ति में प्रयुक्त भाषा की संकेतावली और तानाबाना ही वे साधन या माध्यम हैं जिनके जरिए हम सोचते हैं। हम पहले सोचते हों और फिर परिणामों को बाद में भाषाबद्ध करते हों सो बात नहीं है। वास्तव में स्पष्ट चिंतन और शब्दों के सही प्रयोग को एक ही क्रिया मानना चाहिए'। (पृ० ६-७)। वैज्ञानिकों के सामने यह बड़ी समस्या रहती है कि वे अपने चिंतन की इकाई और उसकी अभिव्यक्ति की इकाई में अभिन्नता स्थापित कर सकें। 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' केवल कविकल्पना नहीं, एक वास्तविक चिरंतन समस्या है और यही ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या का मूल है।

संक्षेप में पारिभाषिक शब्द वह शब्द या अभिव्यक्ति है जो मानव की विशिष्ट गतिविधियों या प्रकृति के किसी विशेष पहलू से संबंधित ज्ञान की शाखा के विद्वान् या कुशल व्यक्ति के लिये विशेष महत्व का या मूल्यवान् हो...वे विशेषज्ञों और तकनीकज्ञों द्वारा अपने विचारों को ठीक ठीक व्यक्त करने के लिये गृहीत, अनुकूलित या आविष्कृत प्रतीक होते हैं। उदाहरण के लिये हम 'दाँत' शब्द को ले सकते हैं। साधारणतः 'दाँत' शब्द कहने से मनुष्य के मुख के भीतर के दाँतों का निर्देश होता है। परंतु मिस्त्री के लिये दाँत शब्द का अर्थ 'चक्के के दाँत' ही होता है। 'दाँत' के अर्थ में यह विशेषता प्रसंग, प्रयोग और विषय से उत्पन्न होती है।

पारिभाषिक शब्दावली में तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं—१—पूर्ण पारिभाषिक, २—मध्यस्थ और ३—सामान्य। पूर्ण पारिभाषिक शब्द असामान्य होते हैं जैसे प्रकरी (नाट्यशास्त्र), प्रव्रज्या (बौद्ध दर्शन), आइडिया (प्लेटो दर्शन)। शब्दों का दूसरा वर्ग वह है जो पारिभाषिक अर्थों में भी प्रयोग में आता है और सामान्य अर्थों में भी, जैसे अटैचमेंट, आपरेशन, दावा, अनुमोदन, आपत्ति आदि। ये शब्द मध्यस्थ अथवा अर्द्ध पारिभाषिक होते हैं। इस प्रकार के शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं और उनके अर्थ प्रकरण, परंपरा अथवा आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषा

के आधार पर निश्चित होते हैं। शब्दों का एक तीसरा वर्ग है—सामान्य शब्द, जैसे आँख, कान, नाक, हाथ, पैर, कुर्सी, मेज, दवात आदि। ये शब्द नितांत साधारण और बोलचाल के शब्द हैं। लेकिन चिकित्साशास्त्र में आँख, कान, नाक, पैर ये सब पारिभाषिक शब्द हैं। इसी प्रकार कुर्सी, मेज़ बढ़ई के लिये पारिभाषिक शब्द हैं।

पारिभाषिक शब्दावली प्रधानतः तीन तरीकों से बनाई जाती है–आविष्कार, अनुकूलन और स्वीकरण। आविष्कार का अर्थ है, नव शब्द निर्माण। पूर्व तथा पश्चिम के अनेक आचार्यों ने शब्दावली का निर्माण अपने आप किया है। उदाहरणार्थ फैराडे, लिनीअस, अरस्तू, प्लेटो, कार्लमार्क्स, यास्क, मनु, पाणिनि और महात्मा गांधी आदि ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिये साहित्य की रचना करने के साथ साथ तद्विषयक शब्दावली का भी निर्माण किया अथवा परंपरागत शब्दावली में नूतन अर्थ भरे। लेवाजिए जैसे कुछ आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दरचना के सिद्धांत भी निर्धारित किए हैं। पारिभाषिक शब्दावली के विकास में अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश आदि प्रक्रियाएँ भी काम करती रहती हैं। उपसर्ग, प्रत्यय, कृदंत, तद्धित, समास आदि व्याकरणिक साधनों से भी शब्दावलीनिर्माण में सहायता ली जा सकती है।

डा० शर्मा ने अपने ग्रंथ के दूसरे अध्याय में हिंदीअंगरेजी कोशकार्य तथा पारिभाषिक शब्दावलीनिर्माण का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। यह विषय अपने आप में बहुत व्यापक है, अतः अध्याय के आरंभ में ही लेखक ने विषय की सीमाओं का उल्लेख कर दिया है। लेखक ने सामान्य द्विभाषी, त्रिभाषी कोशों का मात्र परिचय दिया है। उन्हें सर्वेक्षण में इसलिये संमिलित किया गया है कि उनमें परिभाषासंकलन और शब्दार्थनिर्णय बीज रूप में विद्यमान है। ये कोश सामान्यतया दिशादर्शक तथा प्रचलित शब्दावली के आदि पुरस्कर्ता हैं। इस क्रम में लेखक ने डा० हैरिस, जान शेक्सपीयर, जान गिलक्राइस्ट, कैप्टेन जोजेफ टेलर, डब्ल्यू० हंटर, रेवरेंड ए० टी० एडम आदि के कोशकार्य का संक्षेप में उल्लेख किया है तथा कुछ कोशों से उदाहरण भी दिए हैं। लेखक ने 'संकलन' शीर्षक के अंतर्गत उन कोशों का उल्लेख किया है जिनमें विशेष पारिभाषिक शब्दावली का संग्रह मिलता है। इस प्रसंग में लेखक ने प्रो० एच० एच० विलसन, एच० एम० इलियट, डंकन फोर्ब्स, डा० पी० एस० डी० रोजरिओ, मथुराप्रसाद मिश्र, एस० डब्ल्यू० फेलन और जी० टेंपुल आदि के कोशों की सप्रमाण चर्चा की है और लिखा है कि 'इस शब्दावली संकलन से हमारे आज के शब्दनिर्माताओं को बड़ी सहायता मिल सकती थी। किंतु संभवतः ऐसे संग्रहों को अनुपयुक्त मानकर या जानकारी के अभाव में उपेक्षित ही रखा गया है।' इस अध्याय के अंतिम परिच्छेद 'पर्याय रचना' शीर्षक के अंतर्गत लेखक ने पारिभाषिक शब्दरचना संबंधी कोशों तथा प्रयत्नों का विस्तार

से वर्णन किया है। यहाँ लेखक की दृष्टि केवल हिंदी तक ही सीमित नहीं रही, वह व्यापक होगई है और उसने अखिल भारतीय दृष्टि का रूप धारण कर लिया है। 'जिस प्रादेशिक संस्था ने संस्कृत के आधार पर हिंदी में खप सकने वाले शब्दों का निर्माण किया है, चाहे यह काम बंगला या गुजराती भाषा के लिये ही क्यों न हो, उसे यहाँ संमिलित कर लिया गया है' (पृ० २२)।

अँगरेजी-हिंदी पर्याय-रचना का कार्य भी अँगरेजी की प्रेरणा से ही आरंभ हुआ था और इस क्षेत्र में 'ओल्ड डेल्ही कालिज' ने पहल की यद्यपि उसका काम अधिक समय तक नहीं चल सका। १८९३ में मेरठ के सिटी मिशन स्कूल के गणित अध्यापक पं० गौरीदत्त ने अपने हेडमास्टर डब्ल्यू० एस० सेनडिस की सहायता से गणित की हिंदी शब्दावली का संकलन किया। संकलन छोटा है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है।

भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दावली निर्माण के क्या सिद्धांत हों, इस विषय पर श्री राजेंद्रलाल मिश्र का निबंध 'ए स्कीम फार रेंडरिंग आव् यूरोपियन साइंटिफिक टर्म्स इन टु वर्नाकुलर्स आव् इंडिया' ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस निबंध में पारिभाषिक शब्दावली निर्माण की अनेकमुखी समस्याओं का पहली बार व्यवस्थित रूप से विवेचन किया गया है और उसके कुछ वैज्ञानिक सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं।

डा० शर्मा ने बंगाल में हुए इस पारिभाषिक शब्दावली कार्य के अतिरिक्त गुजरात तथा महाराष्ट्र के भी इस क्षेत्र में योगदान की चर्चा की है। १८९३ में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद से हिंदी में भी वैज्ञानिक तथा तकनीकी पुस्तकें लिखने का कार्य आरंभ हुआ। लेखकों को वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में सबसे बड़ी बाधा उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अभाव की लगी। फलतः सभा ने हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण किया। नागरीप्रचारिणी सभा के अनंतर श्री सुखसंपत्ति राय भंडारी ने 'द ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी' प्रकाशित की। यह कोश छह खंडों में छपा है और इसमें संविधान, कानून, अर्थ, विदेश-मुद्रा-विनिमय, म्युनिसिपल-शब्दावली, शिक्षा, वन-विद्या, उत्पादकर, ग्रामोद्धार, पुलिस-प्रशासन, युद्ध-विद्या, दर्शन, मनोविज्ञान, बीमा, भूगोल, इतिहास, शेयर स्टाक, श्रम, कृषि, प्रशासन, मिल उद्योग, भाषाविज्ञान, गणित, प्राणिविज्ञान, रसायन, साहित्यिक शब्दावली, भौतिक विज्ञान, धातु विज्ञान, धातु कर्म रासायनिक उद्योग, चीनी, वस्त्र, गोशाला उद्योग आदि विविध ज्ञान-विज्ञानों तथा उद्योगों के अंगरेजी-हिंदी समानक दिए हैं।

हिंदी पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में डा० रघुवीर का कार्य युगांतरकारी

महत्व का है। १९४३ में उनकी 'द ग्रेट इंडियन-इंग्लिश डिक्शनरी' छपी और १९५५ में उसका संशोधित-परिवर्द्धित रूप 'कांप्रिहेंसिव इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी' के नाम से प्रकाशित हुआ। डा० शर्मा ने दूसरे (पृ० ४८-५१) तथा तीसरे अध्याय (पृ० ६२-७१) में डा० रघुवीर के कृतित्व का तटस्थ दृष्टि से मूल्यांकन किया है। इसके अतिरिक्त उस्मानिया विश्वविद्यालय तथा केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय ने पारिभाषिक शब्दावलीनिर्माण के क्षेत्र में जो कुछ किया है, उसका भी लेखक ने लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

ग्रंथ का तीसरा अध्याय 'शब्दावली संप्रदाय' है। उन्नीसवीं शताब्दी से आज तक जो भी शब्द-निर्माण-कार्य हुआ है, उसे समग्र रूप से देखा जाए, तो उसमें कुछ भाषासंबंधी दार्शनिक संप्रदाय स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। डा० शर्मा ने इस प्रकार के चार संप्रदाय माने हैं—(१) पुनरुद्धारवादी संप्रदाय अर्थात् संस्कृत को ही एक मात्र आधार मान कर कार्य करनेवाला संप्रदाय, (२) शब्दग्रहणवादी संप्रदाय, जो अँगरेजी के शब्दों को विपुल परिमाण में उन्हीं रूपों में स्वीकार करने का आग्रह करता है, (३) प्रयोगवादी संप्रदाय जो हिंदी में उर्दू, फारसी और संस्कृत के मेल से तथा लोकभाषाओं के व्याकरण की प्रवृत्ति का लाभ उठा कर नई शब्दसृष्टि करना चाहता है तथा (४) मध्यममार्गी संप्रदाय जो कि सभी सिद्धांतों के ग्राह्य अंशों का लाभ उठा कर यथातथ्यात्मक और लोकसंमत प्रणाली के आधार पर प्रामाणिक कार्य करना चाहता है। लेखक ने प्रथम संप्रदाय अर्थात् पुनरुद्धारवाद के विवेचन में मुख्यतः दो प्रश्नों पर विचार किया है—(१) संस्कृतजन्य शब्दावली का पक्ष-विपक्ष और (२) डा० रघुवीर के पारिभाषिक शब्दावली-संबंधी कृतित्व की विस्तृत समीक्षा। शब्दग्रहणवाद के अंतर्गत लेखक ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि हिंदी में अँगरेजी अथवा अन्य विदेशी भाषाओं के पारिभाषिक शब्द किस सीमा तक उसी रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं। इस विवेचन में उन्होंने राजेंद्रलाल मित्र, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्तालिन, जे० बी० एस० हाल्डेन तथा डा० दौलतसिंह कोठरी के मतों की सोदाहरण समीक्षा की है और अपना तर्कसंगत मत इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—'हिंदी अँगरेजी के मोटर, स्टेशन, टिकिट आदि शब्दों को अपना अंग बना चुकी है। इसके अतिरिक्त वह आंशिक या पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को भी आत्मसात् कर लेगी। परंतु यदि संकल्पनात्मक अँगरेजी शब्दों को भी 'विकास' के नाम पर अस्वाभाविक रीति से भरा जाय तो भाषा के नष्ट होने की आशंका उत्पन्न होने लगेगी। इस तरह का अतिवाद न तो उचित ही है और न उपादेय ही है।' (पृ० ७४)। प्रयोगवादी शब्दावली संप्रदाय के सिलसिले में लेखक ने उस्मानिया विश्वविद्यालय तथा हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी के कार्यों का वर्णन किया है।

भारतेंदु काल में जब हिंदी का निर्माण हो रहा था, भाषा का यह रूप संभवतः स्वीकार कर लिया जाता। परंतु आज हिंदी का रूप पर्याप्त विकसित हो चुका है और तत्समता की ओर झुक रहा है। इस स्थिति में यह शैली हिंदी की मानक शैली नहीं मानी जासकती।

डा० शर्मा ने शब्दावली-निर्माण के संबध में मध्यम मार्ग अथवा समन्वय-मार्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार 'मध्यम मार्ग, समन्वित दृष्टिकोण का मार्ग है। समन्वित दृष्टिकोण इस बात में निहित है कि भारत की सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षणिक और आर्थिक आवश्यकताओं के सही निर्धारण का सही निर्धारण किया जाए, भाषा के विकास और उसकी वर्तमान अवस्था को सामने रखते हुए उसे संपन्न बनाने के लिए प्रयुक्त विविध साधनों का उचित मूल्यांकन किया जाए और उनमें निहित श्रेष्ठ तत्त्वों को लेकर एक सर्वमान्य समन्वित विधा तैयार की जाय। भाषा को नए सिरे से विविक्ति (ऐब्स्ट्रैक्शन) मान कर चलना ठीक नहीं होता। वह एक वास्तविकता (रियलिटी) है, एक व्यवहार अथवा क्रिया है, उसका एक व्यावहारिक प्रयोजन होता है। अतएव उसकी आवश्यकता का मूल्यांकन जन-समाज की गतिविधि और जीवन-क्रम के आधार पर करना आवश्यक है' (पृ० ८९)। डा० शर्मा ने पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में अपने इस मध्यम मार्ग का संसार के विभिन्न देशों विशेष कर यूनेस्को की शब्दावली-संबंधी गतिविधियों के व्यापक संदर्भ में, औचित्य सिद्ध किया है। उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेंद्रप्रसाद तथा महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों के वक्तव्यों से भी अपने दृष्टिकोण के लिये पोषण प्राप्त किया है। उनके अनुसार प्रोफेसर टी० के० गज्जर, बड़ौदा, बंगीय साहित्य परिषद्, बंगाल सरकार, गुजराती संशोधन मंडल, नागरीप्रचारिणी सभा, महाराष्ट्र कोश मंडल, हिंदी साहित्य समेलन और भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया हैं। डा० शर्मा ने मध्यम मार्गी वृत्ति या समन्वय की दृष्टि से किए गए शब्दनिर्माण के तीन प्रधान लक्षण माने हैं—

१. अंतर्राष्ट्रीय शब्दों का स्वीकरण और अनुकूलन।

२. नई शब्द रचना में प्रथमतः संस्कृत से अन्यथा प्रादेशिक भाषाओं से उपयुक्त शब्दों का संकलन और उनकी सहायता से नव शब्दसर्जन।

३. विशुद्धतावाद अथवा अनियंत्रित प्रयोगवाद की अतिपरक स्थितियों से बचकर सरलता, सूक्ष्मार्थता तथा सुबोधता के मार्ग का अनुसरण करते हुए प्रचलन के प्रति समुचित आस्था।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त इस वर्ग की शब्दावली में दो विशेषताएँ और हैं। पुनरुद्धारवादियों की यह मान्यता रही है कि संस्कृत से शब्दनिर्माण करने

में व्याकरण और विशेषरूप से पाणिनि के नियमों का पालन आवश्यक है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त पारिभाषिक शब्दावली आयोग ने अगस्त ६२ में भाषाविज्ञों की जिस गोष्ठी का आयोजन किया था, उसने भी इसी आशय की संस्तुति की थी—'(६) इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि नई शब्दावली जीवित और विकासशील भाषाओं के लिये है, संस्कृत व्याकरण के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन श्रेयस्कर न होगा और जहाँ कहीं आवश्यक हो शब्दावली की अपेक्षाओं के अनुरूप उनसे हट कर भी चला जा सकता है। (७) संधि से यथासंभव बचना चाहिए और दो शब्दों के बीच योजक चिह्न बहुधा लगाया जाना चाहिए क्योंकि इससे प्रयोगकर्ता को उन शब्दों के गठन को सरलता और शीघ्रता से समझने में सुविधा होगी। संस्कृतमूलक शब्दों में आदिवृद्धि का प्रयोग केवल उन्हीं शब्दों तक सीमित है जो संस्कृत साहित्य से लिए गए हैं। नवनिर्मित शब्दों में आदिवृद्धि आवश्यक नहीं'।

मध्यम मार्गी शब्दावली की एक अन्य उल्लेखनीय प्रवृत्ति विदेशी शब्दों में हिंदी शब्द मिलाने और विदेशी शब्दों से हिंदी अथवा संस्कृत के व्याकरण के अनुसार नई शब्दरचना करने की है। इसे संकर रचना कहा जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली के नाम पर ऐसी रचनाओं की पर्याप्त सृष्टि हुई है। वैसे हिंदी में संकर शब्द बनाने की वृत्ति पहले से मौजूद है। बाबू श्यामसुंदरदास ने ऐसे शब्दों को 'द्विष' संज्ञा दी है। हिंदी की नई शब्दावली में वैज्ञानिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप सैकड़ों-हजारों संकर शब्दों की रचना की गई है।

ग्रंथ का दूसरा खंड समीक्षात्मक अध्ययन खंड है। इस खंड के अंतर्गत चौथा अध्याय 'सामाजिक विज्ञान और उनकी व्याप्ति तथा सामाजिक शब्दावली की संस्कृति सापेक्षता' पर है। इस अध्याय के अंतर्गत उन्होंने कुछ इस तरह की समस्याओं पर विचार किया है—सामाजिक विज्ञान की व्याख्या, उसमें कितने विषय संमिलित होते हैं, भारतीय आचार्यों की इस संबंध में क्या धारणाएँ थीं, आधुनिक सामाजिक विज्ञान के अंतर्गत कौन-कौन से विषय संमिलित होते हैं, प्रधान सामाजिक विज्ञान कौन-कौन से हैं, सामाजिक विज्ञानों की शब्दावली और उनकी संस्कृति-सापेक्षता, विभिन्न संस्कृतियों से उत्पन्न शब्द और शब्दों में निहित विभिन्न सांस्कृतिक कल्पनाएँ, विभिन्न परंपराएँ और उनका शब्दावली पर प्रभाव, एक राष्ट्र की विभिन्न संस्कृतियों और दर्शनों का शब्दावली पर प्रभाव। संस्कृति पर बाहरी प्रभाव और उसके कारण, देश की भाषा और उसकी शब्दावली में तदनुकूल परिवर्तन आदि। कहना न होगा कि शब्दावली की संस्कृति-सापेक्षता संबंधी ये अधिकांश समस्याएँ हिंदी के लिये बिल्कुल नई हैं और डा० गोपाल शर्मा ने इन पर पहली बार व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है और हिंदी तथा संस्कृत भाषाओं की सहायता से ही नहीं बल्कि अंगरेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, लैटिन तथा यूनानी आदि

भाषाओं के आधार पर भी कुछ विशिष्ट शब्दों में निहित सांस्कृतिक तत्वों का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये आतिथ्य और हास्पिटैलिटी शब्दों का विवेचन करते हुए शर्मा जी लिखते हैं—'अतिथि (अतति गच्छति न तिष्ठति—अत + इथिन् = अतिथि—जो चलता है ठहरता नहीं है)। मनु के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—एक रात्रिं तु निवसन्नतिथिब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते। पुराणों में इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार है—यस्य न जायते नाम न च गोत्र न च स्थितिः। अकस्मात् गृहमायाति सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः। अतिथि शब्द से आतिथ्य बना है—अतिथि + ष्यञ् = आतिथ्य। हिंदी में पाहुन (प्राघुण) पहुनई का प्रयोग भी होता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि अतिथि शब्द में अर्थ का वजन किसी विशेष गुण-लक्षणवाले व्यक्ति पर है। उसके आने पर ही सत्कारभावना का उदय है। क्रमशः यह भाव चरित्र लक्षण का रूप धारण कर लेता है।

आगे के तीन अध्यायों (५, ६, ७) में डा० शर्मा ने राजनीतिक शब्दावली, अर्थशास्त्र की शब्दावली और शिक्षा की शब्दावली का विवेचन किया है। इन तीनों अध्यायों का विन्यास प्रायः एक सा है। उदाहरण के लिये 'राजनीतिक शब्दावली' अध्याय के अंतर्गत उन्होंने सबसे पहले राजनीतिक शब्द के अर्थ और स्वरूप पर विचार किया है। प्राचीन भारत में राजनीति के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता था—'राजधर्म', 'राजशास्त्र', 'दंडनीति', 'नीतिशास्त्र', 'अर्थशास्त्र' और 'रपत्तिविज्जा'। डा० शर्मा ने इन सभी शब्दों पर विचार किया है और प्राचीन राजनीति के विभिन्न अंगों तथा तत्संबंधी शब्दों का भाषावैज्ञानिक और संकल्पनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

ग्रंथ का अंतिम अध्याय 'भारतीय मानक शब्दावली और समन्वय की समस्या सारे ग्रंथ का निचोड़ है। इस समय पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में घोर अराजकता की स्थिति दृष्टिगत होती है। एक ही शब्द के लिये अनेक पर्याय बन गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय भाषाओं में लिखी जानेवाली ज्ञान-विज्ञान-संबंधी पुस्तकों में समान शब्दावली का अभाव है। स्वभावतः अध्यापकों और विद्यार्थियों दोनों को बड़ी कठिनाई का अनुभव हो रहा है और इन्हें अंगरेजी के एक-एक शब्द के लिये हिंदी में अनेक शब्द मिल रहे हैं।

शब्दावली के समन्वय की ओर हिंदी के विद्वानों का ध्यान आरंभ से ही गया था। नागरीप्रचारिणी सभा ने १९०६ में, मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री पं० रविशंकर शुक्ल ने १९५० में तथा संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेंद्रप्रसाद ने १९५० में अखिल भारतीय स्तर पर समान शब्दावली के निर्माण का प्रयत्न किया था, पर ये प्रयत्न सफल न हो सके। १९५० के बाद से भारत सरकार

का शिक्षामंत्रालय अखिल भारतीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करने में लगा हुआ है। इस समय शिक्षामंत्रालय वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शब्दावली के क्षेत्र में समन्वय का कार्य कर रहा है। डा० शर्मा के मत से पारिभाषिक शब्दावली के समन्वय का कार्य दो तरह से किया जा सकता है। एक तो एक ही भाषा-क्षेत्र के विभिन्न पर्यायों में से एक का निर्धारण करके तथा दूसरे विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित पर्यायों और हिंदी के पर्यायों का एक साथ विचार कर एक सर्वसंमत निर्णय द्वारा। डा० शर्मा ने इन दोनों ही प्रक्रियाओं में निहित कठिनाइयों का विश्लेषण किया है और यूनेस्को के तत्वावधान में इस संबंध में जिन सिद्धांतों का निरूपण किया गया है, उन्हें भारतीय स्थिति पर लागू करने का प्रयत्न किया है

डा० शर्मा के ग्रंथ की विषयवस्तु के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और इसमें उठाई गई एक-एक समस्या पर पृथक्-पृथक् अनुसंधान करने की आवश्यकता है। पारिभाषिक शब्दावली की विभिन्न समस्याओं के संबंध में लेखक की पकड़ बहुत गहरी है, उनका प्रत्येक विवेच्य समस्या के संबंध में नवीनतम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चिंतन से ही परिचय नहीं है, प्रत्युत् उनके अपने मौलिक विचार भी हैं। जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में भाषाशास्त्री तथा विज्ञानविद् के सहयोग की आवश्यकता है उसी प्रकार पारिभाषिक शब्दावली के विवेचन में भी भाषा तथा विषय दोनों का गंभीर ज्ञान अपेक्षित है। डा० शर्मा के विवेचन में यह मणि-कांचन-संयोग सर्वत्र परिलक्षित होता है। उन्होंने अपने भाषावैज्ञानिक विवेचन में भर्तृहरि, पतंजलि, पाणिनि आदि प्राचीन भारतीय आचार्यों, डा० श्यामसुंदरदास, डा० उदयनारायण तिवारी, श्रीरामचंद्र वर्मा आदि आधुनिक भारतीय भाषाशास्त्रियों तथा जेस्पर्सन, ओगडेन और रिचर्ड्‌स, मारिओ, पेइ, वेंद्रेय आदि यूरोपीय भाषातत्वविदों की चिंतनराशि का भरपूर उपयोग किया है। इसके साथ ही जहाँ शब्द के मूल में निहित संकल्पना के विवेचन का प्रश्न आया है, वहाँ उन्होंने कौटिल्य, शुक्र, मनु, महाभारत, के० पी० जायसवाल (राजनीति के प्रसंग में), हेनी, मार्शल, कींस, सोलन और जर्चर (अर्थशास्त्र के प्रसंग में) और याज्ञवल्क्य स्मृति, पंचतंत्र, डिवी, एडमसन, और ब्रूबेचर (शिक्षा के प्रसंग में) आदि की रचनाओं से लाभ उठाया है।

यह कहना शायद अतिशयोक्ति न हो कि पारिभाषिक शब्दावली का अपना एक विज्ञान है और हिंदी में अपने विषय की यह पहली आधारभूत पुस्तक है। इस प्रकार का पहला प्रयत्न होने के कारण ग्रंथ में कुछ त्रुटियाँ भी अनिवार्य रूप से हैं। कहीं कहीं भाषा में कृत्रिमता आ गई है और अर्थबोध में बाधा पड़ती है।

उदाहरण के लिये पृ० ५८ पर एक वाक्य है, 'अतएव प्रतिक्रियात्मक भाषा साधनों को अग्रगामी तरीकों से अनुकूल बनाकर सामयिक समस्याओं का हल करना चाहिए'। लेकिन, इस तरह के दोष नाम मात्र को हैं। समूचे ग्रंथ में लेखक का दृष्टिकोण बड़ा विनम्र और संयत रहा है। लेखक ने आरंभ में ही 'निवेदन' में अपने इस प्रयत्न को कालिदास की भाषा में 'तितीर्षुः दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' कहा है और अंत में भी इसी प्रकार का विनम्र विचार प्रकट किया है, '...यह निबंध अद्यतन वस्तुस्थिति को विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत करने तथा भारतीय शब्दावली की समस्याओं के संभावित हल खोजने के उद्देश्य से लिखा गया है। यह कार्य बहुत अपर्याप्त है। इसकी त्रुटियों से मैं पूर्णतया परिचित हूँ।' **इस प्रश्न के प्रत्येक पहलू पर सभी भारतीय भाषाओं में स्वतंत्र शोधकार्य करने की आवश्यकता है। इनके निष्कर्ष उपलब्ध होने पर संभवतः और भी नई बातें तथा हल प्राप्त हो सकें** (स्थूल अक्षरों में मुद्रित अंश समीक्षक का है)।

—विश्वप्रकाश गुप्त

विरहिणी

लेखक—डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'; प्रकाशक—प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर; पृष्ठ २६१; आकार-डिमाई; । मूल्य १२)।

हिंदी साहित्य में यह अपने ढंग का दार्शनिक महाकाव्य है। भारतीय दृष्टि यह रही है कि काव्य दृश्य जगत् को ही वर्ण्य विषय बनाकर होना चाहिए। अव्यक्त जगत् या अध्यात्मकाव्य का विषय नहीं होता। काव्य लोकसामान्य की भावानुभूति का उद्रेचक होता है। अध्यात्मविद्या कतिपय विशिष्ट जनों द्वारा ही ग्राह्य होती है। इसी लिये काव्य का एक प्रयोजन, व्यवहारज्ञान की प्राप्ति भी, माना गया है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते **व्यवहारविदे** शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'

काव्य का लोकव्यवहारपक्ष और कांतासंमित उपदेशयुक्तता, इसे अध्यात्म और रहस्य से पृथक् रखते हैं। इसी लिये रामायण से पूर्व रचित वेद और उपनिषदों की वाणी काव्य नहीं कही गई। रामायण को ही आदि काव्य कहा गया। काव्य में भावों का साधारणीकरण नितांत अपेक्षित होता है। अतः उस अर्थ में प्रस्तुत महान् रचना को काव्य न कह कर अध्यात्म ग्रंथ ही कहा जायगा।

इस दार्शनिक काव्य की रचना बारह सर्गों में हुई है। उनका क्रम इस प्रकार है।

१. परम पुरुष, २. आत्मपुरुष, ३. अवतरण, ४. रचना, ५. विनय, ६.

विरह, ७. आश्वासन, ८. साधना, ९. उत्क्रमण, १०. दर्शन, ११. स्वर्ग और १२. आत्मगीत।

इसमें जीवात्मा का परमात्मा या ब्रह्म से वियोग, फिर प्रकृति या माया में पड़कर कष्ट उठाना, विरहव्याकुलता, परम प्रिय से मिलने का उद्योग और अंत में प्रियमिलन दिखाया गया है—

प्रिय प्रिया पास थे, दूर हुए, फिर पास हुए,
अंगार विरह के द्युति-चकोर के ग्रास हुए।
यह मिलन मांगलिक है सब की संपत्ति सदा,
यह ओ३म् उमा की स्थिति अनुपम अनुभूतिप्रदा।

× × ×

झर रहा है कैसा मधु-उत्स, पिया था कभी खेचरी बीच,
सहस्रों धाराओं से सोम रहा है रोम रोम को सींच।

आत्मा क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों का अतिक्रमण करती आनंदमय कोश तक—जो उसका गंतव्य है—जा पहुँचती है। इस यात्राक्रम में उसे घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति—इन आठ पाशों का छेदन करना पड़ा है।

ब्रह्मानंदलीनता की अनुभूति को शब्दों में बाँधते हुए कवि कहता है—

ले रहा रोम-रोम आनंद प्रेमवंशी के वादन में,
रूप माधुरी में नयनों को मिली प्रेम की तान।
रस-रस-सरस बनी रसना को हुआ प्रेम का भान।
सभी डूबे मधु ह्लादन में।

यहाँ आकर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की सत्ता समाप्त हो जाती है, जीव और ब्रह्म दोनों मिलकर एक हो जाते है और तब यह रहस्य खुलता है—

जीवो ब्रह्मैव नापरः।

प्राप्तव्य को पाने पर विदित होता है—

कहाँ चित्त है? अहंकार है? सब की सत्ता शून्य,
पाप दूर था, किंतु कहाँ था पास प्रतापी पुण्य?
युगल के एकास्वादन में।

लेखक ने दर्शनशास्त्र की प्रायः सभी विवेच्य सामग्री का उपयोग इस दार्शनिक काव्य में किया है। कुछ वेद की उक्तियाँ और बहुतेरी उपनिषदों की उक्तियाँ ज्यों-की-त्यों भाषांतरित कर दी गई हैं। पुरुषसूक्त के एक अंश का रूपांतरण इस प्रकार हुआ है—

वाक बन मुख में आई अग्नि,
नाक में प्राण बन गई वात।
अक्षिणी में आए आदित्य,
दिशाएँ श्रोत्रमध्य अवदात।
हृदय में मन बन आया चंद्र,
नाभि में किया मृत्यु ने वास,

इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयोरभिचाकशीति' का भाषांतर देखिए—

परमात्मा आत्मा विहग विश्व के वृक्ष पर,
आसीन, किंतु उभयांतर है बहु भेदकर।
परमात्मा द्रष्टा, विरत विश्व फल-स्वाद से,
जीवात्मा भोक्ता कर्म-शुभाशुभ-वाद से।

रहस्यवादी काव्य की भाँति अप्रस्तुत विधान के लिये कवि ने प्रकृति क्षेत्र की ही नहीं, लोकव्यवहार की भी बहुतेरी बातें अपनाई हैं। पर ऐसे साध्यवसित रूपकों का निर्वहण कम ही स्थलों पर हो पाया है। बीच बीच में ऐसी पंक्तियाँ अनेक स्थलों पर आई हैं जहाँ शुद्ध काव्य का आनंद छलकता दिखाई पड़ जाता है।

वैदिक वाङ्मय का आग्रह लेखक को इतना है कि बीच-बीच में उसने ऐसे शब्दों का बहुलप्रयोग किया है जो काव्यक्षेत्र के लिये अव्यवहृत या अप्रयुक्त रहे हैं। अवम, दिष्वक्, उक्थ, राषस, गृभीत, धोक, आजानज, विहति, शेवधिपा, ऋति, ज्योक्, प्रह्वय आदि सैकड़ों अप्रयुक्त शब्द बलात् लाए गए हैं, जो पाठक के लिए भावपथ के रोड़े बन गए हैं। इसे हम कवि की दुर्बलता ही कहेंगे। अपने यहाँ वेदवित् कवियों ने भी बराबर काव्य की शब्दावली व्यवहार की भाषा से ही ली है, वैदिक वाङ्मय से नहीं। सभी तरह के भावों और विचारों को अभिव्यक्ति देनेवाले शब्दों का अभाव हमारे साहित्य में नहीं है। वेदोक्तियों को आत्मसात् करने की क्षमता जब हम में होगी तब हमें उनसे अप्रयुक्त शब्द उधार लेने की जरूरत नहीं होगी।

दर्शन के छात्रों के लिये काव्य उपयोगी है। इससे दर्शन की बहुत-सी बातें ज्ञात हो सकती हैं, किंतु आख्यान-काव्य-रसिकों को इससे निराशा ही होगी। जो हो, कवि के विराट् श्रम की प्रशंसा विद्वन्मंडली अवश्य करेगी।

मुद्रण, कागज, मुखपृष्ठ-सज्जा आदि सुंदर और आकर्षक है।

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन

लेखक—डा० इंद्रपाल सिंह; प्रकाशक—चौखंबा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी; पृ० २१०; आकार-डिमाई; मूल्य १०) ।

प्रस्तुत ग्रंथ के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें लेखक ने स्वतंत्र दृष्टि से शृंगार रस पर अपना शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है, किंतु ग्रंथ देखने पर मालूम होता है कि इसमें अभिनव विवेचना या विमर्श जैसी कोई बात नहीं है। प्राक्कथन में लेखक ने विनीत भाव से अपनी सफाई दे दी है : 'प्रस्तुत ग्रंथ का नामकरण इस आधार पर नहीं किया गया है कि इसमें संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में किए गए शृंगार रस के विवेचनों से भिन्न कोई मौलिक वा अभूतपूर्व विवेचन है। × × ×। प्रथम में (प्रस्तुत प्रथम खंड में) संस्कृत के प्रसिद्ध एवं सुलभ शास्त्रीय ग्रंथों से शृंगार-रस-संबंधी अंशों का आकलन एवं समाचयन किया गया है।'

यह ग्रंथ छह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में आचार्य भरत के रसनिष्पत्ति-विषयकसूत्र के चार प्रख्यात भाष्यकारों—भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त—की व्याख्याएँ दी गई हैं। फिर क्रमशः भोजराज, आचार्य भरत, आचार्य धनंजय, कविराज विश्वनाथ और आचार्य शारदातनय के ग्रंथों में उल्लिखित शृंगाररसविषयक सामग्री को समेटने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास भी उतने मनो योग पूर्वक नहीं हुआ है, जिसकी अपेक्षा ग्रंथ देखनेवाले करेंगे। शृंगार रस के शास्त्रीय विवेचन या अध्ययन में पूर्वाचार्यों ने उसके अंगोपांगों के व्यवस्थित विभाजन, स्वरूप परिचयन, उनके विस्तार और सीमा के निर्धारण में जिस सूक्ष्म विमर्षणशक्ति का परिचय दिया है, उसका यहाँ कहीं पता नहीं चलता। मुद्रण शोधन की असावधानी के कारण पुस्तक इतनी अशुद्ध मुद्रित हुई है कि उसे आद्यंत देख जाना कठोर मनोनिरोध की अपेक्षा रखता है। आचार्य भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' 'मुक्तिवाद' हो गया। ऐसी अशुद्धियाँ पद-पद पर मिलती हैं। छंदों की व्याख्याएँ संस्कृत व्याख्याओं को रूपांतरित करने के कारण प्रवाहहीन और प्रायः अस्पष्ट हो गई हैं। शारदातनय के भावप्रकाश में 'मनारंभ' (!) नामक अनुभाव भी लेखक को मिल गया है।

कितने ही समर्थ आचार्यों का उल्लेख तक प्रस्तुत पुस्तक में नहीं हुआ है, जिनके बिना शृंगार रस की यह शास्त्रचर्चा ही अधूरी जँचती है। जिनकी बात उठाई गई है, उनकी भी अधूरी ही है। पुस्तक में नई बात इतनी ही है कि भोजराज को इस शास्त्रीय विवेचन-प्रसंग में आद्याचार्य भरत से भी पहले स्थान दिया गया है।

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

रामचरितमानस का तत्वदर्शन

लेखक—श्रीशकुमार; प्रकाशक—लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर; पृ० सं० २००; मूल्य १०)।

प्रस्तुत ग्रंथ जबलपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत लेखक के शोधप्रबंध का परिवर्तित रूप हैं। ग्रंथ में गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक मतवाद की विवेचना प्रस्तुत की गई है। प्राक्कथन, विषय प्रवेश, नामनुक्रमणी के अतिरिक्त मूल विषय चार अध्यायों में विभक्त किया गया है जिसका शीर्षक क्रमेण (१) ब्रह्म, (२) माया, (३) जीव तथा (४) मोक्ष और मोक्षसाधन हैं। इन शीर्षकों के अंतर्गत मानस के अंतःसाक्ष्य के आधार पर तुलसी की दार्शनिक मान्यताओं को एक निश्चित सैद्धांतिक पद्धति के रूप में लक्ष्य किया गया है। जिनसे निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. तुलसी का दार्शनिक मतवाद शंकर के मत से अत्यधिक आसन्नता रखता है अतः मानस का दर्शन मूलतः अद्वैतपरक है और उसमें अद्वैत के व्यावहारिक पक्ष का मंगलमय विनियोग हुआ है।

२. तुलसी तत्वतः अद्वैतवादी ही है, जहाँ उनके काव्य में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली उक्तियाँ मिलती हैं वहाँ विशिष्टाद्वैतपरक उक्तियाँ व्यवहाररक्षानुरोध से और अद्वैतपरक वचन तात्विक सिद्धांत के उपन्यास की दृष्टि से आगत हैं। अतः स्वतंत्र रूप से मानस में विशिष्टाद्वैत पक्ष लक्षित नहीं होता।

अपने प्राक्कथन में लेखक ने तुलसी के अध्यात्म और तत्वदर्शन की विवेचना करनेवाले कुछ पूर्ववर्ती ग्रंथों की समीक्षा की है। जैसे फादर कारपेंटर के शोध-प्रबंध 'द थियालाजी आव् तुलसीदास' में मिशनरी दृष्टि की प्रधानता है। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन' व्यावहारिक और सामाजिक दर्शनालोचन की सामग्री से परिपूर्ण है। डा० माताप्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास' में विवेचनापेक्षा विवरण का आधिक्य है। डा० उदयभानु सिंह का 'तुलसी दर्शन मीमांसा' दार्शनिक समीक्षा के अभाव की पूर्ति अवश्य करता है पर इसमें भी बहुत से विचार विंदु छूट गए हैं, आदि। विषय प्रवेश शीर्षक २७ पृष्ठों में है जिसमें लेखक ने शंकरपूर्व अद्वैत की स्थिति, शंकर का अद्वैत और इस अद्वैत की पृष्ठभूमि में मानस के दार्शनिक पक्ष का निरूपण किया है।

ग्रंथ के मुख्य विषय का विवेचन पृ० २९ से आरंभ हुआ है और पृष्ठ १८० तक है। 'ब्रह्म' शीर्षक के अंतर्गत विभिन्न आर्ष ग्रंथों और मान्य विद्वानों के मतों को उपस्थित करते हुए मानस के राम और ब्रह्म की शंकर के व्यावहारिक और पारमार्थिक ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। इस अध्याय

में निर्गुण-सगुण विचार संबंधी अंश विशेष महत्व का है जिसमें और विवृति अपेक्षित है। वैसे ब्रह्म शीर्षक यह अध्याय लगभग ग्रंथ का आधा भाग व्याप्त किए है। द्वितीय माया शीर्षक अध्याय में मानस में निरूपित माया के स्वरूप को सुस्पष्ट किया गया है और शंकर के मायावाद की ही प्रतिकृति तुलसी का मायावाद है, विभिन्न ग्रंथों और मानस के आधार पर यह बात सिद्ध की गई है। जीव शीर्षक अध्याय में शंकर और मानस के जीव की एकता का प्रतिपादन अद्वैतप्रतिपादक अनेक ग्रंथों और मानस की विभिन्न उक्तियों के आधार पर हुआ है जिसका निष्कर्ष यही है कि ब्रह्म और जीव आपाततः भिन्न प्रतीयमान होने पर भी एक ही हैं।

ब्रह्म, माया और जीव संबंधी विचारों की तात्विक एकता का प्रतिपादन करने के अनंतर अंतिम अध्याय मोक्ष और मोक्षसाधन है जिसमें लेखक ने मानस में कथित मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों को सुस्पष्ट करते हुए मानस में निरूपित भक्ति का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है और यथासाध्य शंकर अद्वैत में कथित मोक्ष और उसके प्राप्त्युपायों-साधनों से संगति बैठाने की चेष्टा की है। मूलतः शंकर और तुलसी के इस विषय की संगति—शंकर अद्वैत में मान्य मोक्ष और तत्प्राप्ति साधन तथा मानसवर्णित मोक्ष (या भक्ति क्योंकि मानस में मोक्ष से भक्ति का स्थान ऊँचा है) और तत्प्राप्तिसाधनों की संगति—नहीं बैठाई जा सकी है।

'सब ग्रंथन को रस' मानस में विभिन्न वादपरक बचन प्राप्त हैं। पर मानस की मुक्ति और भक्ति विवेचन के प्रसंग और जीव, जगत् और ईश्वर संबंधी उनके कथनों में भक्तिपरक समन्विति व्यक्त होती है वहाँ सगुणोपासना और भक्ति पक्ष की प्रमुखता है। ग्रंथ में तुलसी साहित्य का एक विचारपूर्ण पक्ष अपने प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर उपस्थित किया गया है। तुलसी साहित्य के प्रेमियों के लिये पुस्तक संग्राह्य है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

यौन व्यवहार अनुशीलन

लेखक—श्रीदयानंद वर्मा; प्रकाशक तथा मुद्रक—नवचिंतन प्रसार गृह, बरौला कलाँ, दिल्ली—६; प्रमुख विक्रेता—हिंदी बुक सेंटर, दरियागंज, दिल्ली—६; प्रथम संस्करण; पृ० सं० २३६; डि० क्रा० ८ पेजी; मूल्य १५)

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय नाम से स्पष्ट है। इसके माध्यम से लेखक ने काम के संबंध में आधुनिक विचार धारा में फैली हुई धारणा का निराकरण करने की श्लाघ्य चेष्टा की है। ग्रंथ कुल १२ प्रकरणों में विभक्त है जिनमें यौन व्यवहार का मनोवैज्ञानिक दर्शन और व्यावहारिक चिंतन प्राप्त होता है। काम का अर्थ बड़ा व्यापक

है। अपनी इस व्यापकता में वह समग्र विश्व के इतिहास को, न केवल राजनीतिक, अपितु सामाजिक, धार्मिक जातीय एवम् राष्ट्रीय इतिहास को भी, अपनी परिधि में ले लेता है। सृष्टि का मूल ही काम है।

काम के व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव की जो स्थिति पहले थी आज उससे कम नहीं है किंतु मनुष्य की शक्ति और स्थिति के अनुसार आज का काम वह नहीं है जो अतीत में था। भौतिक समृद्धि के इस युग में अपनी प्रकृत और विकृत अवस्थाओं से युक्त यह जटिल हो उठा है। इस कारण उसके स्वरूप, कारण तथा उसकी समस्याओं का अनुशीलनक्रम आधुनिक काल में भी होता चल रहा है। अनेक प्रमुख आधुनिक चिंतकों ने इसपर अपने विचार दिए हैं और यह चिंतन-क्रम अपनी परंपरा स्थापित कर रहा है। उग्र संयम या उग्र ब्रह्मचर्यवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नए विचारकों ने माना कि यौन प्रवृत्ति हमारी सहज प्रवृत्ति हैं। इसपर प्रतिबंध स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में बाधक है। यह विचारणा साधारणतः मानव को काम के उस भय से मुक्त करने की थी जो उग्र संयमवाद से आए थे। लेकिन इस विचार के अनुयायी इसी को परम सत्य मान बैठे और यह सहजता सामाजिक रूप से बढ़ने लगी। व्यापक 'काम' का अर्थ 'यौन संतुष्टि' में सीमित करने की और मनोविश्लेषकों द्वारा किसी जीव की चेष्टाओं में तीव्रता देखकर इसका कारण यौनसुख या उसका स्थानापन्न सुख मान लेने की प्रवृत्ति एक असंतुलित प्रवृत्ति है। काम का जो सर्वव्यापी स्वरूप पिछली और इस शताब्दी के मनोविश्लेषकों द्वारा स्पष्ट किया है उससे नई पीढ़ी में एक भ्रम फैला है। यौन स्वेच्छाचार को आज जो आदर की दृष्टि से देखा जा रहा है यह उसी भ्रम का प्रभाव है। इससे राष्ट्र और समाज की जो असंतुलित अवस्था होती जा रही है उसे देखते हुए यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि काम की व्यापकता के संबंध में फैली हुई उन धारणाओं को एक बार पुनः परीक्षित किया जाय। इस संबंध में विचार करते हुए लेखक ने अपना सुनिर्णीत मत इन शब्दों में व्यक्त किया है—'शायद अब वह समय आ गया है जब यौन-प्रवृत्ति के संबंध में फैली हुई आधुनिक मान्यताओं के बारे में पुनर्विचार किया जाय और प्रगति हो चुकने के बाद प्रगति के बढ़ते चरण को रोका जाय। यदि अब भी उन्हें न रोका गया तो प्रगति अधोगति बन जाएगी।' अस्तु,

ग्रंथ के सभी प्रकरण गंभीर चिंतन के परिचायक हैं। काम संबंधी वर्तमान समाज की धारणा क्या है, वह किस ओर उन्मुख है और उसकी पृष्ठभूमि में कौन-कौन कारण हैं, इस यथार्थ स्थिति का लेखक ने ग्रंथ में प्रत्यक्ष किया है। लेखक ने इस संबंध में अपना स्वतः कोई निर्णय दिया नहीं है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा कथित आत्म-रक्षण-प्रवृत्ति को वह मूल प्रवृत्ति अवश्य मानता है किंतु जातिसंवर्धन - प्रवृत्ति

को वह मूल प्रवृत्ति नहीं मानता। जातिसंवर्धन-प्रवृत्ति के मूल में उसने अनुकूलन सिद्धांत के आधार पर अनुकूलन प्रवृत्ति को माना हैं जो प्रवृत्ति यौन व्यवहारों की नियंत्रक है।

यौन व्यवहार संबंधी जटिल एवं उपेक्षित विषय को लेखक ने जिस प्रकार संयत और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है, सराहनीय है। ग्रंथ के विषय का विस्तार, यौन प्रवृत्ति का स्वरूप, नारी की स्थिति, यौनप्रसंग और प्रेमावेग के विभिन्न पक्षों के निर्वचन में हुआ है। प्रारंभिक 'प्राक्कथन' और 'विषय-प्रवेश' शीर्षक के अंतर्गत लेखक ने क्रमश: अनुकूलन सिद्धांत और यौन चेष्टाओं की पृष्ठभूमि पर विचार किया है। भाषा सरल और सुबोध है। पुस्तक शिक्षित समाज द्वारा पठनीय और चिंतनीय है। पुस्तक में लेखक की नई उपलब्धियाँ इस दिशा में चिंतन को अग्रसर करनेवाली है। टाइपराइटर टाइपों में स्टेंसिल-विधि के अनुरूप छपाई ग्रंथ की एक अतिरिक्त विशेषता हैं।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

गुरुशोभा

कवि-सेनापति कृत; संपादक—डा० जयभगवान गोयल, रीडर हिंदी विभाग, पंजाब युनिवर्सिटी स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केंद्र, रोहतक; प्रकाशक—पंजाब युनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़; पृ० सं० १०६; मूल्य अनिर्दिष्ट।

गुरुशोभा वीररस से परिपूर्ण काव्य है जिसकी रचना गुरु गोविंदसिंह के दरबारी कवि सेनापति ने की है। कवि के निर्देश के अनुसार इस ग्रंथ की रचना का काल संवत् १७५८ है। प्रस्तुत ग्रंथ २० अध्यायों में विभक्त है जिसमें छंदों की पूर्ण संख्या ६३६ है। विचित्र नाटक की अनुकृति पर गुरु गोविंदसिंहजी की जीवनगाथा का इसमें रोचक वर्णन प्राप्त होता है। युद्धगाथाओं के साथ इसमें कीर्ति और प्रशस्ति वर्णन भी है पर वह रीतिकाल के राजाश्रित अन्य कवियों की तरह केवल गुणगानपरक नहीं है और न तो अतिशयोक्तिपूर्ण। पहाड़ी राजाओं और मुगलों के साथ हुए युद्धों का इसमें सजीव वर्णन प्राप्त होता है। केवल शौर्य-कीर्ति-गाथा न होकर इसमें राष्ट्रिय भावना और तत्कालीन युगचेतना की अभिव्यक्ति भी प्राप्त होती है—इस दृष्टि से यह महत्वपूर्ण कृति है। कवि की रचना भूषण की ओजस्विता और वीरभावना से ओतप्रोत है। ओजोगुणवर्धक शैली के अनुसार इसमें टवर्ग और व्यंजन द्वित्व का प्राचुर्य है तथा युद्ध वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण न होकर वास्तविक सा लगता है। इसमें सिखों की आध्यात्मिकता, नैतिकता, गुरु-महिमा, सत्संगति और भक्ति भावना का सुंदर चित्रण है। सिख मत और जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालनेवाली यह रचना महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक महत्व के इस काव्य का संपादन हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये एक महत्वपूर्ण देन है। ग्रंथ के

प्रारंभ की अल्प भूमिका में लेखक ने कवि के कृतित्व का सांगोपांग विवेचन करने की चेष्टा की है पर दो एक अंगों पर ही विचार कर उसे समाप्त कर दिया गया है। तत्कालीन अन्य वीररस-प्रधान रचना करनेवाले कवियों की रचनाओं के साथ इसका तुलनात्मक विवेचन साधारण भूमिका से कहीं अधिक उपयोगी, जिज्ञासुओं और शोधकर्ताओं के लिये हितकर होता।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

वीरकवि दशमेश

लेखक—डा० जयभगवान गोयल; प्रकाशक—पंजाब युनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़; पृ० सं० २२; मूल्य–१)८०।

प्रस्तुत लघु पुस्तिका में दशम ग्रंथ के आधार पर गुरु गोविंदसिंह के कवित्व का परिचय है। गुरु गोविंदसिंह ने अपने अनुयायियों में धर्मयुद्ध का उत्साह उत्पन्न करने के लिये अपनी काव्यशक्ति का भी उपयोग किया। दशम ग्रंथ उसी उपयोग का एक रूप है जिसमें पंजाब की तत्कालीन स्वातंत्र्यभावना और सांस्कृतिक चेतना मुखरित हुई है। दशम ग्रंथ में ऐतिहासिक और पौराणिक प्रबंधों के रूप में दो प्रकार की वीर रचनाएँ उपलब्ध है। इन रचनाओं की भाषा-शैली, छंद, अलंकार, चित्रात्मकता, सेना प्रस्थान, युद्ध भूमि, रणवाद्य और शस्त्रास्त्र, युद्ध विधि, गर्वोक्तियों और अनुभाव आदि पर लेखक ने संक्षेप में विचार दिए है। इस रचना का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व है। वीर-काव्य-परंपरा में दशम ग्रंथ की वीर रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

गुरु गोविंद सिंह : विचार और चिंतन

लेखक—डा० जयभगवान गोयल; प्रकाशक—पंजाब युनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़; पृ० सं–३; मूल्य–२)४०।

सिखमत मूलतः आध्यात्मिक आंदोलन था इसमें संदेह नहीं। पर जहाँ इतिहासज्ञों द्वारा गुरु गोविंदसिंह का युद्ध-वीर-रूप चर्चा का विषय रहा वहाँ उनका भक्त और दार्शनिक रूप उपेक्षित रहा। यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि गुरु गोविंदसिंह पहले एक धर्म प्रचारक या संस्थापक हैं और बाद में योद्धा। उनका यह दूसरा रूप पहले का एक साधन ही रहा है। अपने इस दृष्टिकोण के आधार पर विद्वान् लेखक ने गुरु गोविंदसिंह की रचनाओं में आगत उनके आध्यात्मिक विचारों को परखा है—इस क्रम में ब्रह्म; अवतारवाद; आत्मा, जीव, आवागमन और मुक्ति; सृष्टि रचना; माया; साधना पद्धति; जगत, ऐश्वर्य अहंकारादि; का विवेचन करते हुए लेखक ने गुरु गोविंदसिंह के धर्मसंस्थापक रूप का, उनकी

आध्यात्मिक मान्यताओं का विवेचन उनके वचनों के आधार पर संक्षिप्त रूप में किया है। इस दृष्टि से पुस्तिका हिंदी के पाठकों और हिंदी काव्यानुशीलनकर्ताओं के लिये विशेष उपयोगी है। संतों के रक्षार्थ ही उन्होंने युद्ध का बाना धारण किया। उनका यह रूप (योद्धा का रूप) धर्म संस्थापन का साधन था, वही साध्य नहीं था। वस्तुतः सही अर्थों में गुरुगोविंद सिंह एक संत योद्धा थे। इस विषय में लेखक के पुष्ट विचार मननीय हैं।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

जंगनामा गुरु गोविंद सिंह

संपादक—डा० जयभगवान गोयल; प्रकाशक—पंजाब विश्वविद्यालय; चंडीगढ़ पृ० सं० २५; मूल्य २)।

गुरु गोविंद सिंह के आश्रित एवं दरबारी कवि अणीराय की यह रचना एक छोटा सा वीर काव्य है जिसमें ६९ छंदों में उनके एक युद्ध का ओजस्वी वर्णन किया गया है। जंगनामा वस्तुतः फारसी काव्यरूप है जिसमें कथानक का अंश बहुत क्षीण रहता है और किसी युद्ध के प्रहार-प्रतिप्रहार का विशेष चित्रण इसमें रहता है। इसमें सतलज के किनारे के एक युद्ध का वर्णन है जिसमें पहाड़ी राजाओं की सहायता पाकर औरंगजेब ने अजीम खाँ को आक्रमण के लिये भेजा। घनघोर युद्ध हुआ जिसमें अजीम खाँ गुरु गोविंदसिंह द्वारा मारा गया और उसकी समग्र सेना भाग खड़ी हुई। इस छोटे से काव्य में कवि ने युद्ध कथा वर्णन, सेना प्रस्थान, युद्ध वर्णन, शूरों का व्यक्तित्व, युद्धभूमि आदि का ओजोमय चित्रण किया है। पनघट के रूप में सेना प्रस्थान का वर्णन सजीव और भयावह है। कहीं-कहीं उपमा, रूपक आदि अलंकार भी अपनी छटा दिखला जाते हैं। दोहा, सोरठा, छप्पय, भुजंगप्रयात, चौपाई, तोटक, अडिल, मनहर, पउड़ी, कवित्त और सवैया आदि छंदों का इस रचना में प्रयोग हुआ है। अणीराय के कवित्त और सवैये कहीं कहीं भूषण की टक्कर के प्राप्त होते हैं। अंतिम छंदों की भाषा पंजाबी है और शेष की ब्रज। इस प्रकार लघु आकार की इस रचना में कवि युद्ध का स्वाभाविक वर्णन करने में पूर्ण सफल रहा है। इस जंगनामा के लेखक अणीराय के संबंध में कुछ विशेष विवरण नहीं मिलता। जंगनामे के एक छंद से इतना ही ज्ञात होता है कि गुरु गोविंदसिंह ने इन्हें भूषण, स्वर्ण, नग आदि देकर संमानित किया था। वस्तुतः राष्ट्रीय भावना, युगचेतना एवं वीरदर्प से पूर्ण यह एक उत्कृष्ट वीर काव्य है। हिंदी में ऐसे जंगनामे बहुत कम लिखे गए हैं। पुस्तक के प्रारंभ में १२ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें विद्वान् लेखक ने कवि की कृति पर संक्षेप में विचार किया है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

गवेषणा

संपादक—श्री व्रजेश्वर वर्मा; प्रकाशक—केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा; मूल्य वार्षिक ६), एक अंक का ३)।

गवेषणा केंद्रीय हिंदी संस्थान की अर्धवार्षिक शोधपत्रिका है। इसमें सामग्री का चयन विवधता से पूर्ण है। 'भारतीय शिक्षा का प्रयोजनवादी स्वरूप' तथा 'महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन' लेख विचारगर्भित और विवेचनात्मक हैं। 'विदेशों में हिंदी अध्ययन की समस्या' लेख विचारणीय है। जिसमें लेखक ने अपने अनुभवों को शास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'हिंदी क्रियापद, हिंदी और तेलुगु की संधि प्रक्रिया, हिंदी और तेलुगु के समान शब्द, मलयालम भाषियों के हिंदी उच्चारण की विशेषताएँ तथा ब्रजभाषा और गुजराती की समान प्रवृत्तियाँ' आदि लेख भाषाशास्त्रीय विवेचन प्रक्रिया के आधार पर लिखे गए शोधात्मक लेख है। इनमें संरचनागत विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन भी है। साहित्यिक विषयों के निबंध भी इसमें महत्वपूर्ण हैं। 'मानस के अप्रस्तुत विधान में प्रतिबिंबित लोक-जीवन' तथा 'चैतन्य दर्शन में श्रीकृष्णतत्व' ये दो लेख साहित्य और भक्ति दर्शन के जिज्ञासु जनों के लिये उपादेय हैं।

गवेषणा का ७वाँ अंक 'संगोष्ठी विशेषांक' है। हिंदी शिक्षण की समस्याओं पर संस्थान द्वारा एक अखिल भारतीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी। इसमें अहिंदी भाषियों के हिंदी सीखने सिखाने की समस्याएँ, कठिनाइयाँ और उनके समाधान के उपायों पर विचार हुआ। इसमें देश के प्रत्येक भाग के विद्वानों ने भाग लिया और अपने अपने विचार व्यक्त किए। संगोष्ठी की चार उपसमितियों में विचार के ४ विषय मुख्यतः निम्नांकित रहे—अहिंदी प्रदेशों में हिंदी शिक्षण की उपयुक्त पद्धति, परिनिष्ठित उच्चारण की समस्याएं, अहिंदी प्रदेशों के शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में हिंदी का स्थान और अहिंदी प्रदेशों के लिये हिंदी शिक्षकों के प्रशिक्षण की समस्याएँ। इन पर उपसमितियों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन ध्यान देने योग्य है जिनमें तालमेल की स्थिति बैठाते हुए हिंदी को अग्रसर, सरल और सर्व-प्रयोग-सुलभ करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उपसमितियों के प्रतिवेदन के अतिरिक्त प्रमुख ३५ विद्वानों और शिक्षाशास्त्रियों के भाषणों और लेखों का कथन विचारणीय विषय को प्रत्येक दृष्टि से निवृत्त करने में समर्थ है। 'गवेषणा' और केंद्रीय हिंदी संस्थान का यह प्रयास शिक्षा क्षेत्र की व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करते हुए भाषा के क्षेत्र में एकरूपता लाने में समर्थ होगा, ऐसी दृढ़ आशा है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

ऐसे थे नेहरूजी

लेखक—श्री माईदयाल जैन; प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली—६; आकार—डि० क्रा० १६; पृ० सं० १२+११८; मूल्य २) ५० ।

नेहरू को समझना सचमुच बड़ी बात है—यह कथन कहने सुनने में बड़ा अजीब और अभिमान-भरा-सा लगेगा। पर, बात है सच। नेहरू का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है। इतना ऊचा व्यक्तित्व होने के नाते तथा हर छोटी बड़ी राष्ट्रीय ही नहीं अंतरराष्ट्रीय बातों से उसका सीधा टेढ़ा संबंध होने के नाते संसार के हर प्राणी के साथ उसका प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष संबंध था। इस कारण हर समझ-नासमझ जन उसके बारे में निःशंक निरंकुश राय देता रहा है और देता रहेगा—मूल्य उसका चाहे जो हो। नेहरू की यह सर्वजनप्रियता या अप्रियता उसका बड़प्पन थी और वही थी उसकी परेशानी।

नेहरू को समझने में आखिर कठिनाई क्या थी। कठिनाई यह थी नेहरू एक बहुत ऊंचा समझे जानेवाले स्तर का आदमी था जिसने हर सामाजिक स्तर में बिना हिचक पैठ कर उसमें अपने को घुलाने मिलाने में काफी सफलता प्राप्त की। फिर भी उसका एक अपनापन तो था ही जो समान रूप से, एक ही रूप में, सबकी समझ में नहीं आसकता था। यही सबसे बड़ी कठिनाई थी। सब को प्रसन्न कौन कर सका है और वह भी नेतृत्व और शासन की जिम्मेदारी संभाल कर। यही कारण है, किसने नेहरू को क्या नहीं कहा—बुरा भी, भला भी।

किसी भी बात या व्यक्तित्व को समान स्तर पर रह कर ही समझा परखा जा सकता है। जो इने गिने अपने को नेहरू से ऊँचा समझें वे अपने तथाकथित स्तर से उतर कर उसके समकक्ष आकर उसे नहीं समझ सके। यह उन **समझदारों** की बात है जो परिस्थियों को एक परिप्रेक्ष्य में रखकर देख समझ सकते हैं। फिर दूसरे उस समान्य वर्ग के लोग हैं जिनके लिये नेहरू हिमालय जैसा ऊँचा रहा है। उनमें यह सामर्थ्य कहाँ कि वे उतने ऊँचे उठकर उसे सही रूप में देख सकते। कुछ अन्य केवल दोषदर्शी या शुद्ध अंध भक्त रहे। उनके तो चश्मे ही रंगीन थे। अतः नेहरू के साथ न्याय नहीं हो सका और शायद हो भी नहीं सकेगा।

श्री माईदयाल जैन ने एक पुस्तक लिखी है—'ऐसे थे नेहरूजी'। पुस्तक नेहरूजी के जीवन प्रसंग के विभिन्न स्थलों से चुनी हुई घटनाओं या समस्याओं के रूप में लिखी गई है। इस प्रकार की पुस्तकें मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद होने के साथ ज्ञानवर्धक भी होती हैं। बड़े जीवनी ग्रंथों या चरित विवेचनों को पढ़ना या उसे दिमाग में टिकाना कठिन होता है। अतः ऐसी लघु कथाओं के रूप में ग्रथित ऐसी पुस्तकें समाज के सभी वर्गों के लिये उत्तम होती हैं। पुस्तक की भाषा सरल सुबोध होने से सर्वबोधगम्य है। इससे ज्ञानवर्धन, चरित्रनिर्माण के साथ नेहरूजी को आत्मीय ढंग से समझने में सहायता मिलेगी।

—राधाविनोद गोस्वामी

ज्ञानसरोवर (भाग ४)

प्रकाशक—प्रकाशन विभाग; सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–१ ।

शिक्षा मंत्रालय की ओर से प्रकाशित 'ज्ञान सरोवर' नामक पुस्तक का यह भाग ४ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। भारत सरकार की इस संकलन योजना का मुख्य उद्देश्य यह है कि सामान्य जनता को सरल सुबोध भाषा में लिखित सचित्र साहित्य के द्वारा आधुनिक विश्व में नित्यप्रसूत नवीनतम आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी आदि विविध तथा नवीन दिशाओं के बोध के समानांतर उनका मानसिक विकास और ज्ञानवृद्धि हो तथा विश्व की नवीनतम गतिविधियों से उनका अद्यतन परिचय होता रहे। भारत की गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता के अतिरिक्त संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के सरल सचित्र विवरण का भी इसमें समावेश मिलेगा। संपूर्ण पुस्तक में ब्रह्मांड की कहानी, आदमी का कहानी, हमारी दुनिया, हमारे पड़ोसी, संसार के महापुरुष, देवी-देवताओं की कथा, विश्व साहित्य, लोक साहित्य, जीव-जंतु और पौधे, कृषि, रोग पर विजय, विज्ञान की बातें, इंजीनियरी के चमत्कार, घरेलू उद्योग धंधे, सौंदर्य की खोज, राजनीति और अर्थशास्त्र, खेल कूद, कहानियाँ, नए भारत के निर्माता तथा नारीलोक आदि विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत अधिक से अधिक ज्ञानराशि को अपनी सीमित परिधि में समेटने का प्रयत्न किया गया है। निःसंदेह इस प्रकाशन से सामान्य जनता के अतिरिक्त छात्र छात्राओं का भी ज्ञानवर्धन हो सकेगा। पुस्तक की छपाई आदि सुंदर है तथा विदेशों में प्रचलित इस प्रकार की अनेकानेक पुस्तकों का हिंदी में अभाव इससे बहुत कुछ पूरा हो सकेगा तथा ऐसे अन्यान्य प्रकाशनों की प्रेरणा भी मिलेगी।

—राधाविनोद गोस्वामी

श्री राधा-माधव-रससुधा

लेखक—श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार (षोडश गीत तथा पूर्व-भूमिका-रूप में श्री राधामाधव-रस-तत्व का सांगोपांग विवेचन) तथा श्री 'बाबा' स्वामीजी श्री चक्रधर जी (जगज्जननी श्री राधा); प्रकाशक—श्री राधामाधव प्रकाशन, बीकानेर; आकार डिमाई ८ पेजी, पृ० २ + ३४५; मूल्य ५) ।

श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार रचित 'षोडशगीत' तथा श्री 'बाबा' द्वारा कथित 'जगज्जननी श्रीराधा' कल्याण (मासिक) में पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत प्रकाशन उक्त दोनों कृतियों का समन्वित रूप है—विशद विस्तृत पूर्वभूमिका

के साथ। 'दो शब्द' के अंतर्गत उचित ही कहा है कि इन गीतों में 'काव्य-भाषा यद्यपि अत्यंत सरल है परंतु इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि अत्यंत ही क्लिष्ट है।' अतः ये गीत उन लोगों के लिये तो कथमपि नहीं हैं जो इनमें सामान्य काव्य-गुण-दोष विवेचन-पूर्वक मात्र काव्यानंद की खोज करनेवाले हैं। इनमें तो भक्ति-भावना से ओत-प्रोत भक्त जन ही रसकण प्राप्त कर सकेंगे। और, इस रस को प्राप्त करने के लिये श्री राधामाधव रसतत्व से किंचिन्मात्र भी परिचिति अपेक्षित है—पूर्ण परिचिति तो श्रीनारद आदि के लिये भी न भूतो न भविष्यति ही है। इस दृष्टि से ग्रंथ का पूर्वभूमिका खंड अत्यंत महत्व का है।

पुस्तक के आरंभ में पूर्वभूमिका वस्तुतः एक स्वतंत्र लघु ग्रंथ ही हैं जिसमें श्रीराधाकृष्ण के समन्वित रूप तथा क्रमशः श्री राधा तथा श्री कृष्ण तत्वों का पृथक् विवेचन उपस्थित किया गया है। तत्संबंधी जितने भी पक्ष अथवा ऊहापोह के विषय हो सकते हैं (यद्यपि उनकी सीमा नहीं) उनका यथासाध्य सम्यक् विवेचन सरल तथा प्रामाणिक स्तर पर किया गया है। बार बार मनन के उपरांत ही कोई भावुक संस्कारी जन ही इसके कण हृदयंगम कर सकते हैं और जिन्हें इन तत्वों के जानने की तीव्र लालसा हो उनके लिये यह भूमिका प्रचुर सामग्री उपस्थित करने के साथ भक्ति-रसास्वादन का मार्ग प्रशस्त करती है। प्रायः इन तत्वों को जाने बिना चलते फिरते जो निरंकुश शंकाएँ श्रीराधाकृष्ण के संबंध में उठाई जाती हैं उनका सहज शमन भी प्रस्तुत ग्रंथ में है।

अंत में बाबा जी के द्वारा लिखित 'जगज्जननी श्री राधा' के प्रकाशन से श्रीराधातत्व को स्वतंत्र रूप से समझने में तथा उसके ललित भक्तिपक्ष के रसास्वादन का लाभ सहज प्राप्य है। प्रस्तुत ग्रंथ की गूढ़ तथा सुविस्तृत विषयवस्तु का सांगोपांग परिचय इस सीमित समीक्षा में देना शक्य नहीं। निःसंदेह यह कहना अलम् होगा कि जिज्ञासु भावुक भक्तों के लिये षोडश गीत का इस रूप में प्रकाशन स्वागतार्ह है। आशा है इस संस्था के माध्यम से ऐसे अन्य ग्रंथरत्न भी उपलब्ध होंगे जो भगद्भक्तिरसान्वेषी जनों को आनंददायी होंगे।

—राधाविनोद गोस्वामी

हरिशतक

काव्य रूपांतर—गोपालदास गुप्त; प्रकाशिका—श्रीमती प्रेमलता गुप्त, आनंद प्रकाशन, सौम्य कुटीर, १२/२५, शक्तिनगर, दिल्ली—७; आकार—डि० क्रा० १६ पेजी, पृ० ३२+१६१; मूल्य ५)।

आलोच्य पुस्तक 'हरिशतक' में भर्तृहरि के शतकत्रय (नीति-शृंगार-वैराग्य-शतकों) का पद्यात्मक रूपांतर श्री गोपालदास गुप्त द्वारा किया गया है। संस्कृत में

भर्तृहरिशतक का बड़ा संमान है। थोड़ी भी संस्कृत से परिचिति रखनेवाला कोई बिरला ही होगा जिसने इन शतकों का नाम न सुना हो या १०-५ चुने हुए ही श्लोकों को पढ़ा सुना न हो। नीति, शृंगार और वैराग्य यही भारतीय जीवन के प्रमुख अंग भी हैं जिनपर भर्तृहरि ने बड़ी सजीव, शिक्षाप्रद तथा मार्मिक उक्तियाँ कही हैं—जीवन के बहुमुखी पक्षों के अनुभवों से ओत-प्रोत।

भर्तृहरिशतक के अनेक प्रयास हुए हैं। किंतु आलोच्य प्रयास का एक निजी महत्व है। श्रीगोपालदासजी के अनुवाद ने अपना काव्य रूपांतर पंक्ति-प्रति-पंक्त्यनुसारी रखा है। साथ ही अनुवाद सफलतापूर्वक भावानुसारी बन पड़ा है। रूपांतरकर्ता कवि ने स्वच्छंदता नहीं के बराबर बरती है जिससे मूल के भाव सुरक्षित रह सके हैं। संस्कृत न जानने वालों, तथा उसका अल्प ज्ञान रखने वालों, दोनों के लिये यह रूपांतर सहायक होगा। सामान्य ज्ञान रखनेवाले हिंदी रूपांतर पढ़ते हुए मूल का रसास्वादन भी कर सकेंगे। इस उत्तम रूपांतर के लिये श्रीगोपालदास जी बधाई के पात्र है। आशा है, इनके ऐसे अन्य रूपांतर भी सामने आएँगे जिनसे संस्कृत प्रेमीजन लाभान्वित होंगे तथा भारतीय सांस्कृतिक विचारों का प्रसार होगा। पुस्तक की छपाई तथा साज-सज्जा भी आकर्षक है।

—राधाविनोद गोस्वामी

नयकी पीढ़ी

लेखक—शिवमूरत सिंह; प्रकाशक—भोजपुरी संसद, जगतगंज वाराणसी; पृष्ठ ११६; मूल्य २) ५०।

भोजपुरी संसद भोजपुरी साहित्य की सभी विधाओं के विकास में किस प्रकार लगन से जुटी है, उपर्युक्त नाटक को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। 'नयकी पीढ़ी' की रचना विशेषरूप से रंगमंच को दृष्टिगत रखते हुए की गई है क्योंकि भोजपुरी में ऐसे नाटकों का अभाव था। कुछ इने गिने नाटक थे किंतु उन्हें रंगमंच की कसौटी पर कसने पर निराश होना पड़ता था। प्रस्तुत नाटक के संपूर्ण कथानक से भोजपुरी प्रदेश की सोंधी मिट्टी की सुवास आती है। नाटक ग्रामीण समाज में नये खून के जागरण का शुभ संदेश देता है तथा पुरानी रूढ़ियों एव परंपराओं को त्याग कर नवीन हितकर परंपराओं की स्थापना की ओर इंगित करता है। नाटककार गाँवों में फैली ध्वस्त जमींदारों की 'जोंकइल' पीढ़ी के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजाकर नए सिरे से समाज रचना पर जोर देता है, जिसकी नींव समानता एवं भाईचारे पर खड़ी हो। क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी खोखली नारेबाजी के सिवा गाँवों के रूप बदलने का कोई ठोस कार्य नहीं किया गया।